आगम साहित्य-रत्न-माला का द्वितीय रत्न

श्रमण सूत्र

उपाध्याय अमर मुनि

श्री सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

आगम साहित्य-रत्न-माला का द्वितीय रत्न

श्रमण-सूत्र

आवश्यक दिग्दर्शन

मूल, अर्थ, भाष्य

उपाध्याय अमर मुनि



श्री सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

अमर ग्रन्थ-माला का
नवम पुष्प

पुस्तक :

श्रमण-सूत्र

भाष्यकार :

उपाध्याय अमरमुनि

द्वितीय संस्करण

मार्च, १९६६

प्रकाशक :

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

मूल्य : २०)

ज्ञात स्थय

मुद्रक :

एजुकेशनल प्रेस, आगरा

समर्पण

श्रमण-संस्कृति
के
उन्नायकों
एवं
साधकों
की
सेवा में

—अमर मुनि

स्नेह-स्मृति

आचार्य मोति-रामस्य

श्रीमतः स्वर्ग-वासिनः

स्मृतौ तत्स्नेह-पात्रेण

कृतिरेषा प्रकाशिता

द्वितीय प्रवेश

●

श्रमण सूत्र का यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अतीव हर्ष और आनन्द है। इस प्रकार के धार्मिक ग्रन्थ और वह भी आचार सम्बन्धी गुरु गम्भीर सिद्धान्त ग्रन्थ एक बार प्रकाशित होने पर इतने शीघ्र कम ही प्रचार पाते हैं कि उनके द्वितीय संस्करण का सौभाग्य प्रकाशन संस्था को प्राप्त हो सके।

'श्रमण सूत्र' के प्रस्तुत संस्करण की लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि इसके आधार से अन्य अनेक श्रमण सूत्र प्रकाशित हुए, विवेचन के अनेक अंश मासिक पत्र पत्रिकाओं में उदधृत किए गए, गुजराती भाषा में अनुवाद हुआ और अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ जैन एवं अजैन विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। श्रमण सूत्र की आलोचनात्मक तटस्थ सम्पादन शैली ने आगे चलकर साहित्यिक क्षेत्र में वह मार्ग प्रशस्त किया कि अन्य अनेक आगम ग्रन्थों के सम्पादन में इसी शैली को अपनाने का प्रयत्न किया गया।

श्रमण सूत्र का प्रथम संस्करण अनेक वर्षों से अप्राप्य था। ज्ञानपीठ के पास निरन्तर पत्र आते रहते थे कि श्रमण सूत्र का द्वितीय संस्करण क्यों नहीं प्रकाशित किया जा रहा है? अस्तु, हमने स्वाध्याय-प्रेमी जनता के अनुरोध पर यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया है। आशा है, प्रथम संस्करण की भाँति प्रस्तुत संस्करण भी प्रेमी पाठकों के हृदय में अपना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा।

सन्मति ज्ञानपीठ,
आगरा

सोनाराम जैन
मंत्री

प्रथम प्रवेश

•

साहित्य समाज का दर्पण होता है। दर्पण का कार्य वस्तु का वास्तविक रूप में दर्शन कराना है। मनुष्य जैसा होगा, उसका प्रतिबिम्ब भी दर्पण में वैसा ही होगा। साहित्य रूपी दर्पण में समाज अपना यथार्थ दर्शन पा लेता है। वह जान सकता है कि मैं क्या हूँ ? मैंने अभी तक क्या प्रगति की है ? मेरा रूप सुरूप है या कुरूप ?

साहित्य की महत्ता और विशालता पर ही समाज की उपयोगिता आधारित रहती है। साहित्य समाज, धर्म और संस्कृति का प्राणाधार है। साहित्य की उपेक्षा करके समाज, धर्म और संस्कृति जीवित नहीं रह सकती। बिना प्राण के शरीर जैसे शव कहलाता है, उसी प्रकार साहित्य शून्य समाज की भी स्थिति है। सत्साहित्य समाज के जीवित होने का चिह्न है।

इसी शुभ लक्ष्य की पूर्ति के लिए ज्ञानपीठ ने मौलिक साहित्य प्रकाशित करने का दृढ़ संकल्प किया है। स्वल्प काल में ही उसने अपनी उपयोगिता सिद्ध करने में सफलता प्राप्त की है और समाज को ठोस साहित्य प्रदान करके जनता की बौद्धिक चेतना को स्फूर्ति एवं जागृति प्रदान की है। ज्ञानपीठ के प्रकाशनों की सर्वप्रियता का अनुमान पाठकगण मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रों की समालोचनाओं पर से लगा सकते हैं।

उन्हीं प्रकाशनों की शृंखला में आज हम श्रद्धेय उपाध्याय श्री अमरचन्दजी महाराज का श्रमण सूत्र लेकर उपस्थित हो रहे हैं। श्रमण सूत्र क्या है, उसका क्या महत्त्व है, और उस महत्त्व के प्रकटीकरण में उपाध्यायश्रीजी ने क्या कुछ लिखा है, ये सब आप पुस्तक पढ़कर जान सकेंगे। हम स्वयं अपनी ओर से इस सम्बन्ध में क्या लिखें ? उपाध्याय श्री जी ने हमारे समाज को नई भाषा में नया चिन्तन देने का जो महान् उपक्रम किया है, उसे भविष्य की परम्परा कभी भूल न सकेगी। उपाध्याय श्री जी के विराट अध्ययन की छाया उनके ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

श्रमण सूत्र के मुद्रण का कार्य बड़ी शीघ्रता में हुआ है। इधर मुद्रण चल रहा था और उधर साथ-साथ लेखन भी चलता था। इधर दो महीने से उपाध्याय श्रीजी का स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहा है। इस विचित्र स्थिति में सम्भव है मुद्रण एवं संशोधन सम्बन्धी कुछ भूलें रही हों, पाठक उनके लिए हमें क्षमा करेंगे।

सन्मति ज्ञान-पीठ
लोहामण्डी, आगरा

विनीत
रतनलाल जैन

आत्म निवेदन

'श्रमण सूत्र' श्रमण धर्म की साधना का मूल प्राण है। जैन श्रमण का जो कुछ भी आचार व्यवहार है, जीवन-प्रवाह है, उसका संक्षिप्त स्वरूप दर्शन श्रमण सूत्र के द्वारा हो सकता है। यही कारण है कि प्रति दिन प्रातः और सायंकाल प्रस्तुत सूत्र का दो बार नियमेन पाठ, प्रत्येक साधु और साध्वी के लिए आवश्यक है। यह जीवन शुद्धि और दोष परिमार्जन का महा सूत्र है। श्रमण साधक कितना ही अभ्यासी हो, परन्तु यदि उसे श्रमण सूत्र का ज्ञान नहीं है, तो समझना चाहिए कि वह कुछ नहीं जानता। श्रमण सूत्र का ज्ञान, एक प्रकार से साधक के लिए अपनी आत्मा का ज्ञान है।

जो सूत्र इतना महान् एवं इतना उच्च है, दुर्भाग्य से उस पर अच्छी तरह लक्ष्य नहीं दिया गया। सूत्र पाठ केवल रट लिए जाते हैं, न पाठ शुद्धि ही होती है और न अर्थ ज्ञान। ओघसंज्ञा के प्रवाह में पड़कर श्रमण सूत्र का रूप इतना विकृत कर दिया गया है कि देखकर हृदय में महती पीड़ा होती है।

मैं बहुत दिनों से इस ओर कुछ लिखने का विचार करता रहा हूँ। सामायिक सूत्र लिखने के बाद तो मुझे साधुवर्ग की ओर से भी प्रेरणा मिली कि ऐसा ही कुछ साधु प्रतिक्रमण पर भी लिखा जाय। मैंने कुछ लिखा भी। और मेरा जब यह लेख व्याख्यान वाचस्पति श्रद्धेय श्री मदन मुनिजी ने देखा तो आप बड़े ही प्रभावित हुए। उनकी ओर का आग्रह हुआ कि इसे शीघ्र से शीघ्र पूरा कर दिया जाय। परन्तु आप जानते हैं—जैन भिक्षु की 'जीवनचर्या' कहीं एक जगह जमकर बैठने की नहीं है। यहाँ चातुर्मास में ही थोड़ा बहुत लिखने का कार्य हो सकता है। फिर सब जगह प्राचीन और नवीन पुस्तक सामग्री भी तो नहीं मिल पाती है। बिना प्रामाणिक आधार लिए केवल कल्पना के भरोसे कलम को आगे बढ़ाना, आजकल मुझे पसन्द नहीं रहा है। यही कारण है कि श्रमण सूत्र के लेखन का कार्य यथाशीघ्र प्रगति नहीं कर सका।

अब की बार आगरा में कुछ दिन ठहरना हुआ तो विचार आया कि वह कार्य पूरा कर दूँ। यहाँ साधन-सामग्री भी उपलब्ध थी। कुछ दिन तो कार्य ठीक चलता रहा। परन्तु इधर दो महीने से मैं बराबर अस्वस्थ रहा। सिरदर्द ने इतना तंग किया है कि अधिक क्या लिखूँ? ये पंक्तियाँ भी सिरदर्द की दुःस्थिति में ही लिखी जा रही हैं। हाँ, तो कुछ दिन लेखन कार्य बन्द भी रक्खा, पर कुछ विशेष स्वास्थ्य लाभ न हुआ। और इसी बीच ब्यावर संघ का अत्याग्रह होने से वहा के

चातुर्मास के लिए स्वीकृति दे दी। अब प्रश्न यह आया कि जैसे भी हो कार्य पूर्ण किया जाय, अन्यथा अधूरा ही छोड़कर विहार करना होगा।

हाँ, तो सिर दर्द होते हुए भी लिखने में जुटना पड़ा। इधर लिखता था और उधर मुद्रण बड़ी तीव्र गति से चल रहा था। इस बार बड़ी विकट स्थिति में मुझे गुजरना पड़ा है। अतः मैं जैसा चाहता था, अथवा मेरे साथी मुझसे जैसा चाहते थे, वैसा तो मैं नहीं लिख सका हूँ। प्रारम्भ में ही अपनी दुर्बलता के लिए क्षमा याचना कर लेता हूँ। फिर भी कुछ लिखा गया है। केवल 'न' से कुछ 'हाँ' अच्छी ही होती है। हाँ, तो मैं लिख गया हूँ। अब क्या है, कैसा है, यह सब विचार करना, पाठकों का काम है। सम्भव है कहीं इधर-उधर लिखा गया हो, मूल की भावनाएँ स्पष्ट न हो पाई हों, विपर्यास भी हुआ हो, उन सबके लिए मुझे आशा है आत्मीयता की पवित्र भावना से सूचनाएँ मिलेंगी और मैं शुद्ध हृदय से उन पर विचार करूंगा एवं भूल को भूल मानूंगा, भूल स्वीकार करने में न मुझे कभी संकोच रहा है और न अब है। हाँ, भूल यदि वस्तुतः भूल हो तो!

आवश्यक दिग्दर्शन मैं अच्छी तरह लिखना चाहता था। इस ओर मैंने प्रारम्भ से ही विस्तार की भूमिका भी अपनाई थी। परन्तु दुर्भाग्य से स्वास्थ्य ने साथ अच्छा नहीं दिया, फलतः मुझे मन मारकर भी सिमटना पड़ा। आवश्यक पर मैं खुलकर चर्चा करना चाहता था, वह इच्छा पूर्ण न हो सकी। खैर, कोई बात नहीं। मैं भविष्य के प्रति सदा ही आशावादी रहा हूँ। कभी समय मिला तो मैं इस विषय पर बहुत अच्छी सामग्री लेकर उपस्थित होऊँगा। इतने समय तक चिन्तन को और अधिक अवकाश मिल सकेगा, फलतः अध्ययन अपनी स्थिति को और अधिक सुदृढ़ बना सकेगा।

प्रस्तुत श्रमण सूत्र के सम्पादन में मेरा क्या है? मेरा तो केवल श्रम है, इधर-उधर से बटोरने का और उसे व्यवस्थित रूप देने का। प्राचीन आगम साहित्य और जैनाचार्यों का विचार-प्रकाश ही मेरे लिए पथ प्रदर्शक बना है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी, आचार्य हरिभद्र और आचार्य जिनदास आदि का तो मुझ पर बहुत ही अधिक ऋण है और इधर जैनजगत के ख्यातनामा महान् दार्शनिक पण्डित सुखलालजी का पञ्च प्रतिक्रमण एवं स्थानकवासी जैन समाज के सुप्रसिद्ध ज्ञानाचार के साधक साहित्य प्रेमी श्री भैरुदानजी सेठिया बीकानेर का बोलसंग्रह भी यत्र-तत्र पथ प्रदर्शक रहा है। उक्त ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का खासा अच्छा ऋण मेरी स्मृति में है। प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप में किसी की किसी भी कृति से किसी भी प्रकार का सहयोग मिला हो तो मैं उन सब महानुभावों का कृतज्ञ हूँ।

भूमिका ही तो है, अधिक लिखने से क्या लाभ? फिर भी पाठक क्षमा करेंगे, मैं अपने कुछ स्नेही सहयोगियों को स्मृति में ले आना चाहता हूँ। श्रद्धेय जैनाचार्य गुरुदेव पूज्य श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज का आशीर्वाद, व्याख्यान वाचस्पति

श्रद्धेय श्री मदन मुनि जी एवं योगनिष्ठ श्रीरामजीलालजी म० की उत्साह पूर्ण मधुर प्रेरणा, श्री बलवन्त मुनि जी का विलम्ब होते रहने के लिए समय समय पर उलाहना, मेरे चिर स्नेही गुरु भ्राता श्री अमोलक चन्द जी का पदपद पर सहयोग एवं परामर्श, मेरे प्रिय शिष्ययुगल श्रीविजयमुनि और सुरेश मुनिजी का सहकार ही मुझे प्रस्तुत विशाल लेखन कार्य की पूर्ति पर पहुँचा सका है और जैन सिद्धान्त सभा के संस्थापक श्री नगीनदास गिरधरलाल सेठ बम्बई और श्री दयालचन्द्र जी चोरडिया रोशन मुहल्ला आगरा की ओर से मिलने वाली साहित्य सामग्री आदि का सहयोग भी प्रस्तुत कार्य के साथ स्मृति में रहेगा। सन्मति ज्ञानपीठ के महामन्त्री सेठ रतनलालजी की सेवा तो अपनी निजी बात है, वह भुलाई ही कैसे जा सकती है? प्रिय आत्म-बन्धुओं! तुम सब का सहयोग भविष्य के लिए भी यथावसर प्रस्तुत रहे, यही मङ्गल-कामना।

आगरा
चैत्र पूर्णिमा, सं० २००७

—अमर मुनि

निर्देशिका

आवश्यक-दिग्दर्शन

१ मानव-जीवन का महत्त्व

जब हम अपनी आँखें खोलते हैं और इधर-उधर देखने का प्रयत्न करते हैं तो हमारे चारों ओर एक विराट संसार फैला दिखलाई पड़ता है। बड़े-बड़े नगर बसे हुए हैं और उनमें खासा अच्छा तूफान जीवन-संघर्ष के नाम पर चलता रहता है। दूर-दूर तक विशाल जंगल और मैदान हैं, जिनमें हजारों-लाखों वन्य पशु-पक्षी अपने क्षुद्र जीवन की मोह-माया में उलझे रहते हैं। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं, नदी-नाले हैं, झील हैं, समुद्र हैं, सर्वत्र असंख्य जीव-जन्तु अपनी जीवन-यात्रा की दौड़ लगा रहे हैं। ऊपर आकाश की ओर देखते हैं तो वहाँ भी सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और तारों का उज्ज्वल चमकता हुआ संसार दिन-रात अविराम गति से उदय-अस्त की परिक्रमा देने में लगा हुआ है।

यह संसार इतना ही नहीं है, जितना कि हम आँखों से देख रहे हैं या इधर-उधर कानों से सुन रहे हैं। हमारे आँख, कान, नाक, जीभ और चमड़े की जानकारी सीमित है, अत्यन्त सीमित है। आखिर हमारी इन्द्रियाँ क्या कुछ जान सकती हैं? जब हम शास्त्रों को उठाकर देखते हैं, तो आश्चर्य में रह जाते हैं। असंख्य द्वीप समुद्र, असंख्य नारक और असंख्य देवी देवताओं का संसार हम कहाँ आँखों से देख पाते हैं? उनका पता तो शास्त्र द्वारा ही लगता है। अहो कितनी बड़ी है यह दुनिया!

हमारे कोटि-कोटि बार अभिवन्दनीय देवाधिदेव भगवान् महावीर स्वामी ने, देखिए, विश्व की विराटता का कितना सुन्दर चित्र उपस्थित किया है?

गौतम पूछते हैं—"भन्ते! यह लोक कितना विशाल है?"

भगवान् उत्तर देते हैं—"गौतम! असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन पूर्व दिशा में, असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन पश्चिम दिशा में, इसी प्रकार असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व और अधोदिशा में लोक का विस्तार है।"

—भगवती १२, ७, सू० ४५७।

गौतम प्रश्न करते हैं—"भन्ते! यह लोक कितना बड़ा है?"

भगवान् समाधान करते हैं—"गौतम! लोक की विशालता को समझने के लिए कल्पना करो कि एक लाख योजन के ऊँचे मेरु पर्वत के शिखर पर छह महान्

शक्तिशाली ऋद्धिसंपन्न देवता बैठे हुए हैं और नीचे भूतल पर चार दिशाकुमारिकाएँ हाथों में बलिपिंड लिए चार दिशाओं में खड़ी हुई हैं, जिनकी पीठ मेरु की ओर है एवं मुख दिशाओं की ओर।"

"उक्त चारों दिशाकुमारिकाएँ इधर अपने बलिपिंडों को अपनी-अपनी दिशाओं में एक साथ फेंकती हैं और उधर उन मेरुशिखरस्थ छह देवताओं में से एक देवता तत्काल दौड़ लगाकर चारों ही बलिपिंडों को भूमि पर गिरने से पहले ही पकड़ लेता है। इस प्रकार शीघ्रगति वाले वे छहों देवता हैं, एक ही नहीं।"

"उपर्युक्त शीघ्र गति वाले छहों देवता एक दिन लोक का अन्त मालूम करने के लिए क्रमशः छहों दिशाओं में चल पड़े। एक पूर्व की ओर तो एक पश्चिम की ओर, एक दक्षिण की ओर तो एक उत्तर की ओर, एक ऊपर की ओर तो एक नीचे की ओर। अपनी पूरी गति से एक पल का भी विश्राम लिए बिना दिन-रात चलते रहे, चलते क्या, उड़ते रहे।"

"जिस क्षण देवता मेरुशिखर से उड़े, कल्पना करो, उसी क्षण किसी गृहस्थ के यहाँ एक हजार वर्ष की आयु वाला पुत्र उत्पन्न हुआ। कुछ वर्ष पश्चात् माता-पिता परलोकवासी हुए। पुत्र बड़ा हुआ और उसका विवाह होगया। वृद्धावस्था में उसके भी पुत्र हुआ और बूढ़ा हजार वर्ष की आयु पूरी करके चल बसा।"

गौतम स्वामी ने बीच में ही तर्क किया—"भन्ते! वे देवता, जो यथाकथित शीघ्र गति से लोक का अन्त लेने के लिए निरन्तर दौड़ लगा रहे थे, हजार वर्ष में क्या लोक के छोर तक पहुँच गए?"

भगवान् महावीर ने वस्तुस्थिति की गम्भीरता पर बल देते हुए कहा—"गौतम, अभी कहाँ पहुँचे हैं? इसके बाद तो उसका पुत्र, फिर उसका भी पुत्र, इस प्रकार एक के बाद एक एक हजार वर्ष की आयु वाली सात पीढ़ी गुजर जाएँ, इतना ही नहीं, उनके नाम गोत्र भी विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाएँ, तब तक वे देवता चलते रहें, फिर भी लोक का अन्त नहीं प्राप्त कर सकते। इतना महान् और विराट् है यह संसार।"

—भगवती ११,२०, सू० ४२१।

जैन साहित्य में विश्व की विराटता के लिए चौदह राजु की भी एक मान्यता है। मूल चौदह राजु और वर्ग-कल्पना के अनुसार तीन सौ से कुछ अधिक राजु का यह संसार माना जाता है। एक व्याख्याकार राजु का परिमाण बताते हुए कहते हैं, कि कोटिमण लोहे का गोला यदि ऊँचे आकाश से छोड़ा जाय और वह दिन रात अविराम गति से नीचे गिरता-गिरता छह मास में जितना लम्बा मार्ग तय करे, वह एक राजु की विशालता का परिमाण है।

विश्व की विराटता का अब तक जो वर्णन आपने पढ़ा है, सम्भव है, आपकी कल्पना शक्ति को स्पर्श न कर सके और आप यह कह कर अपनी बुद्धि को सन्तोष देना चाहें कि—'यह सब पुरानी गाथा है, किंवदन्ती है। इसके पीछे वैज्ञानिक विचार-

धारा का कोई आधार नहीं है।' आज का युग विज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है, फलतः ऐसा सोचना और कहना, अपने आप में कोई बुरी बात भी नहीं है।

अच्छा तो आइए, ज़रा विज्ञान की पोथियों के भी कुछ पन्ने उलट लें। सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डॉ० गोरखनाथ का सौरपरिवार नामक भीमकाय ग्रन्थ लेखक के सामने है। पुस्तक का पाँचवाँ अध्याय खुला हुआ है और उसमें सूर्य की दूरी के सम्बन्ध में जो ज्ञानवर्द्धक एवं साथ ही मनोरंजक वर्णन है, वह आपके सामने है, ज़रा धैर्य के साथ पढ़ने का कष्ट उठाएँ।

"पता चला है कि सूर्य हम से लगभग सवा नौ करोड़ मील की विकट दूरी पर है। सवा नौ करोड़! अंक गणित भी क्या ही विचित्र है कि इतनी बड़ी संख्या को आठ ही अंकों में लिख डालता है और इस प्रकार हमारी कल्पना शक्ति को भ्रम में डाल देता है। [अंक गणित का इतना विकास न होता तो आप एक, दो, तीन, चार आदि के रूप में गिनकर इस तथ्य को समझते। परन्तु विचार कीजिए कि सवा नौ करोड़ तक गिनने में आपका कितना समय लगता ?—लेखक] यदि आप बहुत शीघ्र गिनें तो शायद एक मिनट में २०० तक गिन डालें, परन्तु इसी गति से लगातार, बिना एक क्षण भोजन या सोने के लिए रुके हुए गिनते रहने पर भी आप को सवा नौ करोड़ तक गिनने में ११ महीना लग जायगा।"

[हाँ तो आइए, ज़रा डाक्टर साहब की इधर-उधर की बातों में न जाकर सीधा सूर्य की दूरी का परिमाण मालूम करें—लेखक] "यदि हम रेलगाड़ी से सूर्य तक जाना चाहें और यह गाड़ी बिना रुके हुए बराबर डाकगाड़ी की तरह ६० मील प्रति घण्टे के हिसाब से चलती जाय तो हमें वहाँ तक पहुँचने में १७५ वर्ष से कम नहीं लगेगा। १½ पाई प्रति मील के हिसाब से तीसरे दर्जे के आने जाने का खर्च सब सात लाख रुपया हो जायगा।.........आवाज हवा में प्रति सेकिण्ड १, १०० फुट चलती है। यदि यह शून्य में भी उसी गति से चलती तो सूर्य पर घोर शब्द होने से पृथ्वी पर वह चौदह वर्ष बाद सुनाई पड़ता।" —सौर परिवार, ५ वाँ अध्याय

अकेले सूर्य के सम्बन्ध में ही यह बात नहीं है। वैज्ञानिक और भी बहुत से दिव्य लोक स्वीकार करते हैं और उन सबकी दूरी की कल्पना चक्कर में डाल देने वाली है। वैज्ञानिक प्रकाश की गति प्रति सेकिण्ड—मिनट भी नहीं—१, ८६००० मील मानते हैं। हाँ, तो वैज्ञानिकों के कुछ दिव्य लोक इतनी दूरी पर हैं कि वहाँ से प्रकाश जैसे शीघ्र-गामी दूत को भी पृथ्वी तक उतरने में लाखों-करोड़ों वर्ष लग जाते हैं। अब मैं इस सम्बन्ध में अधिक कुछ न कहूँगा। जिस सम्बन्ध में मुझे कुछ कहना है, उसकी काफी लम्बी-चौड़ी भूमिका बँध चुकी है। आइए, इस महाविश्व में अब मनुष्य की खोज करें।

यह विराट् संसार जीवों से ठसाठस भरा हुआ है। जहाँ देखते हैं, वहाँ जीव ही दृष्टिगोचर होते हैं। भूमण्डल पर कीड़े-मकोड़े, बिच्छू-साँप, गधे-घोड़े आदि

विभिन्न आकृति एवं रंग-रूपों में कितने कोटि प्राणी चक्कर काट रहे हैं। समुद्रों में कच्छ मच्छ, मगर, घड़ियाल आदि कितने जलचर जीव अपनी संहार-लीला में लगे हुए हैं। आकाश में भी कितने कोटि रंग-बिरंगे पक्षीगण उड़ानें भर रहे हैं। इनके अतिरिक्त वे असंख्य सूक्ष्म जीव भी हैं, जो वैज्ञानिक भाषा में कीटाणु के नाम से जाने गए हैं, जिनको हमारी ये स्थूल आँखें स्वतन्त्र रूप में देख भी नहीं सकतीं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु में असंख्य जीवों का एक विराट संसार सोया पड़ा है। पानी की एक नन्ही-सी बूंद असंख्य जलकाय जीवों का विश्राम-स्थल है। पृथ्वी का एक छोटा-सा रजकण असंख्य पृथ्वीकायिक जीवों का पिंड है। अग्नि और वायु के सूक्ष्म से सूक्ष्म कण भी इसी प्रकार असंख्य जीवराशि से समाविष्ट हैं। वनस्पति काय के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? वहाँ तो पनक (काई) आदि निगोद में अनन्त जीवों का संसार मनुष्य के एक श्वास लेने जैसे क्षुद्रकाल में कुछ अधिक सतरह बार जन्म, जरा और मरण का खेल खेलता रहता है। और वे अनन्त जीव एक ही शरीर में रहते हैं, फलतः उनका आहार और श्वास एक साथ ही होता है! हाहन्त! कितनी दयनीय है जीवन की विडंबना! भगवान् महावीर ने इसी विराट जीव राशि को ध्यान में रखकर अपने पावापुरी के अन्तिम प्रवचन में कहा है कि सूक्ष्म पाँच स्थावरों से यह असंख्य योजनात्मक विराट संसार (काजल की कुप्पी के समान) ठसाठस भरा हुआ है, कहीं पर अणुमात्र भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ कोई सूक्ष्म जीव न हो। सम्पूर्ण लोकाकाश सूक्ष्म जीवों से परिव्याप्त है—**'सुहुमा सव्वलोगम्मि।'**—उत्तराध्ययन सूत्र ३६ वाँ अध्ययन।

हाँ, तो इस महाकाय विराट संसार में मनुष्य का क्या स्थान है? अनन्तानन्त जीवों के संसार में मनुष्य एक नन्हे-से क्षेत्र में अवरुद्ध-सा खड़ा है। जहाँ अन्य जाति के जीव असंख्य तथा अनन्त संख्या में हैं, वहाँ यह मानव जाति अत्यन्त अल्प एवं सीमित है। जैन शास्त्रकार माता के गर्भ से पैदा होने वाली मानवजाति की संख्या को कुछ अंकों तक ही सीमित मानते हैं। एक कवि एवं दार्शनिक की भाषा में कहें तो विश्व की अनन्तानन्त जीवराशि के सामने मनुष्य की गणना में आ जाने वाली अल्प संख्या उसी प्रकार है जिस प्रकार कि विश्व के नदी नालों एवं समुद्रों के सामने पानी की एक फुहार और संसार के समस्त पहाड़ों एवं भूपिण्ड के सामने एक जरा-सा धूल का कण! आज संसार के दूर-दूर तक के मैदानों में मानवजाति के जाति, देश या धर्म के नाम पर किए गए कल्पित टुकड़ों में संघर्ष छिड़ा हुआ है कि 'हाय हम अल्पसंख्यक हैं, हमारा क्या हाल होगा? बहुसंख्यक हमें तो जीवित भी नहीं रहने देंगे।' परन्तु ये टुकड़े यह जरा भी नहीं विचार पाते कि विश्व की असंख्य जीव जातियों के समक्ष यदि कोई सचमुच अल्पसंख्यक जीवजाति है तो वह मानवजाति है। चौदह राजु लोक में से उसे केवल सब से क्षुद्र एवं सीमित ढाई द्वीप ही रहने को मिले हैं। क्या समूची मानवजाति अकेले में बैठकर कभी अपनी अल्पसंख्यकता पर विचार करेगी?

संसार में अनन्तकाल से भटकती हुई कोई आत्मा जब क्रमिक विकास का मार्ग अपनाती है तो वह अनन्त पुण्य कर्म का उदय होने पर निगोद से निकल कर प्रत्येक वनस्पति, पृथ्वी, जल आदि की योनियों में जन्म लेती है। और जब यहाँ भी अनन्त शुभकर्म का उदय होता है तो द्वीन्द्रिय केंचुआ आदि के रूप में जन्म होता है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय चींटी आदि, चतुरिन्द्रिय मक्खी मच्छर आदि, पञ्चेन्द्रिय नारक तिर्यंच आदि की विभिन्न योनियों को पार करता हुआ, क्रमशः ऊपर उठता हुआ जीव, अनन्त पुण्य बल के प्रभाव से कहीं मनुष्य जन्म ग्रहण करता है। भगवान् महावीर कहते हैं कि जब 'अशुभ कर्मों का भार दूर होता है, आत्मा शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनता है, तब कहीं वह मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है।''

कम्माणं तु पहाणाए
आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता
आययंति मणुस्सयं ॥

—उत्तराध्ययन ३। ७

विश्व में मनुष्य ही सब से थोड़ी संख्या में है, अतः वही सबसे दुर्लभ भी है, महार्घ भी है। व्यापार के क्षेत्र में यह सर्व साधारण का परखा हुआ सिद्धान्त है कि जो चीज जितनी ही अल्प होगी, वह उतनी ही अधिक महँगी भी होगी। और फिर मनुष्य तो अल्प भी है और केवल अल्पता के नाते ही नहीं, अपितु गुणों के नाते श्रेष्ठ भी है। भगवान् महावीर ने इसीलिए गौतम को उपदेश देते हुए कहा है—''संसारी जीवों को मनुष्य का जन्म चिरकाल तक इधर-उधर की अन्य योनियों में भटकने के बाद बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है, वह सहज नहीं है। दुष्कर्म का फल बड़ा ही भयंकर होता है, अतएव हे गौतम! क्षण भर के लिए भी प्रमाद मत कर।''

दुल्लहे खलु माणुसे भवे,
चिर कालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग-कम्मुणो,
समयं गोयम! मा पमायए ॥

—उत्तराध्ययन १०। ४

जैन संस्कृति में मानव-जन्म को बहुत ही दुर्लभ एवं महान् माना गया है। मनुष्य जन्म पाना, किस प्रकार दुर्लभ है, इसके लिए जैन संस्कृति के व्याख्याताओं ने दश दृष्टान्तों का निरूपण किया है। सब के सब उदाहरणों के कहने का न यहाँ अवकाश ही है और न औचित्य ही। वस्तु-स्थिति की स्पष्टता के लिए कुछ बातें आपके सामने रक्खी जा रही हैं, आशा है, आप जैसे जिज्ञासु इन्हीं के द्वारा मानवजीवन का महत्त्व समझ सकेंगे।

''कल्पना करो कि भारतवर्ष के जितने भी छोटे-बड़े धान्य हों, उन सब को

एक देवता किसी स्थान-विशेष पर यदि इकट्ठा करे, पहाड़ जितना ऊँचा गगन चुम्बी ढेर लगा दे। और उस ढेर में एक सेर सरसों मिलादे, खूब अच्छी तरह उथल-पुथल कर। सौ वर्ष की बुढ़िया, जिसके हाथ काँपते हों, गर्दन काँपती हो, और आँखों से भी कम दीखता हो! उस को छाज देकर कहा जाय कि 'इस धान्य के ढेर में से सेर भर सरसों निकाल दो।' क्या वह बुढ़िया सरसों का एक-एक दाना बीन कर पुनः सेर भर सरसों का अलग ढेर निकाल सकती है? आप को असंभव मालूम होता है। परन्तु यह सब तो किसी तरह देवशक्ति आदि के द्वारा संभव भी हो सकता है, परन्तु एक बार मनुष्य जन्म पाकर खो देने के बाद पुनः उसे प्राप्त करना सहज नहीं है।"

"एक बहुत लम्बा-चौड़ा जलाशय था, जो हजारों वर्षों से शैवाल (काई) की मोटी तह से आच्छादित रहता आया था। एक कछुवा अपने परिवार के साथ जब से जन्मा, तभी से शैवाल के नीचे अन्धकार में ही जीवन गुजार रहा था। उसे पता ही न था कि कोई और भी दुनिया हो सकती है। एक दिन बहुत भयंकर तेज अंधड़ चला और उस शैवाल में एक जगह जरा-सा छेद हो गया। दैवयोग से वह कछुआ उस समय वहीं छेद के नीचे गर्दन लम्बी कर रहा था तो उसने सहसा देखा कि ऊपर आकाश चाँद, नक्षत्र और अनेक कोटि ताराओं की ज्योति से जगमग-जगमग कर रहा है। कछुवा आनंद-विभोर हो उठा। उसे अपने जीवन में यह दृश्य देखने का पहला ही अवसर मिला था। वह प्रसन्न होकर अपने साथियों के पास दौड़ा गया कि 'आओ, मैं तुम्हें एक नयी दुनिया का सुन्दर दृश्य दिखाऊँ। वह दुनिया हमसे ऊपर है, रत्नों से जड़ी हुई, जगमग-जगमग करती!' सब साथी दौड़ कर आए, परन्तु इतने में ही वह छेद बन्द हो चुका था और शैवाल का अखण्ड आवरण पुनः अपने पहले के रूप में फैल गया था। वह कछुवा बहुत देर तक इधर-उधर टक्कर मारता रहा, परन्तु कुछ भी न दिखा सका! साथी हँसते हुए चले गए कि मालूम होता है, तुमने कोई स्वप्न देख लिया है! क्या उस कछुवे को पुनः छेद मिल सकता है, ताकि वह चाँद और तारों से जगमगाता आकाश-लोक अपने साथियों को दिखा सके? यह सब हो सकता है, परन्तु नर-जन्म खोने के बाद पुनः उसका मिलना सरल नहीं है।'

"स्वयंभूरमण समुद्र सबसे बड़ा समुद्र माना गया है, असंख्यात हजार योजन का लम्बा-चौड़ा। पूर्व दिशा के किनारे पर एक जूआ पानी में छोड़ दिया जाय, और दूसरी तरफ़ पश्चिम के किनारे पर एक कीली। क्या कभी हवा के झोंकों से लहरों पर तैरती हुई कीली जूए के छेद में अपने आप आकर लग सकती है? सम्भव है यह अघटित घटित हो जाय! परन्तु एक बार खोने के बाद मनुष्य जन्म का फिर प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है।"

"कल्पना करो कि एक देवता पत्थर के स्तम्भ को पीस कर आटे की तरह चूर्ण बना दे और उसे बाँस की नली में डालकर मेरु पर्वत की चोटी पर से फूँक मार कर उड़ा दे। वह स्तम्भ परमाणु रूप में होकर विश्व में इधर-उधर फैल जाय! क्या

कभी ऐसा हो सकता है कि कोई देवता उन परमाणुओं को फिर इकट्ठा कर ले और उन्हें पुनः उसी स्तम्भ के रूप में बदल दे ? यह असंभव, सम्भव है, संभव हो भी जाय। परन्तु मनुष्य जन्म का पाना बड़ा ही दुर्लभ है, दुष्प्राप्य है।"

—आवश्यक निर्युक्ति गाथा ८३२

ऊपर के उदाहरण, जैन-साहित्य के वे उदाहरण हैं, जो मानव-जन्म की दुर्लभता का डिंडिमनाद कर रहे हैं। जैन-धर्म के अनुसार देव होना उतना दुर्लभ नहीं है, जितना कि मनुष्य होना दुर्लभ है! जैन साहित्य में आप जहाँ भी कहीं किसी को सम्बोधित होते हुए देखेंगे, वहाँ **'देवाणुप्पिय'** शब्द का प्रयोग पायेंगे। भगवान् महावीर भी आने वाले मनुष्यों को इसी **'देवाणुप्पिय'** शब्द से सम्बोधित करते थे। **'देवाणुप्पिय'** का अर्थ है—"देवानुप्रिय'। अर्थात् 'देवताओं को भी प्रिय।' मनुष्य की श्रेष्ठता कितनी ऊँची भूमिका पर पहुँच रही है। दुर्भाग्य से मानव जाति ने इस ओर ध्यान नहीं दिया, और वह अपनी श्रेष्ठता को भूल कर अवमानता के दल-दल में फँस गई है। 'मनुष्य! तू देवताओं से भी ऊँचा है। देवता भी तुझसे प्रेम करते हैं। वे भी मनुष्य बनने के लिए आतुर हैं।' कितनी विराट प्रेरणा है, मनुष्य की सुप्त आत्मा को जगाने के लिए।

जैन संस्कृति का अमर गायक आचार्य अमित गति कहता है कि—'जिस प्रकार मानव लोक में चक्रवर्ती, स्वर्गलोक में इन्द्र, पशुओं में सिंह, व्रतों में प्रशम-भाव, और पर्वतों में स्वर्णगिरि मेरु प्रधान है—श्रेष्ठ है, उसी प्रकार संसार के सब जन्मों में मनुष्य जन्म सर्वश्रेष्ठ है।'

नरेषु चक्री त्रिदशेषु वज्री,
मृगेषु सिंहः प्रशमो व्रतेषु।
मतो महीभृत्सु सुवर्ण-शैलो,
भवेषु मानुष्य-भवः प्रधानम्॥

—श्रावकाचार १।१२

महाभारत में व्यास भी कहते हैं कि 'आओ, मैं तुम्हें एक रहस्य की बात बताऊँ? यह अच्छी तरह मन में दृढ़ कर लो कि संसार में मनुष्य से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ नहीं है।'

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि,
नहि मानुषात्
श्रेष्ठतरं हि किंचित्!

—महाभारत

वैदिक धर्म ईश्वर को कर्ता मानने वाला संप्रदाय है। शुकदेव ने इसी भावना में, देखिए, कितना सुन्दर वर्णन किया है, मनुष्य की सर्व-श्रेष्ठता का। वे कहते हैं कि "ईश्वर ने अपनी आत्म-शक्ति से नाना प्रकार की सृष्टि वृक्ष, पशु सरकने वाले जीव, पक्षी, दंश और मछली को बनाया। किन्तु इनसे वह तृप्त न हो सका, सन्तुष्ट न हो

सका। आखिर मनुष्य को बनाया, और उसे देख आनन्द में मग्न हो गया! ईश्वर ने इस बात से सन्तोष माना कि मेरा और मेरी सृष्टि का रहस्य समझने वाला मनुष्य अब तैयार हो गया है।''

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽत्मशक्त्या,
वृक्षान् सरीसृप-पशून् खग-दंश-मत्स्यान्।
तैस्तैरतृप्त-हृदयो मनुजं विधाय,
ब्रह्मावबोधधिषणं मुदमाप देवः॥

—भागवत

महाभारत में एक स्थान पर इन्द्र कह रहा है 'कि भाग्यशाली हैं वे, जो दो हाथ वाले मनुष्य हैं। मुझे दो हाथ वाले मनुष्य के प्रति स्पृहा है।'

'पाणिमद्भ्यः स्पृहाऽस्माकम्।'

देखिए, एक मस्तराम क्या धुन लगा रहे हैं? उनका कहना है—'मनुष्य दो हाथ वाला ईश्वर है।'

'द्विभुजः परमेश्वरः'

महाराष्ट्र के महान् सन्त तुकाराम कहते हैं कि 'स्वर्ग के देवता इच्छा करते हैं—'हे प्रभु! हमें मृत्यु लोक में जन्म चाहिए। अर्थात् हमें मनुष्य बनने की चाह है।'

स्वर्गी चे अमर इच्छितातो देवा;
मृत्युलोकीं व्हावा जन्म आम्हां।

सन्त श्रेष्ठ तुलसीदास बोल रहे हैं:—

'बड़े भाग मानुष तन पावा,
सुर-दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।'

ज़रा उर्दू भाषा के एक मार्मिक कवि की वाणी भी सुन लीजिए! आप भी मनुष्य को देवताओं से बढ़कर बता रहे हैं—

'फ़रिश्ते से बढ़कर है इन्सान बनना,
मगर इसमें पड़ती है मेहनत ज़ियादा।'

बेशक, इन्सान बनने में बहुत ज़ियादा मेहनत उठानी पड़ती है, बहुत अधिक श्रम करना होता है। जैनशास्त्रकार, मनुष्य बनने की साधना के मार्ग को बड़ा कठोर और दुर्गम मानते हैं। औपपातिक सूत्र में भगवान् महावीर का प्रवचन है कि ''जो प्राणी छल, कपट से दूर रहता है—प्रकृति अर्थात् स्वभाव से ही सरल होता है, अहंकार से शून्य होकर विनयशील होता है—सब छोटे-बड़ों का यथोचित आदर सम्मान करता है, दूसरों की किसी भी प्रकार की उन्नति को देखकर डाह नहीं करता है—प्रत्युत हृदय में हर्ष और आनन्द की स्वाभाविक अनुभूति करता है, जिसके रग-रग में दया का संचार है—जो किसी भी दुःखित प्राणी को देखकर द्रवित हो उठता है एवं उसकी सहायता के लिए तन, मन, धन सब लुटाने को तैयार हो जाता है, वह मृत्यु के पश्चात् मनुष्य जन्म पाने का अधिकारी होता है।''

ऊँचा विचार और ऊँचा आचरण ही मानव जन्म की पृष्ठभूमि है। यहाँ जो भी बताया गया है, वह अन्दर के जीवन की पवित्रता का भाव ही बताया गया किसी भी प्रकार के साम्प्रदायिक क्रिया-काण्ड और रीति-रिवाज का उल्लेख तक किया है। भगवान् महावीर का आशय केवल इतना है कि तुम्हें मनुष्य बनने के किसी सम्प्रदाय-विशेष के विधि-विधानों एवं क्रियाकाण्डों की शर्त नहीं पूरी है। तुम्हें तो अपने अन्दर के जीवन में मात्र सरलता, विनय-शीलता, अमात्सर्य एवं दयाभाव की सुगन्ध भरनी है। जो भी प्राणी ऐसा कर सकेगा, वह अवश्य नुष्य बन सकेगा। परन्तु आप जानते हैं, यह काम सहज नहीं है, तलवार की पर नंगे पैरों नाचने से भी कहीं अधिक दुर्गम है यह मानवता का मार्ग ! जीवन के ारों से लड़ना, कुछ हँसी खेल नहीं है। अपने मन को मार कर ही ऐसा किया जा ता है। तभी हमारा कवि कहता है :—

> **"फरिश्ते से बढ़कर है इन्सान बनना।**
> **मगर इसमें पड़ती है मेहनत जियादा॥"**

२

मानव-जीव[illegible]
ध्ये[illegible]

मानव, अखिल संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। परन्तु ज़रा विचार कीजि[illegible] यह सर्वश्रेष्ठता किस बात की है ? मनुष्य के पास ऐसा क्या है, जिसके बल पर व[illegible] स्वयं भी अपनी सर्वश्रेष्ठता का दावा करता है और हजारों शास्त्र भी उसकी सर्वश्रेष्ठत[illegible] की दुहाई देते हैं।

क्या मनुष्य के पास शारीरिक शक्ति बहुत बड़ी है ? क्या यह शक्ति ही इस[illegible] बड़प्पन की निशानी है ? यदि यह बात है तो मुझे इन्कार करना पड़ेगा कि यह को[illegible] महत्व की चीज नहीं है। संसार के दूसरे प्राणियों के सामने मनुष्य की शक्ति कितन[illegible] मूल्य रखती है ? वह तुच्छ है, नगण्य है। मनुष्य तो दूसरे विराटकाय प्राणियों के सामने एक नन्हा-सा-लाचार-सा कीड़ा लगता है। जंगल का विशालकाय हाथी कितना अधिक बलशाली होता है ? सौ-पचास मनुष्यों को भी देख पाए तो सूंड़ से चीर कर सबको टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दे। वन का राजा सिंह कितना भयानक प्राणी है ? पहाड़ों को गुंजा देने वाली उसकी एक गर्जना ही मनुष्य को चुनौती है। आपने वन-मनुष्यों का वर्णन सुना होगा ? आपके समान ही मानव-आकृति धारी पशु हैं। इतने बड़े बलवान कि कुछ पूछिए नहीं। वे तेंदुओं को इस प्रकार उठा-उठा कर पटकते और मारते हैं, जिस प्रकार साधारण मनुष्य रबड़ की गेंद को ! पूर्वी कांगों में एक मृत वनमानुष को तोला गया तो वह दो टन अर्थात् ५४ मन वजन में निकला ! मनुष्य इस भीमकाय प्राणी के सामने क्या अस्तित्व रखता है ? वह तो उस वन-मानुष के एक चाँटे का धन भी नहीं ! और वह शुतुरमुर्ग कितना भयानक पक्षी है ? कभी-कभी इतने जोर से लात मारता है कि आदमी चूर-चूर हो जाता है। उसकी लात खाकर जीवित रहना असंभव है। जब वह दौड़ता है तो प्रति घंटा २६ मील की गति से दौड़ सकता है। क्या आप में से कोई ऐसा मनुष्य है, उसके साथ दौड़ लगाने वाला।

मनुष्य का जीवन तो अत्यन्त क्षुद्र जीवन है। उसका बल अन्य प्राणियों की दृष्टि में परिहास की चीज है। वह रोगों से इतना घिरा हुआ है कि किसी भी समय उसे रोग की ठोकर लग सकती है और वह जीवन से हाथ धोने के लिए मजबूर हो सकता है ! और तो क्या, साधारण-सा मलेरिया का मच्छर भी मनुष्य की मौत का संदेश लिए घूमता है। एक पहलवान बड़े ही विराटकाय एवं बलवान आदमी थे। सारा

शरीर गठा हुआ था, लोहे-जैसा ! अंग-अंग पर रक्त की ललिमा फूटी पड़ती थी। कितनी ही बार लेखक के पास आया-जाया करते थे। दर्शन करते, प्रवचन सुनते और कुछ थोड़ा बहुत अवकाश मिलता तो अपनी विजय की कहानियाँ दुहरा जाते ! जब वे बड़े-बड़े पहलवानों को मिनटों में पछाड़ देने की घटनाएँ सुनाते तो मैं देखता, उनकी छाती अहंकार से फूल उठती थी। बीच में दो तीन दिन नहीं आए। एक दिन आए तो बिल्कुल निढाल, बेदम ! शरीर लड़खड़ा-सा रहा था ! मैंने पूछा—'पहलवान साहब, क्या हुआ ? पहलवान जी बोले—'महाराज ! हुआ क्या ? आपके दर्शन भाग्य में बदे थे, सो मरता-मरता बचा हूँ ! मेरा तो मलेरिया ने दम तोड़ दिया।' मैं हँस पड़ा। मैंने कहा—'पहलवान साहब ! आप-जैसे बलवान को एक नन्हे से मच्छर ने पछाड़ दिया। और वह भी इस बुरी तरह से !' पहलवान हँसकर चुप हो गया। यह अमर सत्य है मनुष्य के देह-बल का ! यहाँ उत्तर बन ही क्या सकता है ? क्या मनुष्य इसी बल के भरोसे बड़े होने का स्वप्न ले रहा है ? मनुष्य के शरीर का वास्तविक रूप क्या है ? इसके लिए एक कवि की कुछ पंक्तियाँ पढ़लें तो ठीक रहेगा।

आदमी का जिस्म क्या है जिस पै शैदा है जहाँ;
एक मिट्टी की इमारत, एक मिट्टी का मकाँ !
खून का गारा है इसमें और ईंटें हड्डियाँ;
चंद साँसों पर खड़ा है, यह खयाली आसमाँ !
मौत की पुरजोर आँधी इससे जब टकरायगी;
देख लेना यह इमारत टूट कर गिर जायगी !

यदि बल नहीं, तो क्या रूप से मनुष्य महान् नहीं बन सकता ? रूप क्या है ? मिट्टी की मूरत पर ज़रा चमकदार रंग रोगन ! इस को धुलते और साफ होते कुछ देर लगती है ? संसार के बड़े-बड़े सुन्दर तरुण और तरुणियाँ कुछ दिन ही अपने रूप और यौवन की बहार दिखा सके। फूल खिलने भी नहीं पाता है कि मुरझाना शुरू हो जाता है। किसी रोग अथवा चोट का आक्रमण होता है कि रूप कुरूप हो जाता है, और सुन्दर अंग भग्न एवं जर्जर ! सनत्कुमार चक्रवर्ती को रूप का अहंकार करते कुछ क्षण ही गुज़रने पाए थे कि कोढ़ ने आ घेरा। सोने-सा निखरा हुआ शरीर सड़ने लगा। दुर्गन्ध असह्य हो गई। मथुरा की जनपदकल्याणी वासवदत्ता कितनी रूप-गर्विता थी ! रात्रि के सघन अन्धकार में भी दीपशिखा के समान जगमग-जगमग होती रहती थी ! परन्तु बौद्ध इतिहास कहता है कि एक दिन चेचक का आक्रमण हुआ। सारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया, सड़ने लगा, जगह-जगह से मवाद बह निकला। राजा, जो उसके रूप का खरीदा हुआ गुलाम था, वासवदत्ता को नगर के बाहर कूड़े के गंदे ढेर पर मरने को फिकवा देता है। यह है मनुष्य के रूप की इति। क्या चमड़े का रंग और हड्डियों का गठन भी कुछ महत्व रखता है ? चमड़े के हलके से परदे के नीचे क्या कुछ भरा हुआ है ? स्मरण मात्र से घृणा होने लगती है ! जो कुछ अन्दर है, वह यदि बाहर आ जाय तो गीध, कौवे

और कुत्ते उसे नोंच खाएँ ! कहीं भी बाहर आना-जाना कठिन हो जाय। और यह मनुष्य का रूप दूसरे पशु-पक्षियों की तुलना में है भी क्या ? मयूर कितना सुन्दर पक्षी है ! गर्दन और पंखों का सौन्दर्य मोह लेने वाला है। शुतुरमुर्ग के शानदार छोटे पंख का मूल्य, कहते हैं—चालीस पचास रुपयों तक होता है। मनुष्य की वाणी का माधुर्य कोयल से उपमित होता है। गति की उपमा हंस की गति से और नाक की उपमा तोते की चोंच से दी जाती है। किंबहुना, प्रत्येक अंग का सौन्दर्य विभिन्न प[illegible] पक्षियों के अवयवों से तुलना पाकर ही कवि की वाणी पर चढ़ता है। इस का अ[illegible] तो यह हुआ कि मनुष्य का रूप पशु-पक्षियों के सामने तुच्छ है, नगण्य है ! अतएव रू[illegible] की दृष्टि से मनुष्य की महत्ता और श्रेष्ठता का कुछ भी मूल्य नहीं है।

अब रहा, परिवार का बड़प्पन ! क्या मनुष्य के दस-बीस बेटे, पोते औ[illegible] नाती हो जाने से उसका कुछ महत्त्व बढ़ जाता है ? कितना ही बड़ा परिवार हो, कितनी ही अधिक सन्तति हो, मनुष्य का महत्व इनसे अणुमात्र भी बढ़ने वाला नहीं है। रावण का इतना बड़ा परिवार था, आखिर वह क्या काम आया ? छप्पन [illegible] यादव, जो एक दिन भारतवर्ष के करोड़ों लोगों के भाग्य-विधाता बन बैठे थे, [illegible] कहाँ विलीन हो गए ? श्री कृष्ण को यादव जाति के द्वारा क्या सुख मिला ? [illegible] राजा उग्रसेन के यहाँ कंस का जन्म हुआ। बड़ा भाग्यशाली पुत्र था। भारत [illegible] वासुदेव जरासन्ध का प्यारा दामाद बना ! परन्तु उग्रसेन को क्या मिला ? जे[illegible] मिला और मिली प्रतिदिन पीठ पर पड़ने वाली पाँचसौ कोड़ों की असह्य मार [illegible] राजा श्रेणिक को भी तो वह अजात शत्रु कोणिक, पुत्र के रूप में प्राप्त हुआ था, जिसके वैभव के वर्णन से औपपातिक सूत्र की प्रस्तावना अटी पड़ी है। परन्तु राजा श्रेणिक से पूछते तो पता चलता कि पुत्र और परिवार का क्या आनन्द होता है ? यह पुत्र का ही काम था कि राजा श्रेणिक को अपने बुढ़ापे की घड़ियाँ काठ के पिंजरे में बन्द पशु की तरह गुजारनी पड़ीं। न समय पर भोजन का पता था और न पानी का ! और अन्त में ज़हर खाकर मृत्यु का स्वागत करना पड़ा। क्या यही पुत्रों औ[illegible] पौत्रों की गौरवशालिनी परंपरा है ? क्या यह सब मनुष्य के लिए अभिमान की वस्तु है ? मैं नहीं समझता, यदि परिवार की एक लम्बी चौड़ी सेना इकट्ठी भी हो जाती है तो इससे मनुष्य को कौनसे चार चाँद लग जाते हैं ? वैज्ञानिक क्षेत्र में एक ऐसा कीटाणु परिचय में आया है, जो एक मिनट में दस करोड़ अरब सन्तान पैदा कर देता है। क्या इसमें कीटाणु का कोई गौरव है, महत्व है ? वह मनुष्य ही क्या, जो कीटाणुओं की तरह सन्तति-प्रजनन में ही अपना रिकार्ड कायम कर रहा है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर से सम्राट् विक्रमादित्य ने यह पूछा कि "आप जैन भिक्षु अपने नमस्कार करने वाले भक्त को धर्म वृद्धि के रूप में प्रतिवचन देते हैं, अन्य साधुओं की तरह पुत्रादि प्राप्ति का आशीर्वाद क्यों नहीं देते ?" आचार्य श्री ने उत्तर में कहा कि "राजन् ! मानव जीवन के उत्थान के लिए एक धर्म को ही हम महत्वपूर्ण साधन समझते हैं, अतः उसी की वृद्धि के लिए प्रेरणा देते हैं। पुत्रादि कौनसी महत्वपूर्ण

वस्तु है ? वे तो मुर्गे, कुत्ते और सूअरों को भी बड़ी संख्या में प्राप्त हो जाते हैं। क्या वे पुत्रहीन मनुष्य से अधिक भाग्यशाली हैं ? मनुष्य जीवन का महत्त्व बच्चे-बच्चियों के पैदा करने में नहीं है, जिसके लिए हम भिक्षु भी आशीर्वाद देते फिरें।"

'सन्तानाय च पुत्रवान् भव पुनस्तत्कुक्कुटानामपि।'

मनुष्य जाति का एक बहुत बड़ा वर्ग धन को ही बहुत अधिक महत्त्व देता है। उसका सोचना-समझना, बोलना-चलना, लिखना-पढ़ना सब कुछ धन के लिए ही होता है। वह दिन-रात सोते-जागते धन का ही स्वप्न देखता है। न्याय हो, अन्याय हो, धर्म हो, अधर्म हो, कुछ भी हो, उसे इन सब से कुछ मतलब नहीं। उसे मतलब है एक मात्र धन से। धन मिलना चाहिए, फिर भले ही वह छल-कपट से मिले, चोरी से मिले, विश्वासघात से मिले, देश-द्रोह से मिले या भाई का गला काट के मिले। ग़रीब जनता के गर्म खून से सना हुआ पैसा भी उसके लिए पूज्य परमेश्वर है, उपास्य देव है। उसका सिद्धान्त सूत्र अनादि काल से यही चला आ रहा है कि **'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।' 'आना अंशकला प्रोक्ता, रूप्योऽसौ भगवान् स्वयम्।'** परन्तु क्या व जीवन का यही ध्येय है कि धन के पीछे पागल बनकर घूमता रहे ? क्या धन आप में इतना महत्वपूर्ण है ? क्या तेली के बैल की तरह रात-दिन धन की चिन्ता त-घुल कर ही जीवन की अन्तिम घड़ियों के द्वार पर पहुँचा जाय ? यदि दुनिया की बेईमानी करके कुछ लाख का धन एकत्रित कर भी लिया तो क्या बन जायगा ? ग के पास कितना धन था ? सारी लंका नगरी ही सोने की थी। लंका के नाग- सोने की सुरक्षा के लिए आजकल की तरह तिजौरी तो न रखते होंगे ? जिनके यहाँ घर की दीवार, छत और फर्श भी सोने के हों, भला वहाँ सोने के लिए तिजौरी रखने का क्या अर्थ ? और भारत की द्वारिका नगरी भी तो सोने की थी ! क्या हुआ इन सोने की नगरियों का ? दोनों का ही अस्तित्व खाक में मिल गया। सोने की लंका ने रावण को राक्षस बना दिया तो सोने की द्वारिका ने यादवों को नर-पशु। लंका और द्वारिका के धनी मनुष्यत्व से हाथ धो बैठे थे, दुराचारों में फँस गए थे। धन के अतिरेक ने उन्हें अंधा बना दिया था। आज कुछ गौरव है, उन धनी-मानी नरेशों का ? मैं दिल्ली और आगरा में बिखरे हुए मुगल सम्राटों के वैभव को देखता हूँ। क्या लाल किला और ताज इसीलिए बनाए गए थे कि उन पर चाँद सितारे के मुस्लिम झंडे के स्थान पर अंग्रेजों का यूनियन जैक फहराए। आज कहाँ हैं, मुग़ल सम्राटों के उत्तराधिकारी? कितने अत्याचार किए, कितने निरीह जनसमूह क़तल किए ? परन्तु वे सिंहासन, जिनके पाये पाताल में गाड़कर मजबूत किए जा रहे थे, उखड़े बिना न रहे। और वह यूनियन जैक भी कहाँ है, जो समुद्रों पार से तूफान की तरह बढ़ता, हाहाकार मचाता भारत में आया था ? क्या वह वापस लौटने के इरादे से आया था ? परन्तु गाँधी की आँधी के झटकों को वह रोक न सका और उड़ गया ! धन अनित्य है, क्षण भंगुर है ! इसका गर्व क्या, इसका घमंड क्या ? भारत के ग्रामीण लोगों का विश्वास है कि 'जहाँ कोई बड़ा साँप रहता है, वहाँ अवश्य कोई धन का बड़ा खजाना होता है।' यह विश्वास

कहाँ तक सत्य है, यह जाने दीजिए। परन्तु इस पर से यह तो पता लगता है कि धन से चिपटे रहने वाले मनुष्य साँप ही होते हैं, मनुष्य नहीं। मानव जीवन का ध्येय चाँदी सोने की रंगीन दुनिया में नहीं है। विश्व का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव, क्या कभी रुपये पैसे के इस गोल चक्र में अपना महत्त्व पा सकता है? कभी नहीं।

मनुष्य विश्व का एक महान् बुद्धिशाली प्राणी है। वह अपनी बुद्धि के आगे किसी को कुछ समझता ही नहीं है। वह प्रकृति का विजेता है, और यह विजय मिली है उसे अपने बुद्धि-वैभव के बल पर। वह अपनी बुद्धि की यात्रा में कहाँ से कहाँ पहुँच गया है। भूमण्डल पर दुर्गम पहाड़ों पर से रेल और मोटरें दौड़ रही हैं। महासमुद्रों के विराट् वक्ष पर से जलयानों की गर्जना सुनाई दे रही है। आज मनुष्य हवा में पक्षियों की तरह उड़ रहा है, वायुयान के द्वारा संसार का कोना-कोना छान रहा है। मनुष्य की बुद्धि ने कान इतने बड़े प्रभावशाली बना दिए हैं कि यहाँ बैठे हजारों मील की बात सुन सकते हैं। और आँख भी इतनी बड़ी हो गई है कि भारत में बैठकर इङ्गलैंड और अमेरिका में खड़े आदमी को देख सकते हैं। अरे यह परमाणु शक्ति! कुछ न पूछो, हिरोशिमा का संहार क्या कभी भुलाया जा सकेगा? रबड़ की छोटी-सी गेंद के बराबर परमाणु बम से आज की दुनिया के इन्सानों की जिन्दगी काँप रही है। अभी-अभी स्विटजरलैण्ड के एक वैज्ञानिक ने कहा है कि तीन छटाँक विज्ञानगवेषित विषाक्त पदार्थ-विशेष से अरबों मनुष्यों का जीवन कुछ ही मिनटों में समाप्त किया जा सकता है। और देखिए, अमेरिका में वह हाइड्रोजन बम का धूमकेतु सर उठा रहा है, जिसकी चर्चा—मात्र से मानव जाति त्रस्त हो उठी है। यह सब है मनुष्य की बुद्धि-लीला! वह अपने बुद्धि कौशल से स्वर्ग बनाने चला था और कुछ बनाया भी था; परन्तु अब बन क्या गया है? साक्षात् घोर नरक! क्या यह बुद्धि मनुष्य के लिए गर्व करने की वस्तु है? जिस बुद्धि के पीछे विवेक नहीं है, धर्म की पिपासा नहीं है, वह बुद्धि मनुष्य को मनुष्य न रहने देकर राक्षस बना देती है। अपनी स्वार्थपूर्ति कर ली, जो मनचाहा काम बना लिया, क्या इस बुद्धि को ही मनुष्य-जीवन की सर्व-श्रेष्ठता का गौरव दिया जाय! खाना, पीना और ऐश आराम तो अपनी-अपनी समझ के द्वारा पशुपक्षी भी कर लेते हैं। पारिवारिक व्यवस्था और कमाने-खाने की बुद्धि तो उनमें भी बहुतों की बड़ी शानदार होती है। उदाहरण के लिए आप फाकलैण्ड के द्वीप-समूह में पाई जाने वाली नमाजी चिड़ियाओं को ले सकते हैं। ये तीस से चालीस हजार तक की संख्या के विशाल झुण्डों में रहती हैं। ये फौजी सिपाहियों की तरह कतार बाँध कर खड़ी होती हैं। और आश्चर्य की बात तो यह है कि बच्चों को अलग विभक्त करके खड़ा करती हैं, नर पक्षियों को अलग तो मादा पक्षियों को अलग। इतना ही नहीं, यह और वर्गीकरण करती हैं कि साफ और तगड़े पक्षियों को अलग तथा पर झाड़ने वाले, गन्दे और कमजोर पक्षियों को अलग! कितने गज़ब की है, सैनिक पद्धति से वर्गीकरण करने की कल्पना शक्ति! और ये मधुमक्खियाँ भी कितनी विलक्षण हैं? मधुमक्खियों के छत्ते में, विशेषज्ञों के मतानुसार, लगभग तीस हजार से साठ हजार तक मक्खियाँ

होती हैं। उनमें बहुत अच्छा सुदृढ़ संगठन होता है। सब का कार्य उचित पद्धति से बंटा हुआ होता है, फलतः हरएक मक्खी को मालूम रहता है कि उसे क्या काम करना है? इसलिए वहाँ कभी कोई काम बाकी नहीं रह पाता, नित्य का काम नित्य समाप्त हो जाता है। छत्ते के अन्दर सब तरह का काम होता है—आहार का प्रबन्ध, छत्ता बनाने के लिए सामान का प्रबन्ध, गोदाम का प्रबन्ध, सफाई का प्रबन्ध, मकान का प्रबन्ध और चौकी पहरे का प्रबन्ध! कुछ को छत्ते के अन्दर गर्मी, और सफाई का प्रबन्ध देखना होता है। कुछ को बच्चों की देखभाल करनी पड़ती है। इस पर भी कड़ी नज़र रखी जाती है कि कोई किसी प्रकार की दुष्टता या काम-चोरी न करने पाए! और उन आस्ट्रेलिया की नदियों में पाई जाने वाली निशानेबाज मछलियों की कहानी भी कुछ कम विचित्र नहीं है। यह मछली अपने शिकार की ताक में रहती है। जब यह देखती है कि नदी के किनारे उगे हुए पौधों की पत्तियों पर कोई मक्खी या कीड़ा बैठा है तो चुपचाप उसके पास जाती है और मुँह में पानी भर कर कुल्ले का ठीक निशाना ऐसे जोर से मारती है कि वह कीड़ा तुरन्त पानी में गिर पड़ता है और मछली का आहार बन कर काल के गाल में पहुँच जाता है। इस मछली का निशाना शायद ही कभी चूकता है! वैज्ञानिकों ने इसका नाम टॉक्सेटेस रखा है, जिसका अर्थ है धनुषधारी! एटलाण्टिक महासागर में उड़ने वाली मछलियाँ भी होती हैं। काफी लम्बा लिख चुका हूँ। अब अधिक उदाहरणों की अपेक्षा नहीं है। न मालूम कितने कोटि पशु-पक्षी ऐसे हैं, जो मनुष्य के समान ही छलछंद रचते हैं, अकल लड़ाते हैं, जाल फैलाते हैं और अपना पेट भरते हैं। अस्तु, खाने कमाने को, मौज शौक उड़ाने की, यदि मनुष्य ने कुछ चतुरता पाई है तो क्या यह उसकी अपनी कोई श्रेष्ठता है? क्या इस चातुर्य पर गर्व किया जाय? नहीं, यह मनुष्य की कोई विशेषता नहीं हैं!

मानव जीवन का ध्येय न धन है, न रूप है, न बल है और न सांसारिक बुद्धि ही है। यों ही कहीं से घूमता-फिरता भटकता आत्मा मानव शरीर में आया, कुछ दिन रहा, खाया पिया, लड़ा झगड़ा, हँसा रोया और एक दिन मर कर काल-प्रवाह में आगे के लिए बह गया, भला यह भी कोई जीवन है? जीवन का उद्देश्य मरण नहीं है, किन्तु मरण पर विजय है। आज तक हम लोगों ने किया ही क्या है? कहीं पर जन्म लिया है, कुछ दिन जिन्दा रहे हैं और फिर पाँव पसार कर सदा के लिए लेट गए हैं। बस विराट् संसार में कोई भी जाति, कुल, वर्ण और स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ हमने अनन्त-अनन्त बार जन्ममरण न किया हो? भगवती सूत्र में हमारे जन्म-मरण की दुख-भरी कहानी का स्पष्टीकरण करने वाली एक महत्वपूर्ण प्रश्नोत्तरी है!

गौतम गणधर पूछते हैं—

"भंते! असंख्यात कोड़ा कोड़ी योजन-परिमाण इस विस्तृत विराट लोक में क्या कहीं ऐसा भी स्थान है, जहाँ कि इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो?"

भगवान् महावीर उत्तर देते हैं—

"गौतम ! अधिक तो क्या, एक परमाणु पुद्गल जितना भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो।"

........**"नत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे जत्थ णं अयं जीवे न जाए वा, न मए वा।"**

—भग १२, ७, सू० ४५७

भगवान् महावीर के शब्दों में यह है हमारी जन्म-मरण की कड़ियों का लम्बा इतिहास ! बड़ी दुखभरी है हमारी कहानी ! अब हम इस कहानी को कब तक दुहराते जायँगे ? क्या मानव जीवन का ध्येय एक मात्र जन्म लेना और मर जाना ही है। क्या हम यों ही उतरते-चढ़ते, गिरते-पड़ते इस महाकाल के प्रवाह में तिनके की तरह बेबस लाचार बहते ही चले जायँगे ? क्या कहीं किनारा पाना, हमारे भाग्य में नहीं बदा है ? नहीं, हम मनुष्य हैं, विश्व के सर्वश्रेष्ठ प्राणी हैं। हम अपने जीवन के लक्ष्य को अवश्य प्राप्त करेंगे ! यदि हमने मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं प्राप्त किया, तो फिर हम में और दूसरे पशु-पक्षियों में अन्तर ही क्या रह जायगा ? हमारे जीवन का ध्येय, अधर्म नहीं, धर्म है—अन्याय नहीं. न्याय है—दुराचार नहीं सदाचार है—भोग नहीं, त्याग है। धर्म, त्याग और सदाचार ही हमें पशुत्व से अलग करता है। अन्यथा हम में और पशु में कोई अन्तर नहीं है, कोई भेद नहीं है। इस सम्बन्ध में एक आचार्य कहते भी हैं कि आहार, निद्रा, भय और कामवासना जैसी पशु में हैं, वैसी ही मनुष्य में भी हैं, अतः इनको लेकर, भोग को महत्व देकर मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता ! एक धर्म ही मनुष्य के पास ऐसा है, जो उसकी अपनी विशेषता है, महत्ता है। अतः जो मनुष्य धर्म से शून्य हैं, वे पशु के समान ही हैं।

"आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो,
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥"

मनुष्य अमर होना चाहता है। इसके लिए वह कितनी औषधियाँ खाता है, कितने देवी देवता मनाता है, कितने अन्याय और अत्याचार के जाल बिछाता है ! परन्तु क्या यह अमर होने का मार्ग है ? अमर होने के लिए मनुष्य को धर्म की शरण लेनी होगी, त्याग का आश्रय लेना होगा।

भगवान् महावीर कहते हैं—

"वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमंमि लोए अदुवा परत्था"

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ४.

—प्रमत्त मनुष्य की धन के द्वारा रक्षा नहीं हो सकेगी, न इस लोक में और न परलोक में।

कठोपनिषत्कार कहते हैं—

"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।"

—मनुष्य कभी धन से तृप्त नहीं हो सकता।

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्
तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥"

—श्रेय और प्रेय—ये दोनों ही मनुष्य के सामने आते हैं, परन्तु ज्ञानी पुरुष दोनों का भली भाँति विचार करके प्रेय की अपेक्षा श्रेय को श्रेष्ठ समझ कर ग्रहण करता है, और इसके विपरीत मन्द-बुद्धि वाला मनुष्य लौकिक योग-क्षेम के फेर में पड़ कर त्याग की अपेक्षा भोग को अच्छा समझता है—उसे अपना लेता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते,
कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति,
अत्र ब्रह्म समश्नुते॥"

—साधक के हृदय में रही हुई कामनाएँ जब सबकी सब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है, ब्रह्मत्व-भाव को प्राप्त कर लेता है।

एक हिन्दी कवि भी धर्म और सदाचार के महत्व पर देखिए, कितनी सुन्दर बोली बोल रहा है:—

"धन, धान्य गयो, कछु नाहिं गयो,
आरोग्य गयो, कछु खो दीन्हो।
चारित्र गयो, सर्वस्व गयो,
जग-जन्म अकारथ ही लीन्हो॥"

भगवान् महावीर ने या दूसरे महापुरुषों ने मनुष्य की श्रेष्ठता के जो गीत गाए हैं, वे धर्म और सदाचार के रंग में गहरे रंगे हुए मनुष्यों के ही गाए हैं। मनुष्य के से हाथ पैर पा लेने से कोई मनुष्य नहीं बन जाता। मनुष्य बनता है, मनुष्य की आत्मा पाने से। और वह आत्मा मिलती हैं, धर्म के आचरण से। यों तो मनुष्य रावण भी था? परन्तु कैसा था? ग्यारह लाख वर्ष से प्रतिवर्ष उसे मारते आ रहे हैं, गालियाँ देते आ रहे हैं। यह सब क्यों? इसलिए कि उसने मनुष्य बनकर मनुष्य का जैसा काम नहीं किया, फलतः यह मनुष्य होकर भी राक्षस कहलाया। भोग, निरा भोग मनुष्य को राक्षस बनाता है। एक मात्र त्यागभावना ही है, जो मनुष्य को मनुष्य

बनाने की क्षमता रखती है। भोगविलास की दलदल में फँसे रहने वाले रावणों के लिए हमारे दार्शनिकों ने 'द्विभुजःपरमेश्वरः' नहीं कहा है।

यूनान का एक दार्शनिक दिन के बारह बजे लालटेन जला कर एथेंस नगरी के बाजारों में कई घंटे घूमता रहा। जनता के लिए आश्चर्य की बात थी कि दिन में प्रकाश के लिए लालटेन लेकर घूमना !

एक जगह हजारों आदमी इकट्ठे हो गए और पूछने लगे कि "यह सब क्या हो रहा है ?"

दार्शनिक ने कहा—"मैं लालटेन की रोशनी में इतने घण्टों से आदमी ढूँढ़ रहा हूँ।"

सब लोग खिलखिला कर हँस पड़े और कहने लगे कि—"हम हजारों आदमी आपके सामने हैं। इन्हें लालटेन लेकर देखने की क्या बात है ?"

दार्शनिक ने गर्ज कर कहा—"अरे क्या तुम भी अपने आपको मनुष्य समझे हुए हो ? यदि तुम भी मनुष्य हो तो फिर पशु और राक्षस कौन होंगे ? तुम दुनिया भर के अत्याचार करते हो, छल छंद रचते हो, भाइयों का गला काटते हो, कामवासना की पूर्ति के लिए कुत्तों की तरह मारे-मारे फिरते हो, और फिर भी मनुष्य हो ! मुझे मनुष्य चाहिए, वन-मानुष नहीं।"

दार्शनिक की यह कठोर, किन्तु सत्य उक्ति, प्रत्येक मनुष्य के लिए, चिन्तन की चीज है।

एक और दार्शनिक ने कहा है कि—"संसार में एक जिन्स ऐसी है, जो बहुत अधिक परिमाण में मिलती है, परन्तु मनमुताबिक नहीं मिलती।" वह जिन्स और कोई नहीं, इन्सान है। जो होने को तो अरबों की संख्या में हैं, परन्तु वे कितने हैं, जो इन्सानियत की तराजू पर गुणों की तौल में पूरे उतरते हों ! सच्चा मनुष्य वही है, जिसकी आत्मा धर्म और सदाचार की सुगन्ध से निशदिन महकती रहती है।

भारत के प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने २६ जनवरी १९४८ के दिल्ली-प्रवचन में मनुष्यता के सम्बन्ध में बोलते हुए कहा था—"भारतवर्ष ने हमेशा रूहानियत की, आत्मशक्ति की ही कद्र की है, अधिकार और पैसे की नहीं। देश की असली दौलत, इन्सानी दौलत है। देश में योग्य और नैतिक दृष्टि से बुलन्द जितने इन्सान होंगे, उतना ही वह आगे बढ़ता है।"

प्रधान मन्त्री ने, भारत को लेकर जो बात कही है, वह सम्पूर्ण मानव-विश्व के लिए है। मनुष्यता ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है। जिसके पास वह है, वह मनुष्य है, और जिसके पास वह नहीं है, वह पशु है, साक्षात् राक्षस है। और वह मनुष्यता स्वयं क्या चीज है ? वह है मनुष्य का व्यक्तिगत भोगविलास की मनोवृत्ति से अलग

रहना, त्याग-मार्ग अपनाना, धर्म और सदाचार के रंग में अपनेको रंगना, जन्म मरण के बन्धनों को तोड़ कर अजर अमर पद पाने का प्रयत्न करना। संसार की अंधेरी गलियों में भटकना, मानव-जीवन का ध्येय नहीं है। मानव-जीवन का ध्येय है, अजर अमर मनुष्यता का पूर्ण प्रकाश पाना। वह प्रकाश, जिससे बढ़कर कोई प्रकाश नहीं। वह ध्येय, जिससे बढ़ कर कोई ध्येय नहीं।

३ सच्चे सुख की शोध

आज से नहीं, लाखों-करोड़ों असंख्य वर्षों से संसार के कोने-कोने में एक प्रश्न पूछा जा रहा है कि यह प्रवृत्ति, यह संघर्ष, यह दौड़ धूप किस लिए है ? प्रत्येक प्राणी के अन्तर्हृदय से एक ही उत्तर दिया जा रहा है—सुख के लिए, आनन्द के लिए, शान्ति के लिए। हर कोई जीव सुख चाहता है, दुःख से भागता है। संसार का प्रत्येक प्राणी सुख के लिए प्रयत्नशील है। चींटी से लेकर हाथी तक, रंक से लेकर राजा तक, नारक से लेकर देवता तक क्षुद्र से क्षुद्र और महान् से महान् प्रत्येक संसारी प्राणी सुख को ध्रुवतारा बनाए दौड़ा जा रहा है ! अनन्त-अनन्त काल से प्रत्येक जीवन इसी सुख के चारों ओर चक्कर काटता रहा है। सुख कौन नहीं चाहता ? शान्ति किसे अभीष्ट नहीं ? सब को सुख चाहिए। सब को शान्ति चाहिए।

सुख प्राप्ति की धुन में ही मनुष्य ने नगर बसाए, परिवार बनाए। बड़े-बड़े साम्राज्यों की नींव डाली, सोने के सिंहासन खड़े किए। सुख के लिए ही मनुष्य ने मनुष्य से प्यार किया, और द्वेष भी किया ! आज तक के इतिहास में जो हजारों खून की नदियाँ बही हैं, वे सब सुख के लिए बही हैं, अपनी तृप्ति के लिए बही हैं। सुख की खोज में भटक कर मानव, मानव नहीं रहा, साक्षात् पशु बन गया है, राक्षस हो गया है। यह क्यों हुआ ?

भारतीय शास्त्रकारों ने सुख को दो भागों में विभक्त किया है। एक सुख आन्तरिक है तो दूसरा बाह्य। एक आत्मनिष्ठ है तो दूसरा वस्तुनिष्ठ। एक आध्यात्मिक है तो दूसरा भौतिक। एक अजर अमर है तो दूसरा क्षणिक, क्षण भंगुर। एक दुःख की कालिमा से सर्वथा रहित है तो दूसरा विषमिश्रित मोदक।

बाह्य सुख में सब प्रकार के भौतिक तथा पौद्गलिक सुखों का समावेश हो जाता है। यह सुख वस्तुनिष्ठ है, अतः वस्तु है तो सुख है, अन्यथा दुःख ! एक बच्चा रो रहा है। आपने खिलौना दिया तो आनन्द में उछल पड़ा, नाचने लगा। परन्तु कितनी देर ? देखिए, खिलौना टूट गया है, और वह बच्चा अब पहले से भी अधिक रो रहा है। कहाँ गया, वह आनन्द-नृत्य ? खिलौने के साथ-साथ वह भी टूट गया; क्योंकि वह वस्तुनिष्ठ था। यही सुख, वह सुख है, जिसके पीछे संसारी प्राणी पागल की तरह भटकता आ रहा है, अपने समय और शक्तियों का अपव्यय करता आ रहा है। इस सुख का केन्द्र धन है, विषय वासना है, भोग-लिप्सा है, वस्तु-संग्रह है, सन्तान

की इच्छा है, स्वजन परिजन आदि हैं। परन्तु यह सब सुख, सुख नहीं, सुखाभास है। भोगवासना की तृप्ति में कल्पित सुख की अपेक्षा वास्तविक दुःख ही अधिक है। अधिक क्या, अनन्त है। **'खणमित्तसुक्खा, बहुकाल दुक्खा।'**

क्या धन में सुख है? धन प्राप्ति के लिए कितना दम्भ रचा जाता है? कितनी घृणा? कितना द्वेष? कितना अत्याचार? भाई-भाई का गला काट रहा है, धन के लिए। विश्वव्यापी युद्धों में प्रजा के खून की नदियाँ बह रही हैं, धन के लिए। मनुष्य धन के लिए पहाड़ों पर चढ़ता है, रेगिस्तानों में भटकता है, समुद्रों में डूबता है, फिर भी भाग्य का द्वार नहीं खुल पाता। साधारण मजदूर कहता है कि हाय धन मिले तो आराम से जिन्दगी कटे, संसार में और कुछ दुर्लभ नहीं, दुर्लभ है—एक मात्र धन!

परन्तु सेठिया कहता है कि अरे धन की क्या बात है? मैंने लाखों कमाए हैं, और अब लाखों कमा सकता हूँ। मैंने सब तरफ धन के ढेर लगा दिए हैं, सोने के महल खड़े कर दिए हैं। परन्तु इस धन का होगा क्या? कोई पुत्र नहीं, जो इस धन का उत्तराधिकारी हो। एक भी पुत्र होता तो मैं सुखी हो जाता, मेरा जीवन सफल हो जाता। आज बिना पुत्र के घर सूना-सूना है, मरघट-सा लगता है। पुत्र! हा पुत्र! घर का दीपक!

परन्तु आइए, यह राजा उग्रसेन है और यह राजा श्रेणिक! पुत्र सुख के सम्बन्ध में इनसे पूछिए, क्या कहते हैं? दोनों ही नरेश कहते हैं कि—"बाबा, ऐसे पुत्रों से तो बिना पुत्र ही अच्छे। भूल में हैं वे लोग, जो पुत्रैषणा में पागल हो रहे हैं। हमें हमारे पुत्रों ने कैद में डाला, काठ के पिंजड़े में बन्द किया। न समय पर रोटी मिली, न कपड़ा और न पानी ही! पशु की भाँति दुःख के हाहाकार में जिन्दगी के दिन गुजारे हैं। पुत्र और परिवार का सुख एक कल्पना है, विशुद्ध भ्रान्ति है।"

सच्चा सुख है आत्मा में। सुख का झरना अन्यत्र कहीं नहीं, अपने अन्दर ही बह रहा है। जब आत्मा बाहर भटकता है, परपरिणति में जाता है तो दुःख का शिकार होता है। और जब वह लौट कर अपने अन्दर में ही आता है, वैराग्य रस का आस्वादन करता है, संयम के अमृत प्रवाह में अवगाहन करता है, तो सुख, शान्ति और आनन्द का ठाठें मारता हुआ क्षीर सागर अपने अन्दर ही मिल जाता है। जब तक मनुष्य वस्तुओं के पीछे भागता है, धन, पुत्र, परिवार एवं भोग-वासना आदि की दल-दल में फँसता है, तब तक शान्ति नहीं मिल सकती। यह वह आग है, जितना ईंधन डालोगे, उतनी ही बढ़ेगी, बुझेगी नहीं। वह मूर्ख है, जो आग में घी डालकर उसकी भूख बुझाना चाहता है। जब भोग का त्याग कर देगा, तभी सच्चा आनन्द मिलेगा। सच्चा सुख भोग में नहीं, त्याग में है; वस्तु में नहीं, आत्मा में है। आरुणिकोपनिषद् में कथा आती है कि प्रजापति के पुत्र आरुणि ऋषि कहीं जा रहे थे। क्या देखा कि एक कुत्ता मांस से सनी हुई हड्डी मुख में लिए कहीं जा रहा है। हड्डी

को देख कर कई कुत्तों के मुख में पानी भर आया और उन्होंने आकर कुत्ते को घेर लिया एवं सब के सब दांत एवं पंजे आदि से उसको मारने लगे। यह देखकर बेचारे कुत्ते ने मुख से हड्डी छोड़ दी। हड्डी छोड़ते ही सब कुत्ते उसे छोड़कर हड्डी पर झपटे और वह कुत्ता शान्त भाव से एक ओर बैठ गया। शेष कुत्तों में हड्डी के पीछे बहुत देर तक लड़ाई होती रही और वे सब के सब घायल हो गए। यह तमाशा देखकर आरुणि ऋषि विचार करने लगे कि "अहो, जितना दुःख है, ग्रहण में ही है, त्याग में दुःख कुछ नहीं है, प्रत्युत सुख ही है। जब तक कुत्ते ने हड्डी न छोड़ी, तब तक पिटता और घायल होता रहा और जब हड्डी छोड़ दी, तो सुखी हो गया। इससे सिद्ध होता है कि त्याग ही सुख रूप है, ग्रहण में दुःख है। हाथ से ग्रहण करने में दुःख हो, इसका तो कहना ही क्या है, मन से विषय का ध्यान करने में भी दुःख ही होता है।" सच कहा है कि विषयों का ध्यान करने से उनमें संग होता है, संग होने से उनकी प्राप्ति की कामना होती है, कामना में प्रतिबन्ध होने पर क्रोध होता है। कामना पूरी होने पर लोभ होता है, लोभ से मोह होता है, मोह से स्मृति नष्ट होती है—सद्गुरु का उपदेश याद नहीं रहता, स्मृति नष्ट होने से विवेक-बुद्धि नष्ट हो जाती है, और विवेक-बुद्धि नष्ट होने से जीव नरक में जाता है; इसलिए विषयाशक्ति ही सब अनर्थ का मूल कारण है! '**खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।**' जब विषयों का त्याग होता है, वैराग्य होता है, तभी सच्चे सुख का झरना अन्तरात्मा में बहता है और जन्म जन्मान्तरों से आने वाले वैषयिक सुख दुःख के मैल को बहाकर साफ कर डालता है।

बाह्य दृष्टि से धन वैभव, भोग विलास कितने ही रमणीय एवं चित्ताकर्षक प्रतीत होते हों, परन्तु विवेकी मनुष्य तो इन में सुख की गन्ध भी नहीं देखता। विषयासक्त होकर आज तक किसी ने कुछ भी सुख नहीं पाया। विषयासक्त मनुष्य, अपने आप में कितना ही क्यों न बड़ा हो, एक दिन शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों से सदा के लिए हाथ धो बैठता है। क्या कभी विषय-तृष्णा भोग से शान्त हो सकती है? कभी नहीं। वह तो जितना भोग भोगेंगे, उतनी प्रतिपल बढ़ती ही जायगी। मनुष्य की एक इच्छा पूरी नहीं होती कि दूसरी उठ खड़ी होती है। वह पूरी नहीं हो पाती कि तीसरी आ धमकती है। इच्छाओं का यह सिलसिला टूट ही नहीं पाता। मनुष्य का मन परस्पर विरोधी इच्छाओं का वैसा ही केन्द्र है, जैसा कि हजारों-लाखों उठती-गिरती लहरों का केन्द्र समुद्र! एक दरिद्र मनुष्य कहता है कि यदि कहीं से पचास रुपए माहवारी मिल जाएँ तो मैं सुखी हो जाऊँ! जिसको पचास मिल रहे हैं, वह सौ के लिए छटपटा रहा है और सौ वाला हजार के लिए। इस प्रकार लाखों, करोड़ों और अरबों पर दौड़ लग रही है। परन्तु आप विचार करें कि यदि पचास में सुख है तो पचास वाला सौ, सौ वाला हजार, और हजार वाला लाख, और लाख वाला करोड़ क्यों चाहता है? इसका अर्थ यह है कि वैषयिक सुख, सुख नहीं है; वह वस्तुतः दुःख ही है। भगवान महावीर ने वैषयिक सुख के लिए शहद से लिप्त तलवार की धार का उदाहरण दिया है। यदि शहद-पुती तलवार की

धार को चाटें तो कितनी देर का सुख ? और चाटते समय धार से जीभ कटते ही कितना लम्बा दुःख ? इसीलिए भगवान् महावीर ने अन्यत्र भी कहा है कि—'सब वैषयिक गान विलाप हैं, सब नाच रंग विडंबना है, सब अलंकार शरीर पर बोझ हैं। कि बहुना ? जो भी काम भोग हैं, सब दुःख के देने वाले हैं।'

सव्वं विलवियं गीयं,
सव्वं नट्टं विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा,
सव्वे कामा दुहावहा ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १३।१६

सच्चा सुख त्याग में है। जिसने विषयाशा छोड़ी उसी ने सच्चा सुख पाया। उससे बढ़कर संसार में और कौन सुखी हो सकता है ? जैन संस्कृति के एक अमर गायक ने कहा है कि देवलोक के देवता भी सुखी नहीं हैं। सेठ और सेनापति तो सुखी होंगे ही कहाँ से? भूमण्डल पर शासन करने वाला चक्रवती राजा भी सुखी नहीं है, वह भी विषयाशा के अन्धकार में भटक रहा है। अस्तु, संसार में सुखी कोई नहीं। सुखी है, एक मात्र वीतराग-भाव की साधना करने वाला त्यागी साधक !

न वि सुही देवया देवलोए,
न वि सुही सेट्ठि सेणावई य।
न वि सुही पुढविपई राया,
एगंत-सुही साहू वीयरागी ॥

भगवती सूत्र में भगवान् महावीर ने त्यागजन्य आत्मनिष्ठ सुख की महत्ता और भोगजन्य वस्तुनिष्ठ वैषयिक सुख की हीनता बताते हुए कहा है कि बारह मास तक वीतराग भाव की साधना करने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ का आत्मनिष्ठ सुख, सर्वार्थ सिद्धि के सर्वोत्कृष्ट देवों के सुख से कहीं बढ़कर है ! संयम के सुख के सामने भला बेचारा वैषयिक सुख क्या अस्तित्व रखता है ?

वैदिक धर्म के महान् योगी भर्तृहरि भी इसी स्वर में कहते हैं कि भोग में रोग का भय है, कुल में किसी की मृत्यु का भय है, धन में राजा या चोर का भय है, युद्ध में पराजय का भय है। किं बहुना, संसार की प्रत्येक ऊँची से ऊँची और सुन्दर से सुन्दर वस्तु भय से युक्त है। एक मात्र वैराग्य भाव ही ऐसा है, जो पूर्ण रूप से अभय है, निराकुल है।

'सर्व वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।

—वैराग्य शतक

यह उद्गार उस महाराजाधिराज भर्तृहरि का है, जिस के द्वार पर संसार की लक्ष्मी खरीदी हुई दासी की भाँति नृत्य किया करती थी, बड़े-बड़े राजा महाराजा क्षुद्र सेवक की भाँति आज्ञापालन के लिए नंगे पैरों दौड़ते थे। एक से एक अप्सरा

सी सुन्दर रानियाँ अन्तःपुर में दीपशिखा की भाँति अन्धकार में प्रकाश रेखा-सी नित्य नवीन शृङ्गार-साधना में व्यस्त रहती थीं। यह सब होते हुए भी भर्तृहरि को वैभव में आनन्द नहीं मिला, उसकी आत्मा की प्यास नहीं बुझी। संसार के सुख भोगते रहे, भोगते रहे, बढ़-बढ़ कर भोगते रहे; परन्तु अन्त में यही निष्कर्ष निकला कि संसार के सब भोग क्षण भंगुर हैं, विनाशी हैं, कष्टप्रद हैं, इह लोक में पश्चात्ताप और परलोक में नरक के देने वाले हैं। जब कि संसार के धनी मानी राजाओं की यह दशा है तो फिर तुच्छ अभावग्रस्त संसारी जीव किस गणना में हैं ?

जहाँ भोग तहँ रोग है, जहाँ रोग तहँ सोग,
जहाँ योग तहँ भोग नहिं, जहाँ भोग, नहिं योग !

बात जरा लम्बी हो गई है, अतः समेट लूँ तो अच्छा रहेगा। सच्चा सुख क्या है, यह बात आपके ध्यान में आ गई होगी। विषय-सुख की निःसारता का स्पष्ट चित्र आपके सामने रख छोड़ा है। विषय सुख क्षणभंगुर है, क्योंकि विषय स्वयं जो क्षणभंगुर है। वस्तु विनाशी है तो वस्तुनिष्ठ सुख भी विनाशी है। जैसा कारण होगा, वैसा ही कार्य होगा। मिट्टी के बने पदार्थ मिट्टी के ही होंगे। नीम के वृक्ष पर आम कैसे लग सकते हैं ? अतः क्षणभंगुर वस्तु से सुख भी क्षणभंगुर ही होगा, अन्यथा नहीं। अब रहा आत्मनिष्ठ सुख। आत्मा अजर अमर है, अविनाशी है, अतः तन्निष्ठ सुख भी अजर अमर अविनाशी ही होगा। अहिंसा, सत्य, संयम, शील, त्याग, वैराग्य, दया, करुणा आदि सब आत्मधर्म हैं। अतः इनकी साधना से होने वाला आध्यात्मिक सुख आत्मा से होने वाला सुख है; और वह अविनाशी सुख है, कभी भी नष्ट न होने वाला ! छान्दोग्य उपनिषद् में सुख की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'जो अल्प है, विनाशी है, वह सुख नहीं है। और जो भूमा है, महान् है, अविनाशी है, वस्तुतः वही सच्चा सुख है।'

यो वै भूमा तत्सुखं
नाल्पे सुखमस्ति।

—छान्दोग्य ७।२३।१

हाँ, तो क्या साधक सच्चा सुख पाना चाहता है ? और चाहता है सच्चे मन से, अन्दर के दिल से ? यदि हाँ तो आइए मन की भोगाकांक्षा को धूल की तरह अलग फेंक कर त्याग के मार्ग पर, वैराग्य के पथ पर ! ममता के क्षुद्र घेरे को तोड़ने के बाद ही साधक भूमा होता है, महान् होता है, अजर अमर अनन्त होता है। और वह सच्चा सुख भी पूर्णरूपेण यहीं इसी दशा में प्राप्त होता है। भूले साथियो ! अविनाशी सुख चाहते हो तो अविनाशी की शरण में आओ। यहीं सच्चा सुख मिलेगा। वह आत्मनिष्ठ है, अन्यत्र कहीं नहीं।

●

४ श्रावक-धर्म

एक बार पुराने अनुभवी संत धर्म-प्रवचन कर रहे थे। प्रवचन करते करते तरंग में आ गए और अपने श्रोताओं से प्रश्न पूछने लगे—"बताओ, दिल्ली से लाहौर जाने के कितने मार्ग हैं ?"

श्रोता विचार में पड़ गए। संत के प्रश्न करने की शैली इतनी प्रभावपूर्ण थी कि श्रोता उत्तर देने में हतप्रतिभ से हो गए। कहीं मेरा उत्तर गलत न हो जाय, बस प्रतिष्ठाहानिरूप कुशंका, उत्तर तो क्या, उत्तर के रूप में कुछ भी बोलने ही नहीं दे रही थी।

उत्तर की थोडी देर प्रतीक्षा करने के बाद अन्ततोगत्वा सन्त ने ही कहा— "लो, मैं बताऊँ। दिल्ली से लाहौर जाने के दो मार्ग हैं।" श्रोता अब भी उलझन में थे। अतः सन्त ने आगे कुछ विश्लेषण करते हुए कहा—"एक मार्ग है स्थल का, जो मोटर से रेल से या पैदल, किसी भी तरह तय करते हैं। और दूसरा मार्ग है आकाश से होकर, जिसे आप वायुयान के द्वारा तय कर पाते हैं। पहला सरल मार्ग है, परन्तु देर का है। और दूसरा कठिन मार्ग है, खतरे से भरा है, परन्तु है शीघ्रता का।

उपर्युक्त रूपक को अपने धार्मिक विचार का वाहन बनाते हुए सन्त ने कहा—"कुछ समझे ? मोक्ष के भी इसी प्रकार दो मार्ग हैं। एक गृहस्थ धर्म तो दूसरा साधु धर्म। दोनों ही मार्ग हैं, अमार्ग कोई नहीं। परन्तु पहला सरल होते हुए भी जरा देर का है। और दूसरा कठिन होते हुए भी बड़ी शीघ्रता का है। बताओ, तुम कौन से मार्ग से मोक्ष जाना चाहते हो ?"

सन्त की बात को लम्बी करने का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। यहाँ प्रयोजन है एक मात्र पिछले अध्यायों की संगति लगाने का और जीवन की राह ढूँढ़ने का। मानव जीवन का लक्ष्य है सच्चा सुख। और वह सच्चा सुख है त्याग में, धर्म के आचरण में। धर्माचरण और त्याग से हीन मनुष्य, मनुष्य नहीं, पशु है। मिट्टी को मनुष्य का आकार मिल जाने में ही कोई विशेषता नहीं है। यह आकार तो हमें अनन्त बार मिला है, परन्तु उससे परिणाम क्या निकला ? रावण मनुष्य था और राम भी; परन्तु दोनों में कितना अन्तर था ? पहला शरीर के आकार से मनुष्य था तो

दूसरा आत्मा की दिव्य विभूति के द्वारा मनुष्य था। जब तक मनुष्य की आत्मा में मनुष्यता का प्रवेश न हो, तब तक न उस मानव व्यक्ति का कल्याण है और न उसके आसपास के मानव समाज का ही। मानव का विश्लेषण करता हुआ, देखिए, लोकोक्ति का यह सूत्र, क्या कह रहा है—"आदमी आदमी में अन्तर, कोई हीरा कोई कंकर।"

कौन हीरा है और कौन कंकर ? इस प्रश्न के उत्तर में पहले भी कह आए हैं और अब भी कह रहे हैं कि जो धर्म का आचरण करता है, गृहस्थ का अथवा साधु का किसी भी प्रकार का त्याग-मार्ग अपनाता है, वह मनुष्य प्रकाशमान हीरा है। और धर्माचरण से शून्य, भोग-विलास के अन्धकर में आत्म-स्वरूप से भटका हुआ मनुष्य, भले ही दुनियादारी की दृष्टि से कितना ही क्यों न बड़ा हो, परन्तु वस्तुतः मिट्टी का कंकर है। सच्चा और खरा मनुष्य वही है, जो अपने बन्धन खोलने का प्रयत्न करता है और अपने को मोक्ष का अधिकारी बनाता है।

जैन संस्कृति के अनुसार मोक्ष का एकमात्र मार्ग धर्म है, और उसके दो भेद हैं—सागार धर्म और अनगार धर्म। सागार धर्म गृहस्थ धर्म को कहते हैं, और अनगार धर्म साधु धर्म को। भगवान् महावीर ने इसी सम्बन्ध में कहा है :—

चरित्त-धम्मे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—
अगार चरित्त धम्मे चेव अणगारचरित्त धम्मे चेव

—स्थानांग सूत्र

सागार धर्म एक सीमित मार्ग है। वह जीवन की सरल किन्तु छोटी पगडंडी है। वह धर्म जीवन का राजमार्ग नहीं है। गृहस्थ संसार में रहता है, अतः उस पर परिवार, समाज और राष्ट्र का उत्तरदायित्व है। यही कारण है कि वह पूर्णरूपेण अहिंसा और सत्य के राज-मार्ग पर नहीं चल सकता। उसे अपने विरोधी प्रतिद्वन्द्वी लोगों से संघर्ष करना पड़ता है, जीवन यात्रा के लिए कुछ न कुछ शोषण का मार्ग अपनाना होता है, परिग्रह का जाल बुनना होता है, न्याय मार्ग पर चलते हुए भी अपने व्यक्तिगत या सामाजिक स्वार्थों के लिए कहीं न कहीं किसी से टकराना पड़ जाता है, अतः वह पूर्णतया निरपेक्ष स्वात्मपरिणति रूप अखण्ड अहिंसा और सत्य आदि सद्धर्म के अनुयायी साधुधर्म का दावेदार नहीं हो सकता।

गृहस्थ का धर्म अणु है, छोटा है, परन्तु वह भी हीन एवं निन्दनीय नहीं है। कुछ लोगों ने गृहस्थ को जहर का भरा हुआ कटोरा बताया है। वे कहते हैं कि जहर के प्याले को किसी भी ओर से पीजिए, जहर ही पीने में आयगा, वहाँ अमृत कैसा ? गृहस्थ का जीवन जिधर भी देखो उधर ही पाप से भरा हुआ है, उसका प्रत्येक आचरण पापमय है, विकारमय है, उसमें धर्म कहाँ ? परन्तु ऐसा कहने वाले लोग सत्य की गहराई तक नहीं पहुँच पाए हैं, भगवान् महावीर की वाणी का मर्म नहीं समझ पाए हैं। यदि सदाचारी से सदाचारी गृहस्थ जीवन भी जहर का प्याला ही होता है, उनकी अपनी भाषा में कुपात्र ही होता है, तो जैन-संस्कृति के प्राण-प्रतिष्ठापक

भगवान् महावीर धर्म के दो भेदों में क्यों गृहस्थ धर्म की गणना करते ? क्यों उच्च सदाचारी गृहस्थों को श्रमण के समान उपमा देते हुए **'समणभूए'** कहते ? क्यों उत्तराध्ययन सूत्र के पंचम अध्ययन की वाणी में यह कहा जाता कि कुछ भिक्षुओं की अपेक्षा संयम की दृष्टि से गृहस्थ श्रेष्ठ है और गृहस्थ दशा में रहते हुए भी साधक सुव्रत हो जाता है। **'संति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा।'** **'एवं सिक्खासमावन्ने गिहिवासे वि सुव्वए।'** यह ठीक है कि गृहस्थ का धर्म-जीवन क्षुद्र है, साधु का जैसा महान् नहीं है। परन्तु यह क्षुद्रता साधु के महान् जीवन की अपेक्षा से है। दूसरे साधारण भोगासक्ति की दलदल में फँसे संसारी मनुष्यों की अपेक्षा तो एक धर्माचारी सद्-गृहस्थ का जीवन महान् ही है, क्षुद्र नहीं।

प्रवचन सारोद्धार ग्रन्थ में श्रावक के सामान्य गुणों का निरूपण करते हुए कहा गया है कि—"श्रावक प्रकृति से गम्भीर एवं सौम्य होता है। दान, शील, एवं सरल व्यवहार के द्वारा जनता का प्रेम प्राप्त करता है। पापों से डरने वाला, दयालु, गुणानुरागी, पक्षपात रहित=मध्यस्थ, बड़ों का आदर सत्कार करने वाला, कृतज्ञ=किए उपकार को मानने वाला, परोपकारी एवं हिताहित मार्ग का ज्ञाता दीर्घदर्शी होता है।"

धर्म-संग्रह में भी कहा है कि श्रावक इन्द्रियों का गुलाम नहीं होता, उन्हें वश में रखता है। स्त्री-मोह में पड़कर वह अपना अनासक्त मार्ग नहीं भूलता। महारंभ और महापरिग्रह से दूर रहता है। भयंकर से भयंकर संकटों के आने पर भी सम्यक्त्व से भ्रष्ट नहीं होता। लोकरूढ़ि का सहारा लेकर वह भेड़ चाल नहीं अपनाता, अपितु सत्य के प्रकाश में हिताहित का निरीक्षण करता है। श्रेष्ठ एवं दोष-रहित धर्माचरण की साधना में किसी प्रकार की भी लज्जा एवं हिचकिचाहट नहीं करता। अपने पक्ष का मिथ्या आग्रह कभी नहीं करता। परिवार आदि का पालन पोषण करता हुआ भी अन्तर्हृदय से अपने को अलग रखता है, पानी में कमल बनकर रहता है।"

क्या ऊपर के सद्गुणों को देखते हुए कोई भी विचारशील सज्जन गृहस्थ को कुपात्र कह सकता है, उसे जहर का लबालब भरा हुआ प्याला बता सकता है ? जैन-धर्म में श्रावक को वीतरागदेव श्री तीर्थंकरों का छोटा पुत्र कहा है। क्या भगवान् का छोटा पुत्र होने का महान् गौरव प्राप्त करने के बाद भी वह कुपात्र ही रहता है ? क्या आनन्द, कामदेव जैसे देवताओं से भी पथ-भ्रष्ट न होने वाले श्रमणोपासक गृहस्थ ज़हर के प्याले थे। यह भ्रान्त धारणा है। गृहस्थ का जीवन भी धर्ममय हो सकता है, वह भी मोक्ष की ओर प्रगति कर सकता है, कर्म बन्धनों को तोड़ सकता है। सद्गृहस्थ संसार में रहता है, परन्तु अनासक्त भाव की ज्योति का प्रकाश अन्दर में जगमगाता रहता है। वह कभी-कभी ऐसी दशा में होता है कि कर्म करता हुआ भी कर्मबन्ध नहीं करता।

महिमा सम्यग् ज्ञान की
अरु विराग बल जोइ।

क्रिया करत फल भुंजतें
कर्म-बन्ध नहिं होइ ।।

—समयसार नाटक, निर्जराद्वार

सूत्रकृतांग सूत्र का दूसरा श्रुतस्कन्ध हमारे सामने है। अविरत, विरत और विरताविरत का कितना सुन्दर विश्लेषण किया गया है। विरताविरत श्रावक की भूमिका है, इसके सम्बन्ध में प्रभु महावीर कहते हैं—'सभी पापाचरणों से कुछ निवृत्ति और कुछ अनिवृत्ति होना ही विरति-अविरति है। परन्तु यह आरम्भ नोआरम्भ का स्थान भी आर्य है तथा सब दुःखों का नाश करने वाला मोक्षमार्ग है। यह जीवन भी एकान्त सम्यक् एवं साधु है।'

—'तत्थणं जा सा सव्वतो विरयाविरई, एस ठाणे आरम्भ-नोआरम्भट्ठाणे। एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्ख-प्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू !'

—सूत्रकृतांग २। २। ३९

यह है अनन्तज्ञानी परम वीतराग भगवान् महावीर का निर्णय ! क्या इससे बढ़कर कोई और भी निर्णय प्राप्त करना है। यदि श्रद्धा का कुछ भी अंश प्राप्त है तो फिर किसी अन्य निर्णय की आवश्यकता नहीं है। यह निर्णय अन्तिम निर्णय है। अब हम व्यर्थ ही चर्चा को लम्बी नहीं करना चाहते।

आइए, अब कुछ इस बात पर विचार करें कि गृहस्थ दशा में रहते हुए भी इतनी ऊँची भूमिका कैसे प्राप्त की जा सकती है ?

यह आत्म-देवता अनन्त काल से मिथ्यात्व की अंधकारपूर्ण काल-रात्रि में भटकता-भटकता, असत्य की उपासना करता-करता, जब कभी सत्य की विश्वास-भूमिका में आता है तो वह उसके लिए स्वर्णप्रभात का सुअवसर होता है। संसाराभिमुख आत्मा जब मोक्षाभिमुख होती है, बहिर्मुख से अन्तर्मुख होती है, अर्थात् विषयाभिमुख से आत्माभिमुख होती है, तब सर्वप्रथम सम्यक्त्व धर्म की दिव्य ज्योति का प्रकाश प्राप्त होता है।

सच्ची श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है। यह श्रद्धा अन्ध श्रद्धा नहीं है। अपितु वह प्रकाशमान जीवित श्रद्धा है, जिसके प्रकाश में जड़ को जड़ और चैतन्य को चैतन्य समझा जाता है, संसार को संसार और मोक्ष को मोक्ष समझा जाता है और समझा जाता है धर्म को धर्म और अधर्म को अधर्म ! निश्चय दृष्टि में विवेक बुद्धि का जागृत होना ही सम्यक्त्व है, तत्त्वार्थ-श्रद्धान है। अनन्त काल से हम यात्रा तो करते चले आ रहे थे, परन्तु उसका गन्तव्य लक्ष्य स्थिर नहीं हुआ था। यह लक्ष्य का स्थिरीकरण सम्यक्त्व के द्वारा होता है। सम्यक्त्व के अभाव में कितना ही उग्र क्रिया-काण्डी क्यों न हो, वह अन्धा है, सर्वथा अन्धा ! वह भटकता है, यात्रा नहीं करता। यात्री के लिए अपनी आँख चाहिए। वह आँख सम्यक्त्व है। इस आँख के बिना आध्यात्मिक जीवन यात्रा तय नहीं की जा सकती।

जब गृहस्थ यह सम्यक्त्व की भूमिका प्राप्त कर लेता है, तब वह कवि की आध्यात्मिक भाषा में भगवान् वीतराग देव का लघु पुत्र हो जाता है। यह पद कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। बड़ी भारी ख्याति है इसकी आध्यात्मिक क्षेत्र में। ज्ञाता धर्मकथा सूत्र में सम्यक्त्व को रत्न की उपमा दी है। वस्तुतः यह वह चिन्तामणि रत्न है, जिसके द्वारा साधक जो पाना चाहे वह सब पा सकता है। अनन्त काल से हीन, दीन, दरिद्र भिखारी के रूप में भटकता हुआ आत्मदेव सम्यक्त्व रत्न पाने के बाद एक महान् आध्यात्मिक धन का स्वामी हो जाता है। सम्यक्त्वी की प्रत्येक क्रिया निराले ढंग की होती है। उसका सोचना, समझना, बोलना और करना सब कुछ विलक्षण होता है। वह संसार में रहता हुआ भी संसार से निर्विण्ण हो जाता है, उसके अन्तर में शम, संवेग, निर्वेद और अनुकम्पा का अमृत सागर ठाठें मारने लगता है। विश्व के अनन्तानन्त चर अचर प्राणियों के प्रति उसके कोमल हृदय से दया का झरना बहता है और वह चाहता है कि संसार के सब जीव सुखी हों, कल्याणभागी हों। सब को आत्मभान हो, संसार से विरक्ति हो! सम्यक्त्वी का जीवन ही अनुकम्पा का जीवन है। वह विश्व को मंगलमय देखना चाहता है। वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और वीतराग-प्ररूपित धर्म पर उसका इतना दृढ़ आस्तिक भाव होता है कि यदि संसार भर की दैवी शक्तियाँ डिगाना चाहें तब भी नहीं डिग सकता। भला वह प्रकाश से अन्धकार में जाए तो कैसे जाए? प्रकाश उसके लिए जीवन है और अन्धकार मृत्यु! उसकी यात्रा सत्य से असत्य की ओर नहीं, अपितु असत्य से सत्य की ओर है। वह एक महान् भारतीय दार्शनिक के शब्दों में प्रतिपल प्रतिक्षण यही भावना भाता है कि '**असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय।**'

आध्यात्मिक विकासक्रम में सम्यक्त्व की भूमिका चतुर्थ गुणस्थान की है। जब साधक सम्यक्त्व का अजर अमर प्रकाश साथ लेकर आध्यात्मिक यात्रा के लिए अग्रसर होता है तो देशव्रती श्रावक की पंचम भूमिका आती है। यह वह भूमिका है, जहाँ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भाव की मर्यादित साधना प्रारम्भ हो जाती है। सर्वथा न करने से कुछ करना अच्छा है, यह आदर्श है इस भूमिका का! गृहस्थ का जीवन है, अतः पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों का बहुत बड़ा भार है मस्तक पर! ऐसी स्थिति में सर्वथा परिपूर्ण त्याग का मार्ग तो नहीं अपनाया जा सकता। परन्तु अपनी स्थिति के अनुकूल मर्यादित त्याग तो ग्रहण किया जा सकता है। अस्तु, इस मर्यादित एवं आंशिक त्याग का नाम ही आगम की भाषा में देश-विरति है! अभी अपूर्ण त्याग है, परन्तु अन्तर्मन में पूर्ण त्याग का लक्ष्य है। इस प्रकार के देशविरति श्रावक के बारह व्रत होते हैं। आगमसाहित्य में बारह व्रतों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। यहाँ इतना अवकाश नहीं है, और प्रसंग भी नहीं है। अतः भविष्य में कहीं अन्यत्र विस्तार की भावना रखते हुए भी यहाँ संक्षेप में दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है।

१. अहिंसा व्रत

सर्व प्रथम अहिंसा व्रत है। अहिंसा हमारे आध्यात्मिक जीवन की आधार भूमि है! भगवान महावीर के शब्दों में 'अहिंसा भगवती है।' इस भगवती की शरण स्वीकार किए बिना साधक आगे नहीं बढ़ सकता।

अहिंसा की साधना के लिए प्रतिज्ञा लेनी होती है कि 'मैं मन, वचन, काय से किसी भी निरपराध एवं निर्दोष त्रस प्राणी की जान-बूझ कर हिंसा न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति रूप स्थावर जीवों की हिंसा भी व्यर्थ एवं अमर्यादित रूप में न करूँगा और न कराऊँगा।'

असिंहा व्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित पाँच कार्यों का त्याग अवश्य करना चाहिए :—

(१) जीवों को मारना, पीटना, त्रास देना।
(२) अंग-भंग करना, विरूप एवं अपंग करना।
(३) कठोर बन्धन से बाँधना, या पिंजरे आदि में रखना।
(४) शक्ति से अधिक भार लादना या काम लेना।
(५) समय पर भोजन न देना, भूखा-प्यासा रखना।

२. सत्य व्रत

असत्य का अर्थ है, झूठ बोलना। केवल बोलना ही नहीं, झूठा सोचना और झूठा काम करना भी असत्य है। अनन्तकाल से आत्मा असत्यमय होने के कारण दुःख उठाती आ रही है, क्लेश पाती आ रही है। यदि इस दुःख और क्लेश की परम्परा से मुक्ति पानी है तो असत्य का त्याग करना चाहिए। भगवान् महावीर ने सत्य को भगवान् कहा है। भगवान् सत्य की सेवा में आत्मार्पण किए बिना अखण्ड आत्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती।

गृहस्थ साधक को सत्य की साधना के लिए प्रतिज्ञा लेनी होती है कि मैं जान बूझ कर झूठी साक्षी आदि के रूप में मोटा झूठ न स्वयं बोलूंगा, और न दूसरों से बुलवाऊँगा।

सत्य व्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यों का त्याग करना चाहिए :—

(१) दूसरों पर झूठा आरोप लगाना।
(२) दूसरों की गुप्त बातों को प्रकट करना।
(३) पत्नी आदि के साथ विश्वासघात करना।
(४) बुरी या झूठी सलाह देना।
(५) झूठी दस्तावेज बनाना, जालसाजी करना।

३. अचौर्य व्रत

दूसरे की सम्पत्ति पर अनुचित अधिकार करना चोरी है। मनुष्य को अपनी

आवश्यकताएँ अपने पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त हुए साधनों से ही पूर्ण करनी चाहिएँ। यदि कभी प्रसंगवश दूसरों से भी कुछ लेना हो तो वह सहयोगपूर्वक मित्रता के भाव से दिया हुआ ही लेना चाहिए। किसी भी प्रकार का बलाभियोग अथवा अधिकार-शक्ति का उपयोग करके कुछ लेना, लेना नहीं है, छीनना है।

गृहस्थ साधक पूर्णरूप से चोरी का त्याग नहीं कर सकता तो कम से कम सेन्ध लगाना, जेब कतरना, डाका डालना इत्यादि सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से सर्वथा अयोग्य चोरी का त्याग तो करना ही चाहिए। अस्तेय व्रत की प्रतिज्ञा है कि मैं स्थूल चोरी न स्वयं करूँगा और न दूसरों से करवाऊँगा।

अस्तेय व्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यों का त्याग आवश्यक है:—

(१) चोरी का माल खरीदना।
(२) चोरी के लिए सहायता देना।
(३) राष्ट्रविरोधी कार्य करना, कर आदि की चोरी करना।
(४) झूठे तोल-माप रखना।
(५) मिलावट करके अशुद्ध वस्तु बेचना।

४. ब्रह्मचर्य व्रत

स्त्री-पुरुष सम्बन्धी संभोग क्रिया में भी जैन-धर्म पाप मानता है। प्रकृतिजन्य कह कर वह इस कार्य की कभी भी उपेक्षा करने के लिए नहीं कहता। संभोग क्रिया में असंख्य सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है। और काम-वासना स्वय भी अपने आप में एक पाप है। यह आत्मजीवन की एक प्रमुख बहिर्मुख क्रिया है। यदि गृहस्थ पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य धारण नहीं कर सकता तो उसको यह प्रतिज्ञा तो लेनी ही चाहिए कि 'मैं[1] स्वपत्नी-सन्तोष के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार का व्यभिचार न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा। अपनी पत्नी के साथ भी अतिसंभोग नहीं करूँगा।'

ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यों का त्याग आवश्यक है:—

(१) किसी रखैल के साथ संभोग करना।
(२) परस्त्री, अविवाहिता तथा वेश्या आदि के साथ संभोग करना।
(३) अप्राकृतिक संभोग करना।
(४) दूसरों के विवाह-लग्न कराने में अमर्यादित भाग लेना।
(५) कामभोग की तीव्र आसक्ति रखना, अति संभोग करना।

५. अपरिग्रह व्रत

परिग्रह भी एक बहुत बड़ा पाप है। परिग्रह मानव-समाज की मनोभावना

---

[1] **स्त्री को 'स्वपति सन्तोष' कहना चाहिए।**

को उत्तरोत्तर दूषित करता जाता है और किसी प्रकार का भी स्वपरहिताहित एव लाभालाभ का विवेक नहीं रहने देता है। सामाजिक विषमता, संघर्ष, कलह एवं अशान्ति का प्रधान कारण परिग्रहवाद ही है। अतएव स्व और पर की शान्ति के लिए अमर्यादित स्वार्थवृत्ति एवं संग्रह बुद्धि पर नियंत्रण रखना आवश्यक है।

अपरिग्रह व्रत की प्रतिज्ञा के लिए निम्नलिखित वस्तुओं के की उचित मर्यादा का निर्धारण करना चाहिए—

(१) मकान, दूकान और खेत आदि की भूमि।

(२) सोना और चाँदी।

(३) नौकर चाकर तथा गाय, भैंस आदि द्विपद चतुष्पद।

(४) मुद्रा, जवाहिरात आदि धन और धान्य।

(५) प्रति दिन के व्यवहार में आने वाली पात्र, शयन, आसन आदि घर की अन्य वस्तुएँ।

६. दिग्व्रत

पापाचरण के लिए गमनागमनादि क्षेत्र को विस्तृत करना जैन गृहस्थ के लिए निषिद्ध है। बड़े-बड़े राजा सेनाएँ लेकर दिग्विजय को निकलते हैं और जिधर भी जाते हैं, संहार मचा देते हैं। बड़े-बड़े व्यापारी व्यापार करने के लिए चलते हैं और आस-पास के राष्ट्रों की ग़रीब प्रजा का शोषण कर डालते हैं। इसलिए भगवान् महावीर ने दिग्व्रत का विधान किया है। दिग्व्रत में कर्मक्षेत्र की मर्यादा बाँधी जाती अर्थात् सीमा निश्चित की जाती है। उस निश्चित सीमा के बाहर जाकर हिंसा, असत्य आदि पापाचरण का पूर्णरूप से त्याग करना, दिग्व्रत का लक्ष्य है।

७. उपभोग परिभोग-परिमाण व्रत

जीवन भोग से बँधा हुआ है। अतः जब तक जीवन है, भोग का सर्वथा त्याग तो नहीं किया जा सकता। हाँ, आसक्ति को कम करने के लिए भोग की मर्यादा अवश्य की जा सकती है। अनियंत्रित जीवन विषाक्त हो जाता है। वह न अपने लिए हितकर होता है और न जनता के लिए। न इस लोक के लिए श्रेयस्कर होता है और न परलोक के लिए। अनियंत्रित भोगासक्ति संग्रह-बुद्धि को उत्तेजित करती है। संग्रह-बुद्धि परिग्रह का जाल बुनती है। परिग्रह का जाल ज्यों-ज्यों फैलता जाता है, त्यों-त्यों हिंसा, द्वेष, घृणा, असत्य, चौर्य आदि पापों की परम्परा लम्बी होती जाती है। अतएव श्रमण-संस्कृति गृहस्थ के लिए भोगासक्ति कम करने और उसके लिए उपभोग-परिभोग में आने वाले भोजन, पान, वस्त्र आदि पदार्थों के प्रकार एवं संख्या को मर्यादित करने का विधान करती है। यह मर्यादा एक-दो-तीन दिन आदि के रूप में सीमित काल तक या यावज्जीवन के लिए की जा सकती है। उक्त-व्रत के द्वारा पंचम व्रत के रूप में परिमित किए गए परिग्रह को और अधिक परिमित किया जाता है और अहिंसा की भावना को और अधिक विराट एवं प्रबल बनाया जाता है।

यह सप्तम व्रत अयोग्य व्यापारों का निषेध भी करता है। गृहस्थ-जीवन के के लिए व्यापार धंधा आवश्यक है। बिना उत्पादन एवं धनार्जन के गृहस्थ की गाड़ी कैसे अग्रसर हो सकती है? परन्तु व्यापार करते समय यह विचार अवश्य करणीय है कि 'यह व्यापार न्यायोचित है या नहीं? इसमें अल्पारंभ है या महारंभ?' अस्तु, महारंभ होने के कारण वन काटना, जंगल में आग लगाना, शराब और विष आदि बेचना, सरोवर तथा नदी आदि को सुखाना आदि कार्य जैन-गृहस्थ के लिए वर्जित हैं।

८. अनर्थदण्ड-विरमण व्रत

मनुष्य यदि अपने जीवन को विवेक-शून्य एवं प्रमत्त रखता है तो बिना प्रयोजन भी हिंसा आदि कर बैठता है। मन, वाणी और शरीर को सदा जागृत रखना चाहिए क्षौर प्रत्येक क्रिया विवेकयुक्त ही करनी चाहिए। अप्राप्त भोगों के लिए मन में लालसा रखना, प्राप्त भोगों की रक्षा के लिए चिन्ता करना, बुरे विचार एवं बुरे संकल्प रखना, पाप-कार्य के लिए परामर्श देना, हाथ और मुख आदि से अभद्र चेष्टाएँ करना, काम भोग-सम्बन्धी वार्तालाप में रस लेना, बात-बात पर अभद्र गाली देने की आदत रखना, निरर्थक हिंसाकारक शस्त्रों का संग्रह करना, आवश्यकता से अधिक व्यर्थ ही भोग-सामग्री इकठ्टी करना, तेल तथा घी आदि के पात्र बिना ढँके खुले मुँह रखना; इत्यादि सब अनर्थ दण्ड हैं। साधक को इन सब अनर्थ दण्डों से निवृत्त रहना चाहिए।

९. सामायिक व्रत

जैन साधना में सामायिक व्रत का बहुत बड़ा महत्त्व है। सामायिक का अर्थ समता है। रागद्वेषवर्द्धक संसारी प्रपंचों से अलग होकर जीवन-यात्रा को निष्पाप एवं पवित्र बनाना ही समता है। गृहस्थ आखिर गृहस्थ है। वह साधु नहीं है, जो यावज्जीवन के लिए सब पाप व्यापारों का पूर्ण रूप से परित्याग कर पवित्र जीवन बिता सके। अतः उसे प्रतिदिन कम-से-कम ४८ मिनट के लिए तो सामायिक व्रत धारण करना ही चाहिए। यद्यपि मुहूर्त भर के लिए पापव्यापारों का त्याग करने रूप सामायिक व्रत का काल अल्प है, तथापि इसके द्वारा अहिंसा एवं समता की विराट झाँकी के दर्शन होते हैं। सामायिक व्रत की साधना करते समय साधारण गृहस्थ साधक भी लगभग पूर्ण निष्पाप जैसी ऊँची भूमिका पर आरूढ़ हो जाता है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने इस सन्बन्ध में स्पष्ट कहा है—'**सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।**' अर्थात् सामायिक कर लेने पर श्रावक श्रमण-जैसा हो जाता है।

१०. देशावकाशिक व्रत

परिग्रह परिमाण और दिशा परिमाण व्रत की यावज्जीवन-सम्बन्धी प्रतिज्ञा को और अधिक व्यापक एवं विराट बनाने के लिए देशावकाशिक व्रत ग्रहण किया जाता

हैं। दिशा-परिमाण व्रत में गमनागमन का क्षेत्र यावज्जीवन के लिए सीमित किया जाता है। और यहाँ उस सीमित क्षेत्र को एक दो दिन आदि के लिए और अधिक सीमित कर लिया जाता है। देशावकाशिक व्रत की साधना में जहाँ क्षेत्र-सीमा संकुचित होती है, वहाँ उपभोग सामग्री की सीमा भी संक्षिप्त होती है। यदि साधक देशावकाशिक व्रत की प्रतिदिन साधना करे तो उसकी अनारंभमय अहिंसा-साधना अधिकाधिक व्यापक होकर आत्म-तत्त्व अपनी स्वाभाविक स्थिति में स्वच्छ हो जाए।

११. पौषध व्रत

यह व्रत जीवन-संघर्ष की सीमा को और अधिक संक्षिप्त करता है। एक अहोरात्र अर्थात् रात-दिन के लिए सचित्त वस्तुओं का, शस्त्र का, पापव्यापार का, भोजन-पान का तथा अब्रह्मचर्य का त्याग करना पौषध व्रत है। पौषध की स्थिति साधुजीवन जैसी है। अतएव पौषध में कुरता, कमीज, कोट आदि गृहस्थोचित वस्त्र नहीं पहने जाते, पलंग आदि पर नहीं सोया जाता और स्नान भी नहीं किया जाता। सांसारिक प्रपंचों से सर्वथा अलग रहकर एकान्त में स्वाध्याय, ध्यान तथा आत्मचिन्तन आदि करते हुए जीवन को पवित्र बनाना ही इस व्रत का उद्देश्य है।

१२. अतिथि-संविभाग व्रत

गृहस्थ जीवन में सर्वथा परिग्रह-रहित नहीं हुआ जा सकता। यहाँ मन में संग्रह बुद्धि बनी रहती है और तदनुसार संग्रह भी होता रहता है। परन्तु यदि उक्त संग्रह और परिग्रह का उपयोग अपने तक ही सीमित रहता है, जनकल्याण में प्रयुक्त नहीं होता है तो वह महाभयंकर पाप बन जाता है। प्रतिदिन बढ़ते हुए परिग्रह को बढ़े हुए नख की उपमा दी है। बढ़ा हुआ नाखून अपने या दूसरे के शरीर पर जहाँ भी लगेगा, घाव ही करेगा, अतः बुद्धिमान् सभ्य मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह बढ़े हुए नाखून को यथावसर काटता रहे। इसी प्रकार परिग्रह भी मर्यादा से अधिक बढ़ा हुआ अपने को तथा आस-पास के दूसरे साथियों को तंग ही करता है, अशान्ति ही बढ़ाता है। इसलिए जैन धर्म परिग्रह परिमाण में धर्म बताता है और उस परिमित परिग्रह में से भी नित्यप्रति दान देने का विधान करता है। दान, परिग्रह का प्रायश्चित्त है। प्राप्त वस्तुओं का स्वार्थ बुद्धि से अकेला उपभोग करना, पाप है। गृहस्थ को उक्त पाप से बचना चाहिए।

गृहस्थ के घर का द्वार जन-सेवा के लिए खुला रहना चाहिए। यदि कभी त्यागी साधु-संत पधारें, तो भक्ति भाव के साथ उनको योग्य आहार पानी आदि बहराना चाहिए और अपने को धन्य मानना चाहिए। यदि कभी अन्य कोई अतिथि आए तो उसका भी योग्य सत्कार सम्मान करना चाहिए। गृहस्थ के द्वार पर से यदि कोई व्यक्ति भूखा और निराश लौटता है तो यह समर्थ गृहस्थ के लिए पाप है। अतिथि संविभाग व्रत इसी पाप से बचने के लिए है!

यह संक्षेप में जैनगृहस्थ की धर्म साधना का वर्णन है। अधिक विस्तार में

जाने का यहाँ प्रसंग नहीं है, अतः संक्षिप्त रूप-रेखा बता कर ही सन्तोष कर लिया गया है। धर्म के लिए वर्णन के विस्तार की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कि जीवन में उतारने की आवश्यकता है। धर्म जीवन में उतारने के बाद ही स्व-पर कल्याणकारी होता है। अतएव गृहस्थों का कर्तव्य है कि उक्त कल्याणकारी नियमों को जीवन में उतारें और अहिंसा एवं सत्य के प्रकाश में भी अपनी मुक्ति-यात्रा का पथ प्रशस्त बनाएँ।

५ श्रमण-धर्म

श्रावक-धर्म से आगे की कोटि साधु-धर्म की है। साधु-धर्म के लिए हमारे प्राचीन आचार्यों ने आकाश-यात्रा शब्द का प्रयोग किया है। अस्तु, यह साधु-धर्म की यात्रा साधारण यात्रा नहीं है। आकाश में उड़ कर चलना कुछ सहज बात है? और वह आकाश भी कैसा? संयम जीवन की पूर्ण पवित्रता का आकाश। इस जड़ आकाश में तो मक्खी-मच्छर भी उड़ लेते हैं, परन्तु संयम-जीवन की पूर्ण पवित्रता के चैतन्य आकाश में उड़ने वाले विरले ही कर्मवीर मिलते हैं।

साधु होने के लिए केवल बाहर से वेष बदल लेना ही काफी नहीं है, यहाँ तो अन्दर से सारा जीवन ही बदलना पड़ता है, जीवन का समूचा लक्ष्य ही बदलना पड़ता है। यह मार्ग फूलों का नहीं, काँटों का है। नंगे पैरों जलती आग पर चलने जैसा दृश्य है साधु-जीवन का! उत्तराध्ययन सूत्र के १९ वें अध्ययन में कहा है कि—'साधु होना, लोहे के जौ चबाना है, दहकती ज्वालाओं को पीना है, कपड़े के थैले को हवा से भरना है, मेरु पर्वत को तराजू पर रखकर तौलना है, और महासमुद्र को भुजाओं से तैरना है। इतना ही नहीं, तलवार की नग्न धार पर नंगे पैरों चलना है।'

वस्तुतः साधु-जीवन इतना ही उग्र जीवन है। वीर, धीर, गम्भीर, एवं साहसी साधक ही इस दुर्गम पथ पर चल सकते हैं—**'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।'** जो लोग कायर हैं, साहसहीन हैं, वासनाओं के गुलाम हैं, इन्द्रियों के चक्कर में हैं, और दिन-रात इच्छाओं की लहरों के थपेड़े खाते रहते हैं, वे भला क्यों कर इस क्षुर-धारा के दुर्गम पथ पर चल सकते हैं?

साधु-जीवन के लिए भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन में कहा है—"साधु को ममता-रहित, निरहंकार, निःसंग, नम्र और प्राणिमात्र पर समभावयुक्त रहना चाहिए। लाभ हो या हानि हो, सुख हो या दुःख हो, जीवन हो या मरण हो, निन्दा हो या प्रशंसा हो, मान हो या अपमान हो, सर्वत्र सम रहना ही साधुता है। सच्चा साधु न इस लोक में कुछ आसक्ति रखता है और न परलोक में। यदि कोई विरोधी तेज कुल्हाड़े से काटता है या कोई भक्त शीतल एवं सुगन्धित चन्दन का लेप लगाता है, साधु को दोनों पर एक जैसा ही समभाव रखना होता है। वह कैसा साधु, जो क्षण-क्षण में राग-द्वेष की लहरों में बह निकले। न भूख पर नियंत्रण रख सके और न भोजन पर।"

निम्ममो निरहंकारो,
निस्संगो चत्त-गारवो।
समो य सव्वभूएसु,
तसेसु थावरेसु य॥
लाभालाभे सुहे दुक्खे,
जीविए मरणे तहा।
समो निन्दा-पसंसासु
समो माणावमाणओ॥
अणिस्सिओ इहं लोए,
परलोए अणिस्सिओ।
वासी चंदणकप्पो य,
असणे अणसणे तहा॥

—उत्तरा० १९-८९, ९०, ९२

भगवान् महावीर की वाणी के अनुसार साधु-जीवन न राग का जीवन है और न द्वेष का। वह तो पूर्णरूपेण समभाव एवं तटस्थ वृत्ति का जीवन है। साधु विश्व के लिए कल्याण एवं मङ्गल की जीवित-मूर्ति है। वह अपने हृदय के कण-कण में सत्य और करुणा का अपार अमृत सागर लिए भूमण्डल पर विचरण करता है, प्राणिमात्र को विश्वमैत्री का अमर सन्देश देता है। वह समता के ऊँचे से ऊँचे आदर्शों पर विचरण करता है, अपने मन, वाणी एवं शरीर पर कठोर नियंत्रण रखता है। संसार की समस्त भोग वासनाओं से सर्वथा अलिप्त रहता है, और क्रोध, मान, माया एवं लोभ की दुर्गन्ध से हजार-हजार कोस की दूरी से बचकर चलता है।

देवाधिदेव श्रमण भगवान् महावीर ने उपर्युक्त पूर्ण त्याग मार्ग पर चलने वाले साधुओं को मेरु पर्वत के समान अप्रकंप, समुद्र के समान गम्भीर, चन्द्रमा के समान शीतल, सूर्य के समान तेजस्वी और पृथ्वी के समान सर्वसह कहा है। सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्धान्तर्गत दूसरे क्रिया स्थान नामक अध्ययन में साधु-जीवन सम्बन्धी उपमाओं की यह लम्बी श्रृंखला, आज भी हर कोई जिज्ञासु देख सकता है। इसी अध्ययन के अन्त में भगवान् ने साधु जीवन को एकान्त पण्डित, आर्य, एकान्तसम्यक्, सुसाधु एवं सब दुःखों से मुक्त होने का मार्ग बताया है। **'एस ठाणे आयरिए जाव सव्वदुक्खपहीण मग्गे एगंतसम्मे सुसाहू।'**

भगवती-सूत्र में पाँच प्रकार के देवों का वर्णन है। वहाँ भगवान् महावीर ने गौतम गणधर के प्रश्न का समाधान करते हुए साधुओं को साक्षात् भगवान् एवं धर्म-देव कहा है। वस्तुतः साधु, धर्म का जीता-जागता देवता ही है। **'गोयमा! जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया···जाव गुत्तबंभयारी, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ धम्मदेवा।'**

—भग० १२ श०, ९ उ०।

भगवती-सूत्र के १४ वें शतक में भगवान् महावीर ने साधुजीवन के अखण्ड आनन्द का उपमा के द्वारा एक बहुत ही सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। गणधर गौतम को सम्बोधित करते हुए भगवान् कह रहे हैं—"हे गौतम! एक मास की दीक्षा वाला श्रमण निर्ग्रन्थ वानव्यन्तर देवों के मुख को अतिक्रमण कर जाता है। दो मास की दीक्षा वाला नागकुमार आदि भवनवासी देवों के सुख को अतिक्रमण कर जाता है। इसी प्रकार तीन मास की दीक्षा वाला असुरकुमार देवों के सुख को, चार मास की दीक्षा वाला ग्रह, नक्षत्र एवं ताराओं के सुख को, पाँच मास की दीक्षा वाला ज्योतिष्क देव जाति के इन्द्र, चन्द्र एवं सूर्य के सुख को, छः मास की दीक्षा वाला सौधर्म एवं ईशान देवलोक के सुख को, सात मास की दीक्षा वाला सनत्कुमार एवं माहेन्द्र देवों के सुख को, आठ मास की दीक्षा वाला ब्रह्मलोक एवं लांतक देवों के सुख को, नवमास की दीक्षा वाला आनत एवं प्राणत देवों के सुख को, दस मास की दीक्षा वाला आरण एवं अच्युत देवों के सुख को, ग्यारह मास की दीक्षा वाला नव ग्रैवेयक देवों के सुख को, तथा बारह मास की दीक्षा वाला श्रमण अनुत्तरोपपातिक देवों के सुख को अतिक्रमण कर जाता है।"

—भग० १४, ९।

पाठक देख सकते हैं— भगवान् महावीर की दृष्टि में साधुजीवन का कितना बड़ा महत्व है? बारह महीने की कोई विराट साधना होती है? परन्तु यह क्षुद्रकाल की साधना भी यदि सच्चे हृदय से की जाय तो उसका आनन्द विश्व के स्वर्गीय सुख साम्राज्य से बढ़ कर होता है। सर्व श्रेष्ठ अनुत्तरोपपातिक देव भी उसके समक्ष हतप्रभ, निस्तेज एवं निम्न हैं। साधुता का दंभ कुछ और है, और सच्चे साधुत्व का जीवन कुछ और! सच्चा साधु भूमण्डल पर साक्षात् भगवत्स्वरूप स्थिति में विचरण करता है। स्वर्ग के देवता भी उस भगवदात्मा के चरणों की धूल को मस्तक पर लगाने के लिए तरसते हैं। वैष्णव कवि नरसी महता कहता है—

आपा मार जगत में बैठे नहिं किसी से काम;
उनमें तो कुछ अन्तर नाहीं, सन्त कहो चाहे राम,
हम तो उन सन्तन के हैं दास,
जिन्होंने मन मार लिया।

संत कबीर ने भी साधु को प्रत्यक्ष भगवान का रूप कहा है और कहा है कि साधु की देह निराकार की आरसी है, जिसमें जो भी चाहे वह अलख को अपनी आँखों से देख सकता है—

निराकार को आरसी, साधू ही की देह,
लखा जो चाहे, अलख को, इनही में लखि लेहि।

सिक्ख-सम्प्रदाय के गुरु अर्जुन देव ने कहा है कि साधु की महिमा का कुछ अंत ही नहीं है, सचमुच वह अनन्त है। बेचारा वेद भी उसकी महिमा का क्या वर्णन कर सकता है?

साधु की महिमा वेद न जानै,
जेता सुनै तेता बखानै।
साधु की सोभा का नहिं अंत
साधु की सोभा सदा बे-अन्त ।

आनन्दकन्द व्रजचन्द्र श्री कृष्णचन्द्र ने भागवत में कहा है—सन्त ही मनुष्यों के लिए देवता हैं। वे ही उनके परम बान्धव हैं। सन्त ही उनकी आत्मा हैं। बल्कि यह भी कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि संत मेरे ही स्वरूप हैं, अर्थात् भगवत्स्वरूप हैं।

देवता बान्धवाः सन्तः,
सन्त आत्माऽहमेव च ।
—भाग० ११ । २६ । ३४ ।

जैन-धर्म में साधु का पद बड़ा ही महत्वपूर्ण है। आध्यात्मिक विकास क्रम में उसका स्थान छठा गुण-स्थान है, और यहाँ से यदि निरन्तर ऊर्ध्वमुखी विकास करता रहे तो अन्त में वह चौदहवें गुण-स्थान की भूमिका पर पहुँच जाता है और फिर गुणस्थानातीत होकर सदा काल के लिए अजर, अमर, सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो जाता है। जैन साहित्य में साधु-जीवन सम्बन्धी आधार-विचार का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। ऐसा सूक्ष्म एवं नियम-बद्ध वर्णन अन्यत्र मिलना असंभव है। यही कारण है कि आज के युग में जहाँ दूसरे संप्रदाय के साधुओं का नैतिक पतन हो गया है, किसी प्रकार का संयम ही नहीं रहा है, वहाँ जैन-साधु अब भी अपने संयम-पथ पर चल रहा है। आज भी उसके संयम-जीवन की झाँकी के दृश्य आचारांग, सूत्र कृतांग एवं दशवैकालिक आदि सूत्रों के अनुसार देखे जा सकते हैं। हजारों वर्ष पुरानी परंपरा को निभाने में जितनी दृढ़ता जैन-साधु दिखा रहा है, उसके लिए जैन-सूत्रों का नियमबद्ध वर्णन ही धन्यवादार्ह है।

आगम-साहित्य में जैन-साधु की नियमोपनियम-सम्बन्धी जीवनचर्या का अतीव विराट एवं तलस्पर्शी वर्णन है। विशेष जिज्ञासुओं को उसी आगम-साहित्य से अपना पवित्र सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। यहाँ हम संक्षेप से पाँच महाव्रतों[1] का परिचय मात्र दे रहे हैं। आशा है, यह हमारा क्षुद्र उपक्रम भी पाठकों की ज्ञान-वृद्धि एवं सच्चरित्रता में सहायक हो सकेगा।

---

[1] आचरितानि महद्भिर्,
यच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम् ।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्
महाव्रतानीत्यतस्तानि ॥
—आचार्य शुभचन्द्र

अहिंसा महाव्रत

मन, वाणी एवं शरीर से काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय आदि की दूषित मनोवृत्तियों के साथ किसी भी प्राणी को शारीरिक एवं मानसिक आदि किसी भी प्रकार की पीड़ा या हानि पहुँचाना, हिंसा है। केवल पीड़ा और हानि पहुंचाना ही नहीं, उसके लिए किसी भी तरह की अनुमति देना भी हिंसा है। किं बहुना, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी भी रूप से किसी भी प्राणी को हानि पहुँचाना हिंसा है। इस हिंसा से बचना अहिंसा है।

अहिंसा और हिंसा की आधार-भूमि अधिकतर भावना पर आधारित है। मन में हिंसा है तो बाहर में हिंसा हो तब भी हिंसा है, और हिंसा न हो तब भी हिंसा है। और यदि मन पवित्र है, उपयोग एवं विवेक के साथ प्रवृत्ति है तो बाहर में हिंसा होते हुए भी अहिंसा है। मन में द्वेष न हो, घृणा न हो, अपकार की भावना न हो, अपितु प्रेम हो, करुणा की भावना हो, कल्याण का संकल्प हो, तो शिक्षार्थ उचित ताड़ना देना, रोग-निवारणार्थ कटु औषधि देना, सुधारार्थ या प्रायश्चित्त के लिए दण्ड देना हिंसा नहीं है। परन्तु जब ये ही द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, एवं भय आदि की दूषित वृत्तियों से मिश्रित हों तो हिंसा हो जाती है। मन में किसी भी प्रकार का दूषित भाव लाना हिंसा है। यह दूषित भाव अपने मन में हो, अथवा संकल्प पूर्वक अपने निमित्त से किसी दूसरे के मन में पैदा किया हो, सर्वत्र हिंसा है। इस हिंसा से बचना प्रत्येक साधक का परम कर्तव्य है।

जैन-साधु अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ साधक है। वह मन, वाणी और शरीर में से

—महापुरुषों द्वारा आचरण में लाए गए हैं, महान् अर्थ मोक्ष का प्रसाधन करते हैं, और स्वयं भी व्रतों में सर्व महान् हैं, अतः मुनि के अहिंसा आदि व्रत महाव्रत कहे जाते हैं।

योग-दर्शन के साधन-पाद में महाव्रत की व्याख्या के लिए ३१ वाँ सूत्र है—'**जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना महाव्रतम्**।' इसका भावार्थ है—जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित सब अवस्थाओं में पालन करने योग्य यम महाव्रत कहलाते हैं।

जाति द्वारा संकुचित—गौ आदि पशु अथवा ब्राह्मण की हिंसा न करना।

देश द्वारा संकुचित—गंगा, हरिद्वार आदि तीर्थ-भूमि में हिंसा न करना।

काल द्वारा संकुचित—एकादशी, चतुर्दशी आदि तिथियों में हिंसा नहीं करना।

समय द्वारा संकुचित—देवता अथवा ब्राह्मण आदि के प्रयोजन की सिद्धि के लिए हिंसा करना, अन्य प्रयोजन से नहीं। समय का अर्थ यहाँ प्रयोजन है।

इस प्रकार की संकीर्णता से रहित सब जातियों के लिए सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा अहिंसा, सत्य आदि पालन करना महाव्रत है।

हिंसा के तत्वों को निकाल कर बाहर फैंकता है, और जीवन के कण-कण में अहिंसा के अमृत का संचार करता है। उसका चिन्तन करुणा से ओत-प्रोत होता है, उसका भाषण दया का रस बरसाता है, उसकी प्रत्येक शारीरिक प्रवृत्ति में अहिंसा की झनकार निकलती है। वह अहिंसा का देवता है। अहिंसा भगवती उसके लिए[1] ब्रह्म के समान उपास्य है। हिंस्य और हिंसक दोनों के कल्याण के लिए ही वह हिंसा से निवृत्ति करता है, अहिंसा का प्रण लेता है। सब काल में सब प्रकार से सब प्राणियों के प्रति चित्त में अणुमात्र भी द्रोह न करना ही अहिंसा का सच्चा स्वरूप है। और इस स्वरूप को जैन-साधु न दिन में भूलता है और न रात में, न जागते में भूलता है और न सोते में, न एकान्त में भूलता है और न जन-समूह में।

जैन-श्रमण की अहिंसा, व्रत, नहीं, महाव्रत है। महाव्रत का अर्थ है महान् व्रत, महान् प्रण। उक्त महाव्रत के लिए भगवान् महावीर **'सव्वाओ पाणाइवायाओ विरमणं'** वाक्य का प्रयोग करते हैं, जिसका अर्थ है मन वचन और कर्म से न स्वयं हिंसा करना, न दूसरों से करवाना और न हिंसा करने वाले दूसरे लोगों का अनुमोदन ही करना। अहिंसा का यह कितना ऊँचा आदर्श है! हिंसा को प्रवेश करने के लिए कहीं छिद्रमात्र भी नहीं रहा है। हिंसा तो क्या, हिंसा की गन्ध भी प्रवेश नहीं पा सकती।

एक जैनाचार्य ने बालजीवों को अहिंसा का मर्म समझाने के लिए प्रथम महाव्रत के ८१ भंग वर्णन किए हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय—ये नौ प्रकार के संसारी जीव हैं। उनकी न मन से हिंसा करना, न मन से हिंसा कराना, न मन से हिंसा का अनुमोदन करना। इस प्रकार २७ भंग होते हैं। जो बात मन के सम्बन्ध में कही गई है, वही बात वचन और शरीर के सम्बन्ध में भी समझ लेनी चाहिए। हाँ, तो मन के २७, वचन के २७, और शरीर के २७, सब मिलकर ८१ भंग हो जाते हैं।

जैन साधु की अहिंसा का यह एक संक्षिप्त एवं लघुतम वर्णन है। परन्तु यह वर्णन भी कितना महान् और विराट है। इसी वर्णन के आधार पर जैन साधु न कच्चा जल पीता है, न अग्नि का स्पर्श करता है, न सचित्त वनस्पति का ही कुछ उपयोग करता है। भूमि पर चलता है तो नंगे पैरों चलता है, और आगे साढ़े तीन हाथ परिमाण भूमि को देखकर फिर कदम उठाता है। मुख के उष्ण श्वास से भी किसी वायु आदि सूक्ष्म जीव को पीड़ा न पहुँचे, इसके लिए मुख पर मुखवस्त्रिका का प्रयोग करता है। जन साधारण इस क्रिया-काण्ड में एक विचित्र अटपटेपन की अनुभूति करता है। परन्तु अहिंसा के साधक को इस में अहिंसा भगवती के सूक्ष्म रूप की झांकी मिलती है।

---

[1] **'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्'**

—आचार्य समन्तभद्र

सत्य महाव्रत

वस्तु का यथार्थ ज्ञान ही सत्य है। उक्त सत्य का शरीर से काम में लाना शरीर का सत्य है, वाणी से कहना वाणी का सत्य है, और विचार में लाना मन का सत्य है। जो जिस समय, जिसके लिए, जैसा यथार्थ रूप से करना, कहना एवं समझाना चाहिए, वही सत्य है। इसके विपरीत जो भी सोचना, समझना, कहना और करना है, वह असत्य है।

सत्य, अहिंसा का ही विराट रूपान्तर है सत्य का व्यवहार केवल वाणी से ही नहीं होता है, जैसा कि सर्व-साधारण जनता समझती है। उसका मूल उद्गम-स्थान मन है। अर्थानुकूल वाणी और मन का व्यवहार होना ही सत्य है। अर्थात् जैसा देखा हो, जैसा सुना हो, जैसा अनुमान किया हो, वैसा ही वाणी से कथन करना और मन में धारण करना, सत्य है। वाणी के सम्बन्ध में यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि केवल सत्य कह देना ही सत्य नहीं है, अपितु सत्य कोमल एवं मधुर भी होना चाहिए। सत्य के लिए अहिंसा मूल है। अतः यथार्थ ज्ञान के द्वारा यथार्थ रूप में अहिंसा के लिए जो कुछ विचारना, कहना एवं करना है, वही सत्य है। दूसरे व्यक्ति को अपने बोध के अनुसार ज्ञान कराने के लिए प्रयुक्त हुई वाणी धोखा देने वाली और भ्रान्ति में डालने वाली न हो; जिससे किसी प्राणी को पीड़ा तथा हानि न हो, प्रत्युत प्राणियों के उपकार के लिए हो, वही श्रेष्ठ सत्य है। जिस वाणी में प्राणियों का हित न हो, प्रत्युत प्राणियों का नाश हो तो वह सत्य होते हुए भी सत्य नहीं है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति द्वेष से दिल दुखाने के लिए अन्धे को तिरस्कार के साथ अन्धा कहता है तो यह असत्य है; क्योंकि यह एक हिंसा है। और जहाँ हिंसा है, वह सत्य भी असत्य है; क्योंकि हिंसा सदा असत्य है। कुछ अविवेकी पुरुष दूसरों के हृदय को पीड़ा पहुँचाने वाले दुर्वचन कहने में ही अपने सत्यवादी होने का गर्व करते हैं, उन्हें ऊपर के विवेचन पर ध्यान देना चाहिए।

जैन-श्रमण सत्यव्रत का पूर्णरूपेण पालन करता है, अतः उसका सत्य व्रत सत्य महाव्रत कहलाता है। वह मन, वचन और शरीर से न स्वयं असत्य का आचरण करता है, न दूसरे से करवाता है, और न कभी असत्य का अनुमोदन ही करता है। इतना ही नहीं, किसी तरह का सावद्य वचन भी नहीं बोलता है। पापकारी वचन बोलना भी असत्य ही है। अधिक बोलने में असत्य की आशंका रहती है, अतः जैन-श्रमण अत्यन्त मितभाषी होता है। उसके प्रत्येक वचन से स्व-परकल्याण की भावना टपकती है, अहिंसा का स्वर गूँजता है। जैन-साधु के लिए हँसी में भी झूठ बोलना निषिद्ध है। प्राणों पर संकट उपस्थित होने पर भी सत्य का आश्रय नहीं छोड़ा जा सकता। सत्य महाव्रती की वाणी में अविचार, अज्ञान, क्रोध, मान, माया, लोभ, परिहास आदि किसी भी विकार का अंश नहीं होना चाहिए। यही कारण है कि साधु दूर से पशु आदि को लैंगिक दृष्टि से अनिश्चय होने पर सहसा कुत्ता, बैल, पुरुष

आदि के रूप में निश्चयकारी भाषा नहीं बोलता। ऐसे प्रसंगों पर वह कुत्ते की जाति, बैल की जाति, मनुष्य की जाति, इत्यादि जातिपरक भाषा का प्रयोग करता है। इसी प्रकार वह ज्योतिष, मंत्र, तंत्र आदि का भी उपयोग नहीं करता। ज्योतिष आदि की प्ररूपणा में भी हिंसा एवं असत्य का संमिश्रण है।

जैन-साधु जब भी बोलता है, अनेकान्तवाद को ध्यान में रखकर बोलता है। वह 'ही' का नहीं, 'भी' का प्रयोग करता है। अनेकान्तवाद का लक्ष्य रखे बिना सत्य की वास्तविक उपासना भी नहीं हो सकती। जिस वचन के पीछे 'स्यात्' लग जाता है, वह असत्य भी सत्य हो जाता है। क्योंकि एकान्त असत्य है, और अनेकान्त सत्य। स्यात् शब्द अनेकान्त का द्योतक है, अतः वह एकान्त को अनेकान्त बनाता है, दूसरे शब्दों में कहें तो असत्य को सत्य बनाता है। आचार्य सिद्धसेन की दार्शनिक एवं आलंकारिक वाणी में यह स्यात् वह अमोघ स्वर्णरस है, जो लोहे को सोना बना देता है। **'नयास्तव स्यात्पदलाञ्छिता इमे, रसोपदिग्धा इव लोहधातवः।'**

एक आचार्य सत्य महाव्रत के ३६ भंगों का निरूपण करते हैं। क्रोध, लोभ, भय और हास्य इन चार कारणों से झूठ बोला जाता है। अस्तु, उक्त चार कारणों से न स्वयं मन से असत्याचरण करना, न मन से दूसरों से कराना, न मन से अनुमोदन करना, इस प्रकार मनोयोग के १२ भंग हो जाते हैं। इसी प्रकार वचन के १२ और शरीर के १२, सब मिलकर सत्य महाव्रत के ३६ भंग होते हैं।

अचौर्य महाव्रत

अचौर्य, अस्तेय एवं अदत्तादानविरमण सब एकार्थक हैं। अचौर्य, अहिंसा और सत्य का ही विराट रूप है। केवल छिपकर या बलात्कारपूर्वक किसी व्यक्ति की वस्तु एवं धन का हरण कर लेना ही स्तेय नहीं है, जैसा कि साधारण मनुष्य समझते हैं। अन्यायपूर्वक किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र का अधिकार हरण करना भी चोरी है। जैन-धर्म का यदि सूक्ष्म निरीक्षण करें तो मालूम होगा कि भूख से तंग आकर उदरपूर्ति के लिए चोरी करने वाले निर्धन एवं असहाय व्यक्ति स्तेय पाप के उतने अधिक अपराधी नहीं हैं, जितने कि निम्नलिखित श्रेणी के बड़े माने जाने वाले लोग।

(१) अत्याचारी राजा या नेता, जो अपनी प्रजा के न्यायप्राप्त राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नागरिक अधिकारों का अपहरण करता है।

(२) अपने को धर्म का ठेकेदार समझने वाले संकीर्ण-हृदय, समृद्धिशाली, ऊँची जाति के सवर्ण लोग; भ्रान्तिवश जो नीची जाति के कहे जाने वाले निर्धन लोगों के धार्मिक, सामाजिक तथा नागरिक अधिकारों का अपहरण करते हैं।

(३) लोभी जमींदार, जो गरीब किसानों का शोषण करते हैं, उन पर अत्याचार करते हैं।

(४) मिल और फैक्ट्रियों के लोभी मालिक, जो मजदूरों को पेट-भर अन्न न देकर सबका सब नफ़ा स्वयं हड़प जाते हैं ।

(५) लोभी साहूकार, जो दूना-तिगुना सूद लेते हैं और ग़रीब लोगों की जायदाद आदि अपने अधिकार में लाने के लिए सदा सचिन्त रहते हैं ।

(६) धूर्त व्यापारी, जो वस्तुओं में मिलावट करते हैं, उचित मूल्य से ज्यादा दाम लेते हैं, और कम तोलते हैं ।

(७) घूँसखोर न्यायाधीश तथा अन्य अधिकारी गण; जो वेतन पाते हुए भी अपने कर्तव्य-पालन में प्रमाद करते हैं और रिश्वत लेते हैं ।

(८) लोभी वकील, जो केवल फीस के लोभ से झूठे मुकदमे लड़ाते हैं और जानते हुए भी निरपराध लोगों को दण्ड दिलाते हैं ।

(९) लोभी वैद्य, जो रोगी का ध्यान न रखकर केवल फीस का लोभ रखते हैं और ठीक औषध नही देते हैं ।

(१०) वे सब लोग, जो अन्याय-पूर्वक किसी भी अनुचित रीति से किसी व्यक्ति का धन, वस्तु, समय, श्रम और शक्ति का अपहरण एवं अपव्यय करते हैं ।

अहिंसा, सत्य एवं अचौर्य व्रत की साधना करने वाले को उक्त सब पाप व्यापारों से बचना है, अत्यन्त सावधानी से बचना है । जरासा भी यदि कहीं चोरी का छेद होगा तो आत्मा का पतन अवश्यंभावी है । जैन-गृहस्थ भी इस प्रकार की चोरी से बचकर रहता है, और जैन-श्रमण तो पूर्णरूप से चोरी का त्यागी होता ही है । वह मन, वचन और कर्म से न स्वयं किसी प्रकार की चोरी करता है, न दूसरों से कर-वाता है, और न चोरी का अनुमोदन ही करता है । और तो क्या, वह दाँत कुरेदने के लिए तिनका भी बिना आज्ञा ग्रहण नहीं कर सकता है । यदि साधु कहीं जंगल में हो, वहाँ तृण, कंकर, पत्थर की जरूरत हो अथवा वृक्ष के नीचे छाया में बैठने और कहीं शौच जाने की आवश्यकता हो तो शास्त्रोक्त विधि के अनुसार उसे और कोई आज्ञा देने वाला न हो, तो इन्द्रदेव की ही आज्ञा लेनी होती है । अभिप्राय यह है कि बिना आज्ञा के कोई भी वस्तु न ग्रहण की जा सकती है और न उसका क्षणिक उपयोग ही किया जा सकता है । पाठक इसके लिए अत्युक्ति का भ्रम करते होंगे । परन्तु साधक को इस रूप में व्रत पालन के लिए सतत जागृत रहने की स्फूर्ति मिलती है । व्रतपालन के क्षेत्र में तनिक सा शैथिल्य (ढील) किसी भी भारी अनर्थ का कारण बन सकता है । आप लोगों ने देखा होगा कि तम्बू की प्रत्येक रस्सी खूँटे से कस कर बाँधी जाती है । किसी एक के भी थोड़ी-सी ढीली रह जाने से तम्बू में पानी आ जाने की सम्भावना बनी रहती है ।

अस्तु, अचौर्य व्रत की रक्षा के लिए साधु को बार-बार आज्ञा ग्रहण करने का अभ्यास रखना चाहिए । गृहस्थ से जो भी चीज ले, आज्ञा से ले । जितने काल के लिए ले, उतनी देर ही रक्खे, अधिक नहीं । गृहस्थ आज्ञा देने को तैयार हो, परन्तु

वस्तु यदि साधु के ग्रहण करने के योग्य न हो तो न ले। क्योंकि ऐसी वस्तु लेने से देवाधिदेव तीर्थंकर भगवान् की चोरी होती है। गृहस्थ आज्ञा देने वाला हो, वस्तु भी शुद्ध हो, परन्तु गुरुदेव की आज्ञा न हो तो फिर भी ग्रहण न करे। क्योंकि शास्त्रानुसार यह गुरु-अदत्त है, अर्थात् गुरु की चोरी है।

एक आचार्य तीसरे अचौर्य महाव्रत के ५४ भंगों का निरूपण करते हैं। अल्प=थोड़ी वस्तु, बहु=अधिक वस्तु, अणु=छोटी वस्तु, स्थूल=बड़ी स्थूल वस्तु, सचित्त=शिष्य आदि, अचित्त=वस्त्र पात्र आदि। उक्त छः प्रकार की वस्तुओं की न स्वयं मन से चोरी करे, न मन से चोरी कराए, न मन से चोरी अनुमोदन करे। ये मन के १८ भंग हुए। इसी प्रकार वचन के १८, और शरीर के १८, सब मिलकर ५४ भंग होते हैं। अचौर्य महाव्रत के साधक को उक्त सब भंगों का दृढ़ता से पालन करना होता है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

ब्रह्मचर्य अपने आप में एक बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्ति है। शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक आदि सभी पवित्र आचरण ब्रह्मचर्य पर निर्भर हैं। ब्रह्मचर्य वह आध्यात्मिक स्वास्थ्य है, जिसके द्वारा मानव-समाज पूर्ण सुख और शान्ति को प्राप्त होता है।

ब्रह्मचर्य की महत्ता के सम्बन्ध में भगवान् महावीर कहते हैं कि देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर सभी दैवी शक्तियाँ ब्रह्मचारी के चरणों में प्रणाम करती हैं, क्योंकि ब्रह्मचारी की साधना बड़ी ही कठोर साधना है। जो ब्रह्मचर्य की साधना करते हैं, वस्तुतः वे एक बहुत बड़ा दुष्कर कार्य करते हैं।

देव-दाणव-गंधव्वा,
जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति,
दुक्करं जे करेंति ते॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १६

भगवान् महावीर की उपर्युक्त वाणी को आचार्य श्री शुभचन्द्र भी प्रकारान्तर से दुहरा रहे हैं—

एकमेव व्रतं श्लाध्यं,
ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये।
यद्-विशुद्धि समापन्नाः,
पूज्यन्ते पूजितैरपि॥

—ज्ञानार्णव

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए काम के वेग को रोकना होता है। यह वेग बड़ा ही भयंकर है। जब आता है तो बड़ी से बड़ी शक्तियाँ भी लाचार हो जाती

हैं। मनुष्य जब वासना के हाथ का खिलौना बनता है तो बड़ी दयनीय स्थिति में पहुँच जाता है। वह अपनेपन का कुछ भी भान नहीं रखता, एक प्रकार से पागल-सा हो जाता है। धन्य हैं वे महापुरुष, जो इस वेग पर नियंत्रण रखते हैं और मन को अपना दास बना कर रखते हैं। महाभारत में व्यास की वाणी है कि—'जो पुरुष वाणी के वेग को, मन के वेग को, क्रोध के वेग को, काम करने की इच्छा के वेग को, उदर के वेग को, उपस्थ (कामवासना) के वेग को रोकता है, उसको मैं ब्रह्मवेत्ता मुनि समझता हूँ।'

> **वाचो वेगं, मनसः क्रोध-वेगं,**
> **विधित्सा-वेगमुदरोपस्थ-वेगम् ।**
> **एतान् वेगान् यो विषहेदुदीर्णांस्**
> **तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च ।।**
>
> —महा० शान्ति० २९९ । १४

ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल सम्भोग में वीर्य का नाश न करते हुए उपस्थ इन्द्रिय का संयम रखना ही नहीं है। ब्रह्मचर्य का क्षेत्र बहुत व्यापक क्षेत्र है। अतः उपस्थेन्द्रिय के संयम के साथ-साथ अन्य इन्द्रियों का निरोध करना भी आवश्यक है। वह जितेन्द्रिय साधक ही पूर्ण ब्रह्मचर्य पाल सकता है, जो ब्रह्मचर्य के नाश करने वाले उत्तेजक पदार्थों के खाने, कामोद्दीपक दृश्यों के देखने, और इस प्रकार की वार्ताओं के सुनने तथा ऐसे गन्दे विचारों को मन में लाने से भी बचता है।

आचार्य शुभचन्द्र ब्रह्मचर्य की साधना के लिए निम्नलिखित दश प्रकार के मैथुन से विरत होने का उपदेश देते हैं:—

(१) शरीर का अनुचित संस्कार अर्थात् कामोत्तेजक शृंगार आदि करना।
(२) पौष्टिक एवं उत्तेजक रसों का सेवन करना।
(३) वासनामय नृत्य और गीत आदि देखना, सुनना।
(४) स्त्री के साथ संसर्ग=घनिष्ठ परिचय रखना।
(५) स्त्री-सम्बन्धी संकल्प रखना।
(६) स्त्री के मुख, स्तन आदि अंग-उपांग देखना।
(७) स्त्री के अंग-दर्शन सम्बन्धी संस्कार मन में रखना।
(८) पूर्व भोगे हुए काम भोगों का स्मरण करना।
(९) भविष्य के काम भोगों की चिन्ता करना।
(१०) परस्पर रतिकर्म अर्थात् सम्भोग करना।

जैन भिक्षु उक्त सब प्रकार के मैथुनों का पूर्ण त्यागी होता है। वह मन, वचन और शरीर से न स्वयं मैथुन का सेवन करता है, न दूसरों से सेवन करवाता है, और न अनुमोदन ही करता है। जैन भिक्षु एक दिन की जन्मी हुई बच्ची का

भी स्पर्श नहीं कर सकता। उसके स्थान पर रात्रि को कोई भी स्त्री नहीं रह सकती। भिक्षु की माता और बहन को भी रात्रि में रहने का अधिकार नहीं है। जिस मकान में स्त्री के चित्र हों उसमें भी भिक्षु नहीं रह सकता है। यही बात साध्वी के लिए पुरुषों के सम्बन्ध में है।

एक आचार्य चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत के २७ भंग बतलाते हैं। देवता-सम्बन्धी, मनुष्य-सम्बन्धी और तिर्यञ्च-सबन्धी तीन प्रकार का मैथुन है। उक्त तीन प्रकार का मैथुन न मन से सेवन करना, न मन से सेवन करवाना, न मन से अनुमोदन करना, ये मनः सम्बन्धी ९ भंग होते हैं। इसी प्रकार वचन के ९, और शरीर के ९, सब मिलकर २७ भंग होते हैं। महाव्रती साधक को उक्त सभी भंगों का निरतिचार पालन करना होता है।

अपरिग्रह महाव्रत

धन, सम्पत्ति, भोग-सामग्री आदि किसी भी प्रकार की वस्तुओं का ममत्व-मूलक संग्रह करना परिग्रह है। जब मनुष्य अपने ही भोग के लिए स्वार्थ-बुद्धि से आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है तो यह परिग्रह बहुत ही भयंकर हो उठता है। आवश्यकता की क्या परिभाषा है? आवश्यक वह वस्तु है, जिसके विना मनुष्य की जीवन यात्रा, सामाजिक मर्यादा एवं धार्मिक क्रिया निर्विघ्नतापूर्वक न चल सके। अर्थात् जो सामाजिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक उत्थान में साधन-रूप से आवश्यक हो। जो गृहस्थ इस नीति मार्ग पर चलते हैं, वे तो स्वयं भी सुखी रहते हैं और जनता में भी सुख का प्रवाह बहाते हैं। परन्तु जब उक्त व्रत का यथार्थ रूप से पालन नहीं होता है तो समाज में बड़ा भयंकर हाहाकार मच जाता है। आज समाज की जो दयनीय दशा है, उसके मूल में यही आवश्यकता से अधिक संग्रह का विष रहा हुआ है। आज मानव-समाज में जीवनोपयोगी सामग्री का उचित पद्धति से वितरण नहीं है। किसी के पास सैकड़ों मकान खाली पड़े हुए हैं तो किसी के पास रात में सोने के लिए एक छोटी-सी झोंपड़ी भी नहीं है। किसी के पास अन्न के सैकड़ों कोठे भरे हुए हैं तो कोई दाने-दाने के लिए तरसता भूखा मर रहा है। किसी के पास संदूकों में बंद सैकड़ों तरह के वस्त्र सड़ रहे हैं तो किसी के पास तन ढाँपने के लिए भी कुछ नहीं है। आज की सुख सुविधाएँ मुट्ठी भर लोगों के पास एकत्र हो गई हैं और शेष समाज अभाव से ग्रस्त है। न उसकी भौतिक उन्नति ही हो रही है और न आध्यात्मिक। सब ओर भुखमरी की महामारी जनता का सर्व ग्रास करने के लिए मुँह फैलाए हुए है। यदि प्रत्येक मनुष्य के पास केवल उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप ही सुख-सुविधा की साधन-सामग्री रहे तो कोई मनुष्य भूखा, गृहहीन एवं असहाय न रहे। भगवान् महावीर का अपरिग्रहवाद ही मानव जाति का कल्याण कर सकता है, भूखी जनता के आँसू पोंछ सकता है।

भगवान् महावीर ने गृहस्थों के लिए मर्यादित अपरिग्रह का विधान किया है,

परन्तु भिक्षु के लिए पूर्ण अपरिग्रही होने का। भिक्षु का जीवन एक उत्कृष्ट धर्म-जीवन है, अतः वह भी यदि परिग्रह के जाल में फँसा रहे, तो क्या खाक धर्म की साधना करेगा ? फिर गृहस्थ और भिक्षु में अन्तर ही क्या रहेगा ?

जैन धर्म-ग्रन्थों में परिग्रह के निम्न-लिखित नौ भेद किए हैं। गृहस्थ के लिए इनकी अमुक मर्यादा करने का विधान है और भिक्षु के लिए पूर्ण रूप से त्याग करने का उल्लेख है।

(१) **क्षेत्र**—जंगल में खेती-बाड़ी के उपयोग में आने वाली धान्य-भूमि को क्षेत्र कहते हैं। यह दो प्रकार का है—सेतु और केतु। नहर, कूआ आदि कृत्रिम साधनों से सींची जाने वाली भूमि को सेतु कहते हैं और केवल वर्षा के प्राकृतिक जल से सींची जाने वाली भूमि को केतु।

(२) **वास्तु**—प्राचीन काल में घर को वास्तु कहा जाता था। यह तीन प्रकार का होता है—खात, उच्छ्रित और खातोच्छ्रित। भूमिगृह अर्थात् तलघर को 'खात' कहते हैं। नींव खोदकर भूमि के ऊपर बनाया हुआ महल आदि 'उच्छ्रित' और भूमिगृह के ऊपर बनाया हुआ भवन 'खातोच्छ्रित' कहलाता है।

(३) **हिरण्य**—आभूषण आदि के रूप में गढ़ी हुई तथा बिना गढ़ी हुई चाँदी।

(४) **सुवर्ण**—गढ़ा हुआ तथा बिना गढ़ा हुआ सभी प्रकार का स्वर्ण। हीरा, पन्ना, मोती आदि जवाहरात भी इसी में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

(५) **धन**—गुड़, शक्कर आदि।

(६) **धान्य**—चावल, गेहूँ, बाजरा आदि।

(७) **द्विपद**—दास, दासी आदि।

(८) **चतुष्पद**—हाथी, घोड़ा, गाय आदि पशु।

(९) **कुप्य**—धातु के बने हुए पात्र, कुरसी, मेज आदि घर-गृहस्थी के उपयोग में आने वाली वस्तुएँ।

जैनश्रमण उक्त सब परिग्रहों का मन, वचन और शरीर से न स्वयं संग्रह करता है, न दूसरों से करवाता है और न करने वालों का अनुमोदन ही करता है। वह पूर्णरूपेण असंग, अनासक्त, अकिंचन वृत्ति का धारक होता है। कौड़ीमात्र परिग्रह भी उसके लिए विष है। और तो क्या, वह अपने शरीर पर भी ममत्त्व भाव नहीं रख सकता। वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि जो कुछ भी उपकरण अपने पास रखता है, वह सब संयम-यात्रा के सुचारु रूप से पालन करने के निमित्त ही रखता है, ममत्त्वबुद्धि से नहीं। ममत्त्व बुद्धि से रक्खा हुआ उपकरण जैनसंस्कृति की भाषा में उपकरण नहीं रहता, अधिकरण हो जाता है, अनर्थ का मूल बन जाता है। कितना ही अच्छा सुन्दर उपकरण हो, जैनश्रमण न उस पर मोह रखता है, न अपने-पन का भाव लाता है, न उसके खोए जाने पर आर्तध्यान ही करता है। जैन भिक्षु के पास

वस्तु केवल वस्तु बनकर रहती है, वह परिग्रह नहीं बनती। क्योंकि परिग्रह का मूल मोह है, मूर्च्छा है, आसक्ति है, ममत्त्व है। साधक के लिए यही सबसे बड़ा परिग्रह है। आचार्य शय्यंभव दशवैकालिक सूत्र में भगवान् महावीर का सन्देश सुनाते हैं—'**मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, नाइपुत्तेण ताइणा।**' आचार्य उमास्वाति कहते हैं—'**मूर्च्छा परिग्रहः।**' मुर्च्छा का अर्थ आसक्ति है। किसी भी वस्तु में, चाहे वह छोटी, बड़ी, जड़, चेतन, बाह्य एवं आभ्यन्तर आदि किसी भी रूप में हो, अपनी हो या पराई हो, उसमें आसक्ति रखना, उसमें बँध जाना, एवं उसके पीछे पड़कर अपना आत्म-विवेक खो बैठना, परिग्रह है। बाह्य वस्तुओं को परिग्रह का रूप यह मूर्च्छा ही देती है। यही सबसे बड़ा विष है। अतः जैनधर्म भिक्षु के लिए जहाँ धन, सम्पत्ति आदि बाह्य परिग्रह के त्याग का विधान करता है, वहाँ ममत्त्व भाव आदि अन्तरंग परिग्रह के त्याग पर भी विशेष बल देता है। अन्तरंग परिग्रह के मुख्य-रूपेण चौदह भेद हैं—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ। आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं—

> **मिथ्यात्व-वेदरागा,**
> **दोषा हास्यादयोऽपि षट् चैव।**
> **चत्वारश्च कषायाश्**
> **चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः॥**

जैनश्रमण का एक बहुत सुप्रसिद्ध नाम निर्ग्रन्थ है। आचार्य हरिभद्र के शब्दों में निर्ग्रन्थ का अर्थ है—ग्रन्थ अर्थात् गाँठ से रहित। '**निर्गतो ग्रंथान् निर्ग्रन्थः।**' परिग्रह ही गाँठ है। जो भी साधक इस गाँठ को तोड़ देता है, वही आत्म-शान्ति प्राप्त कर सकता है, अन्य नहीं।

एक आचार्य अपरिग्रह महाव्रत के ५४ अंगों का निरूपण करते हैं—अल्प, बहु, अणु, स्थूल, सचित्त और अचित्त–यह संक्षेप में छः प्रकार का परिग्रह है। उक्त छः प्रकार के परिग्रह को भिक्षु न मन से स्वयं रखे, न मन से रखवाए, और न रखने वालों का मन से अनुमोदन करे। इस प्रकार मनोयोग सम्बन्धी १८ भंग हुए। मन के समान ही वचन के १८, और शरीर के १८, सब मिलकर ५४ भंग हो जाते हैं।

जैन भिक्षु का आचरण अतीव उच्चकोटि का आचरण है। उसकी तुलना आस-पास में अन्यत्र नहीं मिल सकती। वह वस्त्र, पात्र आदि उपधि भी अत्यन्त सीमित एवं संयमोपयोगी ही रखता है। अपने वस्त्र पात्रादि वह स्वयं उठा कर चलता है। संग्रह के रूप में किसी गृहस्थ के यहाँ जमा करके नहीं छोड़ता है। सिक्का, नोट एवं चेक आदि के रूप में किसी प्रकार की भी धन सम्पत्ति नहीं रख सकता। एकबार का लाया हुआ भोजन अधिक से अधिक तीन पहर ही रखने का विधान है, वह भी दिन में ही। रात्रि में तो न भोजन रखा जा सकता है और न

खाया जा सकता है। और तो क्या, रात्रि में एक पानी की बूँद भी नहीं पी सकता। मार्ग में चलते हुए भी चार मील से अधिक दूरी तक आहार पानी नहीं लेजा सकता। अपने लिए बनाया हुआ न भोजन ग्रहण करता है और न वस्त्र, पात्र, मकान आदि। वह सिर के बालों को हाथ से उखाड़ता है, लोच करता है। जहाँ भी जाना होता है नंगे पैरों पैदल जाता है, किसी भी सवारी का उपयोग नहीं करता।

यहाँ अधिक लिखने का प्रसंग नहीं है। विशेष जिज्ञासु आचारांग सूत्र, दशवैकालिक सूत्र आदि जैन आचार ग्रन्थों का अध्ययन कर सकते हैं।

६ 'श्रमण' शब्द का निर्वचन

भारत की प्राचीन संस्कृति, 'श्रमण' और 'ब्राह्मण' नामक दो धाराओं में बहती आ रही है। भारत के अतिसमृद्ध भौतिक जीवन का प्रतिनिधित्व ब्राह्मण-धारा करती है और उसके उच्चतम आध्यात्मिक जीवन का प्रतिनिधित्व श्रमण-धारा। यही कारण है कि जहाँ ब्राह्मण-संस्कृति ऐहिक सुख-समृद्धि, भोग एवं स्वर्गीय सुख की कल्पनाओं तक ही अटक जाती है, वहाँ श्रमण संस्कृति त्याग के मार्ग पर चलती है, मन की वासनाओं का दलन करती है, स्वर्गीय सुखों के प्रलोभन तक को ठोकर लगाती है, और अपने बन्धनों को तोड़कर पूर्ण, सच्चिदानन्द, अजर, अमर, परमात्म-पद को पाने के लिए संघर्ष करती है। ब्राह्मण-संस्कृति का त्याग भी भोग-मूलक है और श्रमण संस्कृति का भोग भी त्याग-मूलक है। ब्राह्मण संस्कृति के त्याग में भोग की ध्वनि ही ऊँची रहती है और श्रमण संस्कृति के भोग में त्याग की ध्वनि। संक्षेप में यह भेद है श्रमण और ब्राह्मण संस्कृति का, यदि हम तटस्थ वृत्ति से कुछ विचार कर सकें।

लेखक, भिक्षु होने के नाते श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है, अतः उसकी महत्ता की डींग मारता है, यह बात नहीं है। ब्राह्मण संस्कृति का साहित्य भी इसका साक्षी है। ब्राह्मण साहित्य का मूल वेद है। वह ईश्वरीय वाणी के रूप में परम पवित्र एवं मूल सिद्धान्त माना जाता है। देखिए, उसके सम्बन्ध में भगवद्गीता का दूसरा अध्याय क्या कहता है—

त्रैगुण्य - विषया वेदा
निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !
निर्द्वन्द्वो नित्य-सत्त्वस्थो,
निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

—'हे अर्जुन ! सब के सब वेद तीन गुणों के कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनों का प्रतिपादन करने वाले हैं, इसलिए तू उन भोगों एवं उनके साधनों में अलिप्त रहकर, हर्ष शोकादि द्वन्द्वों से रहित, नित्य परमात्मस्वरूप में स्थित, योग-क्षेम की कल्पनाओं से परे आत्मवान् होकर विचरण कर।'

यावानर्थ उदपाने,
सर्वतः सम्प्लुतोदके।

तावान् सर्वेषु वेदेषु
ब्राह्मणस्य विजानतः ।।४६।।

—'सब ओर से परिपूर्ण विशाल एवं अथाह जलाशय के प्राप्त हो जाने पर क्षुद्र जलाशय में मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, आत्मस्वरूप को जानने वाले ब्राह्मण का सब वेदों में उतना ही प्रयोजन रह जाता है, अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं रहता है।'

पाठक ऊपर के दो श्लोकों पर से विचार कर सकते हैं कि ब्राह्मण-संस्कृति का मूलाधार क्या है ? ब्राह्मण संस्कृति के मूल वेद हैं और वे प्रकृति के भोग और उनके साधनों का ही वर्णन करते हैं। आत्मतत्त्व की शिक्षा के लिए उनके पास कुछ नहीं है। भगवद्गीता वेदों को क्षुद्र जलाशय की उपमा देती है। वेदों का क्षुद्रत्व इसी बात में है कि वे यज्ञ, यागादि क्रिया काण्डों का ही विधान करते हैं, ऐहिक भोग-विलास एवं सुखों का संकल्प ही मानव के सामने रखते हैं, आत्म-विद्या का नहीं।

यह निष्कर्ष हम ही नहीं निकाल रहे हैं, अपितु सनातन धर्म के सुप्रसिद्ध भक्त-राज जयदयालजी गोयनका भी गोरखपुर से प्रकाशित गीतांक में लिखते हैं—"सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणों के कार्य को '**त्रैगुण्य**' कहते हैं। अतः समस्त भोग और ऐश्वर्यमय पदार्थों और उनकी प्राप्ति के उपायभूत समस्त कर्मों का वाचक यहाँ त्रैगुण्य शब्द है। उन सब का अंग-प्रत्यङ्गों सहित वर्णन जिन (ग्रन्थों) में किया गया हो, उनको '**त्रैगुण्यविषयाः**' कहते हैं। यहाँ वेदों को 'त्रैगुण्यविषयाः' बतला कर यह भाव दिखलाया है कि वेदों में कर्मकाण्ड का वर्णन अधिक होने के कारण वेद 'त्रैगुण्यविषय' हैं।"

केवल वेद ही नहीं, अन्यत्र भी आपको अनेकों ऐसे प्रसंग मिलेंगे, जहाँ ब्राह्मण संस्कृति के भौतिकवाद का मुक्त समर्थन मिलता है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में ईश्वरीय अवतार कहे जानेवाले श्रीकृष्णचन्द्रजी के जीवन का वर्णन कितना भोग-प्रधान है, कितना नग्न शृंगारमय है, इसे हर कोई पाठक देख-सुन सकता है। जब कि ईश्वरीय रूप रखने वालों की यह स्थिति है, तब साधारण जनता की क्या स्थिति होनी चाहिए, यह स्वयं निर्णय किया जा सकता है।

अधिक लिखने का यहाँ प्रसंग नहीं है। अतः आइए, प्रस्तुत की चर्चा करें। श्रमण संस्कृति-का मूलाधार स्वयं 'श्रमण' शब्द ही है। लाखों-करोड़ों वर्षों की श्रमण संस्कृति-सम्बन्धी चेतना आप अकेले श्रमण शब्द में ही पा सकते हैं। श्रमण का मूल प्राकृत '**समण**' है। समण के संस्कृत रूपान्तर तीन होते हैं **श्रमण, समन और शमन**। 'समण' संस्कृति का वास्तविक मूलाधार इन्हीं तीन संस्कृत रूपों पर से व्यक्त होता है। प्राचीन ग्रन्थों की लम्बी चर्चा न करके श्रीयुत इन्द्रचन्द्र एम. ए. वेदान्ताचार्य के संक्षित शब्दों में ही हम भी अपना विचार प्रकट कर रहे हैं—

(१) 'श्रमण' शब्द 'श्रम' धातु से बना है। इसका अर्थ है श्रम करना। यह शब्द इस बात को प्रकट करता है कि व्यक्ति अपना विकास अपने ही

परिश्रम द्वारा कर सकता है। सुख-दुख, उत्थान-पतन सभी के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है।

(२) समन का अर्थ है—समता भाव, अर्थात् सभी को आत्मवत् समझना, सभी के प्रति समभाव रखना। दूसरों के प्रति व्यवहार की कसौटी स्वयं की आत्मा है। जो बात अपने को बुरी लगती है, वह दूसरों के लिए भी बुरी है। **'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'**—यही हमारे व्यवहार का आधार होना चाहिए। समाज विज्ञान का भी यही मूलतत्त्व है कि किसी के प्रति राग या द्वेष न करना, शत्रु और मित्र को बराबर समझना, जात पाँत तथा अन्य भेदों को न मानना।

(३) शमन का अर्थ है—अपनी वृत्तियों को शान्त रखना [मनुष्य का जीवन ऊँचा या नीचा अपनी वृत्तियों के अनुसार ही होता है। अकुशल वृत्तियाँ आत्मा का पतन हैं और कुशल वृत्तियाँ उत्थान। अकुशल अर्थात् दुर्वृत्तियों को शान्त रखना, और कुशल वृत्तियों का विकास करना ही श्रमण साधना का परम उद्देश्य है—लेखक]

इस प्रकार व्यक्ति तथा समाज का कल्याण श्रम, सम और शम इन तीनों तत्त्वों पर आश्रित है। यह 'समण' संस्कृति का निचोड़ है। श्रमण इसका संस्कृत में एकाङ्गी रूपान्तर है।''

अनुयोग द्वार सूत्र के उपक्रमाधिकार में भाव-सामायिक का निरूपण करते हुए श्रमण शब्द के निर्वचन पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रसंग की गाथाएँ बड़ी ही भावपूर्ण हैं—

जह मम न पियं दुक्खं,
जाणिय एमेव सव्व-जीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य,
सममणइ तेण सो समणो ॥१॥

—'जिस प्रकार मुझे दुःख अच्छा नहीं लगता उसी प्रकार संसार के अन्य सब जीवों को भी अच्छा नहीं लगता है।' यह समझ कर जो न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों से करवाता है और न किसी प्रकार की हिंसा का अनुमोदन ही करता है, अर्थात् सभी प्राणियों में समत्व-बुद्धि रखता है, वह समण है।

मूल-सूत्र में **'सममणइ'** शब्द आया है, उसकी व्याख्या करते हुए मलधारगच्छीय आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—**सममणति त्ति-सर्वजीवेषु तुल्यं वर्तते यतस्तेनासौ समण इति।'** अण् धातु वर्तन अर्थ में है, और सम् उपसर्ग तुल्यार्थक है। अतः जो सब जीवों के प्रति **सम्** अर्थात् समान **अणति** अर्थात् वर्तन करता है, वह समण कहलाता है।

णत्थि य से कोइ वेसो,
पिओ अ सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो,
एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥२॥

—जो किसी से द्वेष नहीं करता, जिसको सभी जीव समानभाव से प्रिय हैं, वह समण है। यह समण का दूसरा पर्याय है।

आचार्य हेमचन्द्र उक्त गाथा के 'समण' शब्द का निर्वचन 'सममन' करते हैं। जिसका सब जीवों पर **सम** अर्थात् समान, **मन** अर्थात् हृदय हो वह सममना कहलाता है। आप प्रश्न कर सकते हैं कि यहाँ तो मूल में 'समण' शब्द है, एक मकार कहाँ चला गया ? आचार्य उत्तर देते हैं कि निरुक्त विधि से सममन के एक मकार का लोप हो कर समन हो गया है। आचार्य श्री के शब्दों में ही देखिए, प्रस्तुत गाथा की व्याख्या का उत्थान और उपसंहार। **'तदेवं सर्वजीवेषु समत्वेन सममणतीति समण इत्येकः पर्यायो दर्शितः। एवं समं मनोऽस्येति सममना इत्यन्योऽपि पर्यायो भवत्येवेति दर्शयन्नाह ....सर्वेष्वपि जीवेषु सममनस्त्वाद्, अनेन भवति समं मनोऽस्येति निरुक्त-विधिना समना इत्येषोऽन्योपि पर्यायः।'**

तो समणो जइ सुमणो,
भावेण जइ ण होइ पाव-मणो।
सयणे य जणे य समो,
समो अ माणावमाणेसु ॥३॥

—श्रमण सुमना होता है, वह कभी भी पापमना नहीं होता। अर्थात् जिसका मन सदा प्रफुल्लित रहता है, जो कभी भी पापमय चिन्तन नहीं करता, जो स्वजन और परजन में तथा मान और अपमान में बुद्धि का उचित सन्तुलन रखता है, वह श्रमण है।

आचार्य हरिभद्र दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की तीसरी गाथा का मर्मोद्घाटन करते हुए श्रमण का अर्थ तपस्वी करते हैं। अर्थात् जो अपने ही श्रम से, तपः साधना से मुक्ति-लाभ करते हैं वे श्रमण कहलाते हैं—**'श्राम्यतीति श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः।'**

आचार्य शीलांक भी सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्धान्तर्गत १६ वें अध्ययन में श्रमण शब्द की यही श्रम और सम सम्बन्धी अमर घोषणा कर रहे हैं—**श्राम्यति तपसा खिद्यति इति कृत्वा श्रमणो वाच्योऽथवा समं तुल्यं मित्रादिषु मनः—अन्तःकरणं यस्य सः सममनाः सर्वत्र वासीचन्दनकल्प इत्यर्थः'**

सूत्रकृताङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्धान्तर्गत १६ वें गाथा अध्ययन में भगवान् महावीर ने साधू के माहन[1] (ब्राह्मण), श्रमण, भिक्षु[2] और

---

[१] किसी भी प्राणी का हनन न करो, यह प्रवृति जिसकी है, वह माहन है। 'मा हण त्ति प्रवृत्तिर्यस्याऽसौ माहनः।' आचार्य शीलांक, सूत्र कृतांग वृत्ति १।१६।

[२] जो शास्त्र की नीति के अनुसार तपः साधना के द्वारा कर्म बन्धनों का भेदन करता है, वह भिक्षु है। 'य शास्त्रनीत्या तपसा कर्म भिनत्ति स भिक्षुः।'—आचार्य हरिभद्र, दशवैकालिक वृत्ति, दशम अध्ययन।

निर्ग्रन्थ[1] इस प्रकार चार सुप्रसिद्ध नामों का वर्णन किया है। साधक के प्रश्न करने पर भगवान् ने उक्त शब्दों की विभिन्न रूपों से अत्यन्त सुन्दर भाव-प्रधान व्याख्या की है।

लेखक का मन उक्त सभी नामों पर भगवान् की वाणी का प्रकाश डालना चाहता है, परन्तु यहाँ मात्र श्रमण शब्द के निर्वचन का ही प्रसंग है, अतः इनमें से केवल श्रमण शब्द की भावना ही भगवान् महावीर के प्रवचनानुसार स्पष्ट की जा रही है।

—"जो साधक शरीर आदि में आसक्ति नहीं रखता है, किसी प्रकार की सांसारिक कामना नहीं करता है, किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, मैथुन और परिग्रह के विकार से भी रहित है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि जितने भी कर्मादान और आत्मा के पतन के हेतु हैं, सबसे निवृत्त[2] रहता है, इसी प्रकार जो इन्द्रियों का विजेता है, मोक्ष मार्ग का सफल यात्री है, शरीर के मोह ममत्व से रहित है, वह श्रमण कहलाता है।"

एत्थ वि समणे अणिस्सिए, अणियाणे, आदाणं च, अतिवायं च, मुसावायं च, बहिद्धं च, कोहं च, माणं च, मायं च, लोहं च, पिज्जं च, दोसं च, इच्चेव जओ जओ आदाणं अप्पणो पदोसहेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइवाया सिया दंते दविए वोसट्ठकाए 'समणे' त्ति वच्चे।

—सूत्र कृतांग १।१६।२

---

[1] **जो ग्रन्थ अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित होता है, कुछ भी छुपाकर गाँठ बाँधकर नहीं रखता है, वह निर्ग्रन्थ है। 'निर्गतो ग्रन्थाद् निर्ग्रन्थः।' आचार्य हरिभद्र, दशवैकालिक वृत्ति, प्रथम अध्ययन।**

[2] भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन-स्वरूप उत्तराध्ययन सूत्र में भी यही कहा है कि केवल मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता, श्रमण होता है समता की साधना से। '**न वि मुंडिएण समणो**'। '**समयाए समणो होइ।**'

करुणा मूर्ति तथागत बुद्ध ने भी धम्म पद के धम्मट्ठ वग्ग में श्रमण शब्द के निर्वचन पर कुछ ऐसा ही प्रकाश डाला है—

न मुण्डकेन समणो अव्वतो अलिकं भणं।
इच्छालोभसमापन्नो समणो किं भविस्सति ॥ ९ ॥

—जो व्रत-हीन है, जो मिथ्याभाषी है, वह मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता। इच्छा-लोभ से भरा (मनुष्य) क्या श्रमण बनेगा?

यो च समेति पापानि अणुं थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं 'समणो' ति पवुच्चति ॥ १० ॥

—जो सब छोटे-बड़े पाप का शमन करता है, उसे पापों का शमन-कर्ता होने के कारण से श्रमण कहते हैं।

जैन संस्कृति की साधना का समस्त सार इस प्रकार अकेले श्रमण शब्द मे अन्तर्निहित है। यदि हम इधर-उधर न जाकर अकेले श्रमण शब्द के समत्व भाव को ही अपने आचरण में उतार लें तो अपना और विश्व का कल्याण हो जाए। जैन संस्कृति की साधना का श्रम केवल विचार में ही नहीं, आचरण में भी उतरना चाहिए, प्रतिपल एवं प्रतिक्षण उतरना चाहिए। सम भाव की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला श्रम, मानव जीवन में, कभी न बुझने वाला अमर प्रकाश प्रदान करता है।

७

आवश्यक का स्वरूप

मानव-चिन्तन की ओर से एक प्रश्न है—आवश्यक किसे कहते हैं ? उसका क्या स्वरूप है ? उत्तर में निवेदन है कि जो क्रिया, जो कर्तव्य, जो साधना अवश्य करने योग्य है, उसका नाम आवश्यक है ।

इस पर भी प्रश्न है कि—उक्त स्वरूप-निर्णय में तो आवश्यक बहुत-सी चीजें ठहरती हैं ? शौचादि शारीरिक क्रियाएं अवश्य करने योग्य हैं, अतः वे भी आवश्यक कहलाएँगी ? दुकानदार के लिए प्रतिदिन दुकान पर जाना आवश्यक है, नौकर के लिए नौकरी पर पहुँचना आवश्यक है, कामी के लिए कामना-पूर्ति करना आवश्यक है ? अस्तु यह निर्णय करना शेष है कि आवश्यक से क्या अर्थ ग्रहण किया जाय ?

आपका कहना ठीक है । ऊपर जो सांसारिक क्रियाएँ बताई गयी हैं, वे भी आवश्यक-पदवाच्य हो सकती हैं । परन्तु किस के लिए ? बाह्यदृष्टि वाले, संसारी, मोह माया-संलग्न एवं विषयी प्राणी के लिए ।

सामान्य रूप से विश्व में मानव प्राणी दो प्रकार के माने गए हैं—(१) बहिर्दृष्टि और (२) अन्तर्दृष्टि । बहिर्दृष्टि मनुष्यों के लिए संसार और उसका भोग-विलास ही सब कुछ है । इसके अतिरिक्त अन्य आध्यात्मिक साधना के मार्ग उन्हें अरुचिकर प्रतीत होते हैं । दिन-रात दाम ही दाम और काम ही काम में उनके जीवन के अमूल्य क्षण गुजरते चले जाते हैं । उनके लिए सांसारिक कंचन और कामिनी आदि विषय ही आवश्यक हैं । परन्तु जो अन्तर्दृष्टि हैं, जिनके विचारों का आत्मा की ओर झुकाव है, जो क्षणिक वैषयिक सुख में मुग्ध न होकर स्थायी आत्म-कल्याण के लिए सतत सचेष्ट हैं, उनका आवश्यक आध्यात्मिक-साधना रूप है ।

अन्तर्दृष्टि वाले सज्जन साधक कहलाते हैं । उन्हें कोई भी जड़-पदार्थ अपने सौन्दर्य से नहीं लुभा सकता; अस्तु, उनका आवश्यक कर्म वही हो सकता है, जिसके द्वारा आत्मा सहज स्थायी सुख का अनुभव करे, कर्म-मल को दूर कर सहज स्वाभाविक निर्मलता प्राप्त करे, सदा काल के लिए सब दुःखों से छूट कर अन्त में अजर अमर पद प्राप्त करे । यह अजर, अमर, सहज, स्वाभाविक अनन्त सुख तभी जीवात्मा को प्राप्त हो सकता है, जबकि आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप अध्यात्म-ज्योति का पूर्णतया विकास हो । और इस अध्यात्म-ज्योति का विकास बिना

आवश्यक क्रिया के कथमपि नहीं हो सकता। प्रस्तुत प्रसंग में इसी आध्यात्मिक आवश्यक का वर्णन करना अभीष्ट है और संक्षेप में इस आध्यात्मिक आवश्यक का स्वरूप-परिचय इतना ही है कि सम्यग्ज्ञान आदि गुणों का पूर्ण विकास करने के लिए, जो क्रिया अर्थात् साधना अवश्य करने योग्य है, वही आवश्यक है।

८ | आवश्यक का निर्बचन

निर्वचन का अर्थ है—संयुक्त पद को तोड़ कर वाच्य अर्थ का स्पष्टीकरण करना। उदाहरण के लिए पंकज शब्द को ही लीजिए। पंकज का शाब्दिक निर्वचन है—**'पंकाज्जायते इति पंकजः'**। 'जो पंक से उत्पन्न हो, वह पंकज, अर्थात् कमल।' इसी निर्वचन की दृष्टि को लेकर प्रश्न है कि—आवश्यक का शाब्दिक निर्वचन क्या है ?

आवश्यक का निर्वचन अनेकों आचार्यों ने किया है। अनुयोगद्वार-सूत्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मलधारी हेमचन्द्र, आवश्यक सूत्र के टीकाकार आचार्य हरिभद्र और मलयगिरि, और विशेषावश्यक महाभाष्य के टीकाकार आचार्य कोटि इस सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर वर्णन करते हैं। पाठकों की जानकारी के लिए हम यहाँ कोट्याचार्य के द्वारा विशेषावश्यक भाषा की टीका में बताए गए निर्वचन उपस्थित करते हैं

(१) **अवश्यं करणाद् आवश्यकम्।**[1] जो अवश्य किया जाय वह आवश्यक है। साधु और श्रावक दोनों ही नित्य प्रति अर्थात् प्रति दिन क्रमशः दिन और रात्रि के अन्त में सामायिक आदि की साधना करते हैं, अतः वह साधना आवश्यक-पद-वाच्य है। उक्त निर्वचन अनुयोग द्वार-सूत्र की निम्नोक्त गाथा से प्रतिपाद्य है :—

समणेण सावएण य,
अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा।
अन्तो अहो—निसस्स य
तम्हा आवस्सयं नाम॥

(२) **आपाश्रयो वा इदं गुणानाम्, प्राकृतशैल्या आवस्सयं।** प्राकृत भाषा में आधार वाचक आपाश्रय शब्द भी 'आवस्सय' कहलाता है। जो गुणों की आधार भूमि हो, वह आवस्सय=आपाश्रय है। आवश्यक आध्यात्मिक समता, नम्रता, आत्म-निरीक्षण आदि सद्गुणों का आधार है; अतः वह आपाश्रय भी कहलाता है।

---

[1] **'अवश्यंकर्तव्यमावश्यकम्। श्रमणादिभिरवश्यम् उभयकालं क्रियत इति भावः।'**
—आचार्य मलयगिरि।

(३) **गुणानां वश्यमात्मानं करोतीति ।**[1] जो आत्मा को दुर्गुणों से हटा कर गुणों के वश्य अर्थात् आधीन करे, वह आवश्यक है । आ + वश्य, आवश्यक ।

(४) **गुणशून्यमात्मानं गुणैरावासयतीति आवासकम् ।** गुणों से शून्य आत्मा को जो गुणों से सर्वतः वासित करे, वह आवश्यक है । प्राकृत में आवासक भी 'आवस्सय' बन जाता है । गुणों से आत्मा को वासित करने का अर्थ है—गुणों से युक्त करना ।

(५) गुणैर्वा आवासकं = अनुरञ्जकं वस्त्रधूपादिवत् । आवस्सय का एक संस्कृत रूप आवासक भी होता है, उसका अर्थ है—'अनुरंजन करना' । जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों से अनुरंजित करे, वह आवासक ।

(६) गुणैर्वा आत्मानं आवासयति = आच्छादयति, इति आवासकम् । वस् धातु का अर्थ आच्छादन करना भी होता है । अतः जो ज्ञानादि गुणों के द्वारा आत्मा को आवासित = आच्छादित करे, वह आवासक है । जब आत्मा ज्ञानादि गुणों से आच्छादित रहेगा तो दुर्गुण-रूप धूल आत्मा पर नहीं पड़ने पाएगी ।

'आवस्सय' 'आवश्यक' के ऊपर जो निर्वचन दिए गए हैं, उनकी आधार-भूमि, जिन भद्र गणी क्षमाश्रमण का विशेषावश्यक भाष्य है । जिज्ञासु पाठक ८७७ और ८७८ वीं गाथा देखने की कृपा करें ।

---

१ **'ज्ञानादिगुणानाम् आसमन्ताद् वश्या इन्द्रिय-कषायादिर्भाव-शत्रवो यस्मात् तद् आवश्यकम्'** । आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि इन्द्रिय और कषाय आदि भाव-शत्रु जिस साधना के द्वारा ज्ञानादि गुणों के वश्य किए जायँ, वह आवश्यक है । अथवा ज्ञानादि गुण-समूह और मोक्ष पर जिस साधना के द्वारा अधिकार किया जाय, वह आवश्यक है । **'ज्ञानादिगुण-कदम्बकं मोक्षो वा आसमन्ताद् वश्यं क्रियतेऽनेन इत्यावश्यकम् ।'**

दिगंबर जैनाचार्य वट्टकेर मूलाचार में कहते हैं कि जो साधक राग, द्वेष, विषय, कषायादि के वशीभूत न हो, वह अवश कहलाता है, उस अवश का जो आचरण है, वह आवश्यक है ।

'ण वसो अवसो, अवसस्स कम्मावासयं ति बोधव्व। ।'

१ आवश्यक के पर्याय

पर्याय, अर्थान्तर का नाम है। एक पदार्थ के अनेक नाम परस्पर पर्यायवाची कहलाते हैं, जैसे—जल के वारि, पय, सलिल, नीर, तोय आदि पर्याय हैं। प्रस्तुत में प्रश्न है कि आवश्यक के कितने पर्याय हैं ?

अनुयोग द्वार-सूत्र में आवश्यक के आवश्यक, अवश्य-करणीय, ध्रुव-निग्रह, विशोधि, अध्ययन-षट्क वर्ग, न्याय, आराधना, मार्ग परस्पर पर्याय बताए गए हैं—

'आवस्सयं अवस्स-करणिज्जं,
धुवनिग्गहो विसोही य।
अज्झयण-छक्कवग्गो,
नाओ आराहणा मग्गो।'

१. **आवश्यक**—अवश्य करने योग्य कार्य आवश्यक कहलाता है। सामायिक आदि की साधना साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के द्वारा अवश्य रूप से करने योग्य है, अतः आवश्यक है। **'अवश्यं क्रियते आवश्यकम्।'**

२. **अवश्यकरणीय**—मुमुक्षु साधकों के द्वारा नियमेन अनुष्ठेय होने के कारण अवश्य करणीय है।

३. **ध्रुवनिग्रह**—अनादि होने के कारण कर्मों को ध्रुव कहते हैं। कर्मों का फल जन्म जरा मरणादि संसार भी अनादि है, अतः वह भी ध्रुव कहलाता है। अस्तु, जो कर्म और कर्म फलस्वरूप संसार का निग्रह करता है, वह ध्रुव निग्रह है।

४. **विशोधि**—कर्म से मलिन आत्मा की विशुद्धि का हेतु होने से आवश्यक विशोधि कहलाता है।

५. **अध्ययन षट्कवर्ग**—आवश्यक-सूत्र के सामायिक आदि छह अध्ययन हैं, अतः वह अध्ययन षट्कवर्ग है।

६. **न्याय**—अभीष्ट अर्थ की सिद्धि का सम्यक् उपाय होने से न्याय है। अथवा आत्मा और कर्म के अनादिकालीन सम्बन्ध का अपनयन करने के कारण भी न्याय कहलाता है। आवश्यक की साधना आत्मा को कर्म-बन्धन से मुक्त करती है।

७. **आराधना**—आराध्य मोक्ष का हेतु होने से आराधना है।

८. **मार्ग**—मोक्ष-पुर का प्रापक होने से मार्ग है। मार्ग का अर्थ उपाय है।

उपर्युक्त पर्यायवाची शब्द थोड़ा-सा अर्थ भेद रखते हुए भी मूलतः समानार्थक हैं

१० द्रव्य और भाव आवश्यक

जैन-दर्शन में द्रव्य और भाव का बहुत गंभीर एवं सूक्ष्म चिन्तन किया गया है। यहाँ प्रत्येक साधना एवं प्रत्येक क्रिया को द्रव्य और भाव के भेद से देखा जाता है। बहिर्दृष्टि वाले लोग द्रव्य-प्रधान होते हैं, जब कि अन्तर्दृष्टि वाले लोग भाव-प्रधान होते हैं।

द्रव्य आवश्यक का अर्थ है—अन्तरंग उपयोग के बिना, केवल परम्परा के आधार पर, किया जाने वाला पुण्य-फल की इच्छारूप आवश्यक। द्रव्य का अर्थ है—प्राणरहित शरीर। विना प्राण के शरीर केवल दृश्य वस्तु है, गति-शील नहीं। आवश्यक का मूल पाठ बिना उपयोग एवं विचार के बोलना, अन्यमनस्क होकर स्थूल रूप में उठने-बैठने आदि की विधि करना, अहिंसा, सत्य आदि सद्गुणों के प्रति निरादर का भाव रखकर केवल अहिंसा आदि शब्दों से चिपटे रहना, द्रव्य आवश्यक है। दिन और रात बे-लगाम घोड़ों की तरह उछलना, निरंकुश हाथियों की तरह जिनाज्ञा से बाहर विचरण करना, और फिर प्रातः सायं आवश्यक सूत्र के पाठों की रटन क्रिया में लग जाना, द्रव्य नहीं तो क्या है? विवेकहीन साधना अन्तर्जीवन में प्रकाश नहीं दे सकती। यह द्रव्य आवश्यक साधना-क्षेत्र में उपयोगी नहीं होता। अतएव अनुयोग-द्वार सूत्र में कहा है—

"जे इमे समणगुणमुक्कजोगी, छक्काय-निरणुकंपा, हया इव उद्दामा, गया इव निरंकुसा, घट्ठा, मट्ठा, तुप्पोट्ठा, पंडुरपडपाउरणा, जिणाणमणाणाए सच्छन्दं विहरिऊण उभओ कालं आवस्सयस्स उवट्ठंति, से तं लोगुत्तरियं दव्वावस्सयं।"

भाव आवश्यक का अर्थ है—अन्तरंग उपयोग के साथ, लोक तथा परलोक की वासना से रहित, यश कीर्ति सम्मान आदि की अभिलाषा से शून्य, मन वचन शरीर को निश्चल, निष्प्रकम्प, एकाग्र बना कर, आवश्यक की मूल भावना में उतर कर, दिन और रात्रि के जीवन में जिनाज्ञा के अनुसार विचरण कर, आवश्यक-सम्बन्धी मूल-पाठों के अर्थों पर चिन्तन, मनन, निदिध्यासन करते हुए, केवल निजात्मा को कर्म-मल से विशुद्ध बनाने के लिए, दोनों काल सामायिक आदि आवश्यक की साधना करना।

यह भाव आवश्यक ही यहाँ आवश्यकत्वेन अभिमत है। इसके विना आवश्यक

क्रिया आत्म-विशुद्धि नहीं कर सकती। यह भाव आवश्यक ही वस्तुतः योग है। योग का अर्थ है—**'मोक्षेण योजनाद् योगः।'** वाचक यशो विजय जी, ज्ञान-सार में कहते हैं— जो मोक्ष के साथ योजन=सम्बन्ध कराए, वह योग कहलाता है। भाव आवश्यक में हम साधक लोग अपनी चित्तवृत्ति को संसार से हटा कर मोक्ष की ओर केन्द्रित करते हैं, अतः वह ही वास्तविक योग है। प्राणायाम आदि के रूप में हठयोग केवल शारीरिक व्यायाम हैं, मनोरंजन है, वह हमें मोक्ष स्वरूप की झाँकी नहीं दिखा सकता।

भाव आवश्यक का स्वरूप, अनुयोगद्वार सूत्र में देखिए :—

"जं णं इमे समणो वा, समणो वा, सावश्रो वा, साविया वा तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पियकरणे, तब्भावणाभाविए, अन्नत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणे उभश्रो कालं आवस्सयं करेंति; से तं लोगुत्तरियं भावावस्सयं।"

११

आवश्यक के छह प्रकार

जैन-संस्कृति में जिसे आवश्यक कहा जाता है, वैदिक संस्कृति में उसे नित्य-कर्म कहते हैं। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अलग-अलग कर्म बताए गए हैं। ब्राह्मण के छः कर्म हैं—दान लेना, दान देना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, स्वयं पढ़ना और दूसरों को पढ़ाना। इसी प्रकार रक्षा करना आदि क्षत्रिय के कर्म हैं। व्यापार करना, कृषि करना, पशु-पालन करना आदि वैश्यकर्म हैं। ब्राह्मण आदि उच्च वर्ग की सेवा करना शूद्रकर्म है।

मैं पहले लिख कर आया हूँ कि ब्राह्मण-संस्कृति संसार की भौतिक-व्यवस्था में अधिक रस लेती है, अतः उसके नित्यकर्मों के विधान भी उसी रंग में रंगे हुए हैं। उक्त आजीविका-मूलक नित्यकर्म का यह परिणाम आया कि भारत की जनता ऊँचे नीचे जातीय भेद भावों की दल-दल में फँस गई। किसी भी व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार जीवनोपयोगी कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करना कठिन हो गया। प्रायः प्रत्येक दिशा में अनादि अनन्त काल के लिए ठेकेदारी का दावा किया जाने लगा।

परन्तु जैन-संस्कृति मानवता को जोड़ने वाली संस्कृति है। उसके यहाँ किसी प्रकार की भी ठेकेदारी का विधान नहीं है। अतएव जैन-धर्म के षडावश्यक मानव मात्र के लिए एक जैसे हैं। ब्राह्मण हों, क्षत्रिय हों, वैश्य हों, शूद्र हों, कोई भी हों, सब सामायिक कर सकते हैं, वन्दन कर सकते हैं। छहों ही आवश्यक बिना किसी जाति और वर्ग भेद के सब के लिए आवश्यक हैं। केवल गृहस्थ और केवल साधु ही नहीं, अपितु दोनों ही षडावश्यक का समान अधिकार रखते हैं। अतः जैन आवश्यक की साधना मानव मात्र के लिए कल्याण एवं मंगल की भावना प्रदान करती है।

अनुयोग द्वार सूत्र में आवश्यक के छह प्रकार बताए गए हैं—
'सामाइयं, चउवीसत्थओ, वंदणयं, पडिक्कमणं, काउस्सग्गो, पच्चक्खाणं।'

१. **सामायिक**—समभाव, समता।

२. **चतुर्विंशतिस्तव**—वीतराग देव की स्तुति।

३. **वन्दन**—गुरुदेवों को वन्दन।

४. **प्रतिक्रमण**—संयम में लगे दोषों की आलोचना।

५. **कायोत्सर्ग**—शरीर के ममत्व का त्याग।

६. **प्रत्याख्यान**—आहार आदि की आसक्ति का त्याग।

अनुयोग द्वार सूत्र में प्रकारान्तर से भी छह आवश्यकों का उल्लेख किया गया है। वह केवल नाम-भेद है, अर्थ-भेद नहीं।

सावज्जजोग-विरई,
उक्कित्तण गुणवओ य पडिवत्ती।
खलियस्स निंदणा,
वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव॥

(१) **सावद्ययोगविरति**—प्राणातिपात, असत्य आदि सावद्य योगों का त्याग करना। आत्मा में अशुभ कर्मजल का आस्रव पापरूप प्रयत्नों द्वारा होता है, अतः सावद्य व्यापारों का त्याग करना ही सामायिक है।

(२) **उत्कीर्तन**—तीर्थंकर देव स्वयं कर्मों को क्षय करके शुद्ध हुए हैं और दूसरों को आत्मशुद्धि के लिए सावद्ययोगविरति का उपदेश दे गए हैं, अतः उनके गुणों की स्तुति करना उत्कीर्तन है। यह चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है।

(३) **गुणवत्प्रतिपत्ति**—अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों के धर्ता संयमी गुणवान् हैं। उनकी वन्दनादि के द्वारा उचित प्रतिपत्ति करना, गुणवत्प्रतिपत्ति है। यह वन्दन आवश्यक है।

(४) **स्खलित निन्दना**—संयम-क्षेत्र में विचरण करते हुए साधक से प्रमादादि के कारण स्खलनाएँ हो जाती हैं, उनकी शुद्ध बुद्धि से संवेग की परमोत्तम भावना में पहुँच कर निन्दा करना, स्खलितनिन्दना है। दोष को दोष मान लेना ही वस्तुतः **प्रतिक्रमण है।**

(५) **व्रणचिकित्सा**—कायोत्सर्ग का ही दूसरा नाम व्रणचिकित्सा है। स्वीकृत चारित्र-साधना में जब कभी अतिचाररूप दोष लगता है तो वह एक प्रकार का भावव्रण (घाव) हो जाता है। कायोत्सर्ग एक प्रकार का प्रायश्चित्त है, जो उस भाव-व्रण पर चिकित्सा का काम देता है।

(६) **गुणधारणा**—प्रत्याख्यान का दूसरा पर्याय गुणधारणा है। कायोत्सर्ग के द्वारा भावव्रण के ठीक होते ही साधक का धर्म-जीवन अपनी उचित स्थिति में आ जाता है। प्रत्याख्यान के द्वारा फिर उस शुद्ध स्थिति को परिपुष्ट किया जाता है, पहले की अपेक्षा और भी अधिक बलवान बनाया जाता है। किसी भी त्यागरूप गुण को निरतिचार रूप से धारण करना गुणधारणा है।

१२ सामायिक आवश्यक

'सम्' उपसर्गपूर्वक 'गति' अर्थ वाली 'इण्' धातु से 'समय' शब्द बनता है। सम् का अर्थ एकीभाव है और अय का अर्थ गमन है, अस्तु जो एकीभाव के द्वारा बाह्य परिणति से वापस मुड़ कर आत्मा की ओर गमन किया जाता है, उसे समय कहते हैं, समय का भाव सामायिक होता है।[1]

उपर्युक्त निर्वचन का संक्षेप में भाव यह है कि—आत्मा को मन, वचन, तथा काय की पापवृत्तियों से रोक कर आत्मकल्याण के एक निश्चित ध्येय की ओर लगा देने का नाम सामायिक है। सामायिक करने वाला साधक, बाह्य सांसारिक दुर्वृत्तियों से हट कर आध्यात्मिक केन्द्र की ओर मन को वश में कर लेता है, वचन को वश में कर लेता है, काय को वश में कर लेता है, कषायों को सर्वथा दूर करता है, रागद्वेष के दुर्भावों को हटाकर शत्रु मित्र को समान दृष्टि से समझता है, न शत्रु पर क्रोध करता है और न मित्र पर अनुराग करता है। हाँ तो वह महल और मसान, मिट्टी और स्वर्ण सभी अच्छे-बुरे सांसारिक द्वन्द्वों में समभाव धारण कर लेता है; फलतः उसका जीवन सर्वथा निर्द्वन्द्व होकर शांति एवं समभाव की लहरों में बहने लगता है।

> जस्स सामाणिओ अप्पा,
> संजमे नियमे तवे।
> तस्स सामाइयं होइ,
> इइ केवलि-भासियं ॥
> जो समो सव्वभूएसु,
> तसेसु थावरेसु य।
> तस्स सामाइयं होइ,
> इइ केवलि-भासियं ॥[2]
>
> —अनुयोग द्वार सूत्र

---

१ 'सम्' एकीभावे वर्तते। तद्यथा, संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यत एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम्।' —सर्वार्थ सिद्धि ७। ११

२ जिसकी आत्मा संयम में, नियम में तथा तप में लीन है, वस्तुतः उसी का सच्चा सामायिक व्रत है, ऐसा केवल ज्ञानियों ने कहा है।

सम+आय अर्थात् समभाव का आना सामायिक है। जिस प्रकार हम अपने आप को देखते हैं, अपनी सुख-सुविधाओं को देखते हैं, अपने पर स्नेह सद्भाव रखते हैं, उसी प्रकार दूसरी आत्माओं के प्रति भी सदय एवं सहृदय रहना, सामायिक है। बाह्य दृष्टि का त्याग कर अन्तर्दृष्टि अपनाइए, आत्मनिरीक्षण में मन को जोड़िए, विषमभाव का त्याग कर समभाव में स्थिर बनिए, पौद्‌गलिक पदार्थों का ममत्व हटाकर आत्म-स्वरूप में रमण कीजिए, आप सामायिक के उच्च आदर्श पर पहुँच जायँगे। यह सामायिक समस्त धर्म-क्रियाओं, साधनाओं, उपासनाओं, एवं सदाचरणों के लिए उसी प्रकार आधारभूत है जिस प्रकार कि आकाश और पृथ्वी चराचर प्राणियों के लिए आधारभूत हैं। समभावरूप सामायिक के धारण करने से मानव-जीवन कष्टमय नहीं होता, क्योंकि संसार में जो कुछ भी मन, वचन, एवं शरीर का कष्ट होता है, वह सब विषमभाव से ही उत्पन्न होता है। और वह विषमभाव सामायिक में नहीं होता है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव-उक्त छह भेदों से साम्य-भावरूप सामायिक धारण किया जाता है :—

(१) **नाम सामायिक**—चाहे कोई शुभनाम हो, अथवा अशुभ नाम हो, सुनकर किसी भी प्रकार का राग-द्वेष नहीं करना, नाम सामायिक है।

सामायिकधारी आत्मा शुभाशुभ नामों के प्रयोग पर, स्तुति-निन्दा के शब्दों पर, विचारता है कि—किसी ने शुभ नाम अथवा अशुभ नाम का प्रयोग किया तो क्या हुआ ? आत्मा तो शब्द की सीमा से अतीत है। अतएव मैं व्यर्थ ही राग द्वेष के संकल्पों में क्यों फँसूं ?

(२) **स्थापना सामायिक**—जिस किसी स्थापित पदार्थ की सुरूपता अथवा कुरूपता को देखकर रागद्वेष नहीं करना, स्थापना सामायिक है।

सामायिक-धारी आत्मा विचारता है कि जो कुछ यह स्थापित पदार्थ है वह मैं नहीं हूँ, अतः मुझे इसमें रागद्वेष क्यों करना चाहिए ? मैं आत्मा हूँ, मेरा इससे कुछ भी हानि-लाभ नहीं है।

(३) **द्रव्य सामायिक**—चाहे सुवर्ण हो, चाहे मिट्टी हो, इन सभी अच्छे बुरे पदार्थों में समदर्शी भाव रखना, द्रव्य सामायिक है।

सामायिक-धारी आत्मा विचारता है कि यह पुद्‌गल द्रव्य स्वतः सुन्दर तथा असुन्दर कुछ भी नहीं है। अपना मन ही सुन्दरता, असुन्दरता, बहुमूल्यता,

---

—जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों पर समभाव रखता है, मैत्री भावना रखता है, वस्तुतः उसी का सच्चा सामायिक व्रत है, ऐसा केवल ज्ञानियों ने कहा है।

अल्पमूल्यता आदि की कल्पना करता है। आत्मा की दृष्टि से तो स्वर्ण भी मिट्टी है, मिट्टी भी मिट्टी है। हीरा और कंकर दोनों ही जड़ पदार्थ की दृष्टि से समान हैं।

(४) **क्षेत्र सामायिक**—चाहे कोई सुन्दर बाग हो, या काँटों से भरी हुई बंजर भूमि हो, दोनों में समभाव रखना, क्षेत्र सामायिक है।

सामायिक-धारी आत्मा विचारता है कि चाहे राजधानी हो, चाहे जंगल हो, दोनों ही पर क्षेत्र हैं। मेरा क्षेत्र तो केवल आत्मा है, अतएव मेरा उनमें रागद्वेष करना, सर्वथा अयुक्त है। अनात्मदर्शी ही अपना निवास-स्थान गांव या जंगल को समझते हैं, आत्मदर्शी के लिए तो अपना आत्मा ही अपना निवास-स्थान है। निश्चय नय की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ अपने में ही केन्द्रित है। जड़, जड़ में रहता है, और आत्मा, आत्मा में रहता है।

(५) **काल सामायिक**—चाहे वर्षा हो, शीत हो, गर्मी हो अथवा अनुकूल वायु से सुहावनी वसन्त ऋतु हो, या भयंकर आँधी बवंडर हो, किन्तु सब अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखना, काल सामायिक है।

सामायिक धारी आत्मा विचारता है कि ठण्डक, गरमी, वसन्त, वर्षा आदि सब पुद्गल के विकार हैं। मेरा तो इन से स्पर्श भी नहीं हो सकता। मैं अमूर्त हूँ। अरूप हूँ। मुझसे भिन्न सभी भाव वैभाविक हैं, अतः मुझे इन परभावजनित वैभाविक भावों में किसी प्रकार का भी राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

(६) **भाव सामायिक**—समस्त जीवों पर मैत्रीभाव धारण करना, किसी से किसी प्रकार का भी वैर विरोध नहीं रखना, भाव सामायिक है।

प्रस्तुत भाव सामायिक ही वास्तविक उत्तम सामायिक है। पूर्वोक्त सभी सामायिकों का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। आध्यात्मिक संयमी जीवन की महत्ता के दर्शन इसी सामायिक में होते हैं। भाव सामायिक-धारी आत्मा विचारता है कि—मैं अजर, अमर, चित्चमत्कार चैतन्य-स्वरूप हूँ। वैभाविक भावों से मेरा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है। अतएव जीने में, मरने में, लाभ में, अलाभ में, संयोग में, वियोग में, बन्धु में, शत्रु में, सुख में, दुख में क्यों हर्ष शोक करूँ? मुझे तो अच्छे-बुरे सभी प्रसंगों पर समभाव ही रखना चाहिए। हानि और लाभ, जीवन और मरण, मान और अपमान, शत्रु और मित्र आदि सभी कर्मोदयजन्य विकार हैं। वस्तुतः निश्चय नय की दृष्टि से इनके साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

भाव-सामायिक के सम्बन्ध में भगवान् महावीर एवं प्राचीन जैनाचार्यों ने बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया हैं। विस्तार में जाने का तो इधर अवकाश नहीं है, हाँ, संक्षेप में उनके विचारों की झाँकी दिखा देना आवश्यक है।

'आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे।'

—भगवती सूत्र १।९।

—वस्तुतः अपने शुद्ध स्वरूप में रहा हुआ आत्मा ही सामायिक है। सामायिक का प्रयोजन भी शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, चिच्चमत्कार स्वरूप आत्मतत्त्व की प्राप्ति ही है।

सावज्ज-जोग-विरओ,
तिगुत्तो छसु संजओ।
उवउत्तो जयमाणो,
आया सामाइयं होइ॥

—आवश्यक-निर्युक्ति

—जब साधक सावद्य योग से विरत होता है, छह काय के जीवों के प्रति संयत होता है, मन, वचन एवं काय को एकाग्र करता है, स्व-स्वरूप में उपयुक्त होता है, यतना में विचरण करता है, तब वह स्वयं (आत्मा) ही सामायिक है।

'सममेकत्वेन आत्मनि आयः आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः, आत्मविषयोपयोग इत्यर्थः।....अथवा सम् समे रागद्वेषाभ्यामनुपहते मध्यस्थे आत्मनि आयः उपयोगस्य प्रवृत्तिः समायः, स प्रयोजनमस्येति सामायिकम्।'

—गोम० जीव० टीका, गा० ३६८

—पर द्रव्यों से निवृत्त होकर साधक की ज्ञान-चेतना जब आत्म-स्वरूप में प्रवृत्त होती है, तभी भाव सामायिक होती है। रागद्वेष से रहित माध्यस्थ्यभावापन्न आत्मा सम कहलाता है, उस सम में गमन करना ही भाव सामायिक है।

'भावसामायिकं सर्वजीवेषु मैत्रीभावोऽशुभपरिणामवर्जनं वा।'

—अनगार धर्मामृत टीका ८। १९।

संसार के सभी जीवों पर मैत्रीभाव रखना, अशुभ परिणति का त्याग कर शुभ एवं शुद्ध परिणति में रमण करना, भाव सामायिक है।

आचार्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में तो बड़े ही विस्तार के साथ भाव सामायिक का निरूपण किया है, विशेष जिज्ञासु भाष्य का अध्ययन कर आनन्द उठा सकते हैं।

आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति की ७९६ वीं गाथा में सामायिक के तीन भेद बतलाते हैं—(१) सम्यक्त्व सामायिक, (२) श्रुत सामायिक, (३) और चारित्र सामायिक। समभाव की साधना के लिए सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र ही प्रधान साधन हैं। सम्यक्त्व से विश्वास की शुद्धि होती है, श्रुत से विचारों की शुद्धि

१—**सामाइयं च तिविहं,**
सम्मत्त सुयं तहा चरित्तं च।
दुविहं चेव चरित्तं,
आगारमणगारियं चेव॥

—आवश्यक निर्युक्ति ७९६

होती है, चारित्र से आचार की शुद्धि होती है। तीनों मिलकर आत्मा को पूर्ण विशुद्ध निर्मल बनाते हैं और उसे परमात्मा की कोटि में पहुँचा देते हैं।

चारित्र सामायिक के अधिकारी-भेद से दो प्रकार हैं—(१) देश, और (२) सर्व। गृहस्थों की आचार-साधना को देश चारित्र कहते हैं। देश का अर्थ है—'अंश'। गृहस्थ अहिंसा आदि आचार-साधना का पूर्णरूप से पालन न करके अंशतः पालन करता है। साधुओं की आचार-साधना को सर्वचारित्र कहते हैं। सर्व का अर्थ है—'समग्र, पूर्ण'। पाँच महाव्रतधारी साधु, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना को मन, वचन, और शरीर के द्वारा पूर्णतया पालन करने के लिए कृतप्रयत्न रहता है।

सामायिक की साधना बहुत ऊँची है। आत्मा का पूर्ण विकास सामायिक के बिना सर्वथा असम्भव है। धर्म-क्षेत्र की जितनी भी अन्य साधनाएँ हैं, सबका मूल सामायिक में ही रहा हुआ है। जैन आगमसाहित्य सब का सब सामायिक की चर्चा से ही ध्वनित है। अतएव वाचक यशोविजयजी सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशाङ्गीरूप जिनवाणी का सार बतलाते हैं—

"सकलद्वादशाङ्गोपनिषद्भूतसायिकसूत्रवत्"

—तत्त्वार्थ वृत्ति १-१

आचार्य जिनभद्र विशेषावश्यक-भाष्य में सामायिक को चौदह पूर्व का अर्थ-पिंड कहते हैं—

'सामाइयं संखेवो, चोद्दसपुव्वत्थपिंडो त्ति ।' गा० २७९६

जैन-संस्कृति समप्रधान संस्कृति है। उसके यहाँ तपश्चरण एवं उग्र क्रियाकाण्ड का कुछ महत्व अवश्य है, परन्तु वास्तविक महत्त्व संयम का है, समता का है, सामायिक का है। जबतक समभाव-रूप सामायिक न हो, तबतक कोटि-कोटि वर्ष तप करने वाला अविवेकी साधक भी कुछ नहीं कर पाता है। संथार पइन्ना में कहा है :—

जं अन्नाणी कम्मं,
खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो,
खवेइ ऊसास-मेत्तेण ॥

—अज्ञानी एवं असंयमी साधक करोड़ों वर्षों में तपश्चरण के द्वारा जितने कर्म नष्ट करता है, उतने कर्म त्रिगुप्तिधारी संयमी एवं विवेकी साधक एक साँस लेने भर जैसे अल्प काल में नष्ट कर डालता है।

संयम-शून्य तप, तप नहीं होता, वह केवल देह-दण्ड होता है। यह देहदण्ड तो नारकी जीव भी सागरों तक सहते रहते हैं, परन्तु उनकी कितनी आत्म-शुद्धि होती है? भगवती सूत्र के छठे शतक में प्रश्न है कि "सातवीं नरक के नैरयिक जीवों के कर्मों की अधिक निर्जरा होती है अथवा संयमी श्रमण निर्ग्रन्थ के कर्मों की ?" भगवान महावीर

ने उत्तर में कहा है कि—"संयम की साधना करता हुआ श्रमण तप श्चरण आदि के रूप में थोड़ा सा भी कष्ट सहन करता है तो कर्मों की बड़ी भारी निर्जरा करता है । सूखे घास का गट्ठा अग्नि में डालते ही कितनी शीघ्रता से भस्म होता है ? आग से जलते हुए लोहे के तवे पर जल-बिन्दु किस प्रकार सहसा नाम-शेष होजाता है ? इसी प्रकार संयम की साधना भी वह जलती हुई अग्नि है, जिसमें प्रतिक्षण कर्मों के दल के दल सहसा नष्ट होते रहते हैं ।"

आचार्य हरिभद्र आवश्यक निर्युक्ति पर व्याख्या करते समय तप से पहले संयम के उल्लेख का स्पष्टी करण करते हुए कहते हैं कि—'संयम भविष्य में होने वाले कर्मों के आस्रव का निरोध करने वाला है, अतः वह मुख्य है । संयम-पूर्वक ही तप वस्तुतः सफल होता है, अन्यथा नहीं ।

'संयमस्य प्रागुपादानमपूर्वकर्मागमनिरोधोपकारेण प्राधान्यख्यापनार्थम् । तत्पूर्वकं च वस्तुतः सफलं तपः ।'

संयम और तप के अन्तर को समझने के लिए एक उदाहरण दे रहा हूँ । किसी गृस्थ के घर पर चोरों का आक्रमण हो रहा है । कुछ चोर घर के अन्दर घुस आते हैं और कुछ घुसने की तैयारी में घर के बाहर खड़े रहते हैं । ऐसी स्थिति में गृहस्थ का क्या कर्त्तव्य हो जाता है ? वह अन्दर घुसे हुए चोरों से लड़े या पहले घर का दरवाजा बंद करे ? यदि पहले दरवाजा बंद न करके सोधा चोरों मे उलझ जाए तो बाहर खड़े चोरों का दल अन्दर आ सकता है । इस प्रकार चोरों की शक्ति घटने की अपेक्षा बढ़ती ही जाएगी । समझदारी का काम यह है कि पहले दरवाजा बन्द करके बाहर के चोरों को अन्दर आने से रोका जाय और फिर अन्दर के चोरों से संघर्ष किया जाय । संयम, भावी पापकर्मास्रव को रोकता है और तपश्चरण पहले के संचित कर्मों को क्षय करता है । जहाँ दूसरे धर्म केवल तप पर बल देते हैं वहाँ जैन-धर्म संयम को अधिक महत्व देता है । जैन-धर्म की सामायिक वह संयम की साधना है, जो भविष्य में आने वाले पापकर्मों को रोक कर फिर अन्दर में पूर्वबद्ध कर्मों से लड़ने की कला है । यह आध्यात्मिक युद्ध-कला ही वस्तुतः मुक्ति के साम्राज्य पर अधिकार करा सकती है ।

सामायिक का बहुत बड़ा महत्त्व है । वह आवश्यक का आदि मंगल है । अखिल मंगल का मूल निर्वाण है, और यह निर्वाण सामायिक के द्वारा ही प्राप्त होता है । अतः सामायिक मङ्गल है । आचार्य जिनदास कहते हैं—**'आदिमंगलं सामाइयज्झयणं । ....सव्व मंगलनिहाणं निव्वाणं पाविहित्ति काऊण सामाइयज्झयणं मंगलं भवति !'**— आवश्यकचूर्णि । सामायिक विश्व के सब प्राणियों के प्रति समता की साधना है । और यह समता ही वस्तुतः सब मङ्गलों का निधान है । अस्तु, समभाव की दृष्टि से भी सामायिक आदिमंगल है । **'जो य समभावो सो कहं सव्वमंगलनिधाणं ण भविस्सति ?"**

—आवश्यक चूर्णि ।

सामायिक की उत्कृष्ट साधना का तो कहना ही क्या है ? यदि जघन्यरूप से भी सामायिक-रूप समभाव का स्पर्श हो जाय तो साधक संसार का अन्त कर देता है, सात-आठ जन्म से अधिक जन्म नहीं ग्रहण करता है। **'सत्तट्ठभवग्गहणाइं पुण नाइक्कमइ।'** भग० ८।१०। क्या हम प्रभु महावीर के उक्त प्रवचन पर श्रद्धा रखते हैं ? यदि रखते हैं तो सामायिक से पराङ्मुख होना, हमारे लिए किसी क्षण भी हितावह नहीं है। हमारे जीवन की साँस-साँस पर सामायिक की अन्तर्वीणा का नाद झंकृत रहना चाहिए, तभी हम अपने जीवन को मङ्गलमय बना सकते हैं।

जैन-धर्म का सामायिक-धर्म बहुत विराट एवं व्यापक धर्म है। यह आत्मा का धर्म है, अतः सामायिक न किसी की जात पूछता है, न देश पूछता है, न रंग-रूप पूछता है, और न मत एवं पंथ ही। जैन-धर्म का सामायिक साधक से विशुद्ध जैनत्व की बात पूछता है, उस जैनत्व की, जो जात पाँत से, देश और पंथ से ऊपर की भूमिका है। यही कारण है कि माता मरुदेवी ने हाथी पर बैठे हुए सामायिक की साधना की, और मोक्ष में पहुँच गई। इला-पुत्र एक नट था, जो बाँस पर चढ़ा हुआ नाच रहा था। उसके अन्तर्जीवन में समभाव की एक नन्ही सी लहर पैदा हुई, वह फैली और इतनी फैली कि अन्तर्मुहूर्त में ही बांस पर चढ़े-चढ़े केवल-ज्ञानी हो गया। यह चमत्कार है सामायिक का ! सामायिक किसी अमुक वेष-विशेष में ही होता है, अन्यत्र नहीं, यह जैन-धर्म की मान्यता नहीं है। सामायिक-रूप जैनत्व वेष में नहीं, समभाव में है, माध्यस्थ भाव में है। राग-द्वेष के प्रसंग पर मध्यस्थ रहना ही सामायिक है, और यह मध्यस्थता अन्तर्जीवन की ज्योति है। इस ज्योति को किसी वेष-विशेष में बाँधना सामायिक का अपमान करना है। और यह सामायिक का अपमान स्वयं जैन-धर्म का अपमान है। भगवती सूत्र में इसी चर्चा को लेकर एक महत्वपूर्ण प्रश्नोत्तर है। वह द्रव्यलिंग की अपेक्षा भावलिंग को अधिक महत्व देता है। द्रव्य लिंग कोई भी हो, सामायिक की ज्योति प्रस्फुरित हो सकती है। हाँ, भावलिंग कषाय- विजय-रूप जैनत्व सर्वत्र एक-रस होना चाहिए। उसके बिना सब शून्य है, अन्धकार है।

सामाइयसंजएणं भंते ! किं सलिंगे होज्जा, अन्नलिंगे होज्जा, गिहिलिंगे होज्जा ?

दव्वलिंगं पडुच्च सलिंगे वा होज्जा, अन्नलिंगे वा होज्जा, गिहिलिंगे वा होज्जा। भावलिंगं पडुच्च नियमा सलिंगे होज्जा।

—भग० २५।७।

सामायिक के सम्बन्ध में आजकल एक बहुत भ्रान्तिपूर्ण मत चल रहा है। वह यह कि सामायिक की साधना केवल अभावात्मक साधना है। उसमें हिंसा नहीं करना, इस प्रकार 'न' के ऊपर ही बल दिया गया है। अतः सामायिक की साधना करने वाला गृहस्थ तथा साधु किसी की रक्षा के लिए, किसी जीव को मरते से बचाने के लिए, कोई विधानात्मक प्रवृत्ति नहीं कर सकता।

यह प्रश्न व्यर्थ ही उठ खड़ा हुआ है। यदि जैन-आगम-साहित्य का भली भाँति अवलोकन किया जाता तो इस प्रश्न की उत्पत्ति के लिए अवकाश ही न रहता। कोई भी विधि-मार्ग अर्थात् साधना-पथ अभावात्मक नहीं हो सकता। निषेध के साथ विधि अवश्य ही रहती है। झूठ नहीं बोलना, इस वाक्य का अर्थ होता है—असत्य का निषेध और सत्य का विधान। अब आप समझ सकते हैं—सत्य की साधना केवल निषेधात्मक नहीं है, प्रत्युत विधानात्मक भी है। इसी प्रकार अहिंसा आदि की साधना का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। प्रश्न व्याकरण सूत्र में अहिंसा के लिए मैत्री आदि शब्दों का प्रयोग है, जो स्पष्ट ही विधानात्मक है। सामायिक में पापाचार का निषेध किया है, धर्मा-चार का नहीं। किसी जीव को मरते से बचाना धर्माचार है, अतः सामायिक में उसका निषेध नहीं। आवश्यक-अवचूरि में सामायिक का निर्वचन करते हुए कहा है—

"सामाइयं नाम सावज्जजोगपरिवज्जणं,
निरवज्ज—जोग—पडिसेवणं च।"

—'सावद्य योगों का त्याग करना और निरवद्य योगों में प्रवृत्ति करना ही सामायिक है।'

मैं पूछता हूँ किसी भी दुर्बल की रक्षा करना, किसी गिरते हुए जीव को सहारा देकर बचा लेना, किसी मारते हुए सबल को रोक कर निर्बल की हत्या न होने देना, इस में कौन-सा सावद्य योग है? कौन-सा पापकर्म है? प्रत्युत मन में निःस्वार्थ करुणा-भाव का संचार होने से यह तो सम्यक्त्व की शुद्धि का मार्ग है, मोक्ष का मार्ग है! अनुकम्पा हृदय क्षेत्र की वह पवित्र गंगा है, जो पापमल को बहा कर साफ कर देती है। अनुकम्पा के विना सामायिक का कुछ भी अर्थ नहीं है। अनुकम्पा के अभाव में सामायिक की स्थिति ठीक वैसी ही है, जैसे ज्योतिहीन दीपक की स्थिति। ज्योतिहीन दीपक, दीपक नहीं, मात्र मिट्टी का पिंड है। सामायिक का सच्चा अधि-कारी ही वह होता है, जो अनुकम्पा के अमृतरस से भरपूर होता है। आचार्य हरिभद्र आवश्यक बृहद्वृत्ति में लिखते हैं—'**अनुकम्पा-प्रवणचित्तो जीवः सामायिकं** लभते, **शुभपरिणामयुक्तत्वाद् वैद्यवत्।**"

आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक निर्युक्ति में सामायिक के सामायिक, समयिक, सम्यवाद आदि आठ नामों का उल्लेख किया है। उसमें से समयिक शब्द का अर्थ भी सब जीवों पर सम्यक् रूप से दया करना है। आचार्य हरिभद्र समयिक की व्युत्पत्ति करते हैं—**समिति सम्यक्-शब्दार्थ उपसर्गः, सम्यग् अयः—सम्यग् दयापूर्वकं जीवेषु गमनमित्यर्थः। समयोऽस्यास्तीति, अत इनि ठना (पा० ५-२-११५) विति ठन् समयिकम्।**'

सामायिक के सम्बन्ध में बहुत लम्बा लिख चुके हैं। इतना लिखना आव-श्यक भी था। अधिक जिज्ञासा वाले सज्जन लेखक का सामायिक-सूत्र देख सकते हैं।

●

१३ चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक

सामायिक आवश्यक को सावद्ययोग-विरति भी कहते हैं। अनुयोगद्वार सूत्र में इस नाम का उल्लेख किया गया है। परन्तु प्रश्न है कि यह सावद्ययोग से निवृत्ति शीघ्रतया कैसे प्राप्त हो सकती है ?

सावद्ययोग से शीघ्रातिशीघ्र निवृत्त होने के लिए, समभाव पर पूर्ण प्रगति प्राप्त करने के लिए, साधक को किसी तदनुरूप ही महत्त्वशाली उच्च आलम्बन की आवश्यकता होती है। किसी वस्तु से निवृत्त होने के लिए उससे निवृत्त होने वालों को अपने समक्ष उपस्थित करने की एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है। जब तक कोई महान् आदर्श साधक के सामने उपस्थित न हो, तब तक उसका किसी वस्तु से निवृत्त होना कठिन है।

हाँ तो, सावद्य योग से निवृत्त होने का उपदेश कौन देते हैं ? सावद्य योग की निवृत्ति किन के जीवन में पूर्णतया उत्तरी है ? समभाव रूप सामायिक के संसार में कौन सब से बड़े प्रतिनिधि हैं ? आध्यातिमक-साधना-क्षेत्र पर नजर दौड़ाने के बाद उत्तर है[1] कि तीर्थंकर भगवान्, बीतराग देव !

यह चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक, जिसका दूसरा नाम अनुयोग द्वार सूत्र में उत्कीर्तन भी है; सामायिक साधना के लिए आलम्बन-स्वरूप है। चौबीस तीर्थंकर,

---

१. जिस साधना के द्वारा संसार-सागर पार किया जाता है, वह तीर्थ है। 'संसार-सागरं तरन्ति येन तत्तीर्थम् ।'

—नन्दीसूत्र-वृत्ति ।

तीर्थ धर्म को कहते हैं, अतः जो धर्म का आदिकर्त्ता है, प्रवर्तक है, वह तीर्थंकर है। 'तीर्थमेव धर्मः, तस्यादिकर्त्तारस्तीर्थकराः।'

—आवश्यक-चूर्णि ।

वर्तमान काल-चक्र में भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। चतुर्विशतिस्तव के लिए आजकल 'लोगस्स उज्जोयगरे' नामक स्तुति पाठ का प्रयोग किया जाता है।

जो कि त्याग-वैराग्य के, संयम-साधना के महान् आदर्श हैं, उनकी स्तुति करना, उनके गुणों का कीर्तन करना, चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक कहलाता है ।

तीर्थंकर देवों की स्तुति से साधक को महान् आध्यात्मिक बल मिलता है, साधना का मार्ग प्रशस्त होता है, जड़ एवं मृत श्रद्धा सजीव एवं स्फूर्तिमती होती है, त्याग तथा वैराग्य का महान् आदर्श आँखों के सामने देदीप्यमान हो उठता है ।

तीर्थंकरों की भक्ति के द्वारा साधक अपने औद्धत्य तथा अहंकार का नाश करता है, सद्गुणों के प्रति अनुराग की वृद्धि करता है, फलतः प्रशस्त भावों की, कुशल परिणामों की उपलब्धि करके संचित कर्मों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है,[1] जिस प्रकार अग्नि की नन्ही-सी जलती हुई चिनगारी घास के ढेर को भस्म कर डालती है । कर्मों का नाश हो जाने के बाद आत्मा जब पूर्ण शुद्ध निर्मल हो जाता है, तब वह भक्त की कोटि से भगवान् की कोटि में पहुँच जाता हैं । जैन-धर्म का आदर्श है कि प्रत्येक आत्मा अपने अन्तरंग स्वरूप की दृष्टि से परमात्मा ही है, भगवान् ही है । यह कर्म का, मोहमाया का परदा ही आत्माओं के अखण्ड तेज को अवरुद्ध किए हुए है । जब यह परदा उठा दिया गया तो फिर कुछ भी अन्तर नहीं रहता ।

शङ्का हो सकती है कि तीर्थंकर वीतराग देवों के स्मरण तथा स्तुति से हम पापों के बन्धन कैसे काट सकते हैं ? किस प्रकार आत्मा से परमात्मा के पद पर पहुँच सकते हैं ? शंका जितनी गूढ़ है, उतनी ही आनन्दप्रद भी है । आप देखते हैं—बालक नंगे सिर गली में खेल रहा है । वह अपने विचारों के अनुसार जिस बालक को अच्छा समझता है, जिसके खेल को ठीक जानता है, उसी का अनुकरण करने लगता है । दूसरे बच्चों को जो कुछ करते देखता है, उसी ओर उसके हाथ पैर भी चंचल हो उठते हैं । बालक बड़ा हुआ, पाठशाला गया, वहाँ अपने सहपाठियों में से किसी को आदर्श विद्यार्थी जानकर उसका अनुकरण करने लगता है । यह देखी हुई बात है कि छोटी श्रेणियों के लिए बड़ी श्रेणियों के विद्यार्थी आचार-व्यवहार में नेता होते हैं ।

---

१. आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने कहा है—

'भत्तीइ जिणवराणं, खिज्जंती पुव्वसंचिया कम्मा ।'

—आवश्यक-नियुक्ति, १०७६

पाप-पराल को पुञ्ज वण्यो अति,
मानो मेरु आकारो ।
ते तुम नाम हुताशन सेती,
सहज ही प्रजलत सारो ।
पदमप्रभु पावन नाम तिहारो ।

—विनयचन्द्र चौबीसी ।

आगे चलकर बड़े लड़कों के लिए उनके अध्यापक आदर्श बनते हैं। मनुष्य, बिना किसी मानसिक आदर्श के क्षण भर भी नहीं रह सकता। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन, मानसिक आदर्शों के प्रति ही गतिशील है। और तो क्या, मरते समय भी मनुष्य के जैसे संकल्प होते हैं वैसी ही गति आगे मिलती है। यह लोकोक्ति अक्षरशः सत्य है कि मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही बन जाता है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' हाँ तो, इसी प्रकार उपासक भी अपने अन्तर्हृदय में यदि त्यागमूर्ति तीर्थंकर देवों का स्मरण करेगा तो अवश्य ही उसका आत्मा भी अपूर्व अलौकिक त्याग-वैराग्य की भावनाओं से आलोकित हो उठेगा। आध्यात्मिक शक्तिशाली महान् आत्माओं का स्मरण करना, वस्तुतः आध्यात्मिक बल के लिए अपनी आत्मा के द्वार खोल देना है। तीर्थंकर देव ज्ञान की अपार ज्योति से ज्योतिर्मय हैं। जो भी साधक इनके पास आयगा, इन्हें स्मृति में लायगा, वह अवश्य ज्योतिर्मय बन जायगा। संसार की मोह माया का अन्धकार उसके निकट कदापि कथमपि नहीं फटक सकेगा। **'यादृशी दृष्टिस्तादृशी सृष्टिः।'**

भगवत्स्तुति अंतःकरण का स्नान है। उससे हमें स्फूर्ति, पवित्रता और बल मिलता है। भगवत्स्तुति का अर्थ है—उच्च नियमों, सद्गुणों एवं उच्च आदर्शों का स्मरण।

एक बात यहाँ स्पष्ट करने योग्य है। वह यह कि जैन धर्म वैज्ञानिक धर्म है। उसमें काल्पनिक आदर्शों के लिए जरा भी स्थान नहीं है। अतः यहाँ प्रार्थना का लम्बा चौड़ा जाल नहीं बिछा हुआ है। और न जैन धर्म का विश्वास ही है कि कोई महापुरुष किसी को कुछ दे सकते हैं। हम महापुरुषों को केवल निमित्त मात्र मानते हैं। उनसे हमें केवल आध्यात्मिक विकास के लिए प्रेरणा मिलती है। ऐसा नहीं होता कि हम स्वयं कुछ न करें और केवल प्रार्थना से सन्तुष्ट परमात्मा हमें अभीष्ट सिद्धि प्रदान करदें। जो लोग भगवान् के सामने गिड़गिड़ा कर प्रार्थना करते हैं कि—भगवन्! हम पापी हैं, दुराचारी हैं, तू हमारा उद्धार कर, तेरे बिना हम क्या करें?' वे जैन धर्म के प्रतिनिधि नहीं हो सकते। स्वयं उठने का यत्न न करके केवल भगवान् से उठाने की प्रार्थना करना सर्वथा निरर्थक है। इस प्रकार की विवेकशून्य प्रार्थनाओं ने तो मानव जाति को सब प्रकार से हीन, दीन एवं नपुंसक बना दिया है। सदाचार की मर्यादा को ऐसी प्रार्थनाओं से बहुत गहरा धक्का लगा है। हजारों लोग इन्हीं प्रार्थनाओं के भरोसे परमात्मा को अपना भावी उद्धारक समझ कर मोद मनाते रहते हैं और कभी भी स्वयं पुरुषार्थ के भरोसे सदाचार के पथ पर अग्रसर नहीं होते। अतएव जैन धर्म क्रियात्मक साधना पर जोर देता है। वह भगवान् के स्मरण को बहुत ऊँची चीज मानता है, परन्तु उसे ही सब कुछ नहीं मानता। जैन धर्म की दृष्टि में भगवत्स्तुति हमारी प्रसुप्त अन्तर् चेतना को जागृत करने के लिए सहकारी साधन है। हम स्वयं सदाचार के पथ पर चल कर उसे जगाने का प्रयत्न करते हैं। और भगवान् की स्तुति हमें आदर्श प्रदान कर प्रेरणास्वरूप बनती है।

जैन-धर्म के सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य जिनदास गणी ने इस सम्बन्ध में स्पष्टतः कहा है कि—केवल तीर्थंकर देवों की स्तुति करने मात्र से ही मोक्ष एवं समाधि आदि की प्राप्ति नहीं होती है। भक्ति एवं स्तुति के साथ-साथ तप एवं संयम की साधना में उद्यम करना भी अतीव आवश्यक है।

'न केवलाए तित्थगरत्थुतीए एताणि (आरोग्गादीणि) लब्भति, किन्तु तब-संजमुज्जमेण।

—आवश्यक चूर्णि

१४ वन्दन आवश्यक

देव के बाद गुरु का नम्बर है। तीर्थंकर देवों के गुणों का उत्कीर्तन करने के बाद अब साधक[1] गुरुदेव को वन्दन करने की ओर झुकता है। गुरुदेव को वन्दन करने का अर्थ है— गुरुदेव का स्तवन और अभिवादन।[2] मन, वचन, और शरीर का वह प्रशस्त व्यापार, जिस के द्वारा गुरुदेव के प्रति भक्ति और बहुमान प्रकट किया जाता है, वन्दन कहलाता है। प्राचीन आवश्यक निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में वन्दन के चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म आदि पर्याय प्रसिद्ध हैं।

वन्दन आवश्यक की शुद्धि के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि वन्दनीय कैसे होने चाहिएँ? वे कितने प्रकार के हैं? अथच अवन्दनीय कौन हैं? अवन्दनीय लोगों को वन्दन करने से क्या दोष होता है? वन्दन करते समय किन-किन दोषों का परिहार करना जरूरी है? जब तक साधक उपर्युक्त विषयों की जानकारी न कर लेगा, तब तक वह कथमपि वन्दनावश्यक के फल का अधिकारी नहीं हो सकता।

मानव-मस्तक बहुत उत्कृष्ट वस्तु है। वह व्यर्थ ही हर किसी के चरणों में रगड़ने के लिए नहीं है। सबके प्रति नम्र रहना और चीज है, और पूज्य समझकर सर्वात्मना आत्मसमर्पण कर वन्दन करना, दूसरी चीज है। जैनधर्म गुणों का पूजक है। वह पूज्य व्यक्ति के सद्गुण देखकर ही उसके आगे सिर झुकाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र की तो बात ही और है। यहाँ जैन इतिहास में तो गुणहीन साधारण सांसारिक

---

[1] संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में 'गुरु' भारी को कहते हैं, अतः जो अपने से अहिंसा, सत्य आदि महाव्रतरूप गुणों में भारी हो, वजनदार हो, वह सर्व-विरति साधु, भले वह स्त्री हो या पुरुष, गुरु कहलाता है। इस कोटि में गणधर से लेकर सामान्य साधु-साध्वी सभी संयमी जनों का अन्तर्भाव हो जाता है।

आचार्य हेमकीर्ति ने कहा है कि जो सत्य धर्म का उपदेश देता है, वह गुरु है। 'गृणाति-कथयति सद्धर्मतत्त्वं स गुरुः।' तीर्थंकर देवों के नीचे गुरु ही सद्धर्म का उपदेष्टा है।

[2] 'वदि' अभिवादनस्तुत्योः, इति कायेन अभिवादने वाचा स्तवने।'

—आवश्यक चूर्णि

व्यक्ति को वन्दन करना भी हेय समझा जाता है। असंयमी को, पतित को वन्दन करने का अर्थ है—पतन को और अधिक उत्तेजन देना। जो समाज इस दिशा में अपना विवेक खो देता है, वह पापाचार, दुराचार को निमंत्रण देता है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं कि—'जो मनुष्य गुणहीन अवंद्य व्यक्ति को वन्दन करता है, न तो उसके कर्मों की निर्जरा होती है और न कीर्ति ही। प्रत्युत असंयम का, दुराचार का अनुमोदन करने से कर्मों का वन्ध होता है। वह वन्दन व्यर्थ का कायक्लेश है।'

पासत्थाई वंदमाणस्स
नेव कित्ती न निज्जरा होई
काय-किलेसं एमेव
कुणई तह कम्मबंधं च ॥११०८॥

अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दन करने वाले को ही दोष होता है और वन्दन कराने वाले को कुछ भी दोष नहीं होता, यह बात नहीं है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं कि—यदि अवन्दनीय व्यक्ति गुणी पुरुषों द्वारा वन्दन कराता है तो वह असंयम में और भी वृद्धि करके अपना अधःपतन करता है।[1]

जैन धर्म के अनुसार द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के चारित्र से संपन्न त्यागी वीतराग, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर एवं गुरु देव आदि ही वन्दनीय हैं। इन्हीं को वन्दना करने से भव्य साधक अपना आत्मकल्याण कर सकता है, अन्यथा नहीं। साधक के लिए वही आदर्श उपयोगी हो सकता है, जो बाहर में भी पवित्र एवं महान हो और अन्दर में भी। साधारण साधकों के लिए अपने आध्यात्मिक जीवन के निर्माण में न केवल बाह्य जीवन की पवित्रता आदर्श रूपेण सहायक हो सकती है, और न केवल अंतरंग पवित्रता एवं महत्ता ही। साधक को तो ऐसा गुरुदेव चाहिए, जिसका जीवन निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से पूर्ण हो। आचार्य भद्रबाहु स्वामी आवश्यक निर्युक्ति की ११३८ वीं गाथा में इस सम्बन्ध में मुद्रा अर्थात् सिक्के की चतुर्भंगी का बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं संगत दृष्टान्त देते हैं:

---

[1] जे बंभचेर—भट्ठा,
पाए उड्डंति बंभयारीणं।
ते होंति कुंट मुंटा,
बोही य सुदुल्लहा तेसिं ॥११०९॥

—आवश्यक निर्युक्ति

—जो पार्श्वस्थ आदि ब्रह्मचर्य अर्थात् संयम से भ्रष्ट हैं, परन्तु अपने को गुरु कहलाते हुए सदाचारी सज्जनों से वन्दन कराते हैं, वे अगले जन्म में अपंग, रोगी, ठूंट मूंट होते हैं, और उनको धर्ममार्ग का मिलना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

(१) चाँदी यद्यपि शुद्ध हो, किन्तु यदि उस पर मुहर ठीक न लगी हो तो वह सिक्का ग्राह्य नहीं होता। इसी प्रकार भाव चारित्र से युक्त, किन्तु द्रव्य लिंग से रहित प्रत्येक बुद्ध आदि मुनि साधकों के द्वारा वन्दनीय नहीं होते।

(२) जिस सिक्के पर मुहर तो ठीक लगी हो, परन्तु मूलतः चाँदी अशुद्ध हो, तो वह सिक्का भी ग्राह्य नहीं माना जाता; उसी प्रकार भाव-चारित्र से हीन केवल द्रव्य लिङ्गी साधु, वस्तुतः कुसाधु ही हैं, अतः वे साधक के द्वारा सर्वथा अवन्दनीय होते हैं। मूल ही नहीं तो ब्याज कैसा ? अन्तरङ्ग में भावचारित्र के होने पर ही बाह्य द्रव्य क्रिया काण्ड एवं वेष आदि उपयोगी हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

(३) जिस सिक्के की चाँदी भी अशुद्ध हो और मुहर भी ठीक न हो, वह सिक्का तो बाजार में किञ्चित् भी आदर नहीं पाता, प्रत्युत दिखाते ही फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति न भावचारित्र की साधना करता हो और न बाह्य की ही, वह भी आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में आदरणीय नहीं माना जाता।

(४) जिस सिक्के की चाँदी भी शुद्ध हो, और उस पर मुहर भी बिल्कुल ठीक लगी हो, वह सिक्का सर्वत्र अव्याहत गति से प्रसार पाता है, उसका कहीं भी निरादर तथा तिरस्कार नहीं होता। इसी प्रकार जो मुनि द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार के चारित्र से सम्पन्न हों, जो अपनी आतमसाधना के लिए अन्दर तथा बाहर से एकरूप हों, वे मुनि ही साधना-जगत में अभिवंदनीय माने गए हैं। उन्हीं से साधक कुछ आतम-कल्याण की शिक्षा ग्रहण कर सकता है। वन्दन आवश्यक की साधना के लिए ऐसे ही गुरुदेवों को वन्दन करने की आवश्यकता है।

[1]वन्दन आवश्यक का यथाविधि पालन करने से विनय की प्राप्ति होती है,

---

सुट्ठुतरं नासंती
अप्पाणं जे चरित्त-पब्भट्ठा।
गुरुजण वंदाविंती
सुसमण अहुत्तकारिं च ॥१११०॥
—आवश्यक निर्युक्ति

—जो चारित्रभ्रष्ट लोग अपने को यथोक्तकारी, गुणश्रेष्ठ साधक से वन्दन कराते हैं और सद्गुरु होने का ढोंग रचते रहते हैं, वे अपनी आत्मा का सर्वथा नाश कर डालते हैं।

[1] विणओवयार, माणस्स
भंजणा, पूयणा गुरुजणस्स।
तित्थयराण य आणा,
सुयधम्माराहणा ऽकिरिया॥
—आवश्यक निर्युक्त ॥१२१५॥

अहंकार अर्थात् गर्व का (आत्म-गौरव का नहीं) नाश होता है, उच्च आदर्शों की झाँकी का स्पष्टतया भान होता है, गुरुजनों की पूजा होती है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है, और श्रुत धर्म की आराधना होती है। यह श्रुत धर्म की आराधना आत्मशक्तियों का क्रमिक विकास करती हुई अन्ततोगत्वा मोक्ष का कारण बनती है। भगवती सूत्र में बतलाया गया है कि—'गुरुजनों का सत्संग करने से शास्त्र-श्रवण का लाभ होता है; शास्त्र-श्रवण से ज्ञान होता है, ज्ञान से विज्ञान होता है, और फिर क्रमशः प्रत्याख्यान, संयम, अनाश्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया अथच सिद्धि का लाभ होता है।'

सवणे णाणे य विण्णाणे,
पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव,
वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥

—भग० २। ५। ११२

गुरु वन्दन की क्रिया बड़ी ही महत्वपूर्ण है। साधक को इस ओर उदासीन भाव न रखना चाहिए। मन के कण-कण में भक्ति-भावना का विमल स्रोत बहाये बिना वन्दन द्रव्य वन्दन हो जाता है, और वह साधक के जीवन में किसी प्रकार की भी उत्क्रान्ति नहीं ला सकता। जिस वन्दन की पृष्ठ भूमि में भय हो, लज्जा हो, संसार का कोई स्वार्थ हो, वह कभी-कभी आत्मा का इतना पतन करता है कि कुछ पूछिए नहीं। इसी लिए द्रव्य वन्दन का जैन धर्म में निषेध किया गया है। पवित्र भावना के द्वारा उपयोग-पूर्वक किया गया भाव वन्दन ही तीसरे आवश्यक का प्राण है। आचार्य मलयगिरि, आवश्यक वृत्ति में, द्रव्य और भाव-वन्दन की व्याख्या करते हुए कहते हैं—'**द्रव्यतो मिथ्यादृष्टेरनुपयुक्त-सम्यग्दृष्टेश्च, भावतः सम्यग् दृष्टेरुपयुक्तस्य**।'

आचार्य जिनदास गणी ने आवश्यक चूर्णि में द्रव्य वन्दन और भाववन्दन पर दो कथानक दिए हैं। एक कथानक भगवान् अरिष्ट नेमि के समय का है। भगवान नेमि के दर्शनों के लिए वासुदेव कृष्ण और उनके मित्र वीरककौलिक पहुँचे। श्रीकृष्ण ने भगवान् नेमि और अन्य साधुओं को बड़े ही पवित्र श्रद्धा एवं उच्च भावों से वन्दन किया। वीरककौलिक भी श्रीकृष्ण की देखा देखी उन्हें प्रसन्न करने के लिए पीछे-पीछे वन्दन करता रहा। वन्दन-फल के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् नेमि ने कहा कि 'कृष्ण! तुमने भाव वन्दन किया है, अतः तुमने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त की और तीर्थकरगोत्र की शुभ प्रकृति का बन्ध किया। इतना ही नहीं, तुमने सातवीं, छटी, पाँचवीं और चौथी नरक का बन्धन भी तोड़ दिया है। परन्तु वीरक ने केवल देखा-देखी भावनाशून्य वन्दन किया है, अतः उसका वन्दन द्रव्यवन्दन होने से निष्फल है। उसका उद्देश्य तुम्हें प्रसन्न करना है, और कुछ नहीं।'

दूसरा कथानक भी इसी युग का है। श्री कृष्णचन्द्र के पुत्रों में से शाम्ब और पालक नामक दो पुत्र वन्दना के इतिहास में सुविश्रुत हैं। शाम्ब बड़ा ही धर्म-श्रद्धालु एवं उदार प्रकृति का युवक था। परन्तु पालक बड़ा ही लोभी एवं अभव्य प्रकृति का स्वामी था। एक दिन प्रसंगवश श्रीकृष्ण ने कहा कि 'जो कल प्रातः काल सर्व प्रथम भगवान् नेमिनाथ जी के दर्शन करेगा, वह जो माँगेगा, दूँगा।' प्रातः काल होने पर शाम्ब ने जागते ही शय्या से नीचे उतर कर भगवान् को भाववन्दन कर लिया। परन्तु पालक राज्य-लोभ की मूर्छा से घोड़े पर सवार होकर जहाँ भगवान् का समवसरण था वहाँ वन्दन करने के लिए पहुँचा। ऊपर से वन्दन करता रहा, किन्तु अन्दर में लोभ की आग जलती रही। सूर्योदय के पश्चात् श्रीकृष्ण ने पूछा कि 'भगवन्! आज आप को पहले वन्दना किसने की? भगवान् ने उत्तर दिया—'द्रव्य से पालक ने और भाव से शाम्ब ने।' उपहार शाम्ब को प्राप्त हुआ।

पाठक उक्त कथानकों पर से द्रव्य वन्दन और भाव वन्दन का अन्तर समझ गए होंगे। द्रव्य वन्दन अंधकार है तो भाववन्दन प्रकाश है। भाववन्दन ही आत्मशुद्धि का मार्ग है। केवल द्रव्य वन्दन तो अभव्य भी कर सकता है। परन्तु अकेले द्रव्य वन्दन से होता क्या है? द्रव्य वन्दन में जब तक भाव का प्राण न डाला जाए, तब तक आवश्यक-शुद्धि का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता।

वन्दन क्रिया का उद्देश्य अपने में नम्रता का भाव प्राप्त करना है। जैन धर्म के अनुसार अहंकार नीच गोत्र का कारण है और नम्रता उच्च गोत्र का। वस्तुतः जो नम्र हैं, बड़ों का आदर करते हैं; सद्गुणों के प्रति बहुमान रखते हैं, वे ही उच्च हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं,। जैनधर्म में विनय एवं नम्रता को तप कहा है। विनय जिनशासन का मूल है—'**विणओ जिणसासणमूलं**।' आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि—'जिनशासन का मूल विनय है। विनीत साधक ही सच्चा संयमी हो सकता है। जो विनय से हीन है, उसका कैसा धर्म और कैसा तप?'

विणओ सासणे मूलं,
विणीओ संजओ भवे।
विणयाउ विप्पमुक्कस्स,
कओ धम्मो कओ तवो?॥

—आवश्यक निर्युक्ति, १२१६

दशवैकालिक सूत्र में भी विनय का बहुत अधिक गुणगान किया गया है। एक समूचा अध्ययन ही इस विषय के गम्भीर प्रतिपादन के लिए रक्खा गया है। विनयाध्ययन में वृक्ष का रूपक देते हुए कहा है कि—'जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध, स्कन्ध से शाखाएँ, शाखाओं से प्रशाखाएँ और फिर क्रम से पत्र, पुष्प फल एवं रस उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार धर्म वृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल एवं रस मोक्ष है।'

मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा।
साह-प्पसाहा विरुहंति पत्ता,
तओ से पुप्फं च फलं रसो य ॥

एवं धम्मस विणओ,
मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्ती सुयं सिग्घं,
निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥

—दश० ९।२।१—२

१५ | प्रतिक्रमण आवश्यक

जो पाप मन से, वचन से और काय से स्वयं किए जाते हैं, दूसरों से कराए जाते हैं, एवं दूसरों के द्वारा किए हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है, इन सब पापों की निवृत्ति के लिए कृत पापों की आलोचना करना, निन्दा करना प्रतिक्रमण है।

प्राचीन जैन-परम्परा के अनुसार प्रतिक्रमण का व्याकरणसम्मत निर्वचन है कि—**'प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणम्, अयमर्थ :—शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीपं क्रमणम् ।'** आचार्य हेमचन्द्र ने योग शास्त्र के तृतीय प्रकाश की स्वोपज्ञ वृत्ति में यह व्युत्पत्ति दी है ! इसका भाव यह है कि—शुभयोगों से अशुभ योगों में गए हुए अपने आपको पुनः शुभयोगों में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।

आचार्य हरिभद्र ने भी आवश्यक सूत्र की टीका में प्रतिक्रमण की व्याख्या करते हुए तीन महत्त्वपूर्ण प्राचीन श्लोक उद्धृत किए हैं :

स्वस्थानाद् यत्परस्थानं,
प्रमादस्य वशाद् गतः ।
तत्रैव क्रमणं भूयः
प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

—प्रमादवश शुभ योग से गिर कर अशुभयोग को प्राप्त करने के बाद फिर से शुभयोग को प्राप्त करना, प्रतिक्रमण है।

क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वशं गतः ।
तत्रापि च स एवार्थः, प्रतिकूलगमात्स्मृतः ॥

राग-द्वेष आदि औदयिक भाव संसार का मार्ग है और समता, क्षमा, दया, नम्रता आदि क्षायोपशमिक भाव मोक्ष का मार्ग है। अस्तु, क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ साधक जब पुनः औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव में लौट आता है, तो यह भी प्रतिकूल गमन के कारण प्रतिक्रमण कहलाता है।

प्रति प्रति वर्तनं वा, शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु ।
निःशल्यस्य यतेर्यत्, तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम् ॥

अशुभयोग से निवृत्त होकर निःशल्य भाव से उत्तरोत्तर शुभ योगों में प्रवृत्त होना ही प्रतिक्रमण है।

साधना-क्षेत्र में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और अप्रशस्त योग-ये चार दोष बहुत भयंकर माने गए हैं। प्रत्येक साधक को इन चार दोषों का प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व में आना चाहिए,[1] अविरति का त्याग कर विरति को स्वीकार करना चाहिए, कषाय का परिहार कर क्षमा आदि धारण करना चाहिए, और संसार की वृद्धि करने वाले अशुभ व्यापारों को छोड़ कर शुभ योगों को अपनाना चाहिए :—

मिच्छत्त-पडिक्कमणं
तहेव असंजमे य पडिक्कमणं
कसायाण पडिक्कमणं
जोगाण य अप्पसत्थाणं ॥१२५०॥

—आवश्यक निर्युक्ति

आचार्य भद्रबाहु स्वामी, आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में बहुत गम्भीर विचार धारा उपस्थित करते हैं। उन्होंने साधक के लिए चार विषयों का प्रतिक्रमण बतलाया है। आचार्य श्री के ये चार प्रतिक्रमण सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करने योग्य हैं—

(१) हिंसा, असत्य आदि जिन पाप कर्मों का श्रावक तथा साधु के लिए प्रतिषेध किया गया है; यदि कभी भ्रान्तिवश वे कर्म कर लिए जायँ तो प्रतिक्रमण करना चाहिए।

(२) शास्त्र-स्वाध्याय, प्रतिलेखना, सामायिक आदि जिन कार्यों के करने का शास्त्र में विधान किया है, उनके न किए जाने पर भी प्रतिक्रमण करना चाहिए। कर्तव्य कर्म को न करना भी एक पाप ही है।

---

[1] मिथ्यात्व प्रतिक्रमण का यह भाव है कि—'ज्ञात या अज्ञात रूप में यदि कभी मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया हो, मिथ्यात्व में परिणति की हो तो उसकी आलोचना कर पुनः शुद्ध सम्यक्त्व भाव में उपस्थित होना।'

आचार्य भद्रबाहु ने १२५१ वीं गाथा में संसार प्रतिक्रमण का भी उल्लेख किया है, उसका यह भाव है—'नरकादि गति के कारण-भूत महारंभ आदि हेतुओं की आलोचना, निन्दा, गर्हणा करना।' परन्तु संसार-प्रति-क्रमण में कुमनुष्य और कुदेव गति के हेतुओं की ही आलोचना करणीय है, शुभ मनुष्य और शुभ देवगति के हेतुओं की नहीं। क्योंकि विनयादि गुण हेय नहीं हैं। 'नवरं शुभनरामरायुर्हेतुभ्यो मायाद्यनासेवनादि-लक्षणेभ्यो निराशंसेनैव अपवर्गाभिलाषिणापि न प्रतिक्रान्तव्यम्।'

—आचार्य हरिभद्र

(३) शास्त्र-प्रतिपादित आत्मा आदि अमूर्त तत्वों की सत्यता के विषय में सन्देह लाने पर, अर्थात् अश्रद्धा उत्पन्न होने पर प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह मानसिक शुद्धि का प्रतिक्रमण है।

(४) आगमविरुद्ध विचारों का प्रतिपादन करने पर, अर्थात् हिंसा आदि के समर्थक विचारों की प्ररूपणा करने पर भी अवश्य प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह वचन शुद्धि का प्रतिक्रमण है।

पडिसिद्धाणं करणे,
किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं।
असद्दहणे य तहा,
विवरीयपरूवणाए अ॥ १२६८॥

सामान्य रूप से प्रतिक्रमण दो प्रकार का है—द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण। मुमुक्षु साधकों के लिए भाव प्रतिक्रमण ही उपादेय है, द्रव्य प्रतिक्रमण नहीं। उपयोग-शून्य प्रतिक्रमण, द्रव्य प्रतिक्रमण है। इसी प्रकार केवल यश आदि के लिए दिखावे के रूप में किया जाने वाला प्रतिक्रमण भी द्रव्य प्रतिक्रमण ही है। दोषों का एक बार प्रतिक्रमण करने के बाद पुनः-पुनः उन दोषों का सेवन करना और फिर उन दोषों की शुद्धि के लिए बराबर प्रतिक्रमण करते रहना, यथार्थ प्रतिक्रमण नहीं माना जाता। इस प्रकार के प्रतिक्रमण से आत्म-शुद्धि होने के बदले धृष्टता द्वारा दोषों की वृद्धि ही होती है, न्यूनता नहीं। जो साधक बार-बार दोष सेवन करते हैं और फिर बार-बार उनका प्रतिक्रमण करते हैं, उनकी स्थिति ठीक उस क्षुल्लक साधू जैसी है—जो कंकर का निशाना मार कर बार-बार कुम्हार के चाक से उतरते हुए कच्चे बर्तनों को फोड़ता था और कुम्हार के उपालंभ देने पर बार-बार **'मिच्छामि दुक्कडं'** कहकर क्षमा माँग लेता था। अस्तु, संयम में लगे हुए दोषों की सरल भाव से प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धि करना, और भविष्य में उन दोषों का सेवन न करने के लिए सतत जागरूक रहना ही प्रतिक्रमण का वास्तविक उद्देश्य है। प्रतिक्रमण का अर्थ है पापों से भीति रखना। यदि पापों से डर ही नहीं हुआ, आत्मा पहले की भाँति ही स्वच्छंद होकर दोषों की ओर प्रधावित होता रहा तो फिर वह प्रतिक्रमण ही क्या हुआ? भावप्रतिक्रमण त्रिविधिं त्रिविधेन होता है, अतः उसमें दोष-प्रवेश के लिए अणुमात्र भी अवकाश नहीं रहता। भाव प्रतिक्रमण से पापाचरण का सर्वथाभावेन प्रायश्चित्त हो जाता है, और आत्मा पुनः अपनी शुद्ध स्थिति में पहुँच जाता है। भाव प्रतिक्रमण के लिए आचार्य जिनदास कहते हैं—'**भावपडिक्कमणं जं सम्मदंसणाइगुणजुत्तस्स पडिक्कमणं** ति।' आचार्य भद्रबाहु कहते हैं—

भाव-पडिक्कमणं पुण,
तिविहं तिविहेण नेयव्वं॥१२५१॥

आचार्य हरिभद्र ने उक्त निर्युक्ति गाथा पर विवेचन करते हुए एक प्राचीन गाथा

उद्धृत की है, जिसका यह भाव है कि मन, वचन एवं काय से मिथ्यात्व, कषाय आदि दुर्भावों में न स्वयं गमन करना, न दूसरों को गमन कराना, न गमन करने वालों का अनुमोदन करना ही भाव प्रतिक्रमण है।

"मिच्छत्ताइ ण गच्छइ,
ण य गच्छावेइ णाणुजाणेई।
जं मण-वय-काएहिं,
तं भणियं भावपडिक्कमणं ॥"

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में काल के भेद से प्रतिक्रमण तीन प्रकार का बताया है :—

(१) भूत काल में लगे हुए दोषों की आलोचना करना।

(२) वर्तमान काल में लगने वाले दोषों से संवर द्वारा बचना।

(३) प्रत्याख्यान द्वारा भावी दोषों को अवरुद्ध करना।

उपर्युक्त प्रतिक्रमण की त्रिकाल-विषयता पर प्रश्न है कि—प्रतिक्रमण तो भूतकालिक माना जाता है, वह त्रिकालविषयक कैसे हो सकता है ? उत्तर में निवेदन है कि प्रतिक्रमण शब्द का मौलिक अर्थ अशुभयोग की निवृत्ति है। आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र की स्वोपज्ञ वृत्ति में यही भाव व्यक्त करते हैं—'**प्रतिक्रमण शब्दोऽशुभयोग-निवृत्तिमात्रार्थः**।' अस्तु निन्दा द्वारा भूतकालिक अशुभयोग की निवृत्ति होती है, अतः यह अतीत प्रतिक्रमण है। संवर के द्वारा वर्तमान काल-विषयक अशुभयोगों की निवृत्ति होती है, अतः यह वर्तमान प्रतिक्रमण है।

प्रत्याख्यान के द्वारा भविष्यत्कालीन अशुभ योगों की निवृत्ति होती है अतः यह भविष्यत्कालीन प्रतिक्रमण माना जाता है।[1] भगवती सूत्र में भी कहा है "**अईयं पडिक्कमेइ, पडुप्पन्नं संवरेइ, अणागयं पच्चक्खाइ**।"

विशेषकाल की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के पाँच भेद भी माने गए हैं—'दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, और सांवत्सरिक।

(१) दैवसिक—प्रतिदिन सायंकाल के समय दिन भर के पापों की आलोचना करना।

(२) रात्रिक—प्रतिदिन प्रातःकाल के समय रात्रि भर के पापों की आलोचना करना।

---

[1] '**प्रतिक्रमण—शब्दो हि अत्राशुभयोगनिवृत्तिमात्रार्थः सामान्यतः परिगृह्यते, तथा च सत्यतीतविषयं प्रतिक्रमणं निन्दाद्वारेण अशुभयोगनिवृत्तिरेवेति, प्रत्युत्पन्नविषयमपि संवरद्वारेण अशुभयोग-निवृत्तिरेव, अनागतविषयमपि प्रत्याख्यानद्वारेण अशुभयोगनिवृत्तिरेवेति न दोष इति**।' —**आचार्य हरिभद्र**

(३) **पाक्षिक**—महीने में दो बार अमावस्या और पूर्णिमा के दिन पक्ष भर के पापों की आलोचना करना।

(४) **चातुर्मासिक**—चार चार महीने के बाद कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा, आषाढ़ी पूर्णिमा को चार महीने के पापों की आलोचना करना।

(५) **सांवत्सरिक**—प्रत्येक वर्ष चातुर्मासिक-प्रतिक्रमणकालीन आषाढ़ी पूर्णिमा से पचास दिन बाद भाद्रपदशुक्ला पंचमी के दिन वर्ष भर के पापों की आलोचना करना।

एक प्रश्न है कि जब प्रतिदिन प्रातः सायं दो बार तो प्रतिक्रमण हो ही जाता है, फिर ये पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्यों किए जाते हैं ? दैवसिक और रात्रिक ही तो अतिचार होते हैं, और उनकी शुद्धि प्रतिदिन दैवसिक तथा रात्रिक प्रतिक्रमण के द्वारा हो ही जाती है ?

प्रश्न सुन्दर है। उत्तर में निवेदन है कि [1]गृहस्थ लोग प्रतिदिन अपने घरों में झाड़ू लगाते हैं और कूड़ा साफ करते हैं। परन्तु कितनी ही सावधानी से झाड़ू दी जाय, फिर भी थोड़ी बहुत धूल रह ही जाती है, जो किसी विशेष पर्व अर्थात् त्यौहार आदि के दिन साफ की जाती है। इसी प्रकार प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते हुए भी कुछ भूलों का प्रमार्जन करना बाकी रह जाता है, जिसके लिए पाक्षिक प्रतिक्रमण किया जा सकता है। पक्षभर की भी जो भूलें रह जायँ उनके लिए चातुर्मासिक प्रतिक्रमण का विधान है। चातुर्मासिक प्रतिक्रमण से भी अवशिष्ट रही हुई अशुद्धि, सांवत्सरिक क्षमापना के दिन प्रतिक्रमण करके दूर की जाती है।

स्थानाङ्ग सूत्र के षष्ठ स्थान के ५३८ वें सूत्र में छह प्रकार का प्रतिक्रमण बतलाया है :—

(१) **उच्चार प्रतिक्रमण**—उपयोगपूर्वक बड़ी नीत का=पुरीष का त्याग करने के बाद ईर्या का प्रतिक्रमण करना, उच्चार प्रतिक्रमण है।

(२) **प्रश्रवण प्रतिक्रमण**—उपयोगपूर्वक लघुनीत अर्थात् पेशाब करने के बाद ईर्या का प्रतिक्रमण करना, प्रश्रवण प्रतिक्रमण है।

(३) **इत्वर प्रतिक्रमण**—दैवसिक तथा रात्रिक आदि स्वल्पकालीन प्रतिक्रमण करना इत्वर प्रतिक्रमण है।

(४) **यावत्कथिक प्रतिक्रमण**—महाव्रत आदि के रूप में यावज्जीवन के के लिए पाप से निवृत्ति करना, यावत्कथिक प्रतिक्रमण है।

---

[1] **'णणु देवसियं रातियं पडिक्कंतो किमिति पक्खिय-चाउम्मासिय-संवत्सरिएसु विसेसेणं पडिक्कमति ?....जधा लोगे गेहं दिवसे दिवसे पमिज्जिज्जंतं पि पक्खादिसु अब्भधितं उवलेवणपमज्जणादीहिं सज्जिज्जति। एवमिहावि ववसोहणविसेसे कीरति त्ति।'**

—आवश्यक चूर्णि

(५) **यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण**—संयम में सावधान रहते हुए भी साधु से यदि प्रमादवश तथा आवश्यक प्रवृत्ति-वश असंयमरूप कोई आचरण हो जाए तो अपनी भूल को स्वीकार करते हुए उसी समय पश्चात्ताप-पूर्वक **'मिच्छा मि दुक्कडं'** देना, यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण है।

(६) **स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण**—सोकर उठने पर किया जाने वाला प्रतिक्रमण स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है। अथवा विकारवासनारूप कुस्वप्न देखने पर उसका प्रतिक्रमण करना, स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है।

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण के प्रतिचरणा आदि आठ पर्याय कथन किए हैं। यद्यपि आठों पर्याय शब्द-रूप में पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु भाव की दृष्टि से प्रायः एक ही हैं।

पडिकमणं पडियरणा,
परिहरणा वारणा नियत्ती य।
निन्दा गरिहा सोही,
पडिकमणं अट्ठहा होइ ॥१२३३॥

(१) **प्रतिक्रमण**—'प्रति' उपसर्ग है 'क्रमु' धातु है। प्रति का अर्थ प्रतिकूल है, और क्रमु का अर्थ पदनिक्षेप है। दोनों का मिलकर अर्थ होता है कि जिन कदमों से बाहर गया है उन्हीं कदमों से वापस लौट आए। जो साधक किसी प्रमाद के कारण सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप स्वस्थान से हटकर मिथ्यात्व, अज्ञान एवं असंयमरूप पर-स्थान में चला गया हो, उसका पुनः स्वस्थान में लौट आना प्रतिक्रमण है। पापक्षेत्र से वापस आत्मशुद्धि के क्षेत्र में लौट आने को प्रतिक्रमण कहते हैं। आचार्य जिनदास कहते हैं—**'पडिक्कमणं पुनरावृत्तिः।'**

(२) **प्रतिचरणा**—अहिंसा, सत्य आदि संयमक्षेत्र में भली प्रकार विचरण करना, अग्रसर होना, प्रतिचरणा है। अर्थात् असंयम क्षेत्र से दूर-दूर बचते हुए साव-धानतापूर्वक संयम को विशुद्ध एवं निर्दोष पालन करना, प्रतिचरणा है। आचार्य जिनदास कहते हैं—**'अत्यादरात् चरणा पडिचरणा अकार्य-परिहारः कार्यप्रवृत्तिश्च।'**

(३) **परिहरणा**—सब प्रकार से अशुभ योगों का, दुर्ध्यानों का, दुराचरणों का त्याग करना, परिहरणा है। संयममार्ग पर चलते हुए आसपास अनेक प्रकार के प्रलो-भन आते हैं, विघ्न आते हैं, यदि साधक परिहरणा न रखे तो ठोकर खा सकता है, पथभ्रष्ट हो सकता है।

(४) **वारणा**—वारणा का अर्थ निषेध है। महासार्थवाह वीतराग देव ने साधकों को विषय भोगरूप विष-वृक्षों के पास जाने से रोका है। अतः जो साधक इस निषेधाज्ञा पर चलते हैं, अपने को विषयभोग से बचाकर रखते हैं, वे सकुशल संसार वन को पार कर मोक्षपुरी पहुँच जाते हैं। **'आत्म-निवारणा वारणा।'**

(५) **निवृत्ति**—अशुभ अर्थात् पापाचरणरूप अकार्य से निवृत्त होना, निवृत्ति

है। साधक को कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए । यदि कभी प्रमाद दशा में चला भी जाए तो शीघ्र ही अप्रमाद भाव में लौट आना चाहिए। आचार्य जिनदास कहते हैं—'**असुभभाव-नियत्तणं नियत्ती।**'

(६) **निन्दा**—अपने आत्मदेव को साक्षी से पूर्वकृत अशुभ आचरणों को बुरा समझना, उसके लिए पश्चात्ताप करना निंदा है। पाप को बुरा समझते हो तो चुपचाप क्यों रहते हो ? सर्वप्रथम अपने मन में ही उस अशुभ संकल्प एवं अशुभ आचरण को धिक्कार दो, ताकि वह मन का मैल धुलकर साफ हो जाय। साधनाकाल में संसार की ओर से बड़ी भारी पूजा प्रतिष्ठा मिलती है। इस स्थिति में साधक यदि अहंकार के चक्र में पड़ गया और दोषों की निन्दा नहीं कर सका तो सर्वनाश है। अतः साधक को प्रतिदिन विचारना है और अपने आत्मा से कहना है कि—'तू वही नरक तिर्यञ्च आदि कुगति में भटकने वाला पामर प्राणी है। यह मनुष्य जन्म बड़े पुण्योदय से मिला है। और यह सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय का ही प्रताप है कि तू इस उच्च स्थिति में है। देखना कहीं भटक न जाना ! तू ने अमुक-अमुक भूलें की हैं और फिर भी साधक होने का गर्व है ? धिक्कार है तेरी इस नीच मनोवृत्ति पर।'

(७) **गर्हा**—गुरुदेव तथा किसी भी अन्य अनुभवी साधक के समक्ष अपने पापों की निन्दा करना गर्हा है। गर्हा के द्वारा मिथ्याभिमान चूर-चूर हो जाता है। दूसरों के समक्ष अपनी भूल प्रकट करना, कुछ सहज बात नहीं है। जब तक हृदय में पश्चात्ताप का तीव्र वेग न हो, आत्मशुद्धि का दृढ़ संकल्प न हो, पापाचार के प्रति अत्यन्त घृणा न हो, तब तक अपराध मन में ही छुपा बैठा रहता है, वह किसी भी दशा में बाहर आने के लिए जिह्वा के द्वार पर नहीं आता। अतएव तीव्र पश्चात्ताप के द्वारा दूसरों के समक्ष पापों की आलोचनारूप गर्हा, पाप प्रक्षालन का सर्वश्रेष्ठ साधन है। जिसप्रकार अमृतौषधि से विष दूर हो जाता है, उसी प्रकार गर्हा के द्वारा दोषरूप विष भी पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है।

(८) **शुद्धि**—शुद्धि का अर्थ निर्मलता है । जिस प्रकार वस्त्र पर लगे हुए तैल आदि के दाग को साबुन आदि से धोकर साफ किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा पर लगे हुए दोषों को आलोचना, निन्दा, गर्हा तथा तपश्चरण आदि धर्म-साधना से धोकर साफ किया जाता है। प्रतिक्रमण आत्मा पर लगे दोषरूप दागों को धो डालने की साधना है, अतः वह शुद्धि भी कहलाता है।

प्रतिक्रमण जैन-साधना का प्राण है। जैन साधक के जीवन-क्षेत्र का कोना-कोना प्रतिक्रमण के महाप्रकाश से प्रकाशित है। शौच, पेशाब, प्रतिलेखना, वसति का प्रमार्जन, गोचरी, भोजन पान, मार्ग में गमन, शयन, स्वाध्याय, भक्तपान का परिष्ठापन, इत्यादि कोई भी क्रिया को जाए तो उसके बाद प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। एक स्थान से सौ हाथ तक दूर जाने पर, यदि वहाँ फिर एक मुहूर्त भर बैठ कर विश्राम लेना हो तो बैठते ही गमनागमन का प्रतिक्रमण अवश्य करणीय होता है।

श्लेष्म और नाक का मल भी डालना हो तो उसका भी प्रतिक्रमण करने का विधान है। भूमि पर एक कदम भी यदि बिना देखे निरुपयोग दशा में रख दिया हो तो साधु को तदर्थ भी मिच्छामि दुक्कडं देना चाहिए। ज्ञात, अज्ञात तथा सहसाकार आदि किसी भी रूप में कोई भी क्रिया की हो, कोई भी घटना घटी हो, उसके प्रति मिच्छामि दुक्कडं रूप प्रतिक्रमण कर लेने से आत्मा में अप्रमत्तभाव की ज्योति प्रकाशित होती है, अपूर्व आत्मशुद्धि का पथ प्रशस्त होता है और होता है अज्ञान, अविवेक एवं अनवधानता का अन्त।

प्रतिक्रमण का अर्थ है—'यदि किसी कारण-विशेष से आत्मा संयम क्षेत्र से असंयम-क्षेत्र में चला गया हो तो उसे पुनः संयम-क्षेत्र में लौटा लाना।' इस व्याख्या में प्रमाद शब्द विचारणीय है। यदि प्रमाद के स्वरूप का पता लग जाए तो साधक बहुत कुछ उससे बचने की चेष्टा कर सकता है।

प्रवचन सारोद्धार में प्रमाद के निम्नोक्त आठ प्रकार बताए गए हैं:—

(१) **अज्ञान**—लोक-मूढ़ता आदि।
(२) **संशय**—जिन-वचनों में सन्देह।
(३) **मिथ्या ज्ञान**—विपरीत धारणा।
(४) **राग**—आसक्ति।
(५) **द्वेष**—घृणा।
(६) **स्मृति भ्रंश**—भूल हो जाना।
(७) **अनादर**—संयम के प्रति अनादर।
(८) **योगदुष्प्रणिधानता**—मन, वचन, शरीर को कुमार्ग में प्रवृत्त करना।

प्रतिक्रमण की साधना प्रमादभाव को दूर करने के लिए है। साधक के जीवन में प्रमाद ही वह विष है, जो अन्दर ही अन्दर साधना को सड़ा-गला कर नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। अतः साधु और श्रावक दोनों का कर्त्तव्य है कि प्रमाद से बचें और प्रतिक्रमण के द्वारा अपनी साधना को अप्रमत्त स्थिति प्रदान करें।

●

१६ कायोत्सर्ग आवश्यक

प्रतिक्रमण-आवश्यक के बाद कायोत्सर्ग का स्थान है । यह आवश्यक भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है । अनुयोगद्वार सूत्र में कायोत्सर्ग का नाम व्रणचिकित्सा है । धर्म की आराधना करते समय प्रमादवश यदि कहीं अहिंसा एवं सत्य आदि व्रत में जो अतिचार लग जाते हैं, भूलें हो जाती हैं, वे संयम रूप शरीर के घाव हैं । कायोत्सर्ग उन घावों के लिए मरहम का काम देता है । यह वह औषधि है जो घावों को पुर करती है और संयम शरीर को अक्षत बनाकर परिपुष्ट करती है । जो वस्त्र मलिन हो जाता है वह किससे धोया जाता है ? जल से ही धोया जाता है न ? एक बार नहीं, अनेक बार मल-मल कर धोया जाता है । इसी प्रकार संयम रूप वस्त्र को जब अतिचारों का मल लग जाता है, भूलों के दाग लग जाते हैं तो उसे प्रतिक्रमण रूप जल से धोया जाता है । फिर भी कुछ अशुद्धि का अंश रह जाता है तो उसे कायोत्सर्ग के उष्ण जल से दुबारा धोया जाता है । यह जल ऐसा जल है, जो जीवन के एक-एक सूत्र से मल के कण-कण को गला कर साफ करता है और संयम जीवन को अच्छी तरह शुद्ध बना देता है ।

कायोत्सर्ग एक प्रकार का प्रायश्चित्त है । वह पुराने पापों को धोकर साफ कर देता है । आवश्यक सूत्र के उत्तरीकरण सूत्र में यही कहा है कि 'संयम जीवन को विशेषरूप से परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशुद्ध करने के लिए, आत्मा को शल्य-रहित बनाने के लिए, पाप कर्मों के निर्घात के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है ।'

—**'तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं, विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं ।'**

आप प्रश्न करेंगे कि क्या किए हुए पाप भी धोकर साफ किए जा सकते हैं ? बिना भोगे हुए भी पापों से छुटकारा हो सकता है ? कृत कर्मों के सम्बन्ध में तो यही कहा जाता है कि—**'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।'**

जैन-धर्म उपर्युक्त धारणा से विरोध रखता है । वह सब पाप कर्मों के भोगने की मान्यता का पक्षपाती नहीं है । किए हुए पापों की शुद्धि न मानें तो फिर यह सब धर्म साधना, तपश्चरण आदि व्यर्थ ही काय-क्लेश होगा । संसार में हम देखते हैं कि अनेक विकृत हुई वस्तुएँ पुनः शुद्ध करली जाती हैं, तो फिर आत्मा को शुद्ध क्यों नहीं बनाया जा सकता ? पाप बड़ा है या आत्मा ? पाप की शक्ति बलवती है या धर्म की ?

धर्म की शक्ति संसार में बड़ी महत्त्व की शक्ति है। उसके समक्ष पाप ठहर नहीं सकते हैं। भगवान के सामने भला शैतान कैसे ठहर सकता है? हमारी आध्यात्मिक शक्ति ही भागवती शक्ति है। उसके समक्ष पापों की आसुरी शक्ति कथमपि नहीं खड़ी रह सकती है। पर्वत की गुहा में हजार-हजार वर्षों से अन्धकार भरा हुआ है। कुछ भी तो नहीं दिखाई देता। जिधर चलते हैं, उधर ही ठोकर खाते हैं। परन्तु ज्योंही प्रकाश अन्दर पहुँचता है, क्षण भर में छिन्न-भिन्न हो जाता है। धर्म-साधना एक ऐसा ही अप्रतिहत प्रकाश है। भोग-भोग कर कर्मों का नाश कब तक होगा? एकेक आत्म-प्रदेश पर अनन्त-अनन्त कर्म वर्गणा हैं। इस संक्षिप्त जीवन में उनका भोग हो भी तो कैसे हो? हाँ तो जैन-धर्म पापों की शुद्धि में विश्वास रखता है। प्रायश्चित्त की अपूर्व शक्ति के द्वारा वह आत्मा की शुद्धि मानता है। भूला-भटका हुआ साधक जब प्रायश्चित्त कर लेता है तो वह शुद्ध हो जाता है, निष्पाप हो जाता है। फिर वह धर्म में, समाज में, लोक में, परलोक में सर्वत्र आदर का स्थान प्राप्त कर लेता है। वस्त्र पर जबतक अशुद्धि लगी रहती है तभी तक उसके प्रति घृणा बनी रहती है। परन्तु जब वह धोकर साफ कर लिया जाता है तो फिर उसी पहले-जैसे स्नेह से पहना जाता है। यही पाप-शुद्धि के लिए किए जाने वाले प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में भी है। प्रायश्चित्त के अनेक रूप हैं। जैसा दोष होता है, उसी प्रकार का प्रायश्चित्त उसकी शुद्धि करता है। जीवन व्यवहार में इधर-उधर जो संयम-जीवन में भूलें हो जाती हैं, ज्ञात या अज्ञात रूप में कहीं इधर-उधर जो कदम लड़खड़ा जाते हैं, कायोत्सर्ग उन सब पापों का प्रायश्चित्त है। कायोत्सर्ग के द्वारा वे सब पाप धुल कर साफ हो जाते हैं,[1] फलतः आत्मा शुद्ध, निर्मल एवं निष्पाप हो जाता है।

भगवान् महावीर ने पापकर्मों को भार कहा है। जेठ का महीना हो, मंजिल दूर हो, मार्ग ऊँचा नीचा हो, और मस्तक पर मन भर पत्थर का बोझ गर्दन की नस-नस को तोड़ रहा हो, बताइए, यह कितनी विकट स्थिति है? इस स्थिति में भार उतार देने पर मजदूर को कितना आनन्द प्राप्त होता है? यही दशा पापों के भार की भी है। कायोत्सर्ग के द्वारा इस भार को दूर फेंक दिया जाता है। कायोत्सर्ग वह विश्राम भूमि है, जहाँ पाप कर्मों का भार हल्का हो जाता है, सब ओर प्रशस्त धर्म ध्यान का वातावरण तैयार हो जाता है, फलतः आत्मा स्वस्थ, सुखमय एवं आनन्दमय हो जाता है।

'काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरिय-भरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ।'

— उत्तराध्ययन २९। १२।

---

१. **'कायोत्सर्गकरणतः प्रागुपात्तकर्मक्षयः प्रतिपाद्यते।'**

—हरिभद्रीय आवश्यक

कायोत्सर्ग में दो शब्द हैं—काय और उत्सर्ग। दोनों का मिल कर अर्थ होता है—काय का त्याग। प्रतिक्रमण करने के बाद साधक अमुक समय तक अपने शरीर को वोसिरा कर जिनमुद्रा में खड़ा हो जाता है। वह उस समय न संसार के बाह्य पदार्थों में रहता है, न शरीर में रहता है, सब ओर से सिमट कर आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है। कायोत्सर्ग अन्तर्मुख होने की साधना है। अस्तु बहिर्मुख स्थिति से साधक जब अन्तर्मुख स्थिति में पहुँचता है तो वह रागद्वेष से बहुत ऊपर उठ जाता है, निःसंग एवं अनासक्त स्थिति का रसास्वादन करता है, शरीर तक की मोहमाया का त्याग कर देता है। इस स्थिति में कुछ भी संकट आए, उसे समभाव से सहन करता है। सरदी हो, गर्मी हो, मच्छर हो, दंश हों, सब पीड़ाओं को समभाव से सहन करना ही काय का त्याग है। कायोत्सर्ग का उद्देश्य शरीर पर की मोहमाया को कम करना है। यह जीवन का मोह, शरीर की ममता बड़ी ही भयंकर चीज है। साधक के लिए तो विष है। साधक तो क्या, साधारण संसारी प्राणी भी इस दल-दल में फँस जाने के बाद किसी अर्थ का नहीं रहता। जो लोग कर्तव्य की अपेक्षा शरीर को अधिक महत्त्व देते हैं, शरीर की मोहमाया में रचे-पचे रहते हैं, दिन-रात उसी के सजाने-सँवारने में लगे रहते हैं, वे समय पर न अपने परिवार की रक्षा कर सकते हैं, और न समाज एवं राष्ट्र की ही। वे भगोड़े संकट काल में अपने जीवन को लेकर भाग खड़े होते हैं, इस स्थिति में परिवार, समाज, राष्ट्र की कुछ भी दुर्गति हो, उनकी बला से! आज भारत इसी स्थिति में पहुँच गया है। यहाँ सर्वत्र भगोड़े ही राष्ट्र और धर्म के जीवन को बरबाद कर रहे हैं। उठ कर संघर्ष करने की, और संघर्ष करते-करते अपने आपको कर्तव्य के लिए होम देने की, यहाँ हिम्मत ही नहीं रही है। आज देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को कायोत्सर्ग-सम्बन्धी शिक्षा लेने की आवश्यकता है। शरीर और आत्मा को अलग-अलग समझने की कला ही राष्ट्र में कर्तव्य की चेतना जगा सकती है। जड़ चेतन का भेद समझे बिना सारी साधना मृत साधना है। जीवन के कदम-कदम[1] पर कायोत्सर्ग का स्वर गूँजते रहने में ही आज के धर्म, समाज और राष्ट्र का कल्याण है। कायोत्सर्ग की भावना के बिना समय पर महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने तुच्छ स्वार्थों को बलिदान करने का विचार तक नहीं आ सकता। इस जीवन में शरीर का मोह बहुत बड़ा बन्धन है। जीवन की आशा का पाश जन-जन को अपने में उलझाए हुए है। पद-पद पर जीवन का भय कर्तव्य-साधना से पराङ्मुख होने की प्रेरणा दे रहा है। आचार्य अकलंक इन सब बन्धनों से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय कायोत्सर्ग को बताते हैं—

—'निःसंग-निर्भयत्व-जीविताशा-व्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः।'

—राजवार्तिक ९। २६। १०।

---

[1] अभिक्खणं काउस्सग्गकारी।। —दशवै० द्वितीय चूलिका

आचार्य अमित गति तो अपने सामायिक पाठ में कायोत्सर्ग के लिए मङ्गल-कामना ही कर रहे हैं कि—

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं,
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्ग-यष्टिं,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥२॥

—हे जिनेन्द्र ! आप की अपार कृपा से मेरी आत्मा में ऐसी आध्यात्मिक शक्ति प्रकट हो कि मैं अपनी अनन्त शक्ति-सम्पन्न, दोषरहित, निर्मल वीतराग आत्मा को इस क्षणभंगुर शरीर से उसी प्रकार अलग कर सकूँ—अलग समझ सकूँ, जिस प्रकार म्यान से तलवार अलग की जाती है ।

हाँ, तो जैनधर्म के षडावश्यक में कायोत्सर्ग को स्वतन्त्र स्थान इसी ऊपर की भावना को व्यक्त करने के लिए मिला है । प्रत्येक जैन साधक को प्रातः और सायं अर्थात् प्रति-दिन नियमेन कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर और आत्मा के सम्बन्ध में विचार करना होता है कि—"यह शरीर और है, और मैं और हूँ । मैं अजर-अमर चैतन्य आत्मा हूँ, मेरा कभी नाश नहीं हो सकता । शरीर का क्या है, आज है, कल न रहे । अस्तु, मैं इस क्षणभंगुर शरीर के मोह में अपने कर्तव्यों से क्यों पराङ्मुख बनूं ? यह मिट्टी का पिंड मेरे लिए एक खिलौना भर है । जब तक यह खिलौना काम देता है, तब तक मैं इससे काम लूँगा, डट कर काम लूँगा । परन्तु जब यह टूटने को होगा, या टूटेगा तो मैं नहीं रोऊँगा । मैं रोऊँ भी क्यों ? ऐसे-ऐसे खिलौने अनन्त-अनन्त ग्रहण किए हैं, क्या हुआ उनका ? कुछ दिन रहे, टूटे और मिट्टी में मिल गए । इस खिलौने की रक्षा करना मेरा कर्तव्य है । व्यर्थ ही शरीर की हत्या करना, अपने आप में कोई आदर्श नहीं है । वीतराग देव व्यर्थ ही शरीर को दण्ड देने में, उसकी हत्या करने में पाप मानते हैं । परन्तु जब यह शरीर कर्तव्य पथ का रोड़ा बने, जीवन का मोह दिखाकर आदर्श से च्युत करे, तो मैं इसकी रागिनी को सुनने वाला नहीं हूँ । मैं शरीर की अपेक्षा आत्मा की ध्वनि सुनना अधिक पसंद करता हूँ । शरीर मेरा वाहन है । मैं इस पर सवार होकर जीवन-यात्रा का लम्बा पथ तय करने के लिए आया हूँ । परन्तु कभी-कभी यह दुष्ट अश्व उलटा मुझ पर सवार होना चाहता है । यदि यह घोड़ा मुझ पर सवार हो गया तो कितनी अभद्र बात होगी ? नहीं, मैं ऐसा कभी नहीं होने दूँगा ।" यह है कायोत्सर्ग की मूल भावना । प्रति दिन नियमेन शरीर के ममत्वत्याग का अभ्यास करना, साधक के लिए कितना अधिक महत्त्वपूर्ण है । जो साधक निरन्तर ऐसा कायोत्सर्ग करते रहेंगे, ध्यान करते रहेंगे, वे समय पर अवश्य शरीर की मोहमाया से बच सकेंगे और अपने जीवन के महान् लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो सकेंगे । आचार्य सकल कीर्ति कहते हैं—

ममत्वं देहतो नश्येत्,
कायोत्सर्गेण धीमताम् ।

निर्ममत्वं भवेन्नूनं,
महाधर्म-सुखाकरम् ॥१८, १८४॥

—कायोत्सर्ग के द्वारा ज्ञानी साधकों का शरीर पर से ममत्वभाव छूट जाता है, और शरीर पर से ममत्वभाव का छूट जाना ही वस्तुतः महान् धर्म और सुख है।

कायोत्सर्ग के सम्बन्ध में आज की क्या स्थिति है? इस पर भी प्रसंगानुसार कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। आजकल प्रतिक्रमण करते समय जब ध्यान-स्वरूप कायोत्सर्ग किया जाता है, तब मच्छरों से अपने को बचाने के लिए अथवा सरदी आदि से रक्षा करने के लिए शरीर को सब ओर से वस्त्र द्वारा ढक लेते हैं। यह दृश्य बड़ा ही विचित्र होता है। यह ममत्व-त्याग का नाटक भी क्या खूब है? यह कायोत्सर्ग क्या हुआ? यह तो उल्टा शरीर का मोह है। कायोत्सर्ग तो कष्टों के लिए अपने आपको खुला छोड़ देने में है। कष्ट-सहिष्णु होने के लिए अपने को वस्त्र-रहित बनाकर नंगे शरीर से कायोत्सर्ग किया जाय तो अधिक उत्तम है। प्राचीन काल में यही परम्परा थी। आचार्य धर्मदास ने उपदेश-माला में प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग करते समय प्रावरण ओढ़ने का निषेध किया है। कायोत्सर्ग करते समय न बोलना है, न हिलना है। एक स्थान पर पत्थर की चट्टान के समान निश्चल एवं निःस्पन्द जिन मुद्रा में दण्डायमान खड़े रहकर अपलक दृष्टि से शरीर का ममत्व बोसराना है, आत्मध्यान में रमण करना है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में इस ममत्व-त्याग पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

वासी-चंदणकप्पो,
जो मरणे जीविए य समसण्णो।
देहे य अपडिबद्धो,
काउस्सग्गो हवइ तस्स ॥१५४८॥

—चाहे कोई भक्ति भाव से चंदन लगाए, चाहे कोई द्वेषवश बसौले से छीले, चाहे जीवन रहे, चाहे इसी क्षण मृत्यु आ जाए, परन्तु जो साधक देह में आसक्ति नहीं रखता है, उक्त सब स्थितियों में सम चेतना रखता है, वस्तुतः उसी का कायोत्सर्ग शुद्ध होता है।

तिविहाणुवसग्गाणं,
दिव्वाणं माणुसाण तिरियाणं।
सम्ममहियासणाए,
काउस्सग्गो हवइ सुद्धो ॥ १५४९ ॥

—जो साधक कायोत्सर्ग के समय देवता, मनुष्य तथा तिर्यञ्च-सम्बन्धी सभी प्रकार के उपसर्गों को सम्यक् रूप से सहन करता है, उसका कायोत्सर्ग ही वस्तुतः शुद्ध होता है।

काउस्सग्गे जह सुट्ठियस्स,
भज्जंति अंगमंगाइं ।
इय भिंदंति सुविहिया,
अट्ठविहं कम्म-संघायं ॥१५५१॥

—जिस प्रकार कायोत्सर्ग में निःस्पन्द खड़े हुए अंग-अंग टूटने लगते हैं, दुखने लगते हैं, उसी प्रकार सुविहित साधक कायोत्सर्ग के द्वारा आठों ही कर्म-समूह को पीड़ित करते हैं एवं उन्हें नष्ट कर डालते हैं ।

अन्नं इमं सरीरं,
अन्नो जीवु त्ति कय-बुद्धी ।
दुक्ख-परिकिलेसकरं,
छिंद ममत्तं सरीराओ ॥१५५८॥

कायोत्सर्ग में सब दुःखों और क्लेशों की जड़ ममता का शरीर से सम्बन्ध तोड़ देने के लिए साधक को यह सुदृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए कि शरीर और है, और आत्मा और है ।

कायोत्सर्ग करने वाले साधक विचार सकते हैं कि कायोत्सर्ग के लिए कितनी तैयारी की आवश्यकता है, शरीर पर का कितना मोह हटाने की अपेक्षा है । कायोत्सर्ग करते समय पहले से ही शरीर का मोह रख लेना और उसे वस्त्रों से लपेट लेना, किसी प्रकार भी न्याय्य नहीं है । ममत्व-त्याग के ऊँचे आदर्श के लिए वस्तुतः सच्चे हृदय से ममत्व का त्याग करना चाहिए ।

कायोत्सर्ग के लिए ऊपर आचार्य भद्रबाहु के जो वचन दिए गए हैं उनका उद्देश्य साधक में क्षमता का दृढ़ बल पैदा करना है । उसका यह अर्थ नहीं है कि साधक मिथ्या आग्रह के चक्कर में अज्ञानतावश अपना जीवन ही होम दे । साधक, आखिर एक साधारण मानव है । परिस्थितियाँ उसे झकझोर सकती हैं । सभी साधक एक क्षण में ही उस चरम स्थिति में पहुँच सकें, यह असम्भव है । आज ही नहीं, उस युग में भी असम्भव था । मानव जीवन एक पवित्र वस्तु है । उसे किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही सुरक्षित रखना है, या होम देना है । अतः भगवान् ने दुर्बल साधकों के लिए आवश्यक सूत्र में कुछ आगारों की ओर संकेत किया है । कायोत्सर्ग करने से पहले उस आकार सूत्र का पढ़ लेना साधक के लिए आवश्यक है। खाँसी, छींक, डकार, मूर्छा आदि शारीरिक व्याधियों का भी आगार रक्खा जाता है, क्योंकि शरीर शरीर है, व्याधिका मन्दिर है । किसी आकस्मिक कारण से शरीर में यदि कम्पन आ जाय तो ऐसी स्थिति में कायोत्सर्ग का भंग नहीं होता है । दीवार या छत आदि गिरने की स्थिति में हों, आग लग जाए, चोर या राजा आदि का उपद्रव हो, अचानक मार काट का उपद्रव उठ खड़ा हो, तब भी कायोत्सर्ग खोलकर इधर-उधर सुरक्षा के लिए प्रबन्ध किया जा सकता है । व्यर्थ ही धर्म का अहंकार रख कर खड़े रहना, और फिर आर्त

रौद्र ध्यान की परिणति में मरण अथवा देह-क्षति प्राप्त करना, संयम के लिए घातक चीज है। जैन साधना का मूल उद्देश्य आर्तरौद्र की परिणति को बन्द करना है, अतः जब तक वह परिणति कायोत्सर्ग के द्वारा बन्द होती है, तब तक कायोत्सर्ग का आलम्बन हितकर है। और यदि वह परिणति परिस्थितिवश कायोत्सर्ग समाप्त करने से बन्द होती हो तो वह मार्ग भी उपादेय है। केवल अपनी रक्षा ही नहीं, यदि कभी दूसरे जीवों की रक्षा के लिए भी कायोत्सर्ग बीच में खोलना पड़े तो वह भी आवश्यक है। ध्यानस्थ साधक के सामने पंचेन्द्रिय जीवों का छेदन-भेदन होता हो, किसी को सर्प आदि डस ले तो तात्कालिक सहायता करने के लिए जैन परम्परा में ध्यान खोलने की स्पष्टतः आज्ञा है। क्योंकि वह रक्षा का कार्य कायोत्सर्ग से भी अधिक श्रेष्ठ है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में इन्हीं ऊपर की भावनाओं का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

अगणीओ छिंदिज्ज वा,
बोहियखोभाइ दीहडक्को वा।
आगारेहिं अभग्गो,
उस्सग्गो एवमाईहिं[1] ।। १५१६ ।।

हाँ, तो जैन धर्म विवेक का धर्म है। जो भी स्थिति विवेक-पूर्ण हो, लाभपूर्ण हो, आर्तरौद्र दुर्ध्यान की परिणति को कम करने वाली हो, उसी स्थिति को अपनाना जैन धर्म का आदर्श है। पाठक इस का विचार रखें तो अधिक श्रेयस्कर होगा। दुराग्रह में नहीं, सदाग्रह में ही जैन-धर्म की आत्मा का निवास है।

आगम साहित्य में कायोत्सर्ग के दो भेद किए हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्य कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर की चेष्टाओं का निरोध करके एक स्थान पर जिन-मुद्रा से निश्चल एवं निःस्पन्द स्थिति में खड़े रहना। यह साधना के क्षेत्र में आवश्यक है, परन्तु भाव के साथ। केवल द्रव्य का जैनधर्म में कोई महत्त्व नहीं है। एक आचार्य कहता है कि यह द्रव्य तो एकेन्द्रिय वृक्षों एवं पर्वतों में भी मिल सकता है। केवल निःस्पन्द हो जाने में ही साधना का प्राण नहीं है। साधना का प्राण है भाव। भाव कायोत्सर्ग का अर्थ है—आर्तरौद्र दुर्ध्यानों का त्याग कर धर्म तथा शुक्ल ध्यान में रमण करना, मन में शुभ विचारों का प्रवाह बहाना, आत्मा के मूल स्वरूप की ओर गमन करना। कायोत्सर्ग में ध्यान की ही महिमा है। द्रव्य तो ध्यान के लिए भूमिकामात्र है। अतएव आचार्य जिन दास आवश्यक चूर्णि में कहते हैं—**'सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति, दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो, भावतो काउस्सग्गो झाणं।'** और इसी भाव को मुख्यत्व देते हुए उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी अध्ययन में बार-बार कहा

---

[1] **यह गाथा, आगारसूत्रान्तर्गत 'एवमाइएहिं आगारेहिं' इस पद के स्पष्टीकरण के लिए कही गई है।**

गया है कि—'**काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं।**' कायोत्सर्ग सब दुःखों का क्षय करने वाला है। परन्तु कौन सा? 'द्रव्य के साथ भाव।'

यह कायोत्सर्ग दो रूप में किया जाता है—एक चेष्टाकायोत्सर्ग तो दूसरा अभिभव कायोत्सर्ग। चेष्टा कायोत्सर्ग, गमनागमनादि एवं आवश्यक आदि के रूप में परिमित काल के लिए प्रायश्चित्त-स्वरूप होता है। दूसरा अभिभव कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए होता है। उपसर्ग-विशेष के आने पर यावज्जीवन के लिए जो सागारी संथारा-रूप कायोत्सर्ग किया जाता है, उसमें यह भावना रहती है कि यदि मैं इस उपसर्ग के कारण मर जाऊँ तो मेरा यह कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए है। यदि मैं जीवित बच जाऊँ तो उपसर्ग रहने तक कायोत्सर्ग है। अभिभव कायोत्सर्ग का दूसरा रूप संस्तारक अर्थात् संथारे का है। यावज्जीवन के लिए संथारा करते समय जो काय का उत्सर्ग किया जाता है वह भव चरिम अर्थात् आमरण अनशन के रूप में होता है। संथारे के बहुत-से भेद हैं, जो मूल आगम साहित्य से अथवा आवश्यक निर्युक्ति आदि ग्रन्थों से जाने जा सकते हैं। प्रथम चेष्टा कायोत्सर्ग, उस अन्तिम अभिभव कायोत्सर्ग के लिए अभ्यासस्वरूप होता है। नित्यप्रति कायोत्सर्ग का अभ्यास करते रहने से एक दिन वह आत्मबल प्राप्त हो सकता है, जिसके फलस्वरूप साधक एक दिन मृत्यु के सामने सोल्लास हँसता हुआ खड़ा हो जाता है और मर कर भी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

कायोत्सर्ग के द्रव्य और भाव-स्वरूप को समझने के लिए एक जैनाचार्य कायोत्सर्ग के चार रूपों का निरूपण करते हैं। साधकों की जानकारी के लिए हम यहाँ संक्षेप में उनके विचारों का उल्लेख कर रहे हैं।

(१) **उत्थित उत्थित**—कायोत्सर्ग के लिए खड़ा होने वाला साधक जब द्रव्य के साथ भाव से भी खड़ा होता है, आर्तरौद्र ध्यान का त्याग कर धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान में रमण करता है, तब उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग होता है। यह कायोत्सर्ग सर्वोत्कृष्ट होता है। इसमें सुप्त आत्मा जागृत होकर कर्मों से युद्ध करने के लिए तन कर खड़ा हो जाता है।

(२) **उत्थित निविष्ट**—जब अयोग्य साधक द्रव्य से तो खड़ा हो जाता है, परन्तु भाव से गिरा रहता है, अर्थात् आर्तरौद्र ध्यान की परिणति में रत रहता है, तब उत्थित-निविष्ट कायोत्सर्ग होता है। इसमें शरीर तो खड़ा रहता है, परन्तु आत्मा बैठी रहती है।

(३) **उपविष्ट उत्थित**—अशक्त तथा वृद्ध साधक खड़ा तो नहीं हो पाता, परन्तु अन्दर में भाव शुद्धि का प्रवाह तीव्र है। अतः जब वह शारीरिक सुविधा की दृष्टि से पद्मासन आदि से बैठ कर धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान में रमण करता है, तब उपविष्ट उत्थित कायोत्सर्ग होता है। शरीर बैठा है, परन्तु आत्मा खड़ा है।

(४) **उपविष्ट निविष्ट**—जब आलसी एवं कर्तव्यशून्य साधक शरीर से भी बैठा रहता है और भाव से भी बैठा रहता है, धर्म ध्यान की ओर न जाकर सांसारिक

विषयभोगों की कल्पनाओं में ही उलझा रहता है, तब उपविष्ट-निविष्ट कायोत्सर्ग होता है। यह कायोत्सर्ग नहीं, मात्र कायोत्सर्ग का दम्भ है।

उपर्युक्त कायोत्सर्ग-चतुष्टय में से साधक जीवन के लिए पहला और तीसरा कायोत्सर्ग ही उपादेय है। ये दो कायोत्सर्ग ही वास्तविक रूप में कायोत्सर्ग माने जाते हैं। इनके द्वारा ही जन्म-मरण का बन्धन कटता है और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में पहुँच कर वास्तविक आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है।

१७ | प्रत्याख्यान आवश्यक

संसार में जो कुछ भी दृश्य तथा अदृश्य वस्तुसमूह है, वह सब न तो एक व्यक्ति के द्वारा भोगा ही जा सकता है और न भोगने के योग्य ही है। भोग के पीछे पड़कर मनुष्य कदापि शान्ति तथा आनन्द नहीं पा सकता। वास्तविक आत्मानन्द तथा अक्षय शान्ति के लिए भोगों का त्याग करना ही एक मात्र उपाय है। अतएव प्रत्याख्यान आवश्यक के द्वारा साधक अपने को व्यर्थ के भोगों से बचाता है, आसक्ति के बन्धन से छुड़ाता है, और स्थायी आत्मिक शान्ति पाने का प्रयत्न करता है।

प्रत्याख्यान का अर्थ है—'त्याग करना।' **'प्रवृत्तिप्रतिकूलतया आ मर्यादया ख्यानं[1] प्रत्याख्यानम्।'**—योग शास्त्र वृत्ति।

त्यागने योग्य वस्तुएँ द्रव्य और भावरूप से दो प्रकार की हैं। अन्न, वस्त्र आदि वस्तुएँ द्रव्य रूप हैं, अतः इनका त्याग द्रव्य त्याग माना जाता है। अज्ञान, मिथ्यात्व, असंयम तथा कषाय आदि वैभाविक विकार भावरूप हैं, अतः इनका त्याग भाव-त्याग माना गया है। द्रव्य त्याग की वास्तविक आधारभूमि भावत्याग ही है। अतएव द्रव्य त्याग तभी प्रत्याख्यान-कोटि में आता है, जबकि वह रागद्वेष और कषायों को मन्द करने के लिए तथा ज्ञानादि सद्गुणों की प्राप्ति के लिए किया जाय। जो द्रव्य त्याग भावत्याग पूर्वक नहीं होता है, तथा भाव त्याग के लिए नहीं किया जाता है, उससे आत्म-गुणों का विकास किसी भी अंश में और किसी भी दशा में नहीं हो

---

[1] प्रत्याख्यान में तीन शब्द हैं—प्रति+आ+आख्यान। अविरति एवं असंयम के प्रति अर्थात् प्रतिकूल रूप में, आ अर्थात् मर्यादा-स्वरूप आकार के साथ, आख्यान अर्थात् प्रतिज्ञा करना, प्रत्याख्यान है। 'अविरतिस्वरूपप्रभृति प्रतिकूलतया आ मर्यादया आकारकरणस्वरूपया आख्यानं-कथनं प्रत्याख्यानम्।'—प्रवचनसारोद्धार वृत्ति।

आत्मस्वरूप के प्रति, आ अर्थात् अभिव्याप्त रूप से जिससे अनाशंसा रूप गुण उत्पन्न हो, इस प्रकार का आख्यान—कथन करना, प्रत्याख्यान है।

भविष्यकाल के प्रति, आ मर्यादा के साथ अशुभयोग से निवृत्ति और शुभयोग में प्रवृत्ति का आख्यान करना, प्रत्याख्यान है।

सकता। प्रत्युत कभी-कभी तो मिथ्याभिमान एवं दंभ के कारण वह अधःपतन का कारण भी बन जाता है।

मानव-जीवन में आसक्ति ही सब दुःखों का मूल कारण है। जब तक आसक्ति है, तब तक किसी भी प्रकार की आत्मशान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। भविष्य की आसक्ति को रोकने के लिए प्रत्याख्यान ही एक अमोघ उपाय है। प्रत्याख्यान के द्वारा ही आशा तृष्णा, लोभ लालच आदि विषय विकारों पर विजय प्राप्त हो सकती है। प्रतिक्रमण एवं कायोत्सर्ग के द्वारा आत्म-शुद्धि हो जाने के बाद पुनः आसक्ति के द्वारा पापकर्म प्रविष्ट न होने पाएँ, इसलिए प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाता है। एक बार मकान को धूल से साफ करने के बाद दरवाजे बन्द कर देने ठीक होते हैं, ताकि फिर दुबारा धूल न आने पाए।

अनुयोग द्वार सूत्र में प्रत्याख्यान का नाम गुणधारण भी आया है। गुणधारण का अर्थ है—व्रतरूप गुणों को धारण करना। प्रत्याख्यान के द्वारा आत्मा, मन वचन काय की दुष्ट प्रवृत्तियों से रोक कर शुभ प्रवृत्तियों पर केन्द्रित करता है। ऐसा करने से इच्छानिरोध, तृष्णाभाव, सुख शान्ति आदि अनेक सद्गुणों की प्राप्ति होती है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं :—

पच्चक्खाणंमि कए,
आसवदाराइं हुंति पिहियाइं।
आसव-वुच्छेएण,
तण्हा-वुच्छेयणं होइ ॥१५९४॥

—प्रत्याख्यान करने से संयम होता है, संयम से आश्रव का निरोध=संवर होता है, आश्रवनिरोध से तृष्णा का नाश होता है।

तण्हा-वोच्छेदेण य,
अउलोवसमो भवे मणुस्साणं।
अउलोवसमेण पुणो,
पच्चक्खाणं हवइ सुद्धं ॥१५९५॥

—तृष्णा के नाश से अनुपम उपशमभाव अर्थात् माध्यस्थ्य परिणाम होता है, और अनुपम उपशमभाव से प्रत्याख्यान शुद्ध होता है।

तत्तो चरित्तधम्मो,
कम्मविवेगो तओ अपुव्वं तु।
तत्तो केवल-नाणं,
तओ य मुक्खो सया सुक्खो ॥१५९६॥

—उपशमभाव से चारित्र धर्म प्रकट होता है, चारित्र धर्म से कर्मों की निर्जरा होती है, और उससे अपूर्वकरण होता है। पुनः अपूर्वकरण से केवल ज्ञान और केवल ज्ञान से शाश्वत सुखमय मुक्ति प्राप्त होती है।

प्रत्याख्यान के मुख्यतया दो प्रकार हैं—मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तर गुण प्रत्याख्यान। मूल गुण प्रत्याख्यान के भी दो भेद हैं—सर्वमूल गुण प्रत्याख्यान और देश गुण प्रत्याख्यान। साधुओं के पाँच महाव्रत सर्वमूल गुण प्रत्याख्यान होते हैं। और गृहस्थों के पाँच अणुव्रत देश गुण प्रत्याख्यान हैं। मूल गुण प्रत्याख्यान यावज्जीवन के लिए ग्रहण किए जाते हैं।

उत्तर गुण प्रत्याख्यान, प्रतिदिन एवं कुछ दिन के लिए उपयोगी होते हैं। इसके भी दो प्रकार हैं—देश उत्तर गुण प्रत्याख्यान और सर्व उत्तर गुण प्रत्याख्यान। तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत, देश उत्तर गुण प्रत्याख्यान हैं, जो श्रावकों के लिए होते हैं। अनागत आदि दश प्रकार का प्रत्याख्यान, सर्व उत्तर गुण प्रत्याख्यान होता है, जो साधु और श्रावक दोनों के लिए है।

अनागत आदि दश प्रत्याख्यान इस भाँति हैं :—

(१) **अनागत**—पर्युषण आदि पर्व में किया जाने वाला विशिष्ट तप उस पर्व से पहले ही कर लेना, ताकि पर्वकाल में ग्लान, वृद्ध आदि की सेवा निर्वाध रूप से की जा सके।

(२) **अतिक्रान्त**—पर्व के दिन वैयावृत्य आदि कार्य में लगे रहने के कारण यदि उपवास आदि तप न हो सका हो, तो उसे आगे कभी अपर्व के दिन करना।

(३) **कोटि सहित**—उपवास आदि एक तप जिस दिन पूर्ण हो उसी दिन पारणा किए बिना दूसरा तप प्रारम्भ कर देना, कोटि सहित तप है। कोटि सहित तप में प्रत्याख्यान की आदि और अन्तिम कोटि मिल जाती हैं।

(४) **नियंत्रित**—जिस दिन प्रत्याख्यान करने का संकल्प किया हो उस नियमित दिन में रोग आदि की विशेष अड़चन एवं विघ्न बाधा आने पर भी दृढ़ता के साथ वह संकल्पित प्रत्याख्यान कर लेना, नियंत्रित प्रत्याख्यान है। यह प्रत्याख्यान प्रायः चतुर्दश पूर्व के धर्ता, जिनकल्पी और दश पूर्व धर मुनि के लिए होता है। आज के युग में इस की परम्परा नहीं है, ऐसा प्राचीन आचार्यों का स्पष्टीकरण है।

(५) **साकार**—प्रत्याख्यान करते समय आकार-विशेष अर्थात् अपवाद की छूट रख लेना, साकार तप होता है।

(६) **निराकार**—आकार रखे बिना प्रत्याख्यान करना, निराकार तप है। यह दृढ़ धैर्य के बल पर होता है।

(७) **परिमाणकृत**—दत्ती, ग्रास, भोज्य द्रव्य तथा गृह आदि की संख्या का नियम करना, परिणामकृत है। जैसे कि इतने गृहों से तथा इतने ग्रास से अधिक भोजन नहीं लेना।

(८) **निरवशेष**—अशनादि चतुर्विध आहार का त्याग करना, निरवशेष तप है। निरवशेष का अर्थ है, पूर्ण।

(९) **सांकेतिक**—संकेतपूर्वक किया जाने वाला प्रत्याख्यान सांकेतिक है। मुट्ठी बाँधकर या गाँठ बाँधकर यह प्रत्याख्यान करना कि जब तक यह बँधी हुई है तब तक के लिए मैं आहार का त्याग करता हूँ। आज कल किया जाने वाला छल्ले आदि का प्रत्याख्यान भी सांकेतिक प्रत्याख्यान में अन्तर्भूत है। इस प्रत्याख्यान का उद्देश्य अपनी सुगमता के अनुसार विरति का अभ्यास डालना है।

(१०) **श्रद्धा प्रत्याख्यान**—समय-विशेष की निश्चित मर्यादा वाले नमस्कारिका पौरुषी आदि दश प्रत्याख्यान, अद्धा प्रत्याख्यान कहलाते हैं। अद्धा, काल को करते हैं।

—भगवतीसूत्र ७। २।

साधना क्षेत्र में प्रत्याख्यान की एक महत्त्वपूर्ण साधना है। प्रत्याख्यान को पूर्ण विशुद्ध रूप से पालन करने में ही साधक की महत्ता है। छह प्रकार की विशुद्धियों से युक्त पाला हुआ प्रत्याख्यान ही शुद्ध और दोष-रहित होता है। ये विशुद्धियाँ इस प्रकार हैं :—

(१) **श्रद्धान विशुद्धि**—शास्त्रोक्त विधान के अनुसार पाँच महाव्रत तथा बारह व्रत आदि प्रत्याख्यान का विशुद्ध श्रद्धान करना, श्रद्धान विशुद्धि है।

(२) **ज्ञान विशुद्धि**—जिन कल्प, स्थविरकल्प, मूल गुण, उत्तर गुण तथा प्रातः काल आदि के रूप में जिस समय, जिसके लिए, जिस प्रत्याख्यान का जैसा स्वरूप होता है, उसको ठीक-ठीक वैसा ही जानना, ज्ञान विशुद्धि है।

(३) **विनय विशुद्धि**—मन, वचन और काय से संयत होते हुए प्रत्याख्यान के समय जितनी वन्दनाओं का विधान है, तदनुसार वन्दना करना, विनय विशुद्धि है।

(४) **अनुभाषणा शुद्धि**—प्रत्याख्यान करते समय गुरु के सम्मुख हाथ जोड़कर उपस्थित होना; गुरु के कहे अनुसार पाठों को ठीक-ठीक बोलना; अनुभाषणा शुद्धि है।

(५) **अनुपालना शुद्धि**—भयंकर वन, दुर्भिक्ष, बीमारी आदि में भी व्रत को उत्साह के साथ ठीक-ठीक पालन करना, अनुपालना शुद्धि है।

(६) **भाव विशुद्धि**—राग, द्वेष तथा परिणाम रूप दोषों से रहित पवित्र भावना से प्रत्याख्यान करना तथा पालना, भाव विशुद्धि है।[1]

---

[1] उक्त प्रत्याख्यान-शुद्धियों का वर्णन स्थानांग सूत्र के पंचम स्थान में भी है, परन्तु वहाँ ज्ञान शुद्धि का उल्लेख न होकर शेष पाँच का ही उल्लेख है। श्रद्धान शुद्धि में ही ज्ञान शुद्धि का अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि श्रद्धान के साथ नियमतः ज्ञान ही होता है, अज्ञान नहीं। नियुक्तिकार ने स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए ज्ञान शुद्धि का स्वतन्त्र रूपेण उल्लेख कर दिया है। 'पंचविहे पच्चक्खाणे पं० तं० सद्दहणासुद्धे, विणयसुद्धे, अणुभासणासुद्धे, अणुपालणासुद्धे, भावसुद्धे।'

—स्थानांग ५ | ४६६ |

(१) प्रत्याख्यान से अमुक व्यक्ति की पूजा हो रही है, अतः मैं भी ऐसा ही प्रत्याख्यान करूँ—यह राग है।

(२) मैं ऐसा प्रत्याख्यान करूँ, जिससे सब लोग मेरे प्रति ही अनुरक्त हो जायँ; फलतः अमुक साधु का फिर आदर ही न होने पाए, यह द्वेष है।

(३) ऐहिक तथा पारलौकिक कीर्ति, यश, वैभव आदि किसी भी फल की इच्छा से प्रत्याख्यान करना; परिणाम दोष है। —आवश्यक निर्युक्ति

प्रत्याख्यान ग्रहण करने के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण चतुर्भंगी का उल्लेख, आचार्य हेमचन्द्र, योगशास्त्र की स्वोपज्ञ वृत्ति में करते हैं। यह[1] चतुर्भंगी भी साधक को जान लेना आवश्यक है।

(१) प्रत्याख्यान ग्रहण करने वाला साधक भी प्रत्याख्यान के स्वरूप का ज्ञाता, विवेकी तथा विचारशील हो और प्रत्याख्यान देने वाले गुरुदेव भी गीतार्थ तथा प्रत्याख्यान-विधि के भलीभाँति जानकार हों। यह प्रथम भंग है, जो पूर्ण शुद्ध माना जाता है।

(२) प्रत्याख्यान देने वाले गुरुदेव तो गीतार्थ हों, परन्तु शिष्य विवेकी प्रत्याख्यान स्वरूप का जानकार न हो। यह द्वितीय भंग है। यदि गुरुदेव प्रत्याख्यान कराते समय संक्षेप में अबोध शिष्य को प्रत्याख्यान की जानकारी कराएँ, तो यह भंग शुद्ध हो जाता है, अन्यथा अशुद्ध है। बिना ज्ञान के प्रत्याख्यान ग्रहण करना,[2] दुष्प्रत्याख्यान माना जाता है।

(३) गुरुदेव प्रत्याख्यानविधि के जानकार न हों, किन्तु शिष्य जानकार हो, यह तीसरा भंग है। गीतार्थ गुरुदेव के अभाव में यदि केवल साक्षी के तौर पर अगीतार्थ गुरु से अथवा माता पिता आदि से प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाए, तो यह भंग शुद्ध माना

---

[1] प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में भी उक्त चतुर्भङ्गी का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। वहाँ लिखा है—

'जाणगो जाणगसगासे, अजाणगो जाणग-सगासे, जाणगो अजाणगसगासे, अजाणगो अजाणगसगासे।'

[2] भगवती सूत्र में वर्णन है कि जिसको जीव अजीव आदि का ज्ञान है, उसका प्रत्याख्यान तो सुप्रत्याख्यान है। परन्तु जिसे जड़-चैतन्य का कुछ भी पता नहीं है, जिस प्रत्याख्यान को कर रहा है उसकी कुछ भी जानकारी नहीं है, उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान होता है। अज्ञानी साधक प्रत्याख्यान की प्रतिज्ञा करता हुआ सत्य नहीं बोलता है, अपितु झूठ बोलता है। वह असंयत है, अविरत है, एकान्त बाल है। 'एवं खलु से दुप्पच्चक्खाई सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणो नो सच्चं भासं भासइ, मोसं भासं भासइ···।' —भग० ७ | २ |

जाता है। यदि ओघ संज्ञा के रूप में गीतार्थ गुरुदेव के विद्यमान रहते भी अंगीतार्थ से प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाए तो यह भंग भी अशुद्ध ही माना गया है।

(४) प्रत्याख्यान लेने वाला भी अगीतार्थ विवेक शून्य हो और प्रत्याख्यान देने वाला गुरु भी शास्त्र-ज्ञान से शून्य अविवेकी हो तो यह चतुर्थ भंग है। यह पूर्ण रूप से अशुद्ध माना जाता है।

यह प्रत्याख्यान आवश्यक संयम की साधना में दीप्ति पैदा करने वाला है, त्याग वैराग्य को दृढ़ करने वाला है, अतः प्रत्येक साधक का कर्तव्य है कि वह प्रत्याख्यान आवश्यक का यथाविधि पालन करे और अपनी आत्मा का कल्याण करे।

प्रत्याख्यान पर अधिक विवेचन, इस अभिप्राय से किया गया है कि आज के युग में बड़ी भयंकर अन्ध परम्परा चल रही है। जिधर देखिए उधर ही चतुर्थ भंग का राज्य है। न कुछ शिष्य को पता है, और न नामधारी गुरुदेव को ही। एकमात्र 'बोसिरे' के ऊपर अन्धाधुन्ध प्रत्याख्यान कराये जा रहे हैं। आशा है विज्ञ पाठक ऊपर के लेख से प्रत्याख्यान के महत्त्व को समझ सकेंगे।

१८ आवश्यकों का क्रम

जो अन्तर्दृष्टि वाले साधक हैं, उनके जीवन का प्रधान उद्देश्य समभाव अर्थात् सामायिक करना है। उनके प्रत्येक व्यवहार में, रहन-सहन में समभाव के दर्शन होते हैं।

अन्तर्दृष्टि वाले साधक जब किन्हीं महापुरुषों को समभाव की पूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए जानते हैं, तब वे भक्ति-भाव से गदगद् होकर उनके वास्तविक गुणों की स्तुति करने लगते हैं।

अन्तर्दृष्टि वाले साधक अतीव नम्र, विनयी एवं गुणानुरागी होते हैं। अतएव वे समभाव-स्थित साधु पुरुषों को यथा समय वन्दन करना कभी भी नहीं भूलते।

अन्तर्दृष्टि वाले साधक इतने अप्रमत्त, जागरूक तथा सावधान रहते हैं कि यदि कभी पूर्ववासनावश अथवा कुसंस्कार-वश आत्मा समभाव से गिर भी जाय तो यथाविधि प्रति क्रमण=आलोचना पश्चात्ताप आदि करके पुनः अपनी पूर्व स्थिति को पा लेते हैं और कभी-कभी तो पूर्व स्थिति से आगे भी बढ़ जाते हैं।

ध्यान ही आध्यात्मिक जीवन की कुञ्जी है। इसलिए अन्तर्दृष्टि साधक बराबर ध्यान=कायोत्सर्ग करते हैं। ध्यान से संयम के प्रति एकाग्रता की भावना परिपुष्ट होती है।

ध्यान के द्वारा विशेष चित्त-शुद्धि होने पर आत्मदृष्टि साधक आत्म-स्वरूप में विशेषतया लीन हो जाते हैं। अतएव उनके लिए जड़ वस्तुओं के भोग का प्रत्याख्यान करना सहज स्वाभाविक हो जाता है।

जबतक सामायिक प्राप्त न हो=आत्मा समभाव में स्थित न हो, तब तक भावपूर्वक चतुर्विशतिस्तव किया ही नहीं जा सकता। भला जो स्वयं समभाव को प्राप्त नहीं है, वह किस प्रकार रागद्वेषरहित समभाव में स्थित वीतराग पुरुषों के गुणों को जान सकता है और उनकी प्रशंसा कर सकता है? अतएव सामायिक के बाद चतुर्विशतिस्तव है।

चतुर्विशतिस्तव करने वाला ही गुरुदेवों को यथाविधि वन्दन कर सकता है। क्योंकि जो मनुष्य अपने इष्ट देव वीतराग महापुरुषों के गुणों से प्रसन्न होकर उनकी स्तुति नहीं कर सकता है, वह किस प्रकार वीतराग तीर्थंकरों की वाणी के उपदेशक

गुरुदेवों को भक्तिपूर्वक वन्दन कर सकता है ? अतएव वन्दन आवश्यक का स्थान चतुर्विंशति स्तव के बाद रखा गया है।

वन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण को रखने का आशय यह है कि जो रागद्वेष-रहित समभावों से गुरुदेवों की स्तुति करने वाले हैं, वे ही गुरुदेव की साक्षी से अपने पापों की आलोचना कर सकते हैं, प्रतिक्रमण कर सकते हैं। जो गुरुदेव को वन्दन ही नहीं करेगा, वह किस प्रकार गुरुदेव के प्रति बहुमान रक्खेगा और अपना हृदय स्पष्ट-तया खोल कर कृत पापों की आलोचना करेगा ?

प्रतिक्रमण के द्वारा व्रतों के अतिचार-रूप छिद्रों को बंद कर देने वाला, पश्चात्ताप के द्वारा पाप कर्मों की निवृत्ति करने वाला साधक ही कायोत्सर्ग की योग्यता प्राप्त कर सकता है। जब तक प्रतिक्रमण के द्वारा पापों की आलोचना करके चित्त शुद्धि न की जाय, तब तक धर्म ध्यान या शुल्क ध्यान के लिए एकाग्रता संपादन करने का, जो कायोत्सर्ग का उद्देश्य है, वह किसी तरह भी सिद्ध नहीं हो सकता। आलोचना के द्वारा चित्त शुद्ध किए बिना जो कायोत्सर्ग करता है, उसके मुँह से भले ही किसी शब्द-विशेष का जप हुआ करे, परन्तु उसके हृदय में उच्च ध्येय का विचार कभी नहीं आता।

जो साधक कायोत्सर्ग के द्वारा विशेष चित्त-शुद्धि, एकाग्रता और आत्मबल प्राप्त करता है, वही प्रत्याख्यान का सच्चा अधिकारी है। जिसने एकाग्रता प्राप्त नहीं की है और संकल्प वल भी जागृत नहीं किया, वह यदि प्रत्याख्यान कर भी ले, तो भी उसका ठीक-ठीक निर्वाह नहीं कर सकता। प्रत्याख्यान सबसे ऊपर की आव-श्यक क्रिया है। उसके लिए विशिष्ट चित्त-शुद्धि और विशेष श्रद्धा की अपेक्षा है, जो कायोत्सर्ग के बिना पैदा नहीं हो सकती। इसी विचार धारा को सामने रखकर कायोत्सर्ग के पश्चात् प्रत्याख्यान का नंबर रखा गया है।

उपर्युक्त पद्धति से विचार करने पर यह स्पष्टतया जान पड़ता है कि छह आवश्यकों का जो क्रम है, वह विशेष कार्य-कारण भाव की श्रृंखला पर अवस्थित है। चतुर पाठक कितनी भी बुद्धिमानी से उलट फेर करे, परन्तु उसमें वह स्वाभावि-कता नहीं रह सकती, जो कि प्रस्तुत क्रम में है।

१९ आवश्यक से लौकिक जीवन की शुद्धि

यह ठीक है कि आवश्यक क्रिया लोकोत्तर साधना है। वह हमारे आध्यात्मिक क्षेत्र की चीज है। उसके द्वारा हम आत्मा से परमात्मा के पद की ओर अग्रसर होते हैं। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भी आवश्यक की कुछ कम महत्ता नहीं है। यह हमारे साधारण मानवजीवन में कदम-कदम पर सहायक होने वाली साधना है।

अन्य प्राणियों के जीवन की अपेक्षा मानव-जीवन की महत्ता और श्रेष्ठता जिन तत्त्वों पर अवलम्बित है, वे तत्त्व लोक भाषा में इस प्रकार हैं :—

(१) समभाव अर्थात् शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का सम्मिश्रण।

(२) जीवन को विशुद्ध बनाने के लिए सर्वोत्कृष्ट जीवन वाले महापुरुषों का आदर्श।

(३) गुणवानों का बहुमान एवं विनय करना।

(४) कर्त्तव्य की स्मृति तथा कर्त्तव्य पालन में हो जाने वाली भूलों का निष्कपट भाव से संशोधन करना।

(५) ध्यान का अभ्यास करके प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रीति से समझने के लिए विवेक-शक्ति का विकास करना।

(६) त्यागवृत्ति द्वारा सन्तोष तथा सहन-शीलता को बढ़ाना। भोग ही जीवन का उद्देश्य नहीं है, त्यागमय उदारता ही मानव की महत्ता बढ़ाती है। जितना त्याग उतनी ही शान्ति।

उपर्युक्त तत्वों के आधार पर ही आवश्यक साधना का महल खड़ा है। यदि मनुष्य ठीक-ठीक रूप से आवश्यक साधना को अपनाते रहें तो फिर कभी भी उनका नैतिक जीवन पतित नहीं हो सकता, उनकी प्रतिष्ठा भंग नहीं हो सकती, विकट से विकट प्रसंग पर भी वे अपना लक्ष्य नहीं भूल सकते।

मानव-स्वास्थ्य की आधार शिला मुख्यतया मानसिक प्रसन्नता पर है। यद्यपि दुनियाँ में अन्य भी अनेक साधन ऐसे हैं, जिनके द्वारा कुछ न कुछ मानसिक प्रसन्नता प्राप्त हो ही जाती है; परन्तु स्थायी मानसिक प्रसन्नता का स्रोत पूर्वोक्त तत्वों के आधार पर निर्मित आवश्यक ही है। बाह्य जड़ पदार्थों पर आश्रित प्रसन्नता क्षणिक होती है। असली स्थायी प्रसन्नता अपने अन्दर ही है, और वह अन्दर की साधना के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

अब रहा मनुष्य का कौटुम्बिक अर्थात् पारिवारिक सुख। कुटुम्ब को सुखी बनाने के लिए मनुष्य को नीति-प्रधान जीवन बनाना आवश्यक है। इसलिए छोटे बड़े सब में एक दूसरे के प्रति यथोचित विनय, आज्ञा पालन, नियमशीलता, अपनी भूलों को स्वीकार करना एवं अप्रमत्त रहना जरूरी है। ये सब गुण आवश्यक साधना के द्वारा सहज ही में प्राप्त किये जा सकते हैं।

सामाजिक दृष्टि से भी आवश्यक क्रिया उपादेय है। समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए विचारशील प्रामाणिकता, दीर्घदर्शिता और गम्भीरता आदि गुणों का जीवन में रहना आवश्यक है। अस्तु, क्या शास्त्रीय और क्या व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से आवश्यक क्रिया का यथोचित अनुष्ठान करना, अतीव लाभप्रद है।

['आवश्यकों का क्रम' और 'आवश्यक से लौकिक जीवन की शुद्धि' उक्त दोनों प्रकरणों के लिए लेखक जैन जगत के महान तत्वचिंतक एवं दार्शनिक पं० सुखलालजी का ऋणी है। पंडित जी के 'पंच प्रति क्रमण' नामक ग्रन्थ से ही उक्त निबन्धद्वय का प्रायः शब्दशः विचारशरीर लिया गया है।]

२० | आवश्यक का आध्यात्मिक फल

सामायिक :

सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ।

'भगवन् ! सामायिक करने से इस आत्मा को क्या लाभ होता है ?'

'सामायिक करने से सावद्य योग=पापकर्म से निवृत्ति होती है ।'

चतुर्विशतिस्तव :

चउव्वीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ।

'भगवन् ! चतुर्विंशतिस्तव से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है ?'

'चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन-विशुद्धि होती है ।'

वन्दना :

वंदणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं कम्मं निबंधइ, सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निवत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ ।

'भगवन् ! वन्दन करने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?'

'वन्दन करने से यह आत्मा नीच गोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्चगोत्र का बन्ध करता है, सुभग, सुस्वर आदि सौभाग्य की प्राप्ति होती है, सब उसकी आज्ञा शिरसा स्वीकार करते हैं और वह दाक्षिण्यभावकुशलता एवं सर्व-प्रियता को प्राप्त करता है ।'

प्रतिक्रमण :

पडिक्कमणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिक्कमणेणं वयछिद्दाइं पिहेइ, पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबल-चरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते उपहुत्ते (अप्पमत्ते) सुप्पणिहिए विहरइ ।

'भगवन् ! प्रतिक्रमण करने से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है ?'

'प्रतिक्रमण करने से अहिंसा आदि व्रतों के दोषरूप छिद्रों का निरोध होता है,

और छिद्रों का निरोध होने से आत्मा आश्रव का निरोध करता है तथा शुद्ध चारित्र का पालन करता है। और इस प्रकार आठ प्रवचनमाता, पाँच समिति एवं तीन गुप्ति रूप संयम में सावधान, अप्रमत्त तथा सुप्रणिहित होकर विचरण करता है।'

कायोत्सर्ग :

काउसग्गेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

काउसग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थधम्मज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ।

'भगवन्! कायोत्सर्ग करने से आत्मा को क्या लाभ होता है?'

'कायोत्सर्ग करने से अतीत काल एवं आसन्न भूतकाल के प्रायश्चित्तविशोध्य अतिचारों की शुद्धि होती है और इस प्रकार विशुद्धि-प्राप्त आत्मा प्रशस्त धर्मध्यान में रमण करता हुआ इहलोक एवं परलोक में उसी प्रकार सुखपूर्वक विचरण करता है जिस प्रकार सिर का बोझ उतर जाने से मजदूर सुख का अनुभव करता है।'

प्रत्याख्यान :

पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ, इच्छानिरोहं गए णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे, सीईभूए विहरइ।

'भगवन्! प्रत्याख्यान करने से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है?'

'प्रत्याख्यान करने से हिंसा आदि आश्रव-द्वार बन्द हो जाते हैं एवं इच्छा का निरोध हो जाता है, इच्छा का निरोध होने से समस्त विषयों के प्रति वितृष्ण रहता हुआ साधक शान्त-चित्त होकर विचरण करता है।'

[उत्तराध्ययन-सूत्र, २९ वाँ अध्ययन]

२१ प्रतिक्रमण : जीवन की एकरूपता

किस मनुष्य का जीवन ऊँचा है और किस का नीचा ? कौन मनुष्य महात्मा है, महान है और कौन दुरात्मा तथा क्षुद्र ? इस प्रश्न का उत्तर आपको भिन्न-भिन्न रूप में मिलेगा। जो जैसा उत्तर-दाता होगा वह वैसा ही कुछ कहेगा। यह मनुष्य की दुर्बलता है कि वह प्रायः अपनी सीमा में घिरा रह कर ही कुछ सोचता है, बोलता है, और करता है।

हाँ, तो इस प्रश्न के उत्तर में कुछ लोग आपके सामने जात-पाँत को महत्त्व देंगे और कहेंगे कि ब्राह्मण ऊँचा है, क्षत्रिय ऊँचा है, और शूद्र नीचा है, चमार नीचा है, भंगी तो उससे भी नीचा है। ये लोग जात-पाँत के जाल में इस प्रकार अवरुद्ध हो चुके हैं कि कोई ऊँची श्रेणी की बात सोच ही नहीं सकते। जब भी कभी प्रसंग आएगा, एक ही राग अलापेंगे—जात-पांत का रोना रोएँगे।

कुछ लोग सम्भव है धन को महत्व दें ? कैसा ही नीच हो, दुराचारी हो, गुंडा हो, जिसके पास दो पैसे हैं, वह इनकी नजरों में देवता है, ईश्वर का अंश है। राजा और सेठ होना ही इनके लिए सबसे महान् होना है, धर्मात्मा होना है—**'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते**। और यदि कोई धनहीन है, गरीब है तो बस सबसे बड़ी नीचता है। गरीब आदमी कितना ही सदाचारी हो, धर्मात्मा हो, कोई पूछ नहीं। **'मुग्रा दरिद्रा य समा भवन्ति।'**

क्यों लम्बी बातें करें, जितने मुँह उतनी बातें हैं ! आप तो मुझ से मालूम करना चाहते होंगे कि कहिए, आपका क्या विचार है ? भला, मैं अपना क्या विचार बताऊँ ? मेरे विचार वे ही हैं, जो भारतीय संस्कृति के निर्माता आत्मतत्त्वावलोकी महापुरुषों के विचार हैं। मैं भी आपकी ही तरह भारतीय साहित्य का एक स्नेही विद्यार्थी हूँ, जो पढ़ता हूँ, कहने को मचल उठता हूँ। हाँ, तो भारतीय संस्कृति के एक अमर गायक ने इस प्रश्न-चर्चा के सम्बन्ध में क्या ही अच्छा कहा है—

मनस्येकं वचस्येकं
कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्
कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥

प्रस्तुत श्लोक के अनुसार सर्वश्रेष्ठ, महात्मा महान् पुरुष वही है, जो अपने मन में जैसा सोचता है, विचारता है, समझता है, वैसा ही जबान से बोलता है, कहता है। और जो कुछ बोलता है, वही समय पर करता भी है। और इसके विपरीत दुरात्मा, दुष्ट, नीच वह है, जो मन में सोचता कुछ और है, बोलता कुछ और है, और करता कुछ और ही है।

मन का काम है सोचना विचारना। वाणी का काम है बोलना-कहना। और शेष जीवन का काम है, हस्तपादादि का काम है, जो कुछ सोचा और बोला गया है, उसे कार्य का रूप देना, अमली जामा पहनाना। महान् आत्माओं में इन तीनों का सामंजस्य होता है, मेल होता है, और एकता होती है। उनके मन, वाणी और कर्म में एक ही बात पाई जाती है, ज़रा भी अन्तर नहीं होता। न उन्हें दुनिया का धन पथ-भ्रष्ट कर सकता है और न मान अपमान ही। लोग खुश होते हैं या नाराज़, कुछ परवाह नहीं। जीवन है या मरण, कुछ चिन्ता नहीं। भले ही दुनिया इधर से उधर हो जाय, फूलों की वर्षा हो या जलते अंगारों की ! किसी भी प्रकार के आतंक, भय, प्रेम, प्रलोभन, हानि, लाभ महान् आत्माओं को डिगा नहीं सकते, बदल नहीं सकते। वे हिमालय के समान अचल, अटल, निर्भय, निर्द्वन्द्व रहते हैं। मृत्यु के मुख में पहुँच कर भी एक ही बात सोचना, बोलना और करना, उनका पवित्र आदर्श है। संसार की कोई भी भली या बुरी शक्ति, उन्हें झुका नहीं सकती, उनके जीवन के टुकड़े नहीं कर सकती।

परन्तु जो लोग दुर्बल हैं, दुरात्मा हैं, वे कदापि अपने जीवन की एकरूपता को सुरक्षित नहीं रख सकते। उनके मन, वाणी और कर्म तीनों तीन राह पर चलते हैं ! ज़रा-सा भय, ज़रा-सा प्रेम, ज़रा-सी हानि, ज़रा-सा लाभ भी उनके कदम उखाड़ देता है। वे एक क्षण में कुछ हैं तो दूसरे क्षण में कुछ। परिस्थितियों के बहाव में बह जाना, हवा के अनुसार अपनी चाल बदल लेना, उनके लिए साधारण-सी बात है। सांसारिक प्रलोभनों से ऊपर उठकर देखना, उन्हें आता ही नहीं। उनका धर्म, पुण्य, ईश्वर, परमात्मा सब कुछ स्वार्थ है, मतलब है। वे जैसे और जितने आदमी मिलेंगे, वैसी ही उतनी ही वाणी बोलेंगे। और जैसे जितने भी प्रसंग मिलेंगे, वैसे ही उतने ही काम करेंगे। अब रहा सोचना, सो पूछिए नहीं। समुद्र के किनारे खड़े होकर जितनी तरंगें आप देख सकते हैं, उतनी ही उनके मन की तरंगें होती हैं। उनकी आत्मा इतनी पतित और दुर्बल होती है कि आस-पास के वातावरण का—भय, विरोध और प्रलोभन आदि का उन पर क्षण-क्षण में भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता रहता है।

अब आपको विचार करना है कि आपको क्या होना है, महात्मा अथवा दुरात्मा ? मैं समझता हूँ आप दुरात्मा नहीं होना चाहेंगे। दुरात्मा शब्द ही भद्दा और कठोर मालूम होता है ! हाँ, आप महात्मा ही बनना चाहेंगे ! परन्तु मालूम है, महात्मा बनने के लिए आपको अपने जीवन की एक रूपता करनी होगी। मन, वाणी और कर्म

का द्वैत मिटाना होगा। यह भी क्या जीवन कि आपके हजार मन हों, हजार जबान हों और हजार ही हाथ पैर। आप हर आदमी के सामने अलग-अलग मन बदलें, जबान बदलें और कर्म बदलें। मानव-जीवन के तीन टुकड़े अलग-अलग करके डाल देने में कौन-सी भलाई है? विभिन्न रूपों और टुकड़ों में बँटा हुआ अव्यवस्थित जीवन, जीवन नहीं होता, लाश होता है। मैं समझता हूँ, आप किसी भी दशा में जीवन की अखंडता को समाप्त नहीं करना चाहेंगे, मुरदा नहीं होना चाहेंगे।

भगवान् महावीर जीवन की एकरूपता पर बहुत अधिक बल देते थे। साधक के सामने सब से पहली पूरी करने योग्य शर्त ही यह थी कि वह हर हालत में जीवन की एक रूपता को बनाए रक्खेगा, उसकी वाणी मन का अनुसरण करेगी तो उसकी चर्या मन-वाणी का अनुधावन!

जैन संस्कृति ने जीवन में बहुरूपिया होना, निन्द्य माना है। आदि काल से मानव जीवन की एकरसता, एकरूपता और अखण्डता ही जैन संस्कृति का अमर आदर्श रहा है। उसके विचार में जितना कलह, जितना द्वन्द्व, जितना पतन है, वह सब जीवन की विषम गति में ही है। ज्योंही जीवन में समगति आएगी, जीवन का संगीत समताल पर मुखरित होगा, त्योंही संसार में शान्ति का अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो जायगा, अविश्वास विश्वास में बदलेगा और आपस के बैर विरोध विश्वस्त प्रेम एवं सहयोग में परिणत हो जायँगे! भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से मानव की संत्रस्त आत्मा स्वर्गीय दिव्य भावों में पहुँच जायगी।

जीवन की एक-रूपता के लिए, देखिए, जैन साहित्य क्या कहता है? दशवैकालिक सूत्र का चतुर्थ अध्ययन हमारे सामने है :—

"से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणेवा……… ।"

ऊपर के लम्बे पाठ का भावार्थ यह है कि दिन हो या रात, अकेला हो या हजारों की सभा में, सोता हो या जागता साधक अपने आपको अहिंसा एवं सत्य की साधना में लगाए रक्खे। उसके जीवन का धर्म दिन में अलग, रात में अलग, अकेले में अलग, सभा में अलग, सोते में अलग, जागते में अलग, किसी भी दशा में कदापि अलग-अलग नहीं हो सकता। सच्चे साधक क्षेत्र, काल और जनता को देख कर राह नहीं बदला करते। वे अकेले में भी उतने ही सच्चे और पवित्र रहेंगे, जितने कि हजारों-लाखों की भीड़ में। कैसा भी एकान्त हो, कैसी भी स्थिति अनुकूल हो, वे जीवन पथ से एक कदम भी इधर-उधर नहीं होते।

जैन-धर्म का प्रतिक्रमण, यही जीवन की एक रूपता का पाठ पढ़ाता है। यह जीवन एक संग्राम है, संघर्ष है। दिन और रात अविराम गति से जीवन की दौड़-धूप चल रही है। सावधानी रखते हुए भी मन, वाणी और कर्म में विभिन्नता आ जाती है, अस्तव्यस्तता हो जाती है। अस्तु, दिन में होने वाली अनेकता को सायंकाल के

प्रतिक्रमण के समय एक रूपता दी जाती है और रात में होने वाली अनेकता को प्रातःकालीन प्रतिक्रमण के समय। साधक गुरुदेव या भगवान् की साक्षी से अपनी भटकी हुई आत्मा को स्थिर करता है, भूलों को ध्यान में लाता है, मन, वाणी और कर्म को पश्चात्ताप की आग में डाल कर निखारता है, एक-एक दाग को सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से देखता है और धो डालता है। प्रतिक्रमण करने वालों की परम्परा में न जाने कितने ऐसे महान् साधक हो गए हैं, जो सांवत्सरिक आदि के पवित्र प्रसंगों पर हजारों जनता के सामने अपने एक-एक दोषों को स्पष्ट भाव से कहते चले गए हैं, मन के छुपे जहर को उगलते चले गए हैं। लज्जा और शर्म किसे कहते हैं, कुछ परवाह ही नहीं। धन्य हैं, वे, जो इस प्रकार जीवन की एक रूपता को बनाए रख सकते हैं। मन का कोना-कोना छान डालना, उनके लिए साधना का परम लक्ष्य है। वे अपने जीवन को अपने सामने रखकर उसी प्रकार कठोरता से चीरफाड़ करते हैं, देखभाल करते हैं, जिस प्रकार एक डाक्टर शव की परीक्षा करता है। जब तक इतना साहस न हो, मन का विश्लेषण करने की धुन न हो, जीवन का शव के समान निर्दय परीक्षण न हो, तब तक साधक जीवन की एक रूपता को किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता। जैन संस्कृति का प्रतिक्रमण मन, वाणी और कर्म के सन्तुलन को कदापि अव्यवस्थित नहीं होने देता। वह पश्चात्ताप के प्रवाह में पिछले सब दोषों को धोकर आगे के लिए अविचल दृढ़ता के सुन्दर और शुद्ध जीवन का एक नया अध्याय खोलता है। प्रतिक्रमण का स्वर एक ही स्वर है, जो हजारों-लाखों वर्षों से श्रमण संस्कृति की अन्तर्वीणा पर झंकृत होता आया है—**छूटूँ पिछला पाप से, नया न बाँधू कोय।**"

जैन संस्कृति के अमर साधकों ने मृत्यु के मुख में पहुँच कर भी कभी अपनी राह न बदली, जीवन की एकरूपता भंग न की, प्रतिक्रमण द्वारा प्राप्त होने वाली पवित्र प्रेरणा विस्मृत न की।

श्रावक अर्हन्नक के सामने देवता खड़ा है, जहाज को एक ही झटके में समुद्र के अतल गर्भ में फेंक देने को तैयार है। कह रहा है—"अपना धर्म छोड़ दो, अन्यथा परलोक यात्रा के लिए तैयार हो जाओ। छोड़ूँगा नहीं, समझ लो, क्या उत्तर देना है, हाँ या ना ? 'हाँ' में जीवन है तो 'ना' में मृत्यु।"

जीवन की एकरूपता का, प्रतिक्रमण की विराट साधना का वह महान् साधक हँसता है, मुसकराता है। उसकी मुसकराहट, वह मुसकराहट है, जिसके सामने मृत्यु की विभीषिका भी हतप्रभ हो जाती है। वह कहता है—"अरे धर्म भी क्या कोई छोड़ने की चीज है ? धर्म तो मेरे अणु-अणु में रम गया है, मैं छोड़ना चाहूँ तो भी वह नहीं छुट सकता। और यह मृत्यु ! इसका भी कुछ डर है ? तेरी शक्ति, सम्भव है, शरीर को दल सके। परन्तु आत्मा ! अरे वहाँ तो तेरे जैसे लाखों-करोड़ों देव भी कुछ नहीं कर सकते। आत्मा अजर है, अमर है, अखण्ड है। तू अनन्त जन्म ले तब भी

मेरी आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं सकता। बता, मैं तुझ से और तेरी ओर से दी जाने वाली मृत्यु से डरूँ तो कैसे डरूँ ?"

देवता सन्नाटे में आ गया। आज उसे हिमालय की चट्टान से टकराना पड़ रहा था। फिर भी वह मर्कट-विभीषिका दिखाए जा रहा था! पास के लोगों ने भयाक्रान्त होकर अर्हन्नक से कहा—"सेठ! तू झूठ-मूठ ही जबान से कह दे कि मैंने धर्म छोड़ा। देवता चला जायगा। फिर जो तू चाहे करना। तेरा क्या बिगड़ता है ?"

अर्हन्नक लोगों की बात समझ नहीं सका! झूठ-मूठ के लिए ही कह दो, क्या बला है, ध्यान में न ला सका। उसने कहा—"जो मेरे मन में नहीं है, उसके लिए मेरी वाणी कैसे हाँ भरे ? झूठ-मूठ के लिए कुछ कहना, मैंने सीखा ही कहाँ है ? मेरे धर्म की यह भाषा ही नहीं है। जो पानी कुँए में है, वही तो डोल में आएगा। कुँए में और पानी हो, और डोल में कुछ और ही पानी ले आऊँ, यह कला न मुझे आती है और न मुझे पसन्द ही है। मेरे धर्म ने मुझे यही सिखाया है कि जो सोचो, वही कहो, और जो कहो, वही करो। अब बताओ, मैं मन में सोची बात से भिन्न रूप में कुछ कहूँ तो कैसे कहूँ ? प्राण दे सकता हूँ, अपना सर्वस्व लुटा सकता हूँ, परन्तु मैं अपने मन, वाणी और कर्म तीनों के तीन टुकड़े कदापि नहीं कर सकता।"

यह है प्रतिक्रमण की साधना के अमर साधकों की जीवनकला! जिस दिन विश्व की भूली भटकी हुई मानव जाति प्रतिक्रमण की साधना अपनाएगी, जीवन की एक रूपता के महान् आदर्श को सफल बनाएगी, उस दिन विश्व में क्या भौतिक और क्या आध्यात्मिक सभी प्रकार से नवीन जीवन का प्रकाश होगा, संघर्षों का अन्त होगा और होगा—दिव्य विभूतियों का अजर, अमर, अक्षय साम्राज्य!

२२

प्रतिक्रमण : जीवन की डायरी

मनुष्य अपनी उन्नति चाहता है, प्रगति-चाहता है। वह जीवन की दौड़ में हर कहीं बढ़ जाना चाहता है ! साधना के क्षेत्र में भी वह तप करता है, जप करता है, संयम पालता है, एक से एक कठोर आचरण में उतरता है और चाहता है कि अपने बन्धनों को तोड़ डालूँ, आत्मा को कर्मों के अधिकार से स्वतंत्र करा लूँ। परन्तु सफलता क्यों नहीं मिल रही है ? सब कुछ करने पर भी टोटा क्यों है ? लाभ क्यों नहीं ?

बात यह है कि किसी भी प्रकार की उन्नति करने से पूर्व, अपनी वर्तमान अवस्था का पूरा ज्ञान प्राप्त करना, आवश्यक है। आप बढ़ते तो हैं परन्तु बढ़ने की धुन में जितना मार्ग तै कर पाया है उस पर नजर नहीं डालते। वह सेना विजय का क्या आनन्द उठा सकेगी, जो आगे ही आगे आक्रमण करती जाती है, किन्तु पीछे की व्यवस्था पर, दुर्बलता पर, भूलों पर कोई ध्यान नहीं देती। वह व्यापारी क्या लाभ उठाएगा, जो अंधाधुन्ध व्यापार तो करता जाता है, परन्तु बही खाते की जाँच-पड़ताल करके यह नहीं देखता कि क्या लेना-देना है, क्या हानि-लाभ है ? अच्छा व्यापारी, दूसरे दिन की बिक्री उसी समय प्रारम्भ करता है, जब कि पहले दिन की आय-व्यय की विध मिला चुकता है ! जिसको अपनी पूंजी का और हानि-लाभ का पता ही नहीं, वह क्या खाक व्यापार करेगा। और उस अन्धे व्यापार से होगा भी क्या ? अंधी बुढ़िया चक्की पर आटा पीसती है ! इधर पीसती है, और उधर कुत्ता चुपचाप आटा खाता जा रहा है। बुढ़िया को क्या पल्ले पड़ेगा ? केवल श्रम, कष्ट, चिन्ता और शोक ! और कुछ नहीं।

जैन संस्कृति का प्रतिक्रमण यही जीवनरूपी बही की जाँच पड़ताल है। साधक को प्रति दिन प्रातःकाल और सायंकाल यह देखना होता है कि उसने क्या पाया है और क्या खोया है ? अहिंसा, सत्य, और संयम की साधना में वह कहाँ तक आगे बढ़ा है ? कहाँ तक भूला भटका है ? कहाँ क्या रोड़ा अटका है ? दशवैकालिक सूत्र की चूलिका में इसी महान् भाव को लेकर कहा गया है कि साधक ! तू प्रतिदिन विचार कर कि मैंने क्या कर लिया है और अब आगे क्या करना शेष रहा है ? **'किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं ?'**

वैदिक धर्म के महान् उपनिषद् ग्रन्थ ईशावास्य में भी यही कहा है कि

'कृतं स्मर ।' अर्थात् अपने किए को याद कर ! जब साधक अपने किए को याद करता है, अपनी अतीत अवस्था पर दृष्टि डालता है तो उसे पता लग जाता है कि—कहाँ क्या शिथिलता है ? कौन सी त्रुटियाँ हैं और वे क्यों हैं ? आलस्य आगे नहीं बढ़ने देता ? या समाज का भय उठने नहीं देता ? या अन्दर की वासनाएँ ही साधना-कल्पवृक्ष की जड़ों को खोखला कर रही हैं ? प्रतिक्रमण कहिए, या अपने किए हुए को याद करना कहिए, साधक जीवन के लिए यह एक अत्यन्त आवश्यक क्रिया है ! इसके करने से जीवन का भला-बुरापन स्पष्टत: आँखों के सामने झलक उठता है। दुर्बल से दुर्बल और सबल से सबल साधक को भी तटस्थ भाव से अलग सा खड़ा होकर अपने जीवन को देखने का, अपनी आत्मा का विश्लेषण करने का अवसर मिलता है । यदि कोई सच्चे मन से चाहे तो उक्त प्रतिक्रमण की क्रिया द्वारा अपनी साधना की भूलों को साफ कर सकता है और अपने आपको पथ-भ्रष्ट होने से बचा सकता है ।

कहते हैं, पाश्चात्य देश के सुप्रसिद्ध विचारक फ्रैंकलिन ने अपने जीवन को डायरी से सुधारा था । वह अपने जीवन की हर घटना को डायरी में लिख छोड़ता था और फिर उस पर चिन्तन-मनन किया करता था । प्रति सप्ताह जोड़ लगाया करता था कि इस सप्ताह में पहले सप्ताह की अपेक्षा भूलें अधिक हुई हैं या कम ? इस प्रकार उसने प्रति सप्ताह भूलों को जाँचने का, उनको दूर करने का और पूर्व की अपेक्षा आगे कुछ अधिक उन्नति करने का अभ्यास चालू रक्खा था । इसका यह परिणाम हुआ कि वह अपने युग का एक श्रेष्ठ, सदाचारी एवं पवित्र पुरुष माना गया ! उसकी डायरी से हमारा प्रतिक्रमण कहीं अधिक श्रेष्ठ है ! यह आज से नहीं, हजारों-लाखों वर्षों से जीवन की डायरी का मार्ग चला आ रहा है ! एक दो नहीं, हजारों-लाखों साधकों ने प्रतिक्रमणरूप जीवन-डायरी के द्वारा अपने आपको सुधारा है, पशुत्व से ऊँचा ऊठाया है, वासनाओं पर विजय प्राप्त कर अन्त में भगवत्पद प्राप्त किया है ! आवश्यकता है, सच्चे मन से जीवन की डायरी के पन्ने लिखने की और उन्हें जाँचने परखने की ।

२३ प्रतिक्रमण : आत्मपरीक्षण

आत्मा एक यात्री है। आजकल का नहीं, पचास-सौ वर्ष का नहीं; हजार दो हजार और लाख-दश लाख वर्ष का भी नहीं, अनन्त कालका है, अनादिकालका है। आज तक कहीं यह स्थायी रूप में जमकर नहीं बैठा है, घूमता ही रहा है। कहाँ और कब होगी यह यात्रा पूरी ? अभी कुछ पता नहीं।

यह यात्रा क्यों नहीं पूरी हो रही है ? क्यों नहीं मानव आत्मा अपने लक्ष्य पर पहुँच पा रहा है ? कारण है इसका। बिना कारण के तो कोई भी कार्य कथमपि नहीं हो सकता।

आप जानना चाहेंगे, वह कारण क्या है ? उत्तर के लिए एक रूपक है, जरा सावधानी के साथ इस पर अपने आपको परखिए और परखिए अपनी साधना को भी। जैन धर्म का सर्वस्व इस एक रूपक में आजाता है, यदि हम अपनी चिन्तन शक्ति का ठीक-ठीक उपयोग कर सकें।

जब कभी युक्त प्रान्त के देहाती क्षेत्र में विहार करने का प्रसंग पड़ता है, तब देखा करते हैं कि सैकड़ों देहाती यात्री इधर से उधर आ जा रहे हैं और उनके कंधों पर पड़े हुए हैं थैले, जिन्हें वे अपनी भाषा में खुरजी कहते हैं। एक दो कपड़े, पानी पीने के लिए लोटा डोर, और भी दो चार छोटी मोटी आवश्यक चीजें थैले में डाली हुई होती हैं, कुछ आगे की ओर तो कुछ पीछे की ओर।

लम्बी बात न करूँ। रूपक की भूमिका तैयार हो गई है। हमारा आत्मा भी इसी प्रकार युक्त प्रान्त का देहाती यात्री है। इसने भी अपने विचारों की खुरजी कंधे पर डाल रखी हैं। आत्मा के कंधा और हाथ पैर आदि कहाँ हैं, इस प्रश्न में मत उलझिए। मैं पहले ही बता चुका हूँ यह एक रूपक है।

हाँ, तो उस खुरजी में भरा क्या है ? आगे की ओर उसमें भर रक्खे हैं अपने गुण और दूसरों के दोष। 'मैं कितना गुणवान् हूँ ? कितनी क्षमा, दया और परोपकार की वृत्ति है मुझ में ? मैं तपस्वी हूँ, ज्ञानी हूँ, विचारक हूँ। कौनसा वह गुण है, जो मुझमें नहीं है ? मैंने अमुक की अमुक संकटकाल में सहायता की थी। मैं ही था, जो उस समय सहायता कर सका, सेवा कर सका, अन्यथा वह समाप्त हो गया होता। माता-पिता, पति-पत्नी, बाल-बच्चे, नाते-रिश्तेदार, मित्र-परिजन, अड़ौसी-पड़ौसी सब

मेरे उपकार के ऋणी हैं। परन्तु ये सब लोग कितने नालायक निकले हैं ? कोई भी तो कृतज्ञता की अनुभूति नहीं रखता। सब दुष्ट हैं, बेईमान हैं, शैतान हैं। मतलबी कुत्ते ! वह देखो; कितना झूठ बोलता है ? कितना अत्याचार करता है ? उसके आस-पास सौ-सौ कोस तक दया की भावना नहीं है। पापाचार के सिवा उसके पास क्या है ? अकेला वही क्या, आज तो सारा संसार नरक की राह पर चल रहा है।' ऐसा ही कुछ अंट-संट भर रक्खा है आगे की ओर। अतएव हर दम दृष्टि रहती है अपने सद्‌गुणों और दूसरों के दोषों पर, अपनी अच्छाइयों और दूसरों की बुराइयों पर।

हाँ, तो पीठ पीछे की ओर क्या डाल रक्खा है ? आखिर खुरजी के पीठ पीछे के भाग में भी तो कुछ भर रक्खा होगा ? हाँ, वह भी ठसाठस भरा हुआ है अपने दोषों और दूसरों के गुणों से। अपने असत्य, अत्याचार, पापाचार आदि जो कुछ भी दोष हैं, दुर्गुण हैं, सब को पीठ पीछे की ओर डाल रक्खा है। वहाँ तक आँखें नहीं पहुँचतीं। पता ही नहीं चलता कि आखिर मुझ में भी कुछ बुराइयाँ हैं, या सबकी सब भलाइयाँ ही हैं ? मैं भी तो झूँठ बोलता हूँ, दम्भ करता हूँ, चोरी करता हूँ, और आस-पास के दुर्बलों को अत्याचार की चक्की में पीसता हूँ। क्या मैं कभी क्रोध नहीं करता, अभिमान नहीं करता, माया नहीं करता, लोभ नहीं करता ? मुझ में भी पापाचार की भयंकर दुर्गन्ध है। दुर्भाग्य से अपने दोष पीठ की ओर डाल रक्खे हैं, अतः आत्मा उन्हें देख ही नहीं पाता, विचार ही नहीं पाता। अपने दोषों के साथ दूसरों के गुण भी पीछे की ओर ही डाल रक्खे हैं, अतः उनकी ओर भी दृष्टि नहीं जाती। यह संसार है, इसमें जहाँ बुरे हैं, वहाँ अच्छे भी तो हैं। जहाँ अपने साथ बुराई करने वाले हैं, वहाँ भलाई करने वाले भी तो हैं। परन्तु यह यात्री दूसरों के गुण, दूसरों की अच्छाइयाँ कहाँ देखता है ? दूसरों की दया, उपकार, सेवा और पवित्रता सब कुछ भुला दी गई हैं। याद हैं केवल उनके दोष। धर्मस्थान हो, सार्वजनिक सभा हो, उत्सव हो, अकेला हो, घर हो, बाहर हो, सर्वत्र दूसरों के दोषों का ढिंढोरा पीटता है। जब अवकाश मिलता है तभी विचारता है, याद करता है, कहीं भूल न जाय।

बड़ा भयंकर है यात्री। इस ने खुरजी इस ढंग से डाली है कि यह आप भी बरबाद हो रहा है, शान्ति नहीं पा रहा है। इसके मन, वाणी और कर्म में जहर भरा हुआ है। सब ओर घृणा एवं विद्वेष के विष-कण फेंक रहा है। आदरबुद्धि है एक मात्र अपनी ओर, अन्यत्र कहीं नहीं। खुरजी वहन करने की पद्धति इतनी भद्दी है कि उसके कारण अपने को देवता समझता है और दूसरों को राक्षस ! अब बताइए, ऐसे यात्री को स्थायी रूप में विश्राम मिले तो कैसे मिले ? यात्रा पूरी हो तो कैसे हो ? भटकना समाप्त हो तो कैसे हो ?

जैनधर्म और जैन संस्कृति ने प्रस्तुत यात्री के कल्याणार्थ अत्यन्त सुन्दर विचार

उपस्थित किए हैं। जैन धर्म के अनन्तानन्त तीर्थंकरों ने कहा है—"आत्मन्! कुछ सोचो, समझो, विचार करो। जिस ढंग से तुम चल रहे हो, जीवन पथ पर आगे बढ़ रहे हो, यह तुम्हारे लिए हितकर नहीं हैं। हमारी बात सुनो, तुम्हारा कल्याण होगा। बात कुछ कठिन नहीं है, बिल्कुल सीधी-सी है। यह मत समझो कि पता नहीं हम से क्या कराना चाहते हैं? हम तुमसे कुछ भी कठिन और कठोर काम नहीं चाहते। हम चाहते हैं, बस छोटा-सा और सीधा-सा काम! क्या तुम कर सकोगे? क्यों न कर सकोगे, आखिर तुम चैतन्य हो, आत्मा हो, जड़ तो नहीं। हाँ, यों करो कि यह खुरजी आगे से पीछे की ओर डाल दो और पीछे से आगे की ओर! तुम समझ गए न? जरा और स्पष्टता से समझलो! अपने गुण और दूसरों के दोष पीठ पीछे की ओर डाल दो। बस उनकी ओर देखो भी, विचारो भी नहीं। तुम्हारे गुण तुम्हारे अपने लिए विचारने और कहने को नहीं हैं। वे जनता के लिए हैं। यदि उनमें कुछ वास्तविकता है, श्रेष्ठता और पवित्रता है तो संसार अपने आप उनका आदर सत्कार करेगा, कीर्तन अनुकीर्तन करेगा। फूल को महकने से काम है। वह महकने के गौरव की चिन्ता में नहीं घुलता। ज्यों ही वह खिलता है, महकता है, पवनदेव दूर-दूर तक उसका यशोगान करता चला जाता है। बिना किसी निमंत्रण के भ्रमर-मंडलियाँ अपने आप चली आती हैं और गुन-गुन की मधुर ध्वनि से सहसा सारे वातावरण को मुखरित कर देती हैं।"

—"और दूसरों के दोषों की तुम्हें क्या चिन्ता पड़ी है? जो जैसा करेगा, वैसा पायेगा। तुम्हारा काम यदि किसी की कोई भूल देखो तो उसे प्रेमपूर्वक समझा देने का है। यदि वह नहीं मानता है तो तुम्हारी क्या हानि हैं? तुम व्यर्थ ही उसकी ओर से घृणा और द्वेष का जहर भर कर अपने मन को अपवित्र क्यों करते हो? इस प्रकार घृणा रखने से कुछ लाभ है? नहीं, अणुमात्र भी नहीं। हमारा मार्ग पाप से घृणा करना सिखाता है, पापी से नहीं। पाप कभी अच्छा नहीं हो सकता; परन्तु पापी तो पाप का परित्याग करने के बाद अच्छा हो जाता है, भला हो जाता है। क्या चोर चोरी छोड़ने के बाद पवित्रता का सम्मान नहीं पाता? क्या शराबी शराब का त्याग करने के बाद जन-समाज में आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता? बस, आज जिनसे घृणा करते हो, क्या वे अपने दुर्गुणों का परित्याग करने के बाद कभी अच्छे नहीं हो सकते हैं? अवश्य हो सकते हैं। अतएव तुम पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।"

—"एक बात और ध्यान में रक्खो। दूसरों के प्रति उदार बनो, अनुदार नहीं। जब कभी दूसरों के सम्बन्ध में सोचो, उनके गुण और उनकी अच्छाइयाँ ही सोचो। गुणदर्शन की उदार वृत्ति रखने से दूसरों के प्रति सद्भावना का वातावरण तैयार होगा। यह वातावरण अमृत का होगा, विष का नहीं। सद्भावना बुरों को भी भला बना देती है। क्या संसार में सब दुष्ट ही हैं, सज्जन कोई नहीं। जितना समय तुम दुष्टों की दुष्टता के चिंतन में लगाते हो, उतना समय सज्जनों की सज्जनता

के चिंतन में लगाओ न ? जो जैसों का चिन्तन करता है, वह वैसा बन जाता है। दुष्टों का चिंतन एक दिन अपने को भी दुष्ट बना सकता है। घृणा का वातावरण अन्ततोगत्वा यही परिणाम लाता है। और हाँ, दुष्टों में भी क्या कोई सद्गुण नहीं हैं ? नीच से नीच आदमी में भी कोई छोटी-मोटी अच्छाई हो सकती है। अतएव तुम उसकी बुराई के प्रति दृष्टि न डाल कर अच्छाई की ओर देखो। दो साथी बाग में घूमते हुए गुलाब के पास पहुँच गए। गुलाब के सुन्दर फूल खिले हुए थे और आस-पास के वातावरण में अपनी मादक सुगन्ध बिखेर रहे थे। पहला साथी हर्षोन्मत्त हो उठ और बोला—अहा कितने सुन्दर एवं सुगन्धित फूल हैं ! दूसरे साथी ने कहा—अरे देखो, कितने नुकीले कांटे हैं ? यह है दृष्टि-भेद। बताओ, तुम क्या होना चाहते हो ? पहले साथी बनोगे, अथवा दूसरे ? हमारी बात मान सकते हो तो तुम भूल कर भी दूसरे का मार्ग न पकड़ना। तुम गुलाब के फूल देखो, काँटे क्यों देखते हो ? जिनकी दृष्टि कांटों की ओर होती है, कभी-कभी वे बिना कांटों के भी कांटे देखने लगते हैं।"

—"जब कभी दुर्गुण एवं दोष देखने हों, अपने अन्दर में देखो। आज तक अपने दोषों को तुमने पीठ पीछे डाल रक्खा था, अब तुम उन्हें आगे की ओर आँखों के सामने लाओ। अपने दोषों को देखने वाला सुधरता है, संवरता है। और अपने गुणों को देखने वाला बिगड़ता है, पतित होता है। स्वदोष-दर्शन अन्तर्विवेक जागृत करता है, फलतः दोषों को दूर कर सद्गुणों की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। इसके विपरीत स्वगुणदर्शन अहंकार को प्रेरणा देता है। फलतः साधक अपने को सहसा उच्च स्थिति पर पहुँचा हुआ समझ लेता है, जिसका परिणाम है प्रगति का रुक जाना, मार्ग का अन्धकाराच्छन्न हो जाना। स्वदोष-दर्शन ही तुम्हें साधक की विनम्र भूमिका पर पहुँचाएगा। भूल यदि भूल के रूप में समझ ली जाए, तो साधक का साधना क्षेत्र सम्यग् ज्ञान के उज्ज्वल आलोक से आलोकित हो उठता है, अज्ञानान्धकार सहसा छिन्न-भिन्न हो जाता है। हाँ, तो अपने आपको परखो और जाँचो। मन का एक-एक कोना छान डालो, देखो, कहाँ क्या भरा हुआ है ? छोटी से छोटी भूल को भी बारीकी से पकड़ो। प्रमेह-दशा की छोटी सी फुन्सी भी कितनी विषाक्त एवं भयंकर होती है ? जरा भी उपेक्षा हुई कि बस जीवन से हाथ धो लेने पड़ते हैं। अपनी भूलों के प्रति उपेक्षित रहना, साधक के लिए महापाप है। वह साधक ही क्या, जो अपने मन के कोने-कोने को झाड़बुहार कर साफ न करे। जैन धर्म का प्रतिक्रमण इसी सिद्धान्त पर आधारित है। स्वदोषदर्शन ही आगमिक भाषा में प्रतिक्रमण है। अतएव नित्य प्रति-क्रमण करो, प्रातः सायं हर रोज प्रतिक्रमण करो। अपने दोषों की जो जितनी कठोरता से आलोचना करेगा, वह उतना ही सच्चा प्रतिक्रमण करेगा।"

बात कुछ लम्बी कर गया हूँ। अब जरा समेट लूँ तो ठीक रहेगा न ? क्या पर्युषण पर्व आदि पर प्रतिक्रमण करने वाले साथी मेरी बात पर कुछ लक्ष्य देंगे। यह मेरी अपनी बात नहीं है। यह बात है जैन धर्म की और जैन धर्म के अनन्तानन्त तीर्थंकरों

की। मैं समझता हूँ, आप में से बहुतों ने वह खुरजी पलट ली होगी, आगे की पीछे और पीछे की आगे कर ली होगी। क्योंकि आप वर्षों से प्रतिक्रमण करते आ रहे हैं। और वह प्रतिक्रमण है क्या ? उसी अनादि काल से लादी हुई खुरजी को यथोक्त पद्धति के रूप में उलट लेना। यदि अब तक वह उलटी न गई हो तो अब वह अवश्य उलट लीजिए। यदि अब भी न उलट सके तो फिर कब उलटेंगे ? समय आ गया है अब हम सब मिल कर अपनी-अपनी खुरजी उलट लें और सच्चे मन से सच्चा प्रतिक्रमण कर लें।

२४

प्रतिक्रमण : तीसरी औषधि

आचार्य हरिभद्र आदि ने प्रतिक्रमण के महत्व का वर्णन करते हुए एक कथा का उल्लेख किया है। वह कथा बड़ी ही सुन्दर, विचारप्रधान तथा प्रतिक्रमण के आवश्यकत्व का स्पष्ट प्रतिपादन करने वाली है।

पुराने युग में क्षितिप्रतिष्ठ एक नगरी थी और जितशत्रु उसके राजा थे। राजा को ढलती हुई आयु में पुत्र का लाभ हुआ तो उस पर अत्यन्त स्नेह रखने लगे। सदैव उसके स्वास्थ्य की ही चिन्ता रहने लगी। पुत्र कभी भी बीमार न हो, इस सम्बन्ध में परामर्श करने के लिए अपने देश के तीन सुप्रसिद्ध वैद्य बुलवाए और उनसे कहा कि कोई ऐसी औषधि बताइए, जो मेरे पुत्र के लिए सब प्रकार से लाभकारी हो।

तीनों वैद्यों ने अपनी-अपनी औषधियों के गुण-दोष, इस प्रकार बतलाए।

पहले वैद्य ने कहा—मेरी औषधि बड़ी ही श्रेष्ठ है। यदि पहले से कोई रोग हो तो मेरी औषधि तुरन्त प्रभाव डालेगी और रोग को नष्ट कर देगी। परन्तु यदि कोई रोग न हो, और औषधि खाली जाय तो फिर अवश्य ही नया रोग पैदा होगा, और वह रोगी मृत्यु से बच न सकेगा।

राजा ने कहा—बस, आप तो कृपा रखिए। अपने हाथों मृत्यु का निमन्त्रण कौन दे? यह तो शान्ति में बैठे हुए पेट मसल कर दर्द पैदा करना है।

दूसरे वैद्य ने कहा—राजन्! मेरी औषधि ठीक रहेगी। यदि कोई रोग होगा तो उसे नष्ट कर देगी, और यदि रोग न हुआ तो न कुछ लाभ होगा, न कुछ हानि।

राजा ने कहा—आपकी औषधि तो राख में घी डालने जैसी है। यह आपकी औषधि भी मुझे नहीं चाहिए।

तीसरे वैद्य ने कहा—महाराज! आप के पुत्र के लिए तो मेरी औषधि ठीक रहेगी। मेरी औषधि आप प्रतिदिन नियमित रूप से खिलाते रहिए। यदि कोई रोग होगा तो वह शीघ्र ही उसे नष्ट कर देगी। और यदि कोई रोग न हुआ तो भविष्य में नया रोग न होने देगी, प्रत्युत शरीर की कान्ति, शक्ति और स्वस्थता में नित्य नई अभिवृद्धि करती रहेगी।

राजा ने तीसरे वैद्य की औषधि पसन्द की। राजपुत्र उस औषधि के नियमित सेवन से स्वस्थ, सशक्त और तेजस्वी होता चला गया।

उक्त कथानक के द्वारा आचार्यों ने यह शिक्षा दी है कि प्रतिक्रमण प्रातः और सायंकाल में प्रतिदिन आवश्यक है, दोष लगा हो तब भी और दोष न लगा हो तब भी। यदि कोई संयम-जीवन में हिंसा असत्य आदि का अतिचार लग जाए तो प्रतिक्रमण करने से वह दोष दूर हो जाएगा और साधक पुनः अपनी पहले जैसी पवित्र अवस्था प्राप्त कर लेगा। दोष एक रोग है, और प्रतिक्रमण उसकी अचूक सिद्ध औषधि है। और यदि कोई दोष न लगा हो, तब भी प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। उस दशा में दोषों के प्रति विरक्ति बनी रहेगी, संयम के प्रति सावधानता मंद न पड़ेगी, जीवन जागृत रहेगा, स्वीकृत चारित्र निरन्तर शुद्ध, पवित्र, निर्मल होता चला जायगा, फलतः भविष्य में भूल होने की सम्भावना कम हो जायगी।

यह कथानक उन लोगों के समाधान के लिए है, जो यह कहते हैं कि 'हम जिस दिन कोई पाप ही न करें, तो फिर उस दिन प्रतिक्रमण करने की क्या आवश्यकता है ? व्यर्थ ही प्रतिक्रमण के पाठों को बोलने से क्या लाभ है ? यह समय का अपव्यय नहीं तो और क्या है ?'

प्रथम तो जब तक मनुष्य छद्मस्थ है एवं प्रमादी है, तब तक कोई दोष लगे ही नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है ? मन, वचन, शरीर का योग परिस्पंदात्मक है और उसमें जहाँ भी कहीं कषाय भाव का मिश्रण हुआ कि फिर दोष लगे बिना नहीं रह सकता। दिन और रात मन की गति धर्म की ओर ही अभिमुख रहे, जरा भी इधर-उधर न झुके, यह व्यर्थ का दावा है, जो प्रमादी दशा में किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं हो सकता। परन्तु तुष्यतु दुर्जनन्याय से यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय, तब भी प्रतिक्रमण की साधना तीसरी औषधि के समान है। वह केवल पुराने दोषों को दूर करने के लिए ही नहीं है, अपितु भविष्य में दोषों की सम्भावना को कम करने के लिए भी है। प्रतिक्रमण करते समय जो भावविशुद्धि होगी, वह साधक के संयम को शक्तिशाली एवं तेजस्वी बनाएगी। पापाचरण के प्रति विरक्ति व्यक्त करना ही प्रतिक्रमण का उद्देश्य है। पाप किया हो, या न किया हो, साधक के लिए यह प्रश्न मुख्य नहीं है। साधक के लिए तो सब से बड़ा प्रश्न यही हल करना है कि वह पाप के प्रनि घृणा व्यक्त कर सकता है या नहीं ? यदि घृणा व्यक्त कर सकता है तो वह अपने-आप में स्वयं एक बड़ी साधना है। पापों को धिक्कारना ही पापों को समाप्त करना है। यह लोक-नियम है कि जिसके प्रति जितनी घृणा होगी, उससे उतनी ही दृढ़ता से अलग रहा जायगा, एक दिन उसका सर्वनाश कर दिया जायगा। प्रतिदिन के प्रतिक्रमण में जब हम पापों के प्रति घृणा व्यक्त करेंगे, उन्हें परभाव मानेंगे, उन्हें अपना विरोधी मानेंगे, आत्मस्वरूप के घातक समझेंगे तो फिर उनका जीवन में कभी भी सत्कार न करेंगे। सदैव उनसे दूर रह कर अपने को बचाए रखने का सतत प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार प्रतिदिन का प्रतिक्रमण केवल भूतकाल के दोषों को ही साफ नहीं करता है, अपितु भविष्य में भी साधक को पापों से बचाता है।

दूसरी बात यह है कि प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते रहने से साधक में अप्रमत्त

भाव की स्फूर्ति बनी रहती है। प्रतिक्रमण के समय पवित्र भावना का प्रकाश मन के कोने-कोने पर जगमगाने लगता है, और समभाव का अमृत-प्रवाह अन्तर के मल को बहाकर साफ कर देता है। पाप हुए हों या न हुए हों, परन्तु प्रतिक्रमण के समय सामायिक, चतुर्विशतिस्तव, वन्दन, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान की साधना तो हो ही जाती है। और यह साधना भी बड़ी महत्वपूर्ण है। छह अंश में से पाँच अंश की उपेक्षा किस न्याय पर की जा सकती है? अतएव अधिक चर्चा में न उतर कर हम आचार्य हरिभद्र एवं जिनदास के शब्दों में यही कहना चाहते हैं कि प्रतिक्रमण तीसरी औषधि है। पूर्व पाप होंगे तो वे दूर होंगे, और यदि पूर्व पाप न हों, तो भी संयम की साधना के लिए बल मिलेगा, स्फूर्ति मिलेगी। की हुई साधना किसी भी अंश में निष्फल नहीं होती।

२५ प्रतिक्रमण : मिच्छा मि दुक्कडं

'मिच्छा मि दुक्कडं' जैन संस्कृति की बहुत महत्त्वपूर्ण देन है। जैन धर्म का समस्त साधनासाहित्य मिच्छामि दुक्कडं से भरा हुआ है। साधक अपनी भूल के लिए मिच्छामि दुक्कडं देता है और पाप-मल को धोकर पवित्र बन जाता है। भूल हो जाने के बाद, यदि साधक मिच्छामि दुक्कडं दे लेता है, तो वह आराधक कहा जाता है। और यदि अभिमानवश अपनी भूल नहीं स्वीकार करता एवं मिच्छा मि दुक्कडं नहीं कहता, तो वह धर्म का विराधक रहता है, आराधक नहीं।

मन में किसी के प्रति द्वेष आए तो मिच्छामि दुक्कडं कहना चाहिए। लोभ या छल की दुर्भावना आए तो मिच्छामि दुक्कडं कहना चाहिए। विचार में कालिमा हो, वाणी में मलिनता हो, आचरण में कलुषता हो, अर्थात् खाने में, पीने में, जाने में, आने में, उठने में, बैठने में, सोने में, बोलने में, सोचने में, कहीं भी कोई भूल हो तो जैनधर्म का साधक मिच्छामि दुक्कडं का आश्रय लेता है। उसके यहाँ **'मिच्छामि दुक्कडं'** कहना, प्रतिक्रमण-रूप[1] प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त साधना को पवित्र, निर्मल, स्वच्छ तथा शुद्ध बनाता है।

पाठक विचार करते होंगे कि क्या मिच्छामि दुक्कडं कहने से ही सब पाप धुल जाते हैं? यह क्या कोई छूमंतर है? जो मिच्छामि दुक्कडं कहा और सब पाप हवा हो गए। समाधान है कि केवल कथन मात्र से ही पाप दूर हो जाते हों, यह बात नहीं है। शब्द में स्वयं कोई पवित्र अथवा अपवित्र करने की शक्ति नहीं है। वह जड़ है, क्या किसी को पवित्र बनाएगा। परन्तु शब्द के पीछे रहा हुआ मनका भाव ही सबसे बड़ी शक्ति है। वाणी को मन का प्रतीक माना गया है। अतः 'मिच्छामि दुक्कडं' महावाक्य के पीछे जो आन्तरिक पश्चात्ताप का भाव रहा हुआ होता है, उसी में शक्ति है और वह बहुत बड़ी शक्ति है। पश्चात्ताप का दिव्य निर्भर आत्मा पर लगे पाप मल को बहाकर साफ कर देता है। यदि साधक परम्परागत निष्प्राण रूढ़ि के फेर में न पड़कर, सच्चे मन से पापाचार के प्रति घृणा व्यक्त करे, पश्चात्ताप करे, तो वह

---

[1] **'मिथ्यादुष्कृताभिधानाद्यभिव्यक्तिप्रतिक्रिया, प्रतिक्रमणम्'**

—राजवार्तिक ९ । २२ । ३ ।

पाप कालिमा को सहज ही धोकर साफ कर सकता है। आखिर अपराध के लिए दिया जाने वाला तपश्चरण या अन्य किसी तरह का दण्ड भी तो मूल में पश्चात्ताप ही है। यदि मन में पश्चात्ताप न हो, और कठोर से कठोर प्रायश्चित्त बाहर में ग्रहण कर भी लिया जाय, तो क्या आत्मशुद्धि हो सकती है? हर्गिज नहीं। दण्ड का उद्देश्य देह दण्ड नहीं है, अपितु मनका दण्ड है। और मन का दण्ड क्या है, अपनी भूल स्वीकार कर लेना, पश्चात्ताप कर लेना। यही कारण है कि जैन या अन्य भारतीय साहित्य में साधना के क्षेत्र में पाप के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है, दण्ड का नहीं। दण्ड प्रायः बाहर अटक कर रह जाता है, अन्तरंग में प्रवेश नहीं कर पाता, पश्चात्ताप का झरना नहीं बहाता। दण्ड में दण्डदाता की ओर से बलात्कार की प्रधानता होती है। और प्रायश्चित्त साधक की स्वयं अपनी तैयारी है। वह अन्तर्हृदय में अपने स्वयं के पाप को शोधन करने के लिए उल्लास है। अतः वह अपराधी को पश्चात्ताप के द्वारा भावुक बनाता है, विनीत बनाता है, सरल एवं निष्कपट बनाता है, दण्ड पाने वाले के समान धृष्ट नहीं। हाँ, तो मिच्छामि दुक्कडं भी एक प्रायश्चित्त है। इसके मूल में पश्चात्ताप की भावना है, यदि वह सच्चे मनसे हो तो?

ऊपर के लेखन में बार-बार सच्चे मन और पश्चात्ताप की भावना का उल्लेख किया गया है। उसका कारण यह है कि आजकल जैनों का 'मिच्छामि दुक्कडं' काफी बदनाम हो चुका है। आज के साधकों की साधना के लिए, आत्म-शुद्धि के लिए तैयारी तो होती नहीं है। प्रति-क्रमण का मूल आशय समझा तो जाता नहीं है। अथवा समझकर भी नैतिक दुर्बलता के कारण उस विकाश तक नहीं पहुँचा जाता है। अतः वह लोक-रूढ़ि के कारण प्रतिक्रमण तो करता है, मिच्छामि दुक्कडं भी देता है, परन्तु फिर उसी पाप को करता रहता है, उससे निवृत्त नहीं होता है। पाप करना, और मिच्छामि दुक्कडं देना, फिर पाप करना और फिर मिच्छामि दुक्कडं देना, यह सिलसिला जीवन के अन्त तक चलता रहता है, परन्तु इससे आत्म शुद्धि के पथपर जरा भी प्रगति नहीं हो पाती।

जैन-धर्म इस प्रकार की बाह्य-साधना को द्रव्य-साधना कहता है। वह केवल वाणी से 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना, और फिर उस पाप को करते रहना, ठीक नहीं समझता है। मन के मैल को साफ किए बिना और पुनः उस पाप को नहीं करने का दृढ़ निश्चय किए बिना, खाली ऊपर-ऊपर से 'मिच्छामि दुक्कडं' कहने का कुछ अर्थ नहीं है। एक ओर दूसरों का दिल दुखाने का काम करते रहें, हिंसा करते रहें, झूठ बोलते रहें, अन्याय अत्याचार करते रहें, और दूसरी ओर मिच्छामि दुक्कडं की रट लगाते रहें, तो यह साधना का मज़ाक नहीं तो और क्या है? यह माया है, साधना नहीं। इस प्रकार की 'मिच्छामि दुक्कडं' पर जैन-धर्म ने कठोर आलोचना की है। इसके लिए आवश्यक चूर्णि में आचार्य जिनदास कुम्हार के पात्र फोड़ने वाले शिष्य का उदाहरण देते हैं।

एक बार एक आचार्य किसी गाँव में पहुँचे और कुम्हार के पड़ौस में ठहरे। आचार्य का एक छोटा शिष्य बड़ी चंचल प्रकृति का खिलाड़ी व्यक्ति था। कुम्हार ज्योंही चाक पर से पात्र उतार कर भूमि पर रक्खे, और वह शिष्य कंकर का निसाना मार कर उसे तोड़ दे। कुम्हार ने शिकायत की तो मिच्छामि दुक्कडं कहने लगा। परन्तु वह रुका नहीं, बार-बार मिच्छामि दुक्कडं देता रहा, और पात्र तोड़ता रहा। आखिर कुम्हार को आवेश आ गया, उसने कंकर उठाकर क्षुल्लक के कान पर रख ज्योंही जोर से दबाया तो वह पीड़ा से तिलमिला उठा। उसने कहा, अरे यह क्या कर रहा है ? कुम्हार ने कहा—'मिच्छामि दुक्कडं।' दबाता जाता और मिच्छामि दुक्कड़ं कहता जाता, अन्ततः क्षुल्लक को अपने मिच्छामि दुक्कड़ं की भूल स्वीकार करनी पड़ी।

जब तक पश्चात्ताप न हो, तब तक केवल वाणी की 'मिच्छामि दुक्कड़ं' कुम्हार की मिच्छामि दुक्कड़ं है। यह मिच्छामि दुक्कड़ आत्मा को शुद्ध तो क्या, प्रत्युत और अधिक अशुद्ध बना देती है। यह मार्ग पाप के प्रतिकार का नहीं, अपितु पाप के प्रचार का है। देखिए, आचार्य भद्रबाहु, इस सम्बन्ध में, आवश्यक-निर्युक्ति में क्या कहते हैं :—

जइ य पडिक्कमियव्वं,
अवस्स काऊण पावयं कम्मं।
तं चेव न कायव्वं,
तो होइ पए पडिक्कंतो ॥६८३॥

—पाप कर्म करने के पश्चात् जब प्रतिक्रमण अवश्य करणीय है, तब सरल मार्ग तो यह है कि वह पाप कर्म किया ही न जाय। आध्यात्मिक दृष्टि से वस्तुतः यही सच्चा प्रतिक्रमण है।

जं दुक्कडं ति मिच्छा,
तं भुज्जो कारणं अपूरेंतो।
तिविहेण पडिक्कंतो,
तस्स खलु दुक्कडं मिच्छा ॥६८४॥

—जो साधक त्रिविध योग से प्रतिक्रमण करता है, जिस पाप के लिए मिच्छामि दुक्कड़ं दे देता है फिर भविष्य में उस पाप को नहीं करता है, वस्तुतः उसी का दुष्कृत मिथ्या अर्थात् निष्फल होता है।

जं दुक्कड़ं ति मिच्छा,
तं चेव निसेवए पुणो पावं।
पच्चक्ख - मुस्सावाई,
मायानियडी - पसंगो य ॥६८५॥

—साधक एक बार मिच्छामि दुक्कड़ं देकर भी यदि फिर उस पापा-

चरण का सेवन करता है तो वह प्रत्यक्षतः झूठ बोलता है, दम्भ का जाल बुनता है।

आचार्य धर्मदास तो उपदेश माला में इस प्रकार के धर्मध्वजी एवं बकवृत्ति लोगों के लिए बड़ी ही कठोर भर्त्सना करता है, उन्हें मिथ्यादृष्टि कहता है।

जो जहवायं न कुणइ,
मिच्छादिट्ठी तउ हु को अन्नो ?
बुड्ढेइ य मिच्छत्तं,
परस्स संकं जणेमाणो ।।५०६।।

—जो व्यक्ति जैसा बोलता है, यदि भविष्य में वैसा करता नहीं है तो उससे बढ़कर मिथ्या दृष्टि और कौन होगा ? वह दूसरे भद्र लोगों के मन में शंका पैदा करता है और इस रूप में मिथ्यात्व की वृद्धि ही करता है।

आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी, आवश्यक निर्युक्ति में, 'मिच्छा मि दुक्कडं' के एक-एक अक्षर का अर्थ ही इस रूप में करते हैं कि यदि साधक मिच्छा मि दुक्कड़ं कहता हुआ उस पर विचार कर ले तो फिर पापाचरण करे ही नहीं।

'मि' त्ति मिउमद्दवत्ते
'छ' त्ति य दोसाण छायणे होइ।
'मि' त्ति य मेराए ठिओ,
'दु' त्ति दुगुंछामि अप्पाणं ।।६८६।।
'क' त्ति कडं मे पावं,
'ड' त्ति य डेवेमि तं उवसमेणं।
एसो मिच्छा दुक्कड़,—
पयक्खरत्थो समासेणं ।।६८७।।

—'मि' का अर्थ मृदुता और मार्दवता है। काय-नम्रता को मृदुता कहते हैं और भावनम्रता को मार्दवता। 'छ' का अर्थ असंयमयोग-रूप दोषों को छादन करना है, अर्थात् रोक देना है। 'मि' का अर्थ मर्यादा है, अर्थात् मैं चारित्ररूप मर्यादा में स्थित हूँ। 'दु' का अर्थ निन्दा है। मैं दुष्कृत करने वाले भूतपूर्व आत्मपर्याय की निन्दा

---

[1] जैनजगत के महान् दार्शनिक वाचक यशोविजय भी अपनी गुर्जर भाषा में इसी भावना को व्यक्त कर रहे हैं—

'मूल पदे पडिकमणू भाख्यूं, पापतणुं अणकरवूं।
मिच्छा दुक्कड़ देई पातक,
ते भावे जे सेवेरे।
आवश्यक साखे ते परगट,
माया मोसो सेवेरे ।।'

करता हूँ। 'क' का भाव पापकर्म की स्वीकृति है, अर्थात् मैंने पाप किया है, इस रूप में अपने पापों को स्वीकार करना। 'ड' का अर्थ उपशम भाव के द्वारा पाप कर्म का प्रतिक्रमण करना है, पाप क्षेत्र को लाँघ जाना है। यह संक्षेप में मिच्छामि दुक्कड़ं पद का अक्षरार्थ है।

हाँ तो संयम यात्रा के पथ पर प्रगति करते हुए यदि कहीं साधक से भूल हो जाय, तो सर्वप्रथम उसके लिए अच्छे मन से पश्चात्ताप होना चाहिए, फिर से उस भूल की आवृत्ति न होने देने के लिए सतत सक्रिय प्रयत्न भी चालू हो जाना चाहिए। मन का साफ होना अत्यन्त आवश्यक है। दिल में घुन्डी रखकर कुछ भी सफलता नहीं मिल सकती। इस प्रकार पश्चात्ताप के उज्ज्वल प्रकाश में यदि मन, वाणी और कर्म से मिच्छामि दुक्कड़ं दिया जाय तो वह कदापि निष्फल नहीं हो सकता। वह पाप की कालिमा को धोएगा, और अवश्य धोएगा।

२६ | मुद्रा

साधक के लिए आवश्यक आदि क्रिया करते समय जहाँ अन्तरंग में मन की एकाग्रता अपेक्षित है, वहाँ बाहर में शरीर की एकाग्रता भी कम महत्त्व की नहीं है। वह द्रव्य अवश्य है, परन्तु भाव के लिए अत्यन्त अपेक्षित है। सैनिक में जहाँ वीरता का गुण अपेक्षित है, वहाँ बाहर के व्यायाम और कवायद क्या कुछ कम मूल्य रखते हैं ? नहीं, वे शरीर को सुदृढ़, स्फूर्तिमान, और विरोधी आक्रमण से बचने के योग्य बनाते हैं। यही कारण है कि भारतीय धर्मों में आध्यात्मिक क्षेत्र में भी आसन और मुद्रा आदि का बहुत बड़ा महत्त्व माना गया है।

शरीर के अव्यवस्थित रूप में रहने वाले अवयवों को अमुक विशेष आकृति में व्यवस्थित करना, सामान्य रूप से मुद्रा कहा जाता है। मुद्रा, साधक में नवचेतना पैदा करती है और भावना का उल्लास जगा देती है। ज्यों ही किसी विशेष मुद्रा के करने का प्रसंग आता है, त्यों ही साधक जागृत हो जाता है और उसका भूला भटका मन सहसा केन्द्र में आ खड़ा होता है। मन्द और क्षीण हुई धर्म चेतना, मुद्रा का प्रसंग पा कर पुनः उद्दीप्त हो उठती है; फलतः साधक नई स्फूर्ति के साथ साधना के पथपर अग्रसर हो जाता है।[1]

जैन साहित्य में इस प्रकार की तीन मुद्राएँ मानी गई हैं—(१) योग मुद्रा, (२) जिन मुद्रा, और (३) मुक्ताशुक्ति मुद्रा।

एक हाथ की अंगुलियों को दूसरे हाथ की अंगुलियों में डालकर कमल-डोडा के आकार से हाथ जोड़ना, दोनों हाथों के अंगूठों को मुख के आगे नासिका पर लगाना, और दोनों हाथों की कुहनियों को पेट पर रखना, योग-मुद्रा है। यह मुद्रा घुटने टेक कर, अथवा गोदुह आसन से उकडू बैठकर की जाती है।

जिनेश्वर देव जब कायोत्सर्ग करते हैं तब दोनों चरणों के बीच आगे के भाग

---

[1] मुद्रा के लिए आचार्य नेमिचन्द्र प्रवचनसारोद्धार में कहते हैं कि मुद्रा से अशुभ मन, वचन, काय योग का निरोध होता है और उनकी शुभ में प्रवृत्ति होती है। 'कायमणोवयणनिरोहणं य तिविहं च पणिहाणं।' १-७१। 'कायमनोवचनानाम-कुशलरूपाणां निरोधनं—नियंत्रण, शुभानां च तेषां करणमिति।

में चार अंगुल जितना और पीछे के भाग में एडी की ओर चार अंगुल से कुछ कम साढ़े तीन अंगुल जितना अंतर रखते हैं। और उक्त दशा में दाहिना हाथ दाहिनी जंघा के पास एवं बाँया हाथ बांई जंघा के पास लटकता रहता है। दोनों हाथों की हथेलियाँ आगे की ओर चित्त खुली हुई होती हैं। यह जिनमुद्रा है। यह मुद्रा दण्डायमान सीधे खड़े होकर की जाती है।

तीसरी मुक्ताशुक्ति मुद्रा का यह प्रकार है कि कमल डोडा के समान दोनों हाथों को बीच में पोल रख कर जोड़ना और मस्तक पर लगाना, अथवा मस्तक से कुछ दूर रखना। मुक्ता का अर्थ है मोती, और शुक्ति का अर्थ है सीप। अस्तु मुक्ताशुक्ति के समान मिली हुई मुद्रा, मुक्ताशुक्ति मुद्रा कहलाती है। यह मुद्रा भी घुटनों को भूमि पर टेक कर, अथवा गो-दुह आसन से उकडू बैठकर की ज़ाती है।

अन्नोऽन्नंतर अंगुलि,
कोसागारेहिं दोहिं हत्थेहिं।
पेट्टोपरि कुप्पर-संठिएहिं,
तह जोग-मुद्दत्ति ॥७४॥
चत्तारि अंगुलाइं,
पुरओ जत्थ पच्छिमओ।
पायाणं उस्सग्गो,
एसा पुण होइ जिणमुद्दा ॥७५॥
मुत्तासुत्ती मुद्दा,
समा जहिं दोवि गब्भिया हत्था।
ते पुण निलाड - देसे,
लग्गा अण्णे अलग्गत्ति ॥७६॥

—प्रवचन सारोद्धार ; १ द्वार।

चतुर्विशतिस्तव आदि स्तुति-पाठ प्रायः योग-मुद्रा से किए जाते हैं। वन्दन करने की क्रिया में एवं कायोत्सर्ग में जिन मुद्रा का प्रयोग होता है। वन्दन के लिए मुक्ताशुक्ति मुद्रा का भी विधान है। इस सम्बन्ध में मैं इस समय अधिक लिखने की स्थिति में नहीं हूँ। विद्वानों से विचार विमर्श करने के बाद ही इस दिशा में कुछ अधिक लिखना उपयुक्त होगा।

●

२७ प्रतिक्रमण पर जन-चिंतन

पापाचरण एक शल्य है, जो उसे बाहर न निकाल कर मन में ही छिपाए रहता है, वह अन्दर ही अन्दर पीड़ित रहता है, बर्बाद होता है।

× × ×

प्रतिक्रमण संयम के छेदों को बन्द करने के लिए है। प्रतिक्रमण से आश्रव रुकता है, संयम में सावधानता होती है, फलतः चारित्र की विशुद्धि होती है।

× × ×

सरलहृदय निष्कपट साधक ही शुद्ध हो सकता है। शुद्ध मनुष्य के अन्तःकरण में ही धर्म ठहर सकता है। शुद्ध हृदय साधक, घी से सिंचित अग्नि की तरह शुद्ध होकर परम निर्वाण अर्थात् उत्कृष्ट शान्ति को प्राप्त होता है।

× × ×

आत्म-दोषों की आलोचना करने से पश्चात्ताप की भट्टी सुलगती है। और उस पश्चात्ताप की भट्टी में सब दोषों को जलाने के बाद साधक परम वीतराग भाव को प्राप्त करता है।

—भगवान् महावीर

तू अपने किए पापों से अपने को ही मलिन बना रहा है। पाप छोड़ दे तो स्वयं ही शुद्ध हो जायगा। शुद्धि और अशुद्धि अपने ही हैं। अन्य मनुष्य अन्य मनुष्य को शुद्ध नहीं कर सकता।

× × ×

यदि शल्य से मनुष्य बिंधा हुआ है तो वह भाग-दौड़ मचायगा ही। पर यदि वह अन्तर में बिंधा हुआ वाण खींच कर निकाल लिया जाय, तो वह शान्ति से चुप बैठ जायगा।

× × ×

जो मनुष्य समस्त पापों को हृदय से निकाल बाहर कर देता है, जो विमल, समाहित, और स्थितात्मा होकर संसार-सागर को लाँघ जाता है, उसे ब्राह्मण कहते हैं।

—तथागत बुद्ध

जो मनुष्य जितना ही अन्तर्मुख होगा, और जितनी ही उसकी वृत्ति सात्विक व निर्मल होगी, उतनी ही दूर की वह सोच सकेगा और उतने ही दूर के परिणाम वह देख सकेगा।

× × ×

कर्म दूषित हो गया हो तो ज्यादा घबराने की बात नहीं, वृत्ति दूषित न होने दो। वृत्ति को दूषित होने से बचाने का उपाय है मन को भी दोषों से बचाने का प्रयत्न करना।

× × ×

पाप को पेट में मत रख, उगल दे। जहर तो पेट में रख लेने से शरीर को ही मारता है, किन्तु पाप तो सारे सत्य को ही मिटा देता है।

× × ×

जहाँ गुप्तता है वहाँ कोई बुराई अवश्य है। बुराई को छिपाना, बुराई को बढ़ाना है।

× × ×

विकार, चोरों की तरह, गाफिल मनुष्य के घर में ही सेंध लगाते हैं। जागरूकता उनके हमले से बचाव की सबसे बड़ी ढाल है।

× × ×

जिस प्रकार जहाज का कप्तान अपनी नोट बुक में यात्रा तथा जहाज सम्बन्धी बातें लिखता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को निष्पक्ष भाव से प्रतिदिन अपने दैनिक कार्य-क्रम के बारे में लिखना चाहिए और अगले दिन उसे सोचना चाहिए कि उसके काम में जो त्रुटियाँ और दोष रह गए हैं, उनके दूर करने में वह कहाँ तक सफल हुआ?

+ + +

पाप विनाश की वंशी है, जिसके काँटे का ज्ञान मछली को लीलते समय नहीं, बल्कि मरते समय होता है।

× × ×

पतन में परिणाम का अज्ञान होता है। भावावेश में जो कुछ होता है, वह मूर्छित दशा में होता है, और मूर्छा उतर जाने पर हुआ पश्चात्ताप उसे शुद्ध करके आगे बढ़ाता है।

× × ×

यदि तूने अपनी कोई गलती महसूस की है तो तू अपनी तरफ से उसे फौरन पोंछ डाल। दूसरे की गलती या अन्याय को उसके इन्साफ पर छोड़ दे।

× × ×

गुप्तता का दूसरा पहलू है असंयम । जितना ही अधिक संयम, उतना ही अधिक खुली पुस्तक का-सा जीवन ।

× × ×

जब तुम अपने को पढ़ने लगोगे तो देखोगे कि कैसे-कैसे विस्मय-जनक पृष्ठ व दृश्य सामने आते हैं ।

अपने को पहचानने के लिए मनुष्य को अपने से बाहर निकल कर तटस्थ बनकर अपने को देखना है ।

× × ×

यह कितनी ग़लत बात है कि हम मैले रहें और दूसरों को साफ रहने की सलाह दें !

× × ×

मनुष्य जीवन और पशुजीवन में फरक क्या है ? इसका सम्पूर्ण-विचार करने से हमारी काफी मुसीबतें हल होती हैं ।

× × ×

मनुष्य जब अपनी हद से बाहर जाता है, हद से बाहर काम करता है, हद से बाहर विचार भी करता है, तब उसे व्याधि हो सकती है, क्रोध आ सकता है ।

× × ×

हमारी गन्दगी हमने जब तक बाहर नहीं निकाली है, तब तक प्रभु की प्रार्थना करने का हमें कुछ हक है क्या ?

× × ×

गुनाह छिपा नहीं रहता । वह मनुष्य के मुख पर लिखा रहता है । उस शास्त्र को हम पूरे तौर से नहीं जानते, लेकिन बात साफ है ।

× × ×

ग़लती, तब ग़लती मिटती है जब उसकी दुरस्ती कर लेते हैं । ग़लती जब दबा देते हैं, तब वह फोड़े की तरह फूटती है और भयंकर स्वरूप ले लेती है ।

× × ×

आत्मा को पहचानने से, उसका ध्यान करने से और उसके गुणों का अनुसरण करने से मनुष्य ऊँचे जाता है । उलटा करने से नीचे जाता है ।

× × ×

अन्धा वह नहीं जिसकी आँख फूट गई है । अन्धा वह है जो अपने दोष ढाँकता है !

× × ×

क्यों नाहक दूसरों के ऐब ढूँढने चलते हो ? माना कि सभी पापी हैं, सभी अन्धे हैं, सभी गुनहगार हैं ।लेकिन, तुम दूसरों को क्या उपदेश दे रहे हो ? जरा अपने भीतर तो झाँक कर देखो कि वहाँ सुधार की कोई गुंजाइश है या नहीं ? अगर है तो फिर तुम्हारे सामने काफी जरूरी काम मौजूद है । सबसे पहले इसी पर ध्यान दो । सबसे पहले अपना सुधार करो । और जब तक तुम खुद मैले हो, तब तक तुम्हें दूसरों को उपदेश देने का क्या अधिकार है ?

× × ×

पर छिद्रान्वेषण की अपेक्षा आत्म-निरीक्षण मानवता है ।

किसी के अपराध को भूलना और क्षमा कर देना मानवता है ।

बदला लेना नहीं, देना मानवता है । **—महात्मा गाँधी**

प्रत्येक व्यक्ति को बुराई से संघर्ष करने के लिए अपनी शक्ति पर विश्वास होना चाहिए ।

× × ×

मुझमें और कितने ही दुर्गुण हो सकते हैं, परन्तु एक दुर्गुण नहीं है कि 'छिप कर परदे के पीछे कुछ करना' ।

× × ×

हमें अपने आपको लोगों में वैसा ही जाहिर करना चाहिए, जैसे कि हम वास्तव में हों । कोरी नुमाइश करना ठीक नहीं है ।

—जवाहरलाल नेहरू

अपनी मर्यादा को ठीक कायम रखने से ही हम अपने अन्दर के भगवान् का साक्षात्कार कर सकते हैं ।

—पट्टाभिसीतारमैय्या

हमारे लिए धर्म हमेशा से ही कट्टर मतों का पिटारा नहीं, बल्कि आत्मा की खोज का शास्त्र रहा है ।

—राजगोपालाचार्य

धर्म-जीवन की साधना करते हुए अपने आपसे पूछो कि कहीं तुमने ऐसा काम तो नहीं किया है, जो घृणा का हो, द्वेष का हो, अथवा शत्रुता की भावना को बढ़ाने वाला हो । इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर मिले तो समझना चाहिये कि प्रार्थना का, धर्माचरण का आप पर कोई असर जरूर हो रहा है, अथवा हुआ है ।

—सन्त तुड़को जी

मन का सभी मैल धुल जाने पर ईश्वर का दर्शन होता है । मन मानो मिट्टी से लिपटी हुई एक लोहे की सुई है, ईश्वर है चुम्बक । मिट्टी के रहते चुम्बक के साथ संयोग नहीं होता । रोते-रोते (शुद्ध हृदय से पश्चात्ताप करते) सुई की मिट्टी धुल जाती

है। सुई की मिट्टी यानी काम, क्रोध, लोभ, पाप-बुद्धि, विषयबुद्धि आदि। मिट्टी के धुल जाने पर सुई को चुम्बक खींच लेगा, अर्थात् ईश्वर-दर्शन होगा।

× × ×

घर में यदि दीपक न जले तो वह दरिद्रता का चिन्ह है। हृदय में ज्ञान का दीपक जलाना चाहिए। हृदय में ज्ञान का दीपक जलाकर उसको देखो।

—श्रीरामकृष्ण परमहंस

मेरी समझ में, हम लोगों को ऐसा होना चाहिए कि यदि सब कोई वैसे हों तो यह पृथ्वी स्वर्ग बन जाय। —ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

जिनका हृदय शुद्ध है वे धन्य हैं, क्योंकि उन्हें परमात्मा की प्राप्ति अवश्य ही होगी। अतएव यदि तुम शुद्ध नहीं हो तो फिर चाहे दुनिया का सारा विज्ञान तुम्हें अवगत हो, परन्तु फिर भी उसका कुछ उपयोग न होगा!

× × ×

अगर शुद्ध हृदय और बुद्धि में झगड़ा पड़े तो तुम अपने शुद्ध हृदय ही की सुनो।.....................शुद्ध हृदय ही सत्य के प्रतिबिम्ब के लिए सर्वोत्तम दर्पण है।

× × ×

हृदय को सर्वदा अधिकाधिक पवित्र बनाओ, क्योंकि भगवान् के कार्य हृदय द्वारा ही होते हैं।................अगर तुम्हारा हृदय काफी शुद्ध होगा तो दुनिया के सारे सत्य उसमें आविर्भूत हो जायँगे।

× × ×

हम दुर्बल हैं—इस कारण गलती करते हैं और हम अज्ञानी हैं, इसलिए दुर्बल हैं। हमें अज्ञानी कौन बनाता है? हम स्वयं ही। हम अपनी आँखों को अपने हाथों से ढँक लेते हैं और अँधेरा है—कहकर रोते हैं। —स्वामी विवेकानन्द

धर्म का सार तत्त्व है, अपने ऊपर से परदे का हटाना अर्थात् अपने आपका रहस्य जानना।

× × ×

अपने प्रति सच्चे बनिए, और संसार की अन्य किसी बात की ओर ध्यान न दीजिए।

× × ×

संसार में व्यथा का प्रधान कारण यह है कि हम लोग अपने भीतर नहीं देखते।

× × ×

अपने आपको दूसरों की आँखों से मत देखो। वरन् सदा अपने अन्दर देखो।

× × ×

सर्वोत्तम आलोचना वह है, जो बाहर से अनुभव कराने के बदले लोगों को वही अनुभव भीतर से करा देती है।

× × ×

आत्मा से बाहर मत भटको, अपने ही केन्द्र में स्थित रहो।

—स्वामी रामतीर्थ

यदि एक तरफ से या अपने एक अंग से तुम सत्य के सम्मुख होते हो और दूसरी तरफ से आसुरी शक्तियों के लिए अपने द्वार बराबर खोलते जा रहे हो तो यह आशा करना व्यर्थ है कि भगवत्प्रसाद शक्ति तुम्हारा साथ देगी। तुम्हें अपना मन्दिर स्वच्छ रखना होगा, यदि तुम चाहते हो कि भागवती शक्ति जागृत रूप से इसमें प्रतिष्ठित हो।

× × ×

पहले यह ढूँढ़ निकालो कि तुम्हारे अन्दर कौन-सी चीज है, जो मिथ्या या तमोग्रस्त है और उसका सतत त्याग करो।

× × ×

यह मत समझो कि सत्य और मिथ्या, प्रकाश और अन्धकार, समर्पण और स्वार्थ-साधन एक साथ उस घर में रहने दिए जायँगे, जो गृह भगवान् को निवेदित किया गया हो।

—श्री अरविन्द योगी

चित्त जब तक गंगा जल की तरह निर्मल व प्रशान्त नहीं हो जाता, तब-तक निष्कामता नहीं आ सकती।……अन्तर्बाह्य—भीतर व बाहर दोनों एक होना चाहिए।

× × ×

विस्मृति कोई बड़ा दोष है, ऐसा किसी को मालूम ही नहीं होता…… परन्तु विस्मृति परमार्थ के लिए नाशक हो जाती है। व्यवहार में भी विस्मृति से हानि ही होती है, इसीलिए भगवान् बुद्ध कहते हैं—'पमादो मच्चुणो पदं।' अर्थात् प्रमाद—विस्मरण—मानो मृत्यु ही है। एक-एक क्षण का हिसाब रखिए तो फिर प्रमाद को घुसने की जगह ही नहीं रहेगी। इस रीति से सारे तमोगुण को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए।

—आचार्य विनोबा भावे

कुछ लोग दूसरों के दोषों की ओर ही नजर फेंकते रहते हैं, लेकिन उन्हें अपने दोष देखने की फुर्सत ही नहीं मिलती। हमें अक्सर अपने मित्रों की बुराइयों को

कहने और सुनने का जरूरत से ज्यादा शौक होता है। अपनी ओर देखना बहुत कम लोग जानते हैं।

\+ + +

दूसरों को बुरा बताने से हम खुद बुरे बन जाते हैं, क्योंकि हम अपने दोषों को दूर करने के बजाय उन्हें भूलने का प्रयत्न करते हैं।

\+ + +

सुख और शान्ति का झरना हमारे अन्दर ही है। अगर हम अपने मन और हृदय को पवित्र कर सकें तो फिर तीर्थों में भटकने की ज़रूरत नहीं रहेगी।

—श्रीमन्ननारायण

आजकल हम लोगों को अपने बद्ध आत्मा की मुक्ति की उतनी चिन्ता नहीं है, जितनी कि जगत के सुधार की।

\+ + +

हमारी सभ्यता और उसके मूल तत्वों का अच्छी तरह से विश्लेषण और बिना किसी सोच-संकोच के आलोचन हो जाना, आगे होने वाले सुधार के लिए अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि सचाई के साथ अपनी भूल को स्वीकार करना, सब प्रकार के

—डा० एस० राधाकृष्णन्

सुधार का मूलारंभ है।

जीवन में असफल होने वालों की समाधि पर असावधानी और लापरवाही

—स्वेट मार्डेन

आदि शब्द लिखे जाते हैं।

—बर्क

पानी जैसी चंचलता से मनुष्य ऊँचा नहीं उठ सकता।

जो व्यक्ति अपने हृदय में दुर्गुणों पर इतना विजयी हो गया है कि दुर्गुणों के प्रकार और उनके उद्गम को जान सके तो वह किसी भी प्राणी से घृणा नहीं करेगा, किसी भी प्राणी का तिरस्कार नहीं करेगा। .....

\+ + +

शान्ति उसे ही प्राप्त होती है, जो अपने ऊपर विजय प्राप्त करता है, जो प्रतिदिन अधिकाधिक आत्मसंयम और मस्तिष्क को अपने अधिकार में रखने का शान्तिपूर्वक उद्योग करता है।

\+ + +

मनुष्य बुरे स्वभाव, घृणा, स्वार्थ, तथा अश्लील और गर्हित विनोदों के द्वारा अपना संहार करता है और फिर जीवन को दोष देता है। उसे स्वयं अपने आपको दोष देना चाहिए।

\+ + +

आप जैसा चाहें वैसा अपना जीवन बना सकते हैं, यदि आप दृढ़ता के साथ अपनी भीतरी वृत्तियों को ठीक करें।

—जेम्स एलन

पश्चात्ताप के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य पिछले पापों पर सच्चे मन से लज्जित हो, और फिर कभी पाप करने का प्रयत्न न करे। —संत अबूबकर

जब तक कोई कड़ाई के साथ अपनी परख न करेगा, तब तक वह अपने मन की धूर्तताओं को न समझ सकेगा। —कनफ्यूशियस

सोने से पहले तीन चीजों का हिसाब अवश्य कर लेना चाहिए। पहली बात यह सोचो कि आज के दिन मुझ से कोई पाप तो नहीं हुआ है। दूसरी बात यह सोचो कि आज कोई उत्तम कार्य किया है या नहीं? तीसरी बात यह सोचो कि कोई करने योग्य काम मुझ से छूट गया है या नहीं? —अफलातून

यदि हम यह कहते हैं कि हम में कोई पाप नहीं है तो हम अपने को धोखा देते हैं और सत्य से हाथ धोते हैं। —जान

मिटा दे अपनी ग़फ़लत फिर जगा अरबाब ग़फ़लत को,
उन्हें सोने दे पहले ख़्वाब से बेदार तू होजा।

—सीमाब अकबराबादी

यदि जग में है ईश्वरता,
तो है मनुष्यता में ही।
है धर्म-तत्व अन्तर्हित,
मन की पवित्रता में ही॥

× × ×

शठता प्रकट जिससे अपनी सदैव हो,
उचित नहीं है कभी ऐसी हठ ठानना।
यदि हो गई हो अपने से कभी कोई भूल,
चाहिए तुरन्त हमें वह भूल मानना॥
अहंमन्यता है जड़ सारी कमजोरियों की,
बस यह जानना है सब कुछ जानना।
जितना कठिन अपने को पहचानना है,
उतना नहीं है दूसरों को पहचानना॥

—ठा० गोपालशरण सिंह

ऐब कसाँ मनिगरो यहसाने खेश;
दीदा फेरोवर वगरी बाने खेश!

अर्थात् दूसरों के दोषों और अपने गुणों को मत देखो। जब दूसरों के दोषों की तरफ दृष्टि जाय, अपने को देखो। —फरीदुद्दीन अत्तार

जे हस्तौ ता बुवद बाकी बरो शैन,
ने आयद इल्मे आरिफ सूरते ऐन।

अर्थात् जब तक जीवन का एक भी धब्बा शेष रहता है, तब तक ज्ञानी का ज्ञान वास्तविक नहीं कहा जा सकता। —शबस्तरी

दुनिया भर के पाप दूर हो सकते हैं, यदि उनके लिए सच्चे दिल से अफसोस करले। —मुहम्मद साहब

जब तू यज्ञ में बलि देने जाय, तब तुझे याद आए कि तेरे और तेरे भाई के बीच बैर है, तो वापस हो जा और समझौता कर।

× × ×

हे पिता ! इनको (मुझे सूली पर चढ़ाने वालों को) क्षमाकर, क्योंकि ये नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं ? —ईसामसीह

२८ प्रश्नोत्तरी

प्रश्न—प्रतिक्रमण तो आवश्यक का एक अङ्ग-विशेष है, फिर क्या कारण है कि आजकल समस्त आवश्यक क्रिया को ही प्रतिक्रमण कहते हैं ?

उत्तर—यद्यपि प्रतिक्रमण आवश्यक का विशेष अङ्ग है। तथापि सामान्यतः सम्पूर्ण आवश्यक को जो प्रतिक्रमण कहा जाता है, वह रूढ़ि को लेकर है। आजकल प्रतिक्रमण शब्द सम्पूर्ण आवश्यक के लिए रूढ़ हो गया है। सामायिक आदि आवश्यकों की शुद्धि प्रतिक्रमण के बिना होती नहीं है, अतः प्रतिक्रमण मुख्य होने से वही आवश्यक रूप में प्रचलित है।

प्रश्न—प्रतिक्रमण प्राकृत भाषा में ही क्यों हो ? यदि प्रचलित लोकभाषाओं में अनुवाद पढ़ा जाय तो अर्थ का ज्ञान अच्छी तरह हो सकता है ?

उत्तर—प्राचीन प्राकृत पाठों में इतनी गम्भीरता और उच्च भावना है कि वह आज के अनुवाद में पूर्णतया उतर नहीं सकती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि मूल भावना का स्पर्श भी नहीं हो पाता। दूसरी बात यह है कि लोक-भाषाओं में हुए अनुवादों को साधना का अङ्ग बनाने से धार्मिक क्रिया की एकरूपता नष्ट हो जाती है। सांवत्सरिक आदि पर्व-विशेष पर यदि सामूहिक रूप में विभिन्न भाषा-भाषी प्रतिक्रमण करने बैठेंगे तो क्या स्थिति होगी ? कोई कुछ बोलेगा तो कोई कुछ ! इसलिए मूल प्राकृत पाठों को सुरक्षित रखना आवश्यक है। हाँ, जनता को अर्थ से परिचित करने के लिए अनुवादों का माध्यम आवश्यक है परन्तु वे केवल अर्थ समझने के लिए हों, मूल विधि में उन्हें स्थान नहीं देना चाहिए।

प्रश्न—प्रतिक्रमण का क्या इतिहास है ? वह कब और कहाँ किस रूप में प्रचलित रहा है ?

उत्तर—प्रतिक्रमण का इतिहास यही है कि जब से जैनधर्म है, जब से साधु और श्रावक की साधना है, तभी से प्रदिक्रमण भी है। साधना की शुद्धि के लिए ही तो प्रतिक्रमण है। अतः जब से साधना, तभी से उसकी शुद्धि भी है। इस दृष्टि से प्रतिक्रमण अनादि है।

वर्तमान काल चक्र में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। अस्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के काल में साधक अधिक जागरूक न थे, अतः उनके लिए दोष लगें या न लगें,

नियमेन प्रतिक्रमण का विधान होने से ध्रुव प्रतिक्रमण है। परन्तु बीच के २२ तीर्थ-करों के काल में साधकों के अतीव विवेकनिष्ठ एवं जागरूक होने के कारण दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण किया जाता था, अतः इनके शासन का अध्रुव प्रतिक्रमण है। इसके लिए भगवती सूत्र, स्थानांगसूत्र एवं कल्प सूत्र वृत्ति आदि द्रष्टव्य हैं। आचार्य भद्रबाहु ने भी आवश्यक नियुक्ति में ऐसा ही कहा है :—

सपडिक्कमणो धम्मो,
पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं,
कारणजाए पडिक्कमणं ॥ १२४४ ॥

कुछ आचार्यों का कथन है कि दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक उक्त पाँच प्रतिक्रमणों में से बाईस तीर्थंकरों के काल में दैवसिक एवं रात्रिक दो ही प्रतिक्रमण होते थे, शेष नहीं। अतः सप्ततिस्थानक ग्रन्थ में कहा है :—

देवसिय, राइय, पक्खिय,
चउमासिय वच्छरिय नामाओ।
दुण्हं पण पडिक्कमणा,
मज्झिमगाणं तु दो पढमा ॥

उक्त दो प्रतिक्रमणों के लिए कुछ सज्जन यह सोचते हैं कि प्रातः और सायं नियमेन प्रतिक्रमण किया जाता होगा। परन्तु यह बात नहीं है। इसका आशय इतना ही है कि दिन और रात में जब भी जिस क्षण भी दोष-लगता था, उसी समय प्रतिक्रमण कर लिया जाता था। उभयकाल का प्रतिक्रमण नहीं होता था। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के शासन में भी दोष-काल में ही ईर्यापथ एवं गोचरी आदि के प्रतिक्रमण के रूप में तत्काल प्रतिक्रमण का विधान है। फिर भी साधक असावधान है। अतः सम्भव है समय सर कभी जागृत न हो सके, इसलिए उभय काल में भी नियमेन प्रतिक्रमण का विधान किया गया है। परन्तु बाईस तीर्थंकरों के शासन में साधक की स्थिति अतीव उच्च एवं विवेकनिष्ठ थी, अतः तत्काल ही प्रतिक्रमण के द्वारा नियमेन शुद्धि कर ली जाती थी। जीवन की गति पर हर क्षण कड़ी नजर रखने वालों के लिए प्रथम तो भूल का अवकाश नहीं है। और यदि कभी भूल हो भी जाए तो तत्क्षण उसकी शुद्धि का मार्ग तैयार रहता है। आचार्य जिनदास आवश्यक चूर्णि में इसी भावना का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—**"पुरिम-पच्छिमएहिं उभओ काल पडिक्कमितव्वं, इरियावहियमागतेहिं उच्चार-पासवण आहारादीण वा विवेगं-काऊण, पदासपच्चूसेसु अतियारो हो तु वा मा वा तहावस्सं पडिक्कमितव्वं एतेहिं चेव ठाणेहिं। मज्जिमगाणं तित्थे जदि अतियारो अत्थि तो दिवसो हो तु, रत्तो वा, पुव्वण्हो, अवरण्हो, मज्झण्हो, पुव्वरत्तोवरत्तं वा, अड्ढरत्तो वा**

ताहे चेव पडिक्कमन्ति । नत्थि तो न पडिक्कमन्ति, जेण ते असढा पण्णावन्ता परिणा-मगा, न य पमादबहुला, तेण तेसिं एवं भवति ।"

महाविदेह क्षेत्र में हमारी परम्परा के अनुसार सदाकाल २२ तीर्थंकरों के समान ही जिनशासन है, अतः वहाँ भी दोष लगते ही प्रतिक्रमण होता है, उभय काल आदि नहीं।

श्रावकों के प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में क्या स्थिति थी, यह अभी सप्रमाण स्पष्ट नहीं है। परन्तु अभी ऐसा ही कहा जा सकता है कि साधुओं के समान श्रावकों का भी अपने-अपने जिन शासन में यथाकाल ध्रुव एवं अध्रुव प्रतिक्रमण होता होगा।

प्रश्न—प्रतिक्रमण की क्या विधि है? कौन से पाठ कब और कहाँ बोलने चाहिएँ?

उत्तर—आजकल विभिन्न गच्छों की लम्बी-चौड़ी विभिन्न परम्पराएँ प्रचलित हैं। अस्तु, आज की परम्पराओं के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कह सकते। हाँ उत्तरा-ध्ययन सूत्र के समाचारी नामक छब्बीसवें अध्ययन में प्रतिक्रमण विधि की एक संक्षिप्त रूप रेखा है, वह इस प्रकार है—

(१) सर्व प्रथम कायोत्सर्ग में दैवसिक ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन करना चाहिए[1]। (२) कायोत्सर्ग पूर्ण करके गुरुदेव के चरणों में वन्दन करना चाहिए और उनके समक्ष पूर्व चिन्तित अतिचारों की आलोचना करनी चाहिए। (३) इस प्रकार प्रतिक्रमण करने के बाद प्रायश्चित्त स्वरूप कायोत्सर्ग करना चाहिए।[2]

---

[1] अतिचार चिन्तन के लिए आजकल हिन्दी, गुजराती भाषा में कुछ पाठ प्रचलित हैं। परन्तु पुराने काल में ऐसा कुछ नहीं था और न होना ही चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन प्रवाह अलग-अलग बहता है, अतः प्रत्येक को अतिचार भी परिस्थितिवश अलग-अलग लगते हैं, भला उन सब विभिन्न दोषों के लिए कोई एक निश्चित पाठ कैसे हो सकता है? साधक को अतिचार सम्बन्धी कायोत्सर्ग में यह विचारना चाहिए कि अमुक दोष, अमुक समय विशेष में, अमुक परिस्थिति-वश लगा है? कब, कहाँ किसके साथ क्रोध, अभिमान, छल या लोभ का व्यवहार किया है? कब, कहाँ, कौनसा विकार मन वाणी एवं कर्म के क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ है? यह सोचना ही अतिचार-चिन्तन है। बँधे हुए पाठों के द्वारा यह आत्म-प्रकाश नहीं मिल सकता है।

[2] उत्तराध्ययन सूत्र में यह नहीं कहा गया कि कायोत्सर्ग में क्या विचारना चाहिए? कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त-स्वरूप है। अतः वह अपने आप में स्वयं एक व्युत्सर्ग तप है। जो तत्काल में कष्ट हों उन्हें समभाव से सहना ही कायोत्सर्ग का ध्येय है। कायोत्सर्ग में समभाव का चिन्तन ही मुख्य है। इसीलिए मूल सूत्र में कायोत्सर्ग

(४) कायोत्सर्ग पूर्ण करके गुरुदेव को वन्दन तथा स्तुति मंगल करना चाहिए। यह दिवस प्रतिक्रमण की विधि है। यहाँ आवश्यक के अन्त में प्रत्याख्यान का विधान नहीं है।

रात्रिक प्रतिक्रमण का क्रम इस प्रकार निरूपण किया है—(१) सर्व प्रथम कायोत्सर्ग में रात्रि सम्बन्धी, ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन करना चाहिए। (२) कायोत्सर्ग पूर्ण करके गुरु को वन्दन करना चाहिए और उनके समक्ष पूर्व चिन्तित अतिचारों की आलोचना करनी चाहिए। (३) इस प्रकार प्रतिक्रमण करने के बाद गुरु को वन्दन और तदनन्तर दुबारा कायोत्सर्ग करना चाहिए। (४) इस कायोत्सर्ग में अपनी वर्तमान स्थिति के अनुकूल ग्रहण करने योग्य तप रूप प्रत्याख्यान का विचार करना चाहिए।[1] (५) कायोत्सर्ग पूर्ण करने के बाद गुरु को वन्दन एवं उनसे प्रत्याख्यान कर लेना चाहिए। (६) अन्त में सिद्ध-स्तुति के द्वारा आवश्यक की समाप्ति होनी चाहिए।

यह उत्तराध्ययन सूत्र कालीन संक्षिप्त विधि-परम्परा है। दुर्भाग्य से आज इतना गड़-बड़ घोटाला है कि कुछ मार्ग ही नहीं मिलता है। कौन क्या कर रहा है, इस पर कहाँ तक टीका टिप्पणी की जाय?

प्रश्न—आवश्यक अर्थात् प्रतिक्रमण किस समय करना चाहिए?

उत्तर—दिन की समाप्ति पर दैवसिक प्रतिक्रमण होता है और रात्रि की समाप्ति पर रात्रिक। महीने में दो बार पाक्षिक प्रतिक्रमण होता है, एक कृष्णपक्ष की समाप्ति पर तो दूसरा शुक्लपक्ष की समाप्ति पर। यह पाक्षिक प्रतिक्रमण पाक्षिक दिन की समाप्ति पर ही होता है, प्रातः नहीं। चातुर्मासिक प्रतिक्रमण वर्ष में तीन होते हैं, एक आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन, दूसरा कार्तिक पूर्णिमा के दिन और तीसरा फाल्गुन पूर्णिमा के दिन। यह चातुर्मासिक प्रतिक्रमण भी दिन की समाप्ति पर ही होता है। सांवत्सरिक प्रतिक्रमण वर्ष में एक बार भाद्रपद शुक्ला पंचमी के दिन सन्ध्या समय होता है।

दिन की समाप्ति पर सन्ध्या समय किया जाने वाला प्रतिक्रमण दिन के चौथे

में पठनीय पाठ-विशेष का उल्लेख नहीं है। परन्तु सभी साधक इस उच्च स्थिति में नहीं होते, इस कारण बाद में लोगस्स पढ़ने की परम्परा चालू हो गई, जो आज भी प्रचलित है।

[1] आज झगड़ा है कि कायोत्सर्ग में कितने लोगस्स का पाठ करना चाहिए? परन्तु आप देख सकते हैं कि मूलसूत्र में लोगस्स का कहीं भी उल्लेख नहीं है, वहाँ तो छठे आवश्यक के रूप में ग्रहण करने योग्य तप के सम्बन्ध में विचार करने का विधान है। परन्तु साधक जब स्थूल हो गया तो चिन्तन जाता रहा, फलतः उसे लोगस्स का पाठ पकड़ा दिया। न होने से, कुछ होना अच्छा है।

पहर के चौथे भाग में,[1] अर्थात् लगभग दो घड़ी दिन शेष रहते शय्याभूमि और उच्चार भूमि की प्रतिलेखना करने के पश्चात् प्रारंभ कर देना चाहिए। समाप्ति के समय का मूल आगम में उल्लेख नहीं है। परन्तु उपदेशप्रासाद आदि ग्रन्थों का कहना है कि सूर्य छिपते समय अथवा आकाश में प्रथम तारक-दर्शन होते समय आवश्यक पूर्तिस्वरूप प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेना चाहिए। यह प्राचीनकाल की परम्परा है। परन्तु आजकल सूर्य के अस्त होने पर प्रतिक्रमण की आज्ञा ली जाती है। जहाँ तक मैं समझता हूँ इसका कारण सन्ध्या समय के आहार की प्रथा है। उत्तराध्ययन सूत्र आदि के अनुसार जबतक साधु-जीवन में दिन के तीसरे पहर में केवल एक बार आहार करने की परम्परा रही, तबतक तो वह प्राचीन काल-मर्यादा निभती रही, परन्तु ज्यों ही शाम को दुबारा आहार का प्रारम्भ हुआ तो प्रतिक्रमण की कालसीमा आगे बढ़ी और वह सूर्यास्त पर पहुँच गई। समाप्ति का स्थान प्रारम्भ ने ले लिया।

प्रातः काल के प्रतिक्रमण का समय भी रात्रि के चौथे पहर का चौथा भाग ही बताया है।[2] सूर्योदय के समय प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेना चाहिए। प्रातःकाल की परम्परा आज भी प्रायः उसी भाँति चल रही है।

क्या प्रातःकाल के समान दैवसिक प्रतिक्रमण का भी अपना वह पुराना काल-मान अपनाया जायगा? क्यों नहीं, यदि सायंकालीन आहार के सम्बन्ध में कोई उचित निर्णय हो जाय तो।

प्रश्न—आवश्यक सूत्र-पाठ का निर्माणकाल क्या है? वर्तमान आगम साहित्य में इसका क्या स्थान है? इसके रचयिता कौन हैं?

उत्तर—यह प्रश्न बहुत गम्भीर है। इस पर मुझ जैसा लेखक स्पष्टतः 'हाँ या ना' कुछ नहीं कह सकता। फिर भी कुछ विचार उपस्थित किए जाते हैं।

जैन आगम साहित्य को दो भागों में बाँटा गया है—अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य। अङ्ग प्रविष्ट के आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह भेद हैं। अंग बाह्य के मूल में दो भेद हैं आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यक के सामायिक, चतुर्विंश-तिस्तव आदि छह भेद हैं, और आवश्यक व्यतिरिक्त के दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि अनेक भेद हैं। यह विभाग नन्दी-सूत्र के श्रुताधिकार में आज भी देखा जा सकता है।

उपर्युक्त विभाग पर से यह प्रतिफलित होता है कि 'आवश्यक' अंग अर्थात् मूल आगम नहीं है, 'अंगबाह्य' शब्द ही इस बात को स्पष्ट कर देता है। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य की व्याख्या भी यही है कि जो गणधर रचित हो, वह अंग-प्रविष्ट। और जो गणधरों के बाद होने वाले स्थविर मुनियों के द्वारा प्राचीन मूल आगमों का

---

[1] देखिए, उत्तराध्ययन २६। ३८, ३९।

[2] देखिए, उत्तराध्ययन २६। ४६।

आधार लेकर कहीं शब्दशः तो कहीं अर्थशः निर्मित हो, वह अंग बाह्य। देखिए, आचार्य जिनदास आवश्यक चूर्णि में यही व्याख्या करते हैं ? **"जे अरहंतेहिं भगवन्तेहिं अईयाणागयवट्टमाणदव्वखेत्तकालभावजथावत्थितदंसीहिं अत्था परूविया, ते गणहरेहिं परमबुद्धि सन्निवायगुणसम्पन्नेहिं सयं चेव तित्थगरसगासाओ उवलंभिऊणं सव्वसत्ताणं हितट्ठयाए सुत्तत्तेण उवणिबद्धा तं अंगपविट्ठं, आयाराइ दुवालसविहं। जं पुण अण्णेहिं विसुद्धागमबुद्धिजुत्तेहिं थेरेहि अप्पाउयाणं मणुयाणं अप्पबुद्धिसत्तीणं च दुग्गाहकं ति णाऊण तं चेव आयाराइ सुयणाणं परम्परागतं अत्थतो गंथतो य अतिबहुं ति काऊण अणुकंपानिमित्तं दसवेतालियमादि परूवियं तं अणेगभेदं अणंगपविट्ठं।"**

अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य की यही व्याख्या उमास्वातिकृत तत्त्वार्थ भाष्य, भट्टाकलंककृत राजवार्तिक आदि प्रायः सभी श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों में है। इस व्याख्या पर से मालूम होता है कि प्राचीन जैन परम्परा में आवश्यक को श्रीसुधर्मा स्वामी आदि गणधरों की रचना नहीं माना जाता था। अपितु स्थविरों की कृति माना जाता था।

अब प्रश्न रह जाता है कि किस काल के किन स्थविरों की कृति है ? इसका स्पष्ट उत्तर अभी तक अपने पास नहीं है। हाँ, आवश्यक सूत्र पर आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्ति है, सो उनसे बहुत पहले ही कभी सूत्र पाठों का निर्माण हुआ होगा ! वर्तमान आगम साहित्य के सर्व-प्रथम लेखन काल में आवश्यक सूत्र विद्यमान था, तभी तो भगवती सूत्र आदि में उसका उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखों को देखकर कुछ लोग कहते हैं, कि आवश्यक आदि भी गणधर कृत ही हैं, तभी तो मूल आगम में उनका उल्लेख है। परन्तु वह उल्लेख देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय में एक सूत्र के विस्तृत लेख को दूसरे सूत्र के आधार पर संक्षिप्त कर देने के विचार से हुआ है। वह उल्लेख गणधरकृत कदापि नहीं है। पण्डित सुखलालजी ने आवश्यक की ऐतिहासिकता पर काफी सुन्दर एवं विस्तृत चर्चा की है। परन्तु यह चर्चा अभी और गम्भीर चिन्तन की अपेक्षा रखती है।

पाठक एक प्रश्न और कर सकते हैं कि आवश्यक सूत्रपाठ के निर्माण से पहले साधक आवश्यक क्रिया कैसे करते होंगे ? प्रतिक्रमण आदि की क्या स्थिति होगी ? उत्तर में निवेदन है कि नवकार मन्त्र, सामायिक सूत्र[1] आदि कुछ पाठ तो अतीव प्राचीन काल से प्रचलित आ रहे थे। रहे शेष पाठ, सो पहले उनका अर्थरूप में चिन्तन किया जाता रहा होगा। बाद में जन-साधारण की कल्याण-भावना से प्रेरित होकर उन पूर्व प्रचलित भावों को ही स्थविरों ने सूत्र का व्यवस्थित रूप दे दिया होगा। इस सम्बन्ध में लेखक अभी निश्चयपूर्वक कुछ कहने की स्थिति में नहीं है। अलम्।

---

[1] **सामायिक सूत्र की प्राचीनता के लिए अन्तकृद्दशांग आदि प्राचीन सूत्रों में भगवान् नेमिकालीन प्राचीन मुनियों के सन्दर्भ में यह पाठ आया है कि— 'सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ।**

प्रश्न—क्या जैन धर्म के समान अन्य धर्मों में भी प्रतिक्रमण का विधान है।

उत्तर—जैन धर्म में तो प्रतिक्रमण की एक महत्त्वपूर्ण एवं व्यवस्थित साधना है। इस प्रकार का व्यवस्थित एवं विधानात्मक रूप तो अन्यत्र नहीं है। परन्तु प्रतिक्रमण की मूल भावना की कुछ झलक अवश्य यत्र तत्र मिलती है।

बोद्ध धर्म में कहा है—

"पाणातिपाता वेरमणि सिक्खापदं समादियामि। अदिन्नादाना वेरमणि सिक्खापदं समादियामि। कामेसु मिच्छाचारा वेरमणि सिक्खापदं समादियामि। मुसावादा वेरमणि सिक्खापद समादियामि। सुरमेरयमज्जपमादट्ठाना वेरमणि सिक्खापदं समादियामि।"

—लघुपाठ, पंचसील।

"सुखिनो वा खेमिनो होन्तु सव्वे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता।"

"मेत्तं च सव्बलोकस्मिन्,
मानसं भावये अपरिमाणं।
उद्धं अधो च तिरियं च,
असंबाधं अवेरं असपत्तं॥

—लघुपाठ, मेत्तसुत्त।

वैदिक धर्म में कहा है—

"ममोपात्त-दुरितक्षयाय श्री परमेश्वर-प्रीतये प्रातः सायं सन्ध्योसपानमहं करिष्ये।

—संध्यागत संकलपवाक्य

"ॐ सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम्। यद् रात्र्या पापमकार्ष मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु यत् किंचिद् दुरितं मयीदमहममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहाः।"

—कृष्ण यजुर्वेद।

वैदिक धर्म प्रार्थना-प्रधान धर्म है। उसके यहाँ पश्चात्ताप भी प्रार्थना प्रधान ही होता है, परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए ही होता है। फिर भी सब पापों के प्रायश्चित्त की भावना का स्रोत पाया जाता है, जो मनुष्य के अन्तःकरण के मूल भावों का प्रतिनिधित्व करता है।

प्रश्न—आजकल आवश्यक साधना पूर्ण विधि से शुद्ध रूप में नहीं हो पाती है, अतः अविधि एवं अशुद्ध विधि से ही करते रहें तो क्या हानि है? अविधि से करते रहेंगे, तब भी परम्परा तो सुरक्षित रहेगी।

उत्तर—आपका प्रश्न बहुत सुन्दर है। जैन धर्म में विधि का बहुत बड़ा

महत्व है। उपयोग-शून्य अविधि से की जाने वाली साधना केवल द्रव्य साधना है, वह अन्तर्हृदय में ज्ञानज्योति नहीं जगा सकती! आचार्य हरिभद्र के शब्दों में इस प्रकार की उपयोग्यशून्य साधना केवल कायचेष्टा रूप है, अतः कायवासित एवं वाग्वासित हैं।[१] जब तक साधना मनोवासित न हो, तब तक कुछ भी अच्छा परिणाम नहीं आता है। अच्छा परिणाम क्या, बुरा परिणाम ही आता है। मुख से पाठों को दुहराना, परन्तु तदनुसार आचरण न करना, यह तो स्पष्टतः मृषावाद है। और यह मृषावाद विपरीत फल देने वाला है।

कुछ लोग अविधि एवं अशुद्ध विधि के समर्थन में कहते हैं कि जैसा चलता है चलने दो! न करने से कुछ करना अच्छा है। शुद्ध विधि के आग्रह में रहने से शुद्ध क्रिया का होना तो दुर्लभ है ही, और इधर थोड़ी बहुत अशुद्ध क्रिया चलती रहती है, वह भी छूट जायगी। और इस प्रकार प्राचीन धर्म-परम्परा का लोप ही हो जायगा।

इसके उत्तर में कहना है कि धर्म परम्परा यदि शुद्ध है तब तो वह धर्म परम्परा है। यदि उपयोग शून्य भारस्वरूप अशुद्ध क्रिया को ही धर्म कहा जाता है, तब तो अनर्थ ही है। अशुद्ध परम्परा को चालू रखने से शास्त्र-विरुद्ध विधान को बल मिलता है, और इसका यह परिणाम होता है कि आज एक अशुद्ध क्रिया चल रही है तो कल दूसरी अशुद्ध क्रिया चल पड़ेगी! परसों कुछ और ही गड़बड़ हो जायगी। और इस प्रकार गन्दगी घटने की अपेक्षा निरन्तर बढ़ती जायगी, जो एक दिन सारे समाज को ही विकृत कर देगी। अस्तु साधक के लिए आवश्यक है कि वह साधना की शुद्धता का अधिक ध्यान रखे। जान बूझ कर भूल को प्रश्रय देना पाप है।

कुछ भी न करने की अपेक्षा कुछ करने को शास्त्रकारों ने जो अच्छा कहा है, उसका भाव यह है कि व्यक्ति दुर्बल है। वह प्रारम्भ से ही शुद्ध विधि के प्रति बहुमान रखता है और तदनुसार ही आचरण भी करना चाहता है, परन्तु प्रमादवश भूल हो जाती है और उचित रूप में लक्ष्यवेध नहीं कर पाता है। इस प्रकार के विवेकशील जागृत साधकों के लिए कहा जाता है कि जो कुछ बने करते जाओ, जीवन में कुछ न कुछ करते रहना चाहिए। भूल हो जाती है, इसलिए छोड़ बैठना ठीक नहीं है। प्राथमिक अभ्यास में भूल हो जाना सहज है, परन्तु भूल सुधारने की दृष्टि हो, तदनुकूल प्रयत्न भी हो तो वह भूल भी वास्तव में भूल नहीं है। यह अशुद्ध क्रिया एक दिन

---

[१] इहरा उ कायवासियपायं,
अहवा महामुसावाओ।
ता अणुरूवाणं चिय,
कायव्वो एस विन्नासो॥

—योगविंशिका १२।

शुद्ध क्रिया का कारण बन सकती है। जानबूझ कर पहले से ही अशुद्ध परम्परा का आलंबन करना एक बात है, और शुद्ध प्रवृत्ति का लक्ष्य रखते हुए भी एवं तदनुकूल प्रयत्न करते हुए भी असावधानीवश भूल हो जाना दूसरी बात है। पहली बात का किसी भी दशा में समर्थन नहीं किया जा सकता। हाँ, दूसरी बात का समर्थन इस लिए किया जाता है कि वह जीवन की व्यक्तिगत दुर्बलता है, समूचे समाज की अशुद्ध परम्परा नहीं है। समाज में फैली हुई अशुद्ध विधि विधानों की परम्परा का तो डट कर विरोध करना चाहिए। हाँ, व्यक्तिगत जीवन-सम्बन्धी प्राथमिक अभ्यास की दुर्बलता, निरन्तर सचेष्ट रहने से एक दिन दूर हो सकती है। धनुर्विद्या के अभ्यास करने वाले यदि जागृत चेतना से अभ्यास करते हैं तो उनसे पहले पहल कुछ भूलें भी होती हैं परन्तु एक दिन धनुर्विद्या के पारंगत पण्डित हो जाते हैं। एक-एक जल बिन्दु के एकत्र होते-होते एक दिन सरोवर भर जाते हैं। प्राथमिक असफलताओं से घबरा-कर भाग खड़े होना परले सिरे की कायरता है। जो लोग असफलता के भय से कुछ भी नहीं करते हैं, उनकी अपेक्षा वे अच्छे हैं, जो साधना करते हैं, असफल होते हैं, और फिर साधना करते हैं। इस प्रकार निरन्तर भूलों एवं असफलताओं से संघर्ष करते हूए जागृत चेतना के सहारे एक दिन अवश्य ही सफलता प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार के साधकों को लक्ष्य में रखकर कहा है:—

अविहिकया वरमकयं,
उस्सुय-सुतं भणंति गीयत्था।
पायच्छित्तं जम्हा,
अकए गुरुयं कए लहुयं॥

—अविधि से करने की अपेक्षा न करना अच्छा है, यह उत्सूत्र वचन है। क्योंकि धर्मानुष्ठान न करने वाले को गुरु प्रायश्चित आता है, और धर्मानुष्ठान करते हुए यदि कहीं प्रमादवश अविधि हो ज़ाय तो लघु प्रायश्चित्त होता है।

प्रश्न—जो गृहस्थ देश विरति के रूप में किसी व्रत के धारक नहीं हैं, उनको प्रतिक्रमण करना चाहिए, या नहीं? जब व्रत ही नहीं हैं तो उनकी शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—व्रत हों, या न हों, फिर भी प्रतिक्रमण करणीय है। जिसको व्रत नहीं है, वह भी प्रतिक्रमण के लिए सामायिक करेगा, चतुर्विंशतिस्तव एवं वन्दना, क्षमापना आदि करेगा तो उसको भावविशुद्धि के द्वारा कर्मनिर्जरा होगी। और दूसरी बात यह है कि पतिक्रमण मिथ्या श्रद्धान और विपरीत प्ररूपणा का भी होता है। अतः सम्यक्त्व-शुद्धि का प्रतिक्रमण भी जीवन-शुद्धि के लिए आवश्यक है।

प्रश्न—प्रतिक्रमण किस दिशा की ओर मुख करके करना चाहिए।

उत्तर—आगम साहित्य में पूर्व और उत्तर दिशा की ओर मुख करके प्रतिक्रमण करने का विधान है। पश्चात्कालीन आचार्य भी यही परम्परा मानते रहे हैं, पञ्च वस्तुक में लिखा है—**'पुव्वाभिमुहा उत्तरमुहा य आवस्सयं पकुव्वंति।'** पूर्व और उत्तर दिशा का वैज्ञानिक-दृष्टि से क्या महत्त्व है, यह लेखक के सामायिक सूत्र में देखना चाहिए।

श्रमण-सूत्र

[मूल, अर्थ, भाष्य]

१ | नमस्कार-सूत्र

नमो अरिहंताणं,
नमो सिद्धाणं,
नमो आयरियाणं,
नमो उवज्झायाणं,
नमो लोए सव्व-साहूणं !

शब्दार्थ

नमो=नमस्कार हो	नमो=नमस्कार हो
अरिहंताणं=अरिहंतों को	उवज्झायाणं=उपाध्यायों को
नमो=नमस्कार हो	नमो=नमस्कार हो
सिद्धाणं=सिद्धों को	लोए=लोक में
नमो=नमस्कार हो	सव्व=सब
आयरियाणं=आचार्यों को	साहूणं=साधुओं को

भावार्थ

श्री अरिहंतों को नमस्कार हो, श्री सिद्धों को नमस्कार हो, श्री आचार्यों को नमस्कार हो, श्री उपाध्यायों को नमस्कार हो, और मानव-लोक में समस्त साधुओं को नमस्कार हो।

भाष्य

अपने से महान् पवित्र एवं निर्मल आत्माओं को नमस्कार करने की परम्परा आजकल से नहीं, अनादिकाल से चली आ रही है। महापुरुषों के पवित्र व्यक्तित्व का आकर्षण ही ऐसा है कि भक्तिशील साधक, अपने आप ही उनके चरण कमलों में भक्ति—गद्गद हो जाता है, नमस्कार के रूप में सर्वस्व अर्पण करने के लिए तैयार हो जाता है। अध्यात्मसाधना की यात्रा पर निकले हुए साधक के हृदय में, आत्मनिष्ठ महापुरुषों के प्रति नमस्कार की अमर प्रेरणा, स्वयमेव उद्भूत होती है। और जबतक

साधक वन्दन नहीं कर लेता है, तबतक उसके अन्तर्मन में शान्ति नहीं हो पाती है। परन्तु ज्यों ही श्रद्धा के साथ नमस्कार के लिए मस्तक झुकाता है, त्यों ही जीवन के कण-कण में अनिर्वचनीय दिव्य-शान्ति का स्वर्गीय निर्झर बह निकलता है, संसार के तूफानों से क्षुब्ध हुआ हृदय एकबारगी ही हल्का एवं स्वस्थ हो जाता है। इस पर से निश्चित है कि नमस्कार, मनुष्य का अपना प्रकृति-सिद्ध धर्म है, यह कुछ धार्मिक प्रथा के रूप में अथवा व्यावहारिक सभ्यता के रूप में ऊपर से लादा गया व्यर्थ का भार नहीं है।

जैन धर्म में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच महान् आत्मा माने गए हैं। जहाँ तहाँ धर्मशास्त्रों में इन्हीं के स्तुतिगान गाए गए हैं। जैसा कि कुछ अनजान साथी समझते हैं, ये किसी व्यक्ति-विशेष के नाम नहीं हैं, प्रत्युत आध्यात्मिक गुणों के विकास से प्राप्त होने वाले पाँच महान् आध्यात्मिक मंगलमय पद हैं। इन पर जैन-धर्म का ठेका नहीं है, दावा नहीं है कि ये उसके ही, साम्प्रदायिक दृष्टि से उसकी मान्यता वाले ही महान् हो गए हैं, या हो सकते हैं। सच्चा जैन-धर्म विजय का धर्म है और वह विजय है इन्द्रियों पर, मन पर, विकारों पर, वासनाओं पर। जहाँ यह विजय है, वहीं जैन-धर्म है। साम्प्रदायिक रूप-विशेष की दृष्टि से भले ही वह वहाँ न हो, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह वहाँ सर्वत्र विद्यमान है। जैन-धर्म मोक्ष-प्राप्ति में वेष या लिंग की किसी प्रकार की रोक नहीं लगाता है। उसके यहाँ पुरुष भी मुक्त हो सकते हैं, स्त्री भी मुक्त हो सकती हैं, तीर्थंकर भी मुक्त हो सकते हैं, साधारण जन भी मुक्त हो सकते हैं, जैन-धर्म के साम्प्रदायिक रूप वाले स्वलिंगी साधु भी मुक्त हो सकते हैं, अन्य सम्प्रदाय वाले अन्यलिंगी साधु भी मुक्त हो सकते हैं, और तो क्या गृहस्थ की वेष-भूषा में भी मुक्त हो सकते हैं। परन्तु इन सबके लिए एक ही शर्त है, वह है राग-द्वेष के विजय की। जिसने भी राग-द्वेष को जीता, मोह को मारा, वही जैन-धर्म में भगवान् हो गया। यही कारण है कि नमस्कार सूत्र में अरिहंतों को नमस्कार करते हुए **नमो अरिहंताणं** कहा गया है, **नमो तित्थयराणं** नहीं। तीर्थंकर भी अरिहंत हैं, परन्तु सभी अरिहंत तीर्थंकर नहीं होते। अरिहंतों के नमस्कार में तीर्थंकरों को नमस्कार आ जाती है, परन्तु व्यक्ति विशेष स्वरूप तीर्थंकरों के नमस्कार में अरिहंतों को नमस्कार नहीं आ सकती है। तीर्थंकरत्व मुख्य नहीं है, अर्हद् भाव ही मुख्य है। तीर्थंकरत्व, जैन-धर्म की भाषा में औदयिक प्रकृति है, कर्म का फल है परन्तु अरिहंतदशा क्षायिक भाव है, वह किसी कर्म का फल नहीं, किन्तु कर्मों की निर्जरा का फल है। तीर्थंकरों को नमस्कार भी अर्हद्भाव-मुखेन है, स्वतन्त्र नहीं। यह है जैन-धर्म का विराट रूप। जैन-धर्म में व्यक्ति-पूजा के लिए जरा भी स्थान नहीं है। जो कुछ भी है वह सब, एकमात्र गुण पूजा ही है। **'गुणाः पूजा-स्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः'** यह है जैन धर्म का गम्भीर घोष, जो अनन्तकाल से विश्व ब्रह्माण्ड में गूँजता चला आ रहा है। जैनधर्म में जहाँ कहीं व्यक्तिपूजा को जगह मिली भी है, वह वहाँ व्यक्ति में रहने वाले आदरास्पद गुणों को ध्यान में

रखकर ही है, स्वतन्त्र नहीं। अतएव जैन-धर्म अपने लिए बड़ी दृढ़ श्रद्धा के साथ सार्वभौम धर्म होने का दावा रखता है और कहता है कि अखिल संसार का हर कोई मनुष्य, फिर भले ही वह किसी भी जाति का हो, किसी भी देश का हो, किसी भी धर्म का हो, अपने आध्यात्मिक गुणों के विकास के द्वारा वीतराग भावना प्राप्त कर अरिहंत बन सकता है, जैन-धर्म में पूर्णरूपेण अभिवन्दनीय महात्मा तथा परमात्मा हो सकता है। यही कारण है कि प्रस्तुत नमस्कार सूत्र में व्यक्तिविशेष का नाम न लेकर केवल आध्यात्मिक भूमिकाओं का ही नाम लिया गया है। फलस्वरूप नमस्कार मन्त्र के द्वारा अनन्त-अनन्त अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार किया गया है। कितनी भव्य एवं विराट भावना है! व्यष्टि से समष्टि उपासना का कितना सुन्दर भावना-भरा चित्र है!

नमस्कार सूत्र के लिए एक प्रश्न उठा करता है, वह ईश्वरवाद की भावना में से आता है। जब जैनधर्म की मान्यता के अनुसार कर्ता-धर्ता ईश्वर नहीं है, फिर नमस्कार से क्या लाभ है? अब रहे अरिहन्त आदि महान् आत्मा, वे भी महान् या पवित्र जो कुछ भी हैं अपने लिए हैं, हमारे लिए तो कुछ करते कराते नहीं हैं, मोक्ष या स्वर्गादि कुछ देते नहीं हैं, तब फिर उनको नमस्कार करने से भी क्या लाभ?

उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि नमस्कार मनुष्य का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। अपने आदर्श महान् आत्माओं को नमस्कार करना हृदय का स्वतन्त्र श्रद्धाभाव है, उसमें सौदेबाजी का क्या अर्थ? यह नमस्कार **'गुणिषु प्रमोदः'** का अमर स्वर है, **'गुणी जनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे'** का दिव्य राग है। यहाँ क्यों और क्या के लिए स्थान ही नहीं है। फिर भी कुछ जानना अपेक्षित हो तो वह यह है कि गुणीजनों को नमस्कार करने से साधक अवश्य ही उन गुणों की ओर स्नेहाकृष्ट होता है, स्वयं वैसा बनना चाहता है, फलतः धीरे-धीरे अपने उपास्य के आदर्शों को जीवन में उतारने लगता है, अन्ततोगत्वा ध्येयानुसार ध्याता भी उसी रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह है भक्त से भगवान् होने का, आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग। बनने का मार्ग है, बनाने का नहीं। नमस्कार भाव—विशुद्धि के लिए, पवित्र भावना के लिए, एवं आदर्श स्थिर करने के लिए किया जाता है। जैसा आदर्श हो, यदि वैसी ही भावना जागृत रक्खी जाय, निष्क्रिय न बैठकर आदर्शपूर्ति के लिए सतत प्रेरणा प्राप्त की जाय, तो जीवन का कल्याण स्वयं सिद्ध है। यह नमस्कार का आन्तरिक भाव है, जो नमस्कार सूत्र के द्वारा पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है। महाराणा प्रताप की चर्चा चलने पर बहुतों को वीरता के आवेश में मूँछें ऐंठते देखा है, तो क्या महाराणा खुद आकर मूँछें ऐंठ जाते हैं या वीरता के भाव भर जाते हैं? नहीं, यह सब कुछ नहीं है। महाराणा का जीता जागता आदर्श वीर जीवन ही स्मृति में उतर कर कायर से कायर हृदय में भी वीरता की बिजली भर देता है। जो जैसी श्रद्धा रखता है, वह वैसा बन जाता है। **'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।'** **'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति**

तादृशी ।' शेर का बच्चा गड़रिये ने पाल लिया, बस अपने को वह भेड़ का बच्चा ही समझने लग गया । परन्तु एक दिन जंगल में शेर को देखा तो अपने स्वरूप का भान हो आया, भेड़पन न मालूम कहाँ भाग गया, शेर, शेर हो गया । यही भाव नमस्कार मन्त्र का है । हम सब आत्माएं मूल में अर्हत्स्वरूप हैं, सिद्धस्वरूप हैं । परन्तु अनादि कालीन मोहमाया का अन्धकार उक्त शुद्ध स्वरूप का भान नहीं होने देता है । परन्तु ज्यों ही आत्म स्वरूप-प्राप्त अरिहन्त आदि का, अथवा स्वरूप प्राप्ति के लिए प्रयत्न-शील साधु आदि का चिन्तन होता है तो साधक आत्माओं को अपने शुद्ध स्वरूप का भान हो उठता है । उपाध्याय देवचन्द्रजी का स्वर इस सम्बन्ध में सुनने योग्य है :—

अज-कुल-गत केशरी लहै रे,
निज पद सिंह निहाल ।
तिम प्रभु–भक्ते भवी लहै रे,
आतम-शक्ति सँभाल ।।

—अजित जिन स्तवन

नमस्कार, गुणों से श्रेष्ठ महान् आत्माओं को किया जाता है । संसार में अनन्त-अनन्त आत्माएँ हैं । चार गति और चौरासी लाख योनियों में अनन्त जीवों का अनन्त संसार अपने सुख-दुख की भोग-यात्रा कर रहा है । और अनन्त आत्माएँ वे हैं, जो संसार यात्रा को समाप्त कर अजर-अमर मोक्षधाम में पहुँच कर मुक्त हो चुके हैं । इस प्रकार बद्ध और मुक्त अनन्त आत्माओं में आध्यात्मिक दृष्टि से पाँच प्रकार के आत्मा ही महान् हैं, श्रेष्ठ हैं । इनके अतिरिक्त न कोई पवित्र है, न कोई महान् है । इसीलिए पुराने ग्रन्थों की भाषा में इनको पञ्च परमेष्ठी कहा जाता है । **परमे तिष्ठतीति परमेष्ठी,** अर्थात् जो आत्माएँ परमे=शुद्ध पवित्र दशारूप उच्च स्वरूप में, वीतराग भाव रूप सम भाव में ष्ठी=रहते हैं, वे परमेष्ठी कहलाते हैं । संसार के अन्य साधारण वासनामग्न आत्माओं की अपेक्षा आध्यात्मिक विकास के उच्च स्वरूप में पहुँचे हुए अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ही पञ्च परमेष्ठी हैं । संसार की बड़ी से बड़ी भौतिक विभूति पाए हुए चक्रवर्ती सम्राट् और इन्द्र भी इन पाँच आत्माओं के समक्ष तुच्छ हैं, हीन हैं । ये विश्व की ऊँची से ऊँची भूमिकाओं पर पहुँचे हुए हैं, यही कारण है कि स्वर्ग के इन्द्र भी इनके श्री चरणों में मस्तक टेकते हैं । स्वर्ग के असंख्य देवी देवताओं पर शासन करने वाला इन्द्र अन्यत्र कहीं नहीं झुकता है । भौतिक सत्ता का यह सबसे बड़ा प्रतिनिधि, जैन दर्शन की परम्परा के अनुसार एक मात्र त्याग के चरणों में ही झुकता है । इस विराट संसार में त्याग के प्रतिनिधि ये पाँच ही महान् आत्मा हैं । नमस्कार मन्त्र में उक्त पाँच परमेष्ठी आत्माओं को नमस्कार किया जाता है, अतः नमस्कार मन्त्र का दूसरा नाम परमेष्ठी मन्त्र भी है ।

नमस्कार के द्वारा नमस्करणीय पाँच महान् पवित्र आत्माएँ, परमेष्ठी क्यों हैं ? इस प्रश्न का उत्तर पाँच पदों की मूल व्युत्पत्ति से ही मिल जाता है । जैन साहित्य में

पाँच पदों का बड़े विस्तार से वर्णन है। परन्तु यहाँ विस्तार का प्रसंग नहीं है, संक्षेप में ही अरिहन्त आदि के मूल स्वरूप का परिचय दिया जाता है।

प्रथम पद अरिहन्त का है। अरिहन्त में दो शब्द हैं-अरि और हन्त। अरि का अर्थ है, राग द्वेष आदि अन्दर के शत्रु और हन्त का अर्थ है, नाश करने वाला। अतः फलितार्थ यह हुआ कि जो महान् आत्मा, आध्यात्मिक साधना के बल पर, मन के विकारों से लड़ते हैं, वासनाओं से संघर्ष करते हैं, राग द्वेष से टक्कर लेते हैं, और अन्त में इनको पूर्णरूप से सदा के लिए नष्ट कर डालते हैं, वे अरिहन्त कहलाते हैं। अरिहन्त होने पर ही अर्हन्त होते हैं—सुर, नर, मुनिजन द्वारा वन्दनीय होते हैं—तीन लोक की प्रभुता प्राप्त करते हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त शक्ति रूप अनन्त चतुष्टय के धारक होते हैं—अखिल विश्व के ज्ञाता द्रष्टा होते हैं—संसार सागर के अन्तिम तट पर पहुँचने वाले होते हैं। अरिहन्त की भूमिका, समभाव की सबसे उत्कृष्ट भूमिका है। सुन्दर पर राग और असुन्दर पर द्वेष, यहाँ बिल्कुल नहीं होता है। सुख, दुःख, हानि, लाभ, जीवन, मरण आदि विरोधी द्वन्द्वों पर एक रस दृष्टि रहती है। शत्रु, मित्र सबके लिए, अनन्तानन्त प्राणियों के लिए, कल्याण भावना का कभी न बन्द होने वाला अनन्त निर्झर उनके कण-कण में प्रवाहित होता रहता है। मन, वाणी और कर्म कषायभाव से अलिप्त रहते हैं।

अरिहन्त की भूमिका में तीर्थंकर अरिहन्त भी आ जाते हैं, और दूसरे सब अरिहन्त भी। तीर्थंकर और दूसरे केवली अरिहन्तों में आत्म-विकास की दृष्टि से कुछ भी अन्तर नहीं है। सब अरिहन्त अन्तरंग में एक ही भूमिका पर होते हैं। सबका ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य समान ही होता है। सबके सब अरिहन्त क्षीण-मोह की भूमिका पार करने पर पूर्ण वीत राग गुण स्थान में होते हैं, न कोई एक इंच आगे और न कोई एक इंच पीछे। क्षायिक भाव में तरतमता का भेद नहीं होता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने अपने सात सौ शिष्यों को, जो केवल ज्ञानी अरिहन्त हो गए थे, अपने समान बतलाया है। उन्होंने उनसे वन्दन भी नहीं कराया। प्रत्येक तीर्थंकर अरिहन्त श्रमण-सङ्घ का सर्वोपरि नेता होता है, परन्तु वह अरिहन्त दशा-प्राप्त साधकों से वन्दन नहीं कराता। यह वह भूमिका है, जो आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से बराबर की भूमिका है। अतएव जब हम नमो अरिहन्ताणं कहते हैं, तब ऋषभदेव, महावीर स्वामी आदि सब तीर्थंकरों को, राम हनुमान् आदि सब अर्हद्-भाव प्राप्त महापुरुषों को, स्वलिंगी अरिहन्तों को, अन्यलिंगी अरिहन्तों को, गृहलिंगी अरिहन्तों को, स्त्री अरिहन्तों को, पुरुष अरिहन्तों को, भूमण्डल पर के अतीत, अनागत, वर्तमान अनन्तानन्त अरिहन्तों को नमस्कार हो जाता है। नमस्कार-कर्ता की दृष्टि से शब्द रूप नमस्कार एक है, परन्तु नमस्करणीय अरिहन्तों की एवं भाव की दृष्टि से वह अनन्त हो जाता है।

दूसरा पद सिद्ध का है। सिद्ध का अर्थ पूर्ण है। जो रागद्वेष रूप शत्रुओं को

जीतकर, अरिहन्त बनकर, चौदहवें गुण स्थान की भूमिका को भी पार कर, सदा के लिए जन्म मरण से रहित होकर, शरीर और शरीर-सम्बन्धी सुख दुःखों को पारकर, अनन्त एकरस आत्मस्वरूप में स्थित हो गए हैं, द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार के कर्मों से अलिप्त होकर निराकुल आनन्दमय शुद्ध स्वभाव में परिणत हो गए हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं। सिद्ध दशा मुक्त दशा है, वहाँ एकमात्र आत्मा ही आत्मा है, पर द्रव्य और परपरिणति कुछ नहीं है। वहाँ कर्म नहीं, और कर्मबन्ध के कारण भी नहीं ; अतएव वहाँ से लौटकर संसार में आना नहीं है, जन्म मरण पाना नहीं है। सिद्ध, लोक के अग्रभाग में विराजमान हैं। जहाँ एक सिद्ध है वहाँ अनन्त सिद्ध हैं ; प्रकाश में प्रकाश मिला हुआ है। 'नमो सिद्धाणं' के पद-द्वारा त्रिकालवर्ती अनन्त-अनन्त सिद्धों को वन्दना की जाती है। साधक सम्यक्त्व की भूमिका स्वरूप चतुर्थ गुण स्थान से विकाश करता हुआ जीवन्मुक्त अरिहंत बनता है और उसके बाद विदेहमुक्त सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार सिद्ध आत्म-विकाश की अन्तिम कोटि पर हैं उससे आगे और कोई विकाश-भूमिका नहीं है। यह है साधक से साधना द्वारा सिद्ध होने की अमर यात्रा। जैन संस्कृति का अन्तिम ध्येय सिद्धत्व है।

तीसरा पद आचार्य का है। आचार्य को धर्मप्रधान श्रमण-संघ का पिता कहा है। **'आचार्यः परमः पिता।'** वह अहिंसा, सत्य आदि आचार का स्वयं दृढ़ता से पालन करता है, पर परिणति से हटकर स्वपरिणति में रमण करता है, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों पर विजय पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है, साधु धर्म का उत्कृष्ट रूप अपने आचार व्यवहार पर से प्रमाणित करता है, तीव्रकषाय के उदय का अभाव होने से प्रशान्त, क्षमाशील, विनम्र, सरल एवं आत्म-सन्तुष्ट रहता है। आचार्य, संघ का शासन, धर्म शासन के लिए करता है। यह पद अधिकार का नहीं, साधकों के जीवन निर्माण का पद है। श्रावक अथवा साधु जब संयम यात्रा करते हुए भटक जाते हैं, अयुक्त आचरण कर बैठते है, तब आचार्य ही उनको सही मार्ग पर लाता है, योग्य प्रायश्चित्त देकर आत्मा की शुद्धि करता है। वह साधकों की आत्मा का चिकित्सक है। न वह स्वयं भटकता है, और न दूसरों को भटकने देता है। वह अरिहंत की भूमिका की ओर बढ़ने वाला वह महा प्रकाश है, जो अपने पीछे चलने वाले चतुर्विध संघ का पथ प्रदर्शन करता है। आचार्य को दीपक कहा है, जो ज्योति से ज्योति जलाता हुआ दूसरे आत्म-दीपों को भी प्रदीप्त कर देता है। 'नमो आयरियाणं' के पद द्वारा अनन्त अनन्त भूत, वर्तमान एवं अनागत आचार्यों को नमस्कार किया जाता है।

चौथा पद उपाध्याय का है। यह पद भी बहुत महत्वपूर्ण है। साधक जीवन में ज्ञान-प्रकाश का होना अत्यन्त अपेक्षित है। विवेकी ज्ञान-निष्ठ साधक ही साधना के वास्तविक स्वरूप को समझ सकता है, उत्थान और पतन के कारणों की विवेचना कर सकता है, धर्म और अधर्म में भेद-रेखा खींच सकता है, संसार और मोक्ष के मार्ग का पृथक्करण कर सकता है। अज्ञानी साधक क्या जानेगा ? वह अन्धा चल तो सकता है ; परन्तु चले कहाँ, किस ओर ? न मार्ग का पता, और न मंजिल का।

अतएव साधक के लिए ज्ञानाभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है। चारित्र की साधना के समान ही ज्ञान की साधना भी मोक्ष का अंग है। उपाध्याय का पद धर्म संघ में ज्ञान की ज्योति जगाने के लिए है। वह अन्धों को आँख देता है। स्वयं शास्त्र पढ़ना और दूसरों को पढ़ाना, यह उसके पद का अधिकार शासन है। आचार्य की अनुपस्थिति में वह संघ का नेतृत्व कर सकता है। आध्यात्मिक शिक्षा का यह सबसे बड़ा प्रतिनिधि होता है। पापाचार के प्रति विरक्ति की और सदाचार के प्रति अनुरक्ति की शिक्षा देने वाला उपाध्याय, वस्तुतः साधना-पथ के यात्रियों का महत्वपूर्ण साथी है। 'नमो उवज्झायाणं' के पद द्वारा अनन्तानन्त भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के उपाध्यायों को वन्दना की जाती है।

पाँचवाँ पद साधु का है। साधु का मूल अर्थ है—साधक। साधना करने वाला साधक होता है। अब प्रश्न है कि किस की साधना? **'साध्नोति मोक्षमार्गमिति साधुः**। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय की, मोक्ष मार्ग की साधना करता है, वह साधु है। साधु का पद बड़े ही महत्व का है। साधु सर्वविरति साधना-पथ का प्रथम यात्री है। यह ही उपाध्याय, आचार्य और अरिहन्त तक पहुँचता है, विकास करता है, एवं अन्त में सिद्ध बन जाता है। यह परस्वभाव का निवारक और आत्म-स्वभाव का साधक है, पर द्रव्य में इष्टानिष्ट भाव को रोक कर आतमतत्व में रमण करता है। न जीवन का मोह और न मृत्यु का भय। न इस लोक में आसक्ति और न परलोक में। मुख्य रूप से शुद्धोपयोग में रहता है और गौण रूप से शुभोपयोग में। परन्तु अशुभोपयोग में कभी नहीं उतर कर आता। जीवन के कण-कण में अहिंसा की सुगन्ध महकती है और सत्य का प्रकाश चमकता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का महाव्रत यावज्जीवन के लिए होता है और वह होता है मन, वचन, देह के योग से। हिंसा, असत्य आदि का दुर्भाव न मन में रखना होता है, न वचन में, और न शरीर में। इतना ही नहीं, यह हिंसा आदि पापकर्म न स्वयं कृत होते हैं, न दूसरों से कारित होते हैं, और न अनुमोदित ही। इतनी बड़ी पवित्रता है, साधु जीवन की! जैन धर्म व्यक्ति और वेष को महत्व नहीं देता, वह देता है महत्व, गुणों को। जिस व्यक्ति में भी ये गुण हों, वह जैन धर्म का साधु है। यह साधुत्व भाव गृहस्थ-वेष में रहे हुए व्यक्ति को भी आ सकता है, अन्य मत-मतान्तरों के भिक्षुओं को भी आ सकता है, किसी को भी आ सकता है। अतएव पाँचवे पद में 'नमो लोए सव्वसाहूणं' कहते हुए 'लोए' और 'सव्व' शब्द जोड़े गए है, इसका भाव है कि केवल गच्छादि में रहने वाले अपने वेष के साधु ही नहीं, अपितु मानव लोक में सब साधुओं को नमस्कार करता हूँ। आचार्य अभयदेव भगवती सूत्र की टीका के प्रारंभ में ही महामन्त्र नमस्कार की व्याख्या करते हुए कहते हैं— **लोके=मनुष्यलोके, न तु गच्छादौ, ये सर्व-साधवस्तेभ्यो नमः**। अतएव 'नमो लोए सव्व साहूणं' के पंचम पद द्वारा अतीत, अनागत और वर्तमान अनन्तानन्त साधुओं को नमस्कार किया जाता है।

अरिहंत आदि पाँचों पदों का मूल स्वरूप 'वीतराग-विज्ञानता' है। यह वीतराग-विज्ञानता ही है, जो अरिहंत आदि को त्रिभुवन का पूज्य बनाती है। जीवत्व भाव की दृष्टि से तो सब जीव बराबर ही हैं, बद्ध भी और मुक्त भी। परन्तु जो जीव ज्ञान से हीन हैं और राग द्वेषादि से महान् हैं, वे आध्यात्मिक क्षेत्र में निन्दनीय हैं। परन्तु जो ज्ञान से महान् हैं और राग-द्वेषादि से हीन हैं, वे वीतराग आत्मा तीन लोक के वन्दनीय हैं। अरिहंत और सिद्ध रागादि से पूर्णरूप से हीन हैं, तथा ज्ञानादि से महान् हैं, अतः उनमें पूर्ण वीतराग भाव और पूर्णरूप ही ज्ञान भाव स्पष्टतः सिद्ध हैं। परन्तु आचार्य, उपाध्याय और साधु अभी साधक ही हैं, अपूर्ण ही हैं। वीतराग भाव और ज्ञान भाव की साधना चल रही है, अभी मंजिल पर नहीं पहुँची है। अतः इनमें एक देशेन रागादि की हीनता और ज्ञानादि की विशेषता होने से एकांश में वीतराग भाव और विज्ञान भाव सिद्ध है। पाँचों ही पद वीतराग भाव के पद हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु, जहाँ साधक वीतराग हैं तो वहाँ अरिहंत और सिद्ध, सिद्ध वीतराग हैं। कोई भी पद ऐसा नहीं है, जो वीतराग-भावना से शून्य हो। वीतराग भावना जैन-धर्म का प्राण है और वह पाँच पदों में स्पष्टतः अभिव्यक्त रहती है।

जैन-धर्म के मूल तत्व तीन हैं—देव, गुरु और धर्म। तीनों ही नमस्कार मन्त्र में परिलक्षित हैं। अरिहंत जीवन्मुक्त रूप में और सिद्ध विदेहमुक्त रूप में, आत्मविकाश की पूर्ण दशा परमात्म-दशा पर पहुँचे हुए हैं, अतः पूर्ण रूप से पूज्य होने के कारण देवत्व कोटि में गिने जाते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु आत्म-विकाश की अपूर्ण अवस्था में हैं, परन्तु पूर्णता के लिए प्रयत्नशील हैं, अतः अपने से निम्नश्रेणी के गृहस्थ साधक आत्माओं के पूज्य और अपने से उच्चश्रेणी के अरिहंत और सिद्ध स्वरूप देवत्व भाव के पूजक होने से गुरु कोटि में सम्मिलित किए गए हैं। सर्वत्र व्यक्ति से भाव में लक्षणा है, अतः अर्हद् भाव, सिद्ध भाव, आचार्य भाव, उपाध्याय भाव एवं साधु भाव का ग्रहण किया जाता है। अरिहंतों को क्या नमस्कार ? अर्हद् भाव को नमस्कार है। साधुओं को क्या नमस्कार ? साधुत्व भाव को नमस्कार है। इसी प्रकार अन्यत्र भी भाव ही नमस्कार का लक्ष्य बिन्दु है। और यह भाव ही धर्म है। अहिंसा और सत्य आदि आत्मभाव पाँच पदों के प्राण हैं। अतः नमस्कार मन्त्र में धर्म का अन्तर्भाव भी हो जाता है, उसे भी नमस्कार कर लिया जाता है।

पाँच पदों में सबसे महान् सिद्ध पद है। अतः सर्व प्रथम नमस्कार सिद्धों को ही किया जाना चाहिए था, परन्तु किया गया है अरिहन्तों को। यह क्या बात है ? समाधान है कि सिद्धों के स्वरूप को बताने वाले कौन हैं ? अरिहंत। मिथ्यात्व के अन्धकार में भटकते मानव संसार को सत्य की अखण्ड ज्योति के दर्शन कराने वाले कौन हैं ? अरिहंत। अरिहंत हमारे परमोपकारी हैं, उन्होंने केवल ज्ञान के द्वारा बन्ध और मोक्ष का रहस्य जानकर करुणा-दृष्टि से हमें बताया। आचार्य, उपाध्याय, साधु और श्रावक आदि जितने भी साधक हैं, सब उन्हीं के बताए मार्ग पर चल रहे हैं, अतः सर्वप्रथम नमस्कार उनको न हो तो और किनको हो ?

नमस्कार मंत्र को मंत्र क्यों कहते हैं ? मंत्र का अर्थ आजकल भूत-प्रेत आदि का आह्वान हो गया है, जादू टोना हो गया है; अतः ऊपर का प्रश्न, इसी विचारधारा को आगे लेकर आया है। परन्तु मंत्र का मूल अर्थ है—मनन करने से त्राण = रक्षा करने वाला। जो मनन करने से, चिन्तन करने से भक्त का दुःखों से त्राण कर देता है, रक्षा करता है, वह मंत्र होता है। **'मंत्रः परमो ज्ञेयो मनन-त्राणे ह्यतो नियमात्।'** नमस्कार मंत्र पर यह मंत्रत्व पूर्ण रूप से ठीक उतरता है। महान् पवित्र वीतराग आत्माओं के प्रति नमस्कार आदि के रूप में अखण्ड श्रद्धा एवं भक्ति व्यक्त करने से मन का अन्धकार दूर होता है, संशय का नाश होता है, आत्मशक्ति का विकाश होता है। आत्मशक्ति का विकाश होने से दुःखों का नाश स्वयं सिद्ध है। प्रत्येक दुःख का मूल संशय में है, अज्ञान में हैं, और आत्मिक दुर्बलता में है। और जब ये सब न होंगे, तब दुःख कैसा ?

नमस्कार सूत्र के दो भाग हैं। पहला भाग मूल नमस्कार सूत्र है, जिसका उल्लेख पाँच पदों के रूप में मूल पाठ में किया गया है। जप अथवा अन्य किसी मंगलाचरण के स्थान में उक्त पञ्च पद-स्वरूप नमस्कार सूत्र का ही प्रयोग किया जाता है। दूसरा भाग चूलिका अर्थात् परिशिष्टरूप है, जिसमें नमस्कार का फल तथा माहात्म्य सूचित किया गया है। एक वस्तु कितनी ही क्यों न महत्वपूर्ण हो, परन्तु जब तक उसका व्यवस्थित रूप से निरूपण न हो, तब तक वह साधक जनता को आकृष्ट नहीं कर सकती। चूलिका इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए है। चूलिका का मूल पाठ और भावार्थ इस प्रकार है :—

एसो पंच-नमोक्कारो,
सव्व-पाव-प्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं,
पढमं हवइ मंगलं॥

—यह पाँच पदों को किया गया नमस्कार, सब पापों का पूर्ण रूप से नाश करने वाला है और सब मंगलों में श्रेष्ठ मंगल है।

यह नमस्कार सूत्र समस्त जैन आराधनाओं का केन्द्र है। श्रावक अथवा साधु प्रातःकाल उठते ही, आँख खुलते ही सर्वप्रथम नमस्कार सूत्र पढ़ते हैं। किसी भी समय कोई भी शुभ कार्य करना हो, तो पहले नमस्कार सूत्र पढ़ा जाता है। रात्रि के समय शय्या पर सोते हुए भी नमस्कार सूत्र पढ़कर ही शयन किया जाता है। स्वाध्याय करते समय, प्रतिक्रमण करते समय, बिहार और गोचरचर्या आदि के समय, सर्वत्र नमस्कार सूत्र की मंगलध्वनि गूँजती रहती है। श्रमण-सूत्र के प्रारम्भ में भी यह मंगलार्थ प्रयुक्त हुआ है! अरिहंत आदि पाँच पद हम सब साधकों के लिए आराध्य हैं, अतः प्रारम्भ में सर्वप्रथम इन्हीं के श्री चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित की जाती है।

नमस्कार-सूत्र का प्रत्येक नमस्कार-पद एक-एक अध्ययन है और सम्पूर्ण सूत्र एक महान् श्रुतस्कन्ध है। तथापि नन्दीसूत्र आदि में नमस्कार-सूत्र का सूत्रत्वेन स्वतन्त्र उल्लेख नहीं किया है। कारण यह है कि नमस्कार-सूत्र मंगलाचरण के रूप में भगवती आदि सूत्रों के प्रारम्भ में अंकित किया हुआ है, अतः वह उन्हीं सूत्रों के अन्तर्गत मान लिया गया है। आचार्य अभयदेव भगवती सूत्र की टीका में ऐसा ही उल्लेख करते हैं—'**अयं समस्तश्रुतस्कन्धानामादावुगादीयते, अतएव चायं तेषामभ्यन्तरतयाऽभधीयते।**'

नमस्कार सूत्र का विस्तार बहुत बड़ा है। हमारा प्राचीन जैन साहित्य यत्र-तत्र सर्वत्र नमस्कार सूत्र की महिमा से अंकित है। अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही कुछ भावना स्पष्ट की है। अधिक जिज्ञासा हो तो लेखक की महामंत्र नवकार और सामायिक-सूत्र नामक पुस्तकों से लाभ उठाया जा सकता है।

२ सामायिक-सूत्र

करेमि भंते ! सामाइयं
सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि
जावज्जीवाए
तिविहं तिविहेणं
मणेणं, वायाए, काएणं
न करेमि, न कारवेमि,
करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि
तस्स भंते !
पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि,
अप्पाणं वोसिरामि ।

शब्दार्थ

करेमि=करता हूँ
भंते=भगवन् !
सामाइयं=सामायिक
(कैसी सामायिक ?)
सव्वं=सब प्रकार के
सावज्जं=पाप-सहित
जोगं=व्यापार का
पच्चक्खामि=परित्याग करता हूँ
(कब तक के लिए ?)
जावज्जीवाए=यावज्जीवन, जीवनपर्यन्त
(किस नियम से ?)
तिविहं=तीन प्रकार का त्याग करता हूं
तिविहेणं=तीन प्रकार के योग से
(वह कैसे ?)
मणेणं=मन से
वायाए=वचन से
काएणं=काय से
न करेमि=न करूँगा (सावद्य कर्म)
न कारवेमि=न कराऊँगा
करंतं=करते हुए

अन्नं पि=दूसरे को भी
न=नहीं
समणुजाणामि=अच्छा समझूँगा
(उपसंहार)
तस्स=उस पूर्व पाप से
भंते=हे भगवन् !

पडिक्कमामि=निवृत्त होता हूँ
निंदामि=उसकी निन्दा करता हूँ
गरिहामि=गर्हा करता हूँ
अप्पाणं=आत्मा को, पाप कर्मकारी अतीत जीवन को
वोसिरामि=त्यागता हूँ

भावार्थ

भन्ते ! मैं सामायिक व्रत ग्रहण करता हूँ। (राग द्वेष का अभाव अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्र का लाभ ही सामायिक है) अतः सावद्य=पाप कर्म वाले व्यापारों का त्याग करता हूँ।

जीवन-पर्यन्त मन, वचन और शरीर—इन तीन योगों से पाप कर्म न मैं स्वयं करूँगा, न दूसरों से कराऊँगा, और न स्वयं पाप कर्म करने वाले दूसरों का अनुमोदन ही करूँगा।

भन्ते ! पूर्वकृत पाप से मैं निवृत्त होता हूँ, स्वयं अपने हृदय में उस पाप को बुरा समझता हूँ, आपकी साक्षी से उसकी गर्हा=निन्दा करता हूँ; आत्मा की जो पाप कर्म करने वाली अतीत अवस्था है, उसका पूर्ण रूप से त्याग करता हूँ।

भाष्य

यह सामायिक-सूत्र, वह प्रतिज्ञा-सूत्र है, जो मुनि-दीक्षा ग्रहण करते समय बोला जाता है। प्रस्तुत पाठ को शब्द रूप में नहीं, किन्तु अर्थ रूप में अन्तर्हृदय से स्वीकार कर लेने के बाद साधक उसी क्षण गृहस्थ की कोटि से निकल कर साधुता की कोटि में आ जाता है। विश्व-हितंकर संत के पद पर पहुँचने के लिए सामायिक सूत्र का आलम्बन लेना, जैन परम्परा के अनुसार न्यायबद्ध है।

यह सूत्र केवल वेष-परिवर्तन करने के लिए नहीं है। अपितु यह जीवन-परिवर्तन का आदर्श लेकर आया है। उच्च विचार और उच्च आचार का जीवन अपनाना ही सामायिक सूत्र का दुन्दुभिनाद है। जहाँ हम अपने पड़ोसी सम्प्रदायों में दीक्षा देते समय 'ॐ शिवाय नमः' अथवा 'ॐ विष्णवे नमः' मन्त्रों की फूँक को ही सर्वे सर्वा देखते हैं, वहाँ इधर जैनधर्म में जीवन को भोगविलास के पथ से हटाकर वैराग्य के उद्दीप्त पथ पर अग्रसर करना ही दीक्षा का आदर्श समझा जाता है। किन्हीं मन्त्रों के अक्षर श्रवण-मात्र से जीवन परिवर्तन के सिद्धान्त में जैनधर्म का कभी भी विश्वास नहीं रहा। सामायिक-सूत्र का प्रत्येक शब्द इसी त्याग और वैराग्य के आदर्श से रंगा

हुआ है। भूतकाल की हजारों शताब्दियाँ इसके प्रकाश से चमक रही हैं। लाखों मुनि और आर्याओं के जीवन इसी के आलोक में जगमगाते रहे हैं। भगवान् आदिनाथ से लेकर आज तक का हमारा कोटि-कोटि वर्षों का इतिहास सामायिक सूत्र की इस नन्हीं सी शब्दावली से जुड़ा हुआ है। करोड़ों वर्ष पहले भगवान आदिनाथ श्री ऋषभदेव भी इसी सूत्र को लेकर संयम के उग्रपथ पर अग्रसर हुए हैं, और करोड़ों वर्ष बाद भगवान् महावीर भी यही **'करेमि सामाइयं'** बोलते हुए साधना के महान् पथ पर आरूढ़ हुए हैं। कोटि-कोटि साधकों के जीवन का पल-पल इसी सूत्र की छत्र-छाया में गुजरा है। एक शब्द में कहूँ तो यह जैनधर्म का प्राण है। विशाल जैन साहित्य अनादिकाल से इसी नन्हे से सूत्र की प्रदक्षिणा करता आ रहा है।

सामायिक एक उत्कृष्ट साधना है। जिस प्रकार आकाश समस्त चर-अचर वस्तुओं का आधारभूत है, उसी प्रकार अन्य सब साधनाओं=धर्मक्रियाओं का आधार सामायिक है। बिना आधार के किसी भी चीज़ का रहना जिस प्रकार असम्भव है, उसी प्रकार सामायिक के बिना कोई भी गुण आत्मा में नहीं रह सकता। यह अन्य सब गुणों के लिए वैसे ही है, जैसे मधुमक्षिकाओं के लिए मधुकर राजा, जिसके रहते सब मक्षिकाएं रहती हैं, और जिसके चले जाने पर सभी मक्षिकाएँ साथ ही चली जाती हैं।

सामायिक का अर्थ समता है। बाह्य दृष्टि का त्याग कर अन्तर्दृष्टि द्वारा आत्मनिरीक्षण में मन को जोड़ना, विषमभाव का त्याग कर समभाव में स्थिर होना, राग-द्वेष के पथ से हटकर सर्वत्र सर्वदा करुणा एवं प्रेम के पथ पर विचरना, सांसारिक पदार्थों का यथार्थ स्वरूप समझ कर उन पर से ममता एवं आसक्ति का भाव हटाना और ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप आत्मस्वरूप में रमण करना सामायिक है, समता है, त्याग है, वैराग्य है। अन्धकारपूर्ण जीवन को आलोकित करने का इससे अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं हो सकता।

सामायिक का पथ आसान नहीं है, यह तलवार की धार पर धावन है। जब तक निन्दा-प्रशंसा में, मान-अपमान में, हानि-लाभ में, स्वजन-परजन में, एकत्व बुद्धि, एवं समत्व बुद्धि नहीं हो जाती, तब तक सामायिक का पूर्ण आनन्द नहीं उठाया जा सकता। प्राणिमात्र पर, चाहे वह छोटा हो या बड़ा हो, मित्र हो, या शत्रु हो, समभाव रखना कितना ऊँचा आदर्श है, कितनी ऊँची साधुता है! जब तक यह साधुता न हो, तब तक खाली वेष लेकर जनवंचन से क्या लाभ?

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य;
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं।

—अनुयोग द्वार

दूर क्यों जाएँ? सामायिक क्या है—इस प्रश्न का उत्तर हमें प्रस्तुत सूत्र के द्वारा ही मिल जाता है। आइए, जरा विशेष शब्दों पर ध्यान देते चलें :—

सर्व प्रथम **'करेमि भंते'** शब्द हमारे समक्ष आता है। गुरुदेव के प्रति कितनी श्रद्धा और भक्ति के सुधारस से सना हुआ शब्द है यह! **'भदि कल्याणे सुखे च'** धातु से भन्ते=भदन्त शब्द बना है। भदन्त का अर्थ कल्याणकारी एवं सुखकारी होता है। गुरुदेव से बढ़कर संसार-जन्य दुःख से त्राण देने वाला और कौन है? भन्ते के भवान्त तथा भयान्त ये दो संस्कृत रूपान्तर भी किए जाते हैं। भवान्त और भयान्त का अर्थ स्पष्ट है—भव=संसार का अन्त करने वाले, तथा भय=डर का अन्त करने वाले! गुरुदेव की शरण में पहुँचने के बाद भव और भय का क्या अस्तित्व?

आगे चलिए, सामायिक शब्द है। इसके निर्वचनों की कोई इयत्ता नहीं है। अकेले विशेषावश्यक भाष्य में ही दस-बारह हजार श्लोकात्मक ग्रन्थ इस शब्द पर लिखा गया है। आचार्य नमि निर्वचन करते हैं कि (१) आत्मा के समान ही दूसरों के दुःख को भी समझना और उसे न करना साम है, साम ही स्वार्थिक कण होने पर सामायिक हो जाता है। (२) राग द्वेष से सर्वथा तटस्थ रहना सम है, वही आयादेश एवं कण् होने पर सामायिक कहलाता है। (३) राग-द्वेष-रहित सम की प्राप्ति ही सामायिक है :—

(१) आत्मोपमया परदुःखाकरणं साम, तदेव सामायिकम्।
(२) राग-द्वेषान्तरालवर्तित्वं समं, तदेव सामायिकम्।
(३) समस्य=अरक्तद्विष्टस्याऽऽयः समायः, तदेव सामायिकम्। एकान्तोपशान्ति-गमनमित्यर्थः।

—प्रतिक्रमण सूत्र-वृत्ति

तीसरा शब्द **'सावज्जं'** है, जो सम्पूर्ण पापों का एकमात्र वाचक होकर पाप-सहित योगों=व्यापारों का बोध कराता है। अतएव **'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि'** इस वाक्य के द्वारा सूत्रकार ने सामायिक का पूर्ण लक्षण हमारे सामने रख दिया है! जब तक समस्त पाप कर्मों का त्याग न हो, तब तक उच्चकोटि की साधुता वाली सामायिक नहीं होती।

कुछ सज्जन ऐसे मिल सकते हैं, जो कुछ देर के लिए सब पापों का त्याग करने के लिए तैयार हो जायँ। किन्तु यहाँ तो 'जावज्जीवाए' की शर्त है। साधू होने के लिए सामायिक जीवनपर्यन्त धारण की जाती है। सांसारिक वासनाओं का सदा के लिए त्याग कर वैराग्य-रंग में रंगना होता है, अन्तः शत्रुओं से जूझना होता है। यह हिमालय जैसा भार समस्त जीवन शिर पर उठाए रखना, वीरों का काम है, कायरों का नहीं।

पापों का त्याग कुछ स्थूलरूप से नहीं किया जाता है। बहुत गहराई में उतर कर पापों का एक-एक दरवाजा बन्द करने पर ही सच्ची साधुता प्राप्त होती है। साधु की सामायिक सर्व विरति है, अतः तीन करण तथा तीन योग से, अर्थात्

नौ प्रकार से पाप-कर्मों का यावज्जीवन के लिए त्याग किया जाता है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर प्रतिज्ञा-पाठ में कहा है कि **'तिविहं तिविहेणं'**। मन, वचन और कार्य से न पाप करूँगा, न कराऊँगा, न करने वालों का अनुमोदन करूँगा। तीन करण तथा तीन योग के संमिश्रण से सामायिक प्रत्याख्यान के नौ भेद हैं :—

(१) मन से करूँ नहीं।
(२) मन से कराऊँ नहीं।
(३) मन से अनुमोदूँ नहीं।
(१) वचन से करूँ नहीं।
(२) वचन से कराऊँ नहीं।
(३) वचन से अनुमोदूँ नहीं।
(१) काय से करूँ नहीं।
(२) काय से कराऊँ नहीं।
(३) काय से अनुमोदूँ नहीं।

शास्त्रीय परिभाषा में उपर्युक्त नौ प्रकारों का नवकोटि के नाम से उल्लेख किया है। यही नवकोटि अतीत, अनागत, वर्तमानकाल के सम्बन्ध से सप्तविंशति कोटिरूप बन जाती है। मुनि, पाप कर्मों का त्याग तीनों काल के लिए करता है। न वर्तमान में करना, न भविष्य में करना और न अतीत में। अतीत में न करने का अर्थ है कि पूर्व कृत कर्मों से पूर्णतया अपना समर्थन हटा लेना।

निन्दा और गर्हा में क्या अन्तर है? लोक में तो दोनों एकार्थक ही माने जा रहे हैं? उत्तर है कि आगम की भाषा में निन्दा और गर्हा भिन्नार्थक माने गए हैं। आत्मसाक्षी से अपने आप पापों से घृणा करना निन्दा है, और गुरुसाक्षी से किंवा किसी दूसरे योग्य व्यक्ति की साक्षी से पापों की आलोचना करना गर्हा है। **'आत्मसाक्षिकी निन्दा, गुरुसाक्षिकी गर्हा'** —आचार्य हरिभद्र।

अन्तिम शब्द **'अप्पाणं वोसिरामि'** है। संक्षिप्त अर्थ है–'आत्मा को त्यागना।' प्रश्न है, आत्मा को कैसे त्यागना? क्या आत्मा त्यागी जा सकती है? आत्मा से अभिप्राय पूर्व जीवन से है। पापकर्म से दूषित पूर्व जीवन को त्यागना ही आत्मा को त्यागना है। **'आत्मानम् = अतीतसावद्ययोगकारिणमश्लाध्यम्....व्युत्सृजामि,—आचार्य नमि**। कितनी ऊँची उड़ान है? कितनी भव्य भावना है? पुराना सड़ा-गला गन्दा मलिन जीवन त्यागकर नवीन स्वच्छ एवं भव्य जीवन को अपनाइए ; माया का पाश सदा के लिए छिन्न-भिन्न हो जायगा।

यह सब कुछ तो सुन्दर है, सुचारु है, ग्राह्य है; किन्तु एक प्रश्न अड़ता है, उसका भी समाधान हो जाना चाहिए। प्रश्न है–सामायिक-सूत्र प्रतिज्ञा-पाठ है, अतः दीक्षित होते समय इसका बोलना ठीक था, किन्तु अब प्रतिदिन प्रतिक्रमण के समय

इसके दुहराने से क्या लाभ है ? नित्य नई प्रतिज्ञा तो नहीं ली जाती, वह तो यावज्जीवन के लिए एक बार ही ली जाती है ?

प्रश्न सुन्दर है; उत्तर सुनिए। मानव जीवन में प्रतिज्ञा का महत्व बड़ा भारी है। साधारण से साधारण प्रतिज्ञा के लिए भी बहुत कुछ साहस, उत्साह एवं शक्ति की आवश्यकता होती है। प्रतिज्ञा वही मनुष्य ले सकता है और पाल सकता है, जो शेर का सा मजबूत दिल और हौसला रखता हो, जिसके विचार सुमेरु के समान कभी न झुकने वाले हों। आज के दंभपूर्ण युग में प्रतिज्ञा ले लेना तो हँसी खेल हो गया है; परन्तु उसका निभा ले जाना बड़ी उलझी हुई पहेली बन गया है। येन केन प्रकारेण वाणी तो दंभ की दासी बन सकती है, परन्तु हृदय का क्या होगा ? वहाँ तो दो परत नहीं हो सकते ? यह याद रखने की बात है कि प्रतिज्ञा पर मात्र वाणी की मुहर काफी नहीं है। जब तक हृदय की मुहर न लगे, तब तक कुछ भी नहीं। और आप जानते हैं, हृदय की मुहर लगाने के लिए किन कठिनाइयों में से गुजरना होता है ?

आप तो दूर चले जा रहे हैं। हमारे प्रश्न से इस चर्चा का क्या सम्बन्ध ? दूर नहीं, पास आ रहा हूँ। मेरे कहने का यह भाव है कि जब साधारण प्रतिज्ञाओं का पालन भी कठिन पड़ता है, तब साधुत्व की प्रतिज्ञा के पालन की कठिनाई का तो कहना ही क्या ? वह तो जीते जी मर जाने के संकल्प पर ही निभ सकती है। अस्तु प्रतिज्ञापूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि प्रतिज्ञा का हर समय ध्यान रखा जाय। वह सर्वदा हमारे हृदय पर अंकित रहे। अतएव प्रतिज्ञा-सूत्र को दुहराते रहने की परंपरा, भारत की प्राचीन परंपरा है। सामायिक सूत्र प्रतिज्ञा सूत्र है, अतः इसका भी प्रतिक्रमण के समय प्रातः सायं दुहराना आवश्यक है। गृहीत प्रतिज्ञा को इस प्रकार सुबह शाम दुहराते रहने से कर्त्तव्यपालन का जोश कभी ठंडा नहीं पड़ता, सदैव प्रतिज्ञा के लक्ष्य का भान बना रहता है, अन्तर्हृदय साहस से भरता रहता है, फलतः मानसिक दुर्बलताएँ साधक पर हावी नहीं होने पातीं।

दूसरे प्रतिज्ञा पाठ के बोलने का यह भी भाव है कि साधू को सबसे पहले अपने ग्रहण किए हुए व्रत का संकल्प आना चाहिए कि मैंने यह सावद्ययोग-विरमण व्रत कब, कैसे, किस रूप में और कब तक के लिए स्वीकार किया है ? इसके बाद ही प्रतिक्रमण में यह विचारना ठीक हो सकता है कि कब, कैसे और किस रूप में मेरा यह व्रत दूषित हुआ है ? जब तक लिए हुए व्रत के स्वरूप का ही संकल्प न होगा, तब तक उसमें लगने वाले दोषों का क्या खाक संकल्प आएगा ? इस दृष्टि से भी प्रतिक्रमण से पहले प्रस्तुत प्रतिज्ञा पाठ का स्मरण कर लेना आवश्यक है।

●

३ | मंगल-सूत्र

चत्तारि मंगलं—
अरिहंता मंगलं,
सिद्धा मंगलं,
साहू मंगलं,
केवलि-पण्णत्तो
धम्मो मंगलं ।

शब्दार्थ

चत्तारि=चार
मंगलं=मङ्गल हैं
अरिहंता=अरिहंत
मंगलं=मङ्गल हैं
सिद्धा=सिद्ध
मंगलं=मङ्गल हैं
साहू=साधू
मंगलं=मङ्गल हैं
केवलि=केवली का
पण्णत्तो=कहा हुआ
धम्मो=धर्म
मंगलं=मङ्गल है

भावार्थ

संसार में चार मंगल हैं :—
अरिहंत भगवान् मंगल हैं ।
सिद्ध भगवान् मंगल हैं ।
साधु-महाराज मंगल हैं ।
सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म मंगल है ।

भाष्य

मंगल ! अहा, कितना प्रिय शब्द है मंगल ! संसार का प्रत्येक प्राणी अनन्तकाल से मङ्गल की शोध में है, मङ्गल की तलास में है । मङ्गल के लिए

मनुष्य ने क्या कुछ नहीं किया ? भीमकाय पर्वतों की यात्रा की, अपार जलराशि से भरे उत्ताल-तरंग समुद्रों को लाँघा, बीहड़ जंगलों को रौंद डाला, रक्त की नदियाँ बहा दीं, अनन्तबार अपने को मृत्यु के भीषण मुख में डाला। किन्तु हताश ! मङ्गल नहीं मिला। कल्याण की प्राप्ति नहीं हुई। कभी कुछ देर के लिए मङ्गल समझ कर किसी वस्तु को अपनाया भी; परन्तु यह क्या ! फिर वही हाय हाय ! मङ्गल कहाँ गया ? दरिद्र का राज्य स्वप्न हो गया ! स्थायी आनन्द का साधन जब तक न मिले, तब तक कैसा मङ्गल ? मनुष्य की अन्तरात्मा क्षणिक मङ्गल के व्यामोह में अपने आपको कुछ क्षण के लिए भुला सकती है; परन्तु जीवन की समस्या का वास्तविक हल नहीं हो सकता।

मंगल प्राप्त भी कैसे हो ? जब तक वस्तु-स्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान न हो तब तक कितना ही विशाल प्रयत्न हो, वह फलप्रद नहीं हो सकता। फलप्रद क्या ? कभी कभी वह बहुत ही भयंकर उलटा परिणाम भी लाता है। गन्तव्य स्थान पूर्व में हो और चला जाय पश्चिम को, तो क्या परिणाम निकलेगा ? गर्मी से घबराया हुआ मनुष्य धधकती हुई अग्नि की ज्वालाओं में छलांग लगा दे, तो क्या हाथ लगेगा ? भूख की व्याकुलता में विष-मिश्रित मिष्टान्न, भर पेट खाया जाय, तो उसकी क्या कीमत चुकानी पड़ेगी ? मंगल के लिए संसारी प्राणियों का प्रयत्न ठीक इसी दिशा में हुआ है, तभी उनके भाग्य का स्वर्ण द्वार खुलने के स्थान में और अधिक दृढ़ता से बन्द हो गया है। संसार की विभूति, संसार का ऐश्वर्य, मंगल नहीं है। आप दुनिया की किसी भी वस्तु को मंगल समझ कर तदर्थ प्रयत्न करेंगे तो आपको अमंगल ही हाथ आयगा। सांसारिक उलझनों से भरे लौकिक मंगलों से न आज तक किसी ने शान्ति पाई और न भविष्य में ही कोई पा सकेगा। लौकिक मंगलों के ऊँचे से ऊँचे साधनों पर पहुँच कर फिर मनुष्य ठोकर खा गया है। वह अभ्युदय नहीं, उत्थान नहीं, अपितु उन्नति हैं। उन्नति का अर्थ है—उत्+नति अर्थात् उठकर गिरना।

ऊपर की कण्डिकाओं को पढ़ कर निराश न बनिए। यह न समझिए कि अब हमारे उद्धार का कोई मार्ग ही नहीं है ? हमें इसी प्रकार ठोकरें खाते अनन्तकाल व्यतीत करना होगा ? मंगल की प्राप्ति कभी हमें होगी ही नहीं ? हमारे अध्यात्म-ज्ञानी पूर्वजों ने दुनियावी मंगलों से पृथक् अलौकिक मंगलों की शोध की है। यह मंगल, वह मंगल है, जो कभी अमंगल नहीं होता।

भगवान् अरिहन्त देव, भगवान् सिद्ध देव, त्यागी साधू और सर्वज्ञप्ररूपित अहिंसा आदि धर्म अलौकिक=लोकोत्तर मंगल हैं। आत्म-कल्याण के लिए इनसे बढ़ कर कोई अन्य मंगल नहीं हो सकता। यह वह प्रकाश है, जो हजारों आँधियों के तूफान में भी धुँधला नहीं हो सकता। कैसा ही विकट समय हो, कैसी ही भीषण परिस्थितियाँ हों; इनकी ओर से मंगल-वृष्टि होती ही रहेगी। हृदय के अनन्तकाल से सोये हुए कोमल भावों को जागृत करो, श्रद्धा के उजड़े और सूखे हुए उपवन को हरा भरा करो,

मंगलचतुष्टयी की ओर अपने को सर्वात्मना अभिमुख करो; तुम्हें अमर शान्ति प्राप्त होगी, जिसे पाकर तुम धन्य-धन्य हो जाओगे !

प्रस्तुत मंगल चतुष्टयी में प्रथम के दो मंगल आदर्शरूप हैं। हमारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्रमशः अरिहन्त और सिद्ध भगवान् हैं। अरिहन्त पद में जीवन को सर्वथा राग द्वेष से रहित बनाया जाता है और सिद्ध पद में आत्म भाव की पूर्णता को, सिद्धता को प्राप्त कर लिया जाता है। अरिहन्त, सिद्ध का स्मरण करते ही हमें अपने गन्तव्य लक्ष्य का ध्यान आ जाता है।

साधु मंगल हमारे जीवन का अनुभवी साथी एवं मार्ग-प्रदर्शक है। आध्यात्मिक क्षेत्र में आज सीधा प्रकाश इन्हीं से मिलता है। हमारे सामने जब कि अरिहन्त, सिद्ध पूर्ण सिद्धता के आदर्श मंगल हैं, तब साधु साधकता के आदर्श मंगल हैं। साधु पद में आचार्य, उपाध्याय और मुनि तीनों का ग्रहण होता है।

धर्म मंगल सबसे अन्त में है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह गौण मंगल है। यदि वास्तविकता को देखा जाय तो, पूर्वोक्त तीनों मंगलों का निर्माण धर्म के द्वारा ही होता है। बिना धर्म के साधु क्या, और बिना साधना किए अरिहन्त और सिद्ध की सिद्धता क्या ? सूत्रकार ने अन्त में धर्म का उल्लेख करके इसी सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है कि धर्म ही सब मंगलों का मूल है। यदि पुष्प में सुगन्ध न हो, मिसरी में मिठास न हो, अग्नि में उष्णता न हो, तो उनका क्या स्वरूप बच रहेगा ? कुछ भी नहीं। ठीक यही दशा धर्म-हीन मानव की है। **'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।'**

धर्म की शक्ति बहुत बड़ी है। भानुजी दीक्षित कहते हैं—**'धरति विश्वमिति धर्मः'**—जो विश्व को धारण करता है वह धर्म है। आचार्य हरिभद्र दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की टीका में लिखते हैं—**'दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः'**—जो दुर्गति में पड़ते हुए आत्माओं को धारण करता है, नीचे नहीं गिरने देता है, ऊपर ही ऊपर उठाए रखता है, वह धर्म है। अस्तु धर्म से बढ़ कर मंगल और कौन हो सकता है ? यही **'सर्वमंगलमाङ्गल्यं, सर्व कल्याणकारणम्'** है।

धर्म शब्द से कौनसा धर्म ग्राह्य है ? इस सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्तियाँ हैं। पन्थों और सम्प्रदायों के चक्कर में पड़कर यह महान् शब्द एक प्रकार से अपना स्वरूप ही खो बैठा है। न मालूम कौन सा वह दुर्भाग्य का दिन था; जिस दिन धर्म शब्द को सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त किया गया। भगवान् महावीर ने दृढ़ता के साथ यह संप्रदायवाद का खोल उतार फेंका और स्पष्ट रूप से धर्म का वास्तविक चित्र जनता के सामने रक्खा। दशवैकालिक सूत्र के प्रथम ही अध्ययन में कहा है—**'अहिंसा, संजमो, तवो।'** 'अहिंसा, संयम और तप धर्म है।' मैं समझता हूँ, धर्म का यह निर्वचन साम्प्रदायिक हदबंदी से सर्वथा ऊपर है।

धर्म के लिए 'केवलिपण्णत्तो' विशेषण दिया है। यह बहुत गंभीर एवं रहस्यपूर्ण है। अहिंसा, संयम और तप धर्म है, यह हम कैसे मानें ? दूसरे हिंसा-प्रधान

अनुष्ठान धर्म क्यों नहीं ? इसी का उत्तर यह विशेषण देता है। विशेषण का भाव है, केवल ज्ञानी सर्वज्ञों द्वारा कहा हुआ धर्म ही धर्म होता है। जो केवल-ज्ञानी नहीं हैं, वे अनाप्त हैं। अनाप्त का कथन कथमपि प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। अतः एव धर्म के प्रवक्ता सर्वज्ञ होने चाहिएँ, साक्षाद् द्रष्टा होने चाहिएँ। आत्मा में संपूर्ण पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने का पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्था में अज्ञानरूप मल से आवृत होने के कारण पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता, परन्तु जब अज्ञान का पूर्णतया नाश एवं क्षय हो जाता है, तब आत्म ज्योति के समक्ष कोई भी पदार्थ दुर्ज्ञेय अथच अज्ञेय नहीं रहता। ज्ञान, आत्मा का अपना वास्तविक स्वभाव है। जब उत्कृष्ट साधना के द्वारा दोष और आवरण का समूल क्षय हो जाता है, तब दर्पण-तल पर पदार्थ समूह की तरह समस्त पदार्थ-जात ज्ञानदर्पण में झलकने लगते हैं। धर्म और अधर्म का वास्तविक स्वरूप कुछ भी छुपा नहीं रहता। अतः धर्म की प्रामाणिकता के लिए यह आवश्यक है कि धर्म, रागद्वेष के मल से रहित पूर्ण सर्वज्ञों द्वारा कहा हुआ हो ! आज भी हम श्रोता की अपेक्षा साक्षाद् द्रष्टा पर अधिक विश्वास करते हैं। कल्पना करो, आपके पास दो आदमी आते हैं। एक कहता है—अमुक घटना मैंने सुनी है, पर आप उस पर विश्वस्त नहीं होते। दूसरा कहता है—मैंने साक्षात् वह घटना देखी है, आप झटपट विश्वास कर लेते हैं। यह है साक्षात् द्रष्टा का महत्व ! अतएव धर्म भी साक्षात् द्रष्टा केवल ज्ञानी का कहा हुआ हमें अधिक श्रद्धास्पद होता है। उसके साथ सत्य की व्याप्ति अधिक सुदृढ़ होती है।

मंगल शब्द के निर्वचन अनेक प्रकार से किए हैं। आवश्यक-निर्युक्ति तथा श्री जिनभद्र गणीकृत विशेषावश्यक के आधार पर आचार्य हरिभद्र दशवैकालिक टीका में लिखते हैं—'**मङ्गयतेऽधिगम्यते हितमनेनेति मंगलम्**'—जिसमें हित की प्राप्ति हो वह मंगल है। '**मां गालयति भवादिति मङ्गलं-संसारादपनयति**'—जो मत्पदवाच्य आत्मा को संसार से अलग करता है वह मंगल है। विशेषावश्यक भाष्य के टीकाकार मल्लधारी हेमचन्द्र कहते हैं—'**मंग्यतेऽलंक्रियतेऽनेनेति मंगलम्**'—जिससे आत्मा शोभायमान हो, वह मंगल है। '**मोदन्तेऽनेनेति मंगलम्**' जिससे आनन्द तथा हर्ष प्राप्त होता है वह मंगल है।'**मह्यन्ते=पूज्यन्तेऽनेनेति मंगलम्**'— जिसके द्वारा आत्मा पूज्य = विश्ववन्द्य होता है, वह मंगल है। प्रत्येक व्युत्पत्ति लौकिक मंगल की महत्ता न बताकर उपर्युक्त लोकोत्तर मंगल की ही अद्वितीय महत्ता को प्रकट करती है। अतः साधक का कर्तव्य है कि लौकिक मंगलों की ओर से मन को हटाकर उसे इन्हीं मंगलों के प्रति सर्वात्मना अर्पण करना चाहिए।

४ | उत्तम-सूत्र

चत्तारि लोगुत्तमा—
अरिहंता लोगुत्तमा,
सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा,
केवलि-पण्णत्तो
धम्मो लोगुत्तमो ।

शब्दार्थ

चत्तारि=चार	साहू=साधु
लोगुत्तमा=लोक में उत्तम हैं	लोगुत्तमा=लोक में उत्तम हैं
अरिहंता=अरिहन्त	केवलि=केवली का
लोगुत्तमा=लोक में उत्तम हैं	पण्णत्तो=कहा हुआ
सिद्धा=सिद्ध	धम्मो=धर्म
लोगुत्तमा=लोक में उत्तम हैं	लोगुत्तमो=लोक में उत्तम है

भावार्थ

चार लोक=संसार में उत्तम=श्रेष्ठ हैं :—
अरिहन्त भगवान् लोक में उत्तम हैं ।
सिद्ध भगवान् लोक में उत्तम हैं ।
साधु महाराज लोक में उत्तम हैं ।
सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म लोक में उत्तम है ।

भाष्य

पूर्वसूत्र में मङ्गल का निरूपण किया गया है । अब प्रश्न है—मङ्गल कौन हो सकता है ? अरिहंत, सिद्ध, साधु अथ च धर्म मङ्गल हैं; पर क्यों मंगल हैं ? इसी

प्रश्न के उत्तर की ओर संकेत करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि चार उत्तम हैं। जो उत्तम होता है, वही मंगल होता है—यह व्याप्ति कथमपि विघटित नहीं हो सकती।

संसार में जिधर भी जाइए, उत्तम की शोध है। युद्ध के मैदान में उत्तम सैनिक अपेक्षित हैं, विद्यार्थी उत्तम अध्यापक पर मुग्ध हैं। कारखानेदार उत्तम नौकर को पाकर धन्य हैं, और तो क्या, उत्तम भोजन, उत्तम वस्त्र, उत्तम घर पर मनुष्य सुप्रसन्न है। क्या सचमुच ही ये सब उत्तम हैं ? उत्तर में आप नहीं, तो मुझे ही 'न' लिखना होगा। प्रतिदिन देखते हैं, आज का उत्तम सैनिक कल अनुत्तम हो जाता है और हटा दिया जाता है। अध्यापक और नौकर की उत्तमता भी स्थायी नहीं है, और जिन भोजन, वस्त्र और घरों की उत्तमता पर मानव पागल बना हुआ है, उनकी उत्तमता तो सर्वथा क्षणिक है। निष्कर्ष यह है कि संसार की कोई भी चीज सर्वथा और सर्वदा उत्तम नहीं है। और जो सर्वथा और सर्वदा उत्तम न हो, वह उत्तम नहीं; खाली उत्तमता की भ्रान्ति है। उत्तम का अर्थ है—ऊँचा होना, विशेष ऊँचा होना, सबसे ऊँचा होना। जिसका उत्थान पुनः पतन की ओर न जाय, और न अपने भक्त को पतन की ओर ले जाय, वही वस्तुतः उत्तम होता है। एतदर्थ 'उत् × तम' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार कीजिए।

हाँ तो उत्तम शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार अरिहंत, सिद्ध, साधु और धर्म ही उत्तम हैं। इनसे बढ़कर और कौन उत्तम है ? अनन्त-काल से भटकती हुई भव्य आत्माओं को उत्थान के पथ पर ले जाने वाले ये ही चार उत्तम हैं। आत्मजागृति के क्षेत्र में हम इनकी कोईदूसरी उपमा नहीं पाते। अपने जैसे ये बस आप ही हैं—"**गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।**" आकाश की उपमा देने के लिए, क्या कोई दूसरा आकाश है ? समुद्र की उपमा बताने के लिए, क्या कोई दूसरा जलाशय है ? अखिल त्रिलोकी में उत्तमता की शोध करते हुए हमारे पूर्व महर्षियों को ये चार ही, अपनी जोड़ के आप ही, उत्तम मंगल मिले। इस सम्बन्ध में मुझे पण्डितराज जगन्नाथ का एक पद्य याद आ रहा है, जो यहाँ पूर्ण औचित्य को लिए हुए है :—

गाहितमखिलं गहनं,
परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे;
सहकार ! न प्रपेदे,
मधुपेन तवोपमा जगति !

—भामिनी-विलास १।२०

"भ्रमर ने सारा का सारा वन छान डाला, एक-एक करके सब वृक्षों को अच्छी तरह देख लिया; परन्तु हे आम्र ! उसे तेरे समान श्रेष्ठ और कोई वृक्ष मिला ही नहीं।"

ठीक इसी प्रकार मुमुक्षु भ्रमरगण को सम्पूर्ण जड़ एवं चैतन्यरूप विश्व-वन

को भली भाँति देखने पर भी उपर्युक्त उत्तम चतुष्टयी की तुलना में कोई नहीं मिल सका।

उक्त चार उत्तमों में अरिहंत और सिद्ध परमात्मा-रूप में उत्तम हैं। कर्ममल को दूर करने के बाद आत्मा का शुद्ध आत्म-ज्योतिरूप हो जाना ही परमात्मा हो जाना है; और इस दृष्टि से अरिहंत और सिद्ध परम=उत्कृष्ट पवित्र आत्मा, परमात्मा हैं। साधुपद वाच्य आचार्य, उपाध्याय और मुनि, महात्मा के रूप में उत्तम हैं। ये अभी परमात्मा नहीं बने, किन्तु परमात्मा के पथ पर महात्मा होकर अग्रसर हो रहे हैं, त्याग और वैराग्य के तेज से आत्मा को महान्, महत्तर एवं महत्तम बना रहे हैं, अस्तु इनकी शान का दूसरा साधक मिलना कठिन है। अब रहा धर्म, वह साधन के रूप में सर्वोत्तम है। आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बनने के लिए धर्म ही एक उत्कृष्ट साधन है। संसार की और सब चीजें, आत्मा को पतन की ओर ले जाती हैं; कलुषित बनाती हैं, और असह्य दुःख-दावानल में जलाकर विकृत कर देती हैं; जबकि धर्म दुर्गति में पड़ते हुए आत्माओं को धारण करने के कारण **'धारणाद् धर्म :'** के निर्वचन की अग्निपरीक्षा में पूर्णतया पूरा उतरता है।

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के भाष्य की सम्बन्धकारिका में, पूज्य आचार्य उमास्वाति सम्पूर्ण मानव-जगत को छह विभागों में विभक्त करते हैं—अधमाधम, अधम, विमध्यम, मध्यम, उत्तम और उत्तमोत्तम।

१—अधमाधम मनुष्य वह है, जो लोक और परलोक दोनों को नष्ट करने वाले अत्यन्त नीच पापाचरण करता है। न उसे इस लोक की लज्जा और प्रतिष्ठा का खयाल रहता है। और न परलोक का ही। वह परले सिरे का नास्तिक होता है। धर्म और अधर्म के विधि-निषेधों को वह ढोंग समझता है। वह उचित और अनुचित किसी भी पद्धति का खयाल किए बिना एकमात्र अपना अभीष्ट स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। यह मनुष्य वेश्यागामी, पर-स्त्री सेवन करने वाला, मांसाहारी, चोर, दुराचारी एवं सब जीवों को निर्दयतापूर्वक सताने वाला होता है। न यह इस लोक में सुख-शान्ति, प्रतिष्ठा और आनन्द प्राप्त करता है और न परलोक में ही अपने जीवन को सुखमय बना पाता है।

२—अधम मनुष्य वह है, जो उपर्युक्त अधमाधम मनुष्य की भांति पर स्त्री-गमन, चोरी आदि अत्यन्त नीच आचरण तो नहीं करता, परन्तु विषयासक्ति का त्याग नहीं कर सकता। वह अपनी सारी शक्ति लगा कर इस लोक के ही सुन्दर सुखोपभोगों को प्राप्त करता है और उन्हें पाकर अपने को भाग्यशाली समझता है। यह जीवन, धर्म को लक्ष्य में रखकर सदाचार की ओर प्रगति नहीं करता, प्रत्युत लोक लज्जा के कारण ही अत्यन्त नीच दुराचरणों से बचा रहता है। इस जीवन में भोगासक्ति इतनी तीव्र होती है कि धर्माचरण के प्रति किसी भी प्रकार की श्रद्धा-भक्ति जागृत ही नहीं होती।

३—विमध्यम मनुष्य वह है, जो लोक और परलोक दोनों को सुधारने का प्रयत्न करता है। यह आस्तिक जीवन का प्रथम सोपान है। यहाँ लोकलज्जा के द्वारा विधि निषेध का प्रश्न हल नहीं किया जाता, प्रत्युत पाप-पुण्य के प्रकाश में जीवन-यात्रा प्रगतिशील होती है। यह जीवन समय पर दान करता है, दूसरों की सेवा करता है, ताकि उसका परलोक भी सुन्दर हो। एक साधारण सदाचारी गृहस्थ का जीवन विमध्यम जीवन है। यह लोक और परलोक के दोनों घोड़ों पर सवारी करना चाहता है। परन्तु परलोक के सुखों के लिए, यदि इस लोक के सुख छोड़ने पड़ें तो इसके लिए तैयार नहीं होता। यह सुन्दर भविष्य के लिए सुन्दर वर्तमान को निछा-वर नहीं कर सकता। यह दोनों ओर एक जैसा मोह रखता है, इसका सिद्धान्त है—'माल भी खाना, बैकुंठ भी जाना।'

४—मध्यम मनुष्य का जीवन विमध्यम की अपेक्षा कुछ ऊंचा होता है। वह इस लोक की अपेक्षा परलोक के सुखों की अधिक चिन्ता करता है। यदि उसे परलोक को सुधारने के लिए इस लोक में कुछ कष्ट भी उठाना पड़े, सुख सुविधा भी छोड़नी पड़े तो इसके लिए सहर्ष तैयार रहेगा। वह परलोक के सुख की आसक्ति में इस लोक के सुख की आसक्ति का त्याग कर सकता है, परन्तु वीतराग भाव की साधना में दोनों ही प्रकार की सुखासक्ति का त्याग नहीं कर सकता। संसार की वर्तमान मोहमाया उसे भविष्य के प्रति लापरवाह नहीं बनाती। वह सुन्दर वर्तमान और सुन्दर भविष्य के चुनाव में सुन्दर भविष्य को चुनने का ही अधिक प्रयत्न करेगा, परन्तु उसका वह सुन्दर भविष्य सुखासक्ति रूप होगा, अनासक्ति रूप नहीं।

५—उत्तम साधक वह है, जिसकी सम्पूर्ण साधना लोक और परलोक दोनों की आसक्ति से सर्वथा दूर, विशुद्ध आत्मतत्त्व के प्रकाश के लिए होती है। भौतिक सुख चाहे वर्तमान का हो अथवा भविष्य का, लोक का हो अथवा परलोक का, दोनों ही उसकी दृष्टि में हेय हैं। वह लोहे की बेड़ी और सोने की बेड़ी में कुछ अन्तर नहीं समझता। उसके लिए दोनों ही बन्धन-रूप हैं। उसका समग्र जीवन एकमात्र आत्मतत्त्व के प्रकाश के लिए, सर्वथा बन्धनमुक्त होने के लिए गतिशील रहता है। संसार का भोग चाहे चक्र-वर्ती पद का हो अथवा इन्द्रपद का, वह एकान्त निस्पृह अनासक्त भाव से रहता है। संसार का कोई भी प्रलोभन उसे वीतराग भाव की साधना के पवित्र मार्ग से एक क्षण के लिए भी नहीं भटका सकता। यह पद उत्तम श्रावक और उत्तम मुनि का है। मोक्षपद के ये दोनों ही यात्री अनासक्त जीवन के उच्च आदर्श हैं।

६—अब रहा उत्तमोत्तम महामानव का पद। उसके लिए क्या परिभाषा बतलाऊँ? वह संसारी जीवों की सम्पूर्ण परिभाषाओं से ऊपर है। फिर भी परिचय की एक हलकी सी झलक के लिए कह सकते हैं कि जो आत्मतत्त्व का पूर्ण प्रकाश पाकर स्वयं कृतकृत्य हो चुका हो, पूर्ण हो चुका हो, तथापि विश्वकल्याण की भावना से दूसरों को पूर्ण बनाने के लिए अहिंसा सत्य आदि उत्तम धर्म का उपदेश देता हो,

वह उत्तमोत्तम मानव है। इस कोटि में अरिहन्त भगवान् आते हैं। अरिहन्त भगवान् केवल-ज्ञान का प्रकाश पाकर निष्क्रिय नहीं हो जाते, प्रत्युत निःस्वार्थ भाव से जनता के प्रति परम धर्म का उपदेश देते हैं।

कर्माहितमिह चामुत्र,
चाधमतमो नरः समारभते।
इह फलमेव त्वधमो,
विमध्यमस्तूभयफलार्थम् ॥४॥
परलोक-हितायैव,
प्रवर्तते मध्यमः क्रियासु सदा।
मोक्षायैव तु घटते,
विशिष्टमत्तिरुत्तमः पुरुषः ॥५॥
यस्तु कृतार्थोऽप्युत्तम—
मवाप्य धर्मं परेभ्य उपदिशति।
नित्यं स उत्तमेभ्यो-
ऽप्युत्तम इति पूज्यतम एव ॥६॥ —तत्त्वार्थ भाष्य

प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि आप इधर-उधर व्यर्थ ही कहाँ भटक रहे हैं, उत्तम की शोध कर रहे हैं? आत्मज्योति का प्रकाश हमें कहीं अन्य उत्तमों से नहीं मिल सकता। आत्मतत्त्व रूप उत्तम सिद्ध पद की प्राप्ति के लिए एकमात्र साधन अहिंसा सत्य आदि उत्तम धर्म है। और वह उत्तम धर्म हमें उत्तम अरिहन्त भगवानों के द्वारा बताया गया है। आज अरिहन्त भगवान् हमारे समक्ष विद्यमान नहीं हैं, परन्तु उनके बताए हुए धर्म का आचरण करने वाले उत्तम साधु तो विद्यमान हैं। उत्तम साधु अरिहन्त भगवान् के प्रतिनिधि हैं, आचार्य कुन्दकुन्द की अलंकार-भाषा में कहें तो अरिहन्त भगवान के प्रतिबिम्ब हैं। अतः आइए, उनके चरणों में बैठ कर उत्तम धर्म का उपदेश लें और अन्त में उत्तमोत्तम पद की प्राप्ति करें।

प्रस्तुत चार उत्तमों में धर्म का नम्बर अन्तिम है। इसका भाव यह है कि वास्तविक उत्तमता धर्म में ही है। धर्म के द्वारा ही आदि के तीन पदों को उत्तमत्व प्राप्त है। जैन-धर्म गुण-पूजा का पक्षपाती है। गुण के द्वारा ही गुणी का महत्त्व है, अन्यथा नहीं।

साधु पद में आचार्य और उपाध्याय पद का भी अन्तर्भाव हो जाता है। अतः चार मंगल, चार उत्तम और चार शरण में महामन्त्र परमेष्ठी के पाँच पदों का एवं उक्त पदों को महत्त्व प्रदान करने वाले उत्तम धर्म का समावेश है। अरिहन्त, सिद्ध, साधु—(आचार्य, उपाध्याय, साधु) ये तीन गुणी हैं और केविल-प्ररूपित धर्म गुण है। जैन धर्म गुणी आत्माओं को वन्दन करते समय साथ ही गुण को भी वन्दन करता है। यह भावात्मक साधना का अद्वितीय आदर्श है।

५ | शरण-सूत्र

चत्तारि सरणं पवज्जामि—
अरिहंते सरणं पवज्जामि,
सिद्धे सरणं पवज्जामि,
साहू सरणं पवज्जामि,
केवलि-पण्णत्तं धम्मं
सरणं पवज्जामि ।

शब्दार्थ

चत्तारि=चार की
सरणं=शरण
पवज्जामि=लेता हूँ
अरिहंते=अरिहन्तों की
सरणं=शरण
पवज्जामि=लेता हूँ
सिद्धे=सिद्धों की
सरणं=सरण
पवज्जामि=लेता हूँ

साहू=साधुओं की
सरणं=शरण
पवज्जामि=लेता हूँ
केवलि=केवली के
पण्णत्तं=कहे हुए
धम्मं=धर्म की
सरणं=शरण
पवज्जामि=लेता हूँ

भावार्थ

चार की शरण स्वीकार करता हूँ—
अरिहंतों की शरण स्वीकार करता हूँ ।
सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूँ ।
साधुओं की शरण स्वीकार करता हूँ ।
सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ ।

भाष्य

संसार दुःख की ज्वालाओं से चारों ओर जल रहा है, कहीं भी सुख नहीं, कहीं भी शान्ति नहीं। झोंपड़ियाँ अपने कष्ट में व्याकुल हैं तो स्वर्ण-महल अपने दुःख में प्रकम्पित हैं। दरिद्र अपनी सीमा में दुःखी हैं तो नरेन्द्र भी अपनी सीमा में सुखी नहीं हैं। मानव-हृदय सर्वदा दुःखों की ज्वालाओं से धाँय-धाँय करके जल रहा है। मनुष्य असहाय है, निरुपाय है, किसकी शरण में जाय ?

संसार के जितने भी पदार्थ हैं, मनुष्य को शरण नहीं दे सकते। न धन, न राज्य, न ऐश्वर्य, न सेना, न परिजन, न मित्र, न शरीर, न बुद्धि, न और कुछ। जीवन के अन्तिम क्षणों का दृश्य हमारे सामने है। अज्ञानी मानव इस दुनिया से चिपटे रहने का कितना प्रयत्न करता है ! किन्तु मृत्यु कहाँ छोड़ती है ? वह विवश जीवात्मा को घसीट कर ले ही जाती है। उस समय कौन शरण देता है ? कौन बचाता है ? कोई नहीं। धन तिजौरी में बंद पड़ा रह जाता है, पशु-धन बाड़े में बंद खड़ा रहता है, स्त्री दरवाजे तक और मित्र परिजन श्मसान तक। आगे जैसी करनी वैसी भरनी। हा हन्त ! फिर भी मनुष्य कितना पागल है, जो इन्हीं दुनिया की अँधेरी गलियों में तो भटक रहा है, किन्तु मैदान में आकर सूर्य के पूर्ण प्रकाश का दर्शन करना नहीं चाहता।

अनादिकाल से मोहमाया में व्याकुल जीवात्मा का यदि उद्धार हो सकता है, कल्याण हो सकता है, तो पूर्वसूत्रोक्त चार उत्तमों की शरण में आने पर ही हो सकता है। इनके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है, शरण नहीं है। ओ दुनिया के भूले मानव ! कहाँ भटक रहा है ? क्यों भटक रहा है ? आ, और शीघ्र से शीघ्र आ। तेरे उद्धार का मार्ग प्रशस्त है, तेरा भविष्य समुज्ज्वल है। तू अरिहंतों की, सिद्धों की, साधुओं की और सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म की शरण क्यों नहीं लेता है ? सूत्रकार ने अपार कृपा कर के सहज ही में यह गुप्त रहस्य हमारे लिए प्रकट कर दिया है। अब तुम जो चाहो सो पा सकते हो। दिशा बदलते ही दशा बदल जाती है। जब तक उत्तम-चतुष्टय की शरण में न आए थे, तभी तक दुःख, कष्ट, पीड़ा, व्यथा, अज्ञान, मोह सब कुछ था। पर अब ? अब तो सर्वत्र शान्ति ही शान्ति है, सुख ही सुख है।

सुख, शान्ति, आनन्द कहीं बाहर नहीं है। वह हमारे अन्दर ही है, घट में ही है। केवल अपनी अज्ञानता ही हमें कष्ट देती रहती है। चारों उत्तमों की शरण लेने से वह अज्ञान दूर होता है, ज्ञान जागृत होता है। हम अपनी रक्षा करने में, अपने भाग्य के निर्माण में समर्थ हो जाते हैं। प्रभु का प्रताप इतना ही है कि हमें प्रकाश मिल जाता है, अपनेपन का भान हो जाता है, आध्यात्मिक दरिद्रता चकनाचूर हो जाती है, आत्मिक ऐश्वर्य की ज्योति सब ओर जगमगा उठती है।

एक दरिद्र था। उसके घर एक फकीर आया। आवाज लगाते ही दरिद्र घर से बाहर आकर देखता है तो एक फकीर भिक्षा की प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ा है। दरिद्र बेचारा गिड़गिड़ा कर कहने लगा—महात्मन् ! मेरा अपार सौभाग्य है कि आप

दया करके पधारे; पर घर में तो अन्न का दाना भी नहीं है, काहे से सेवा करूँ ? दरिद्र हूँ, अपना ही पेट भरना कठिन हो रहा है।' फकीर ने कहा—'अरे यह क्या ? तुम्हारे समान तो संसार में कोई भाग्यवान ही नहीं है।' फकीर खुले दरवाजे से अन्दर की ओर झाँक रहा था। अन्दर शिलापट्ट पर एक लोढ़ा रक्खा हुआ था। पूछा—'वह क्या है ?' दरिद्र ने उत्तर दिया—'महाराज ! पत्थर है, इससे चटनी पीसा करता हूँ।' सन्त ने कहा—'नहीं, यह पत्थर नहीं है, यह तो पारस है।' गरीब को कैसे विश्वास होता ? परन्तु ज्यों ही फकीर ने दरिद्र के तवा, करछी, चिमटा आदि लोहे की चीजों को पारस से छूआ तो सब सोने के बन गए। अब क्या था, एक क्षण में ही उस गरीब की सारी दरिद्रता मिट गई, आँखें खुल गईं ! ठीक यही दशा हमारी है। पारस रूप आत्मा से विषयभोग की चटनी पीस रहे हैं। परन्तु ज्यों ही मंगल-चतुष्टय के उज्ज्वल प्रकाश से आँखें खुलती हैं तो एक ही क्षण में जीवन का नकशा बदल जाता है। प्रभु-शक्ति हमारे अन्दर ही है, वह माँगी हुई बाहर से नहीं मिलती। जैन धर्म का आदर्श बाहर से कुछ पाने का नहीं है और न किसी से कुछ लेने का ही है। मंगल चतुष्टय की शरण हमें कुछ देती नहीं है; प्रत्युत हमें अपना भान कराती है, सुप्त ज्ञान-चेतना को जागृत करती है। **'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'**—न्याय के अनुसार, जो जैसा स्मरण करता है वह वैसा बन जाता है। ध्यान की महिमा अपरंपार है।

एक प्रश्न है, उस पर विचार कर लें। आजकल लोग इतना नाम लेते हैं, प्रभु का स्मरण करते हैं; किन्तु उद्धार नहीं होता, यह क्या बात ? ठीक है, हमारा उद्धार इसलिए नहीं हो रहा है कि जिस प्रकार नाम लेना चाहिए, वैसे नहीं लेते। केवल बला टालने के लिए, लोक दिखावे के लिए, संख्या-पूर्ति करने के लिए भगवान का नाम लिया जाता है। यदि आराध्य देव के प्रति हृदय में यथार्थ श्रद्धा हो, आकर्षण और प्रेम हो, आदर-बुद्धि हो, निष्काम भाव हो, तो अवश्य ही ज्ञान की चिनगारी प्रज्वलित होगी। श्रद्धा का बल असीम होता है।

प्रतिक्रमण आवश्यक के प्रारंभ में यह मंगल, उत्तम एवं शरण सूत्र इसलिए पढ़ा जाता है कि साधक शान्त भाव से अपने मन को दृढ़, निश्चल, सरस एवं श्रद्धालु बना सके। प्रतिक्रमण के लिए आध्यात्मिक भूमिका तैयार करने के लिए ही यह त्रिसूत्री यहाँ स्थान पाए हुए है। **'दंसण सुद्धि-निमित्तं'** आवश्यक चूर्णि।

६ संक्षिप्त प्रतिक्रमण-सूत्र

इच्छामि पडिक्कमिउं
जो मे देवसिओ अइयारो कओ,
काइओ, वाइओ, माणसिओ—
उस्सुत्तो, उम्मग्गो,
अकप्पो, अकरणिज्जो;
दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ,
अणायारो,
अणिच्छियव्वो,
असमण-पाउग्गो;
नाणे तह दंसणे चरित्ते
सुए सामाइए;
तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं,
पंचण्हं महव्वयाणं, छण्हं जीवनिकायाणं,
सत्तण्हं पिंडेसणाणं, अट्ठण्हं पवयण-माऊणं,
नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं,
दसविहे समणधम्मे समणाणं जोगाणं,
जं खंडियं जं विराहियं
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

शब्दार्थ

इच्छामि= चाहता हूँ **जो=जो**
पडिक्कमिउं=प्रतिक्रमण करना **मे=मैंने**

देवसिओ=दिवससम्बन्धी
अइयारो=अतिचार
कओ=किया हो
[कैसा अतिचार ?]
काइओ=काय-सम्बन्धी
वाइओ=वचन-सम्बन्धी
माणसिओ=मन-सम्बन्धी
[तीनों का विशदीकरण]
उस्सुत्तो=सूत्र-विरुद्ध
उम्मग्गो=मार्ग-विरुद्ध
अकप्पो=आचार-विरुद्ध
अकरणिज्जो=न करने योग्य
दुज्झाओ=दुर्ध्यानरूप
दुव्विचिंतिओ=दुश्चिन्तन रूप
अणायारो= न आचरने योग्य
अणिच्छियव्वो=न चाहने योग्य
असमणपाउग्गो=साधू को अनुचित
[ये अतिचार किंविषयक होते हैं ?]
नाणे=ज्ञान में
तह=तथा
दंसणे=दर्शन में
चरित्ते=चारित्र में
[तीनों के भेद]
सुए=श्रुत ज्ञान में
सामाइए=सामायिक चारित्र में
[उपसंहार]
तिण्हं=तीन
गुत्तीणं=गुप्तियों की
चउण्हं=चार
कसायाणं=कषायों के निषेधों की
पंचण्हं=पाँच
महव्वयाणं=महाव्रतों की
छण्ह=छह
जीवनिकायाणं=जीवनिकायों की
सत्तण्हं=सात
पिंडेसणाणं=पिण्डैषणाओं की
अठण्हं=आठ
पवयणमाऊणं=प्रवचन माताओं की
नवण्हं=नौ
बंभचेरगुत्तीणं=ब्रह्मचर्य गुप्तियों की
दसविहे=दश-विध
समणधम्मे=श्रमणधर्म में के
समणाणं=श्रमण सम्बन्धी
जोगाणं=कर्तव्यों की
जं=जो
खंडियं=खण्डना की हो
जं=जो
विराहियं=विराधना की हो
तस्स=उसका
दुक्कडं=पाप
मि=मेरे लिए
मिच्छा=मिथ्या हो

भावार्थ

मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। ज्ञान, दर्शन, चारित्र में अर्थात् श्रुतधर्म और सामायिक धर्म के विषय में, मैंने दिन में जो कायिक,

वाचिक तथा मानसिक अतिचार=अपराध किया हो; उसका पाप मेरे लिए निष्फल हो।

वह अतिचार सूत्र से विरुद्ध है, मार्ग=परंपरा से विरुद्ध है, कल्प=आचार से विरुद्ध है, नहीं करने योग्य हैं, दुर्ध्यान=आर्तध्यान रूप है, दुर्विचिन्तित=रौद्रध्यान रूप है, नहीं आचरने योग्य है, नहीं चाहने योग्य है, संक्षेप में साधु-वृत्ति के सर्वथा विपरीत है—साधु को नहीं करने योग्य है।

तीन गुप्ति, चार कषायों की निवृत्ति, पाँच महाव्रत, छह पृथिवी, जल आदि जीवनिकायों की रक्षा, सात पिण्डैषणा, आठ प्रवचन माता, नौ ब्रह्मचर्य गुप्ति, दशविध श्रमण धर्म के श्रमण-सम्बन्धी कर्तव्य, यदि खण्डित हुए हों अथवा विराधित हुए हों, तो वह सब पाप मेरे लिए निष्फल हो।

भाष्य

मनुष्य देव भी है और राक्षस भी। देव, यों कि यदि वह सदाचार के मार्ग पर चले तो अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है, आस-पास के देश, जाति और समाज का कल्याण कर सकता है, यदि और आगे बढ़े तो विश्व का कल्याण कर सकता है। नरक के समान दुःखाकुल संसार को स्वर्ग में परिणत कर देना उसके बाँए हाथ का खेल है।

राक्षस, योंकि यदि वह दुराचार के कुमार्ग पर चले तो अपनी भी शान्ति खोता है, दूसरों की भी शान्ति खोता है, और संसार में सब ओर त्राहि-त्राहि मचा देता है। स्वर्ग के समान सुखी संसार को रौरव नरक की घोर यन्त्रणाओं में पटक देना, उसका साधारण-सा हँसी खेल है।

मनुष्य के पास उसे देव और राक्षस बनाने के लिए तीन महान् शक्तियाँ हैं—मन, वचन, और शरीर। इनके बल पर वह भला बुरा जो चाहे कर सकता है। उक्त तीनों शक्तियों को विश्व के कल्याण में लगाया जाय तो उधर वारा न्यारा है; और यदि अत्याचार में लगा दिया जाय तो उधर सफाचट मैदान है। मनुष्य का भविष्य इन्हीं के अच्छे बुरेपन पर बना बिगड़ा करता है। अतएव धर्मशास्त्रकारों ने जगह-जगह इन पर अधिक से अधिक नियंत्रण रखने के लिए जोर दिया है।

साधु मुनिराज स्वपरोद्धारक के रूप में संसार के रंग मंच पर अवतीर्ण होते हैं; अतः उन्हें तो पद-पद पर मन, वचन और शरीर की शुभाशुभ चेष्टाओं का ध्यान रखना ही चाहिए। इस सम्बन्ध में जरा सी भी लापरवाही भयंकर पतन के लिए हो सकती है। अस्तु, प्रस्तुत पाठ में इन्हीं तीनों शक्तियों से दिन रात में होने वाली भूलों

का परिमार्जन किया जाता है और भविष्य में अधिक सावधान रहने की सुदृढ़ धारणा बनाई जाती है।

यह प्रतिक्रमण का प्रारंभिक सामान्य सूत्र है। इसमें संक्षेप से आचार-विचार-सम्बन्धी भूलों का प्रतिक्रमण किया जाता है। अगले पाठों में जो विस्तृत प्रतिक्रमण-क्रिया होने वाली है, उसकी यहाँ मात्र आधारशिला रक्खी गई है।

सम्प्रति, सूत्र में आए हुए कुछ विशेष शब्दों का स्पष्टीकरण किया जाता है। क्योंकि पारिभाषिक शब्दों का केवल शब्दार्थ के द्वारा निर्णय नहीं किया जा सकता।

उत्सूत्र :

उत्सूत्र का अर्थ, सूत्र-विरुद्ध आचरण है। सूत्र, मूल आगम को कहते हैं। वह अर्थों की सूचना करता है, अतः सूत्र कहलाता है। **'अर्थ-सूचनात्सूत्रम्'**—बृहत्कल्प प्रथम उद्देश की मलयगिरि टीका। अथवा 'उस्सुत्तो' का संस्कृत रूप उत्सूक्त भी बनाया जाता है। सूक्त का निर्वचन है—अच्छी तरह कहा हुआ शास्त्र—**'सुष्ठु उक्तमिति।'** सूक्त-विरुद्ध उत्सूक्त होता है।

उन्मार्ग :

उन्मार्ग का अर्थ है—मार्ग के विरुद्ध आचरण करना। हरिभद्र आदि प्राचीन टीकाकार क्षायोपशमिक भाव को मार्ग कहते हैं, और क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में संक्रमण करना उन्मार्ग है। चारित्रावरण कर्म का जब क्षयोपशम होता है, तब चारित्र का आविर्भाव होता है। और जब चारित्रावरण कर्म का उदय होता है तब चारित्र का घात होता है। अतः साधक को प्रतिक्षण उदयभाव से क्षायोपशमिक भाव में संचरण करते रहना चाहिए।

उन्मार्ग का अर्थ, परंपरा के विरुद्ध आचरण करना भी किया जाता है। मार्ग का अर्थ परम्परा है। पूर्व-कालीन त्यागी पुरुषों द्वारा चला आने वाला पवित्र कर्त्तव्य-प्रवाह मार्ग है। **'मग्गो आगमणीई, अहवा संविग्ग-बहुजणाइण्णं**—धर्म रत्न प्रकरण।

अकल्प :

चरण और करण रूप धर्म व्यापार का नाम कल्प है—आचार है। जो चरण करण के विरुद्ध आचरण किया जाता है, वह अकल्प है। चरण सप्तति और करण सप्तति का निरूपण परिशिष्ट में किया गया है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र :

यहाँ ज्ञान से सम्यग् ज्ञान का ग्रहण है, और दर्शन तथा चारित्र से सम्यग् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र का। यह जैन-धर्म का रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग है। **'सम्यग् दर्शन—ज्ञान—चारित्राणि मोक्षमार्गः।'** श्री उमास्वाति रचित तत्वार्थसूत्र १। १।

मूल में सम्यग् शब्द का उल्लेख नहीं है। परन्तु केवल, ज्ञान शब्द भी कुज्ञान का विरोधी होने से अपने अंदर सम्यक्त्व लिए हुए है। इसी प्रकार दर्शन, कुदर्शन की व्यावृत्ति करता है और चारित्र, कुचारित्र की।

मूल पाठ है '**नाणे तह दंसणे चरित्ते**'। परन्तु आचार्य हरिभद्र ने यहाँ **तह** शब्द का उल्लेख नहीं किया है।

श्रुत :

श्रुत का अर्थ श्रुतज्ञान है। वीतराग तीर्थंकर देव के श्रीमुख से सुना हुआ होने से आगम साहित्य को श्रुत कहा जाता है। श्रुत, यह अन्य ज्ञानों का उपलक्षण है, अतः वे भी ग्राह्य हैं। श्रुत का अतिचार है—विपरीत श्रद्धा और विपरीत प्ररूपणा।

सामायिक :

सामायिक का अर्थ समभाव है। यह दो प्रकार से माना जाता है—सम्यक्त्व रूप और चारित्र रूप। चारित्र पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि है। और सम्यक्त्व जिन-प्ररूपित सत्य-मार्ग पर श्रद्धा है। इसके दो भेद हैं—निसर्गज और अधिगमज। सामायिक में सम्यक्त्व और चारित्र दोनों का अन्तर्भाव होने से यह आक्षेप दूर हो जाता है कि—यहाँ श्रुत ज्ञान और चारित्र के साथ सम्यग् दर्शन का उल्लेख क्यों नहीं किया गया ?

चार कषाय :

चार कषाय का वर्णन आगे कषाय-सूत्र में आने वाला है। यहाँ केवल इतना ही वक्तव्य है कि—मूल-पाठ '**चउण्हं कसायाणं**' है—जिसका '**जं खंडियं जं विराहियं**' के साथ योग होने पर अर्थ होता है—यदि चार कषायों का खण्डन किया हो तो मिच्छामि दुक्कडं ! आप विचार में होंगे, यह क्या उलटा अर्थ है ! कषायों का खण्डन तो इष्ट ही होता है, फिर अतिचार कैसा ? शंका सर्वथा उचित है। अतएव यहाँ 'कषाय' शब्द लक्षणा के द्वारा कषाय-निवृत्ति रूप माना जाता है। अतएव कषाय-निवृत्ति में यदि कहीं दुर्बलता की हो तो उस अतिचार की शुद्धि की जाती है। इसी प्रकार षड्जीवनिकाय की भी षड्जीवनिकाय के रक्षण में लक्षणा है।

सात पिण्डैषणा :

दोष-रहित शुद्ध प्रासुक अन्न जल ग्रहण करना 'एषणा' है। इसके दो भेद हैं—पिण्डैषणा और पानैषणा। आहार ग्रहण करने को पिण्डैषणा कहते हैं, और पानी ग्रहण करने को पानैषणा। पिण्डैषणा के सात प्रकार हैं—

(१) **असंसट्ठा=असंसृष्टा**—देय भोजन से बिना सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार लेना।

(२) **संसट्ठा=संसृष्टा**—देय भोजन से सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार लेना।

(३) **उद्धडा=उद्धृता**—बटलोई से थाली आदि में गृहस्थ ने अपने लिए जो भोजन निकाल रखा हो, वह लेना।

(४) **अप्पलेवा=अल्पलेपा**—जिनमें चिकनाहट न हो, अतएव लेप न लग सके, इस प्रकार के भुने हुए चणे आदि ग्रहण करना।

(५) **अवग्गहीआ=अवगृहीता**—भोजनकाल के समय भोजनकर्ता ने भोजनार्थ थाली आदि में जो भोजन परोस रक्खा हो, किन्तु अभी भोजन शुरू न किया हो वह आहार लेना।

(६) **पग्गहीआ=प्रगृहीता**—थाली आदि में परोसने के लिए चम्मच आदि से निकाला हुआ, किन्तु थाली में न डाला हुआ, बीच में ही ग्रहण कर लेना। अथवा थाली में भोजन कर्ता के द्वारा हाथ आदि से प्रथम बार तो प्रगृहीत हो चुका हो, पर दूसरी बार ग्रास लेने के कारण झूँठा न हुआ हो, वह आहार लेना।

(७) **उज्झितधम्मा=उज्झितधर्मा**—जो आहार अधिक होने से अथवा अन्य किसी कारण से फेंकने योग्य समझ कर डाला जा रहा हो, वह ग्रहण करना।

आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध पिण्डैषणा अध्ययन में तथा स्थानांगसूत्र में पिण्डैषणा का वर्णन आता है। यह उत्कृष्ट त्याग अवस्था की भिक्षा-सम्बन्धी भूमिकाएँ हैं।

आचार्य हरिभद्र पाठान्तर के रूप में 'सत्तण्हं पिंडेसणाण' की जगह 'सतण्हं पाणेसणाणं' का उल्लेख भी करते हैं। ये सात पानैषणा पिण्डैषणा के समान ही हैं। '**सप्तानां पानैषणानाम् केचित् पठन्ति। ता अपि चैवंभूता एव।**'—आचार्य हरिभद्र।

आठ प्रवचन-माता :

प्रवचन-माता, पाँच समिति और तीन गुप्ति का नाम है। प्रवचन माता इसलिए कहते हैं कि द्वादशांग वाणी का जन्म इन्हीं से हुआ है। अर्थात् संपूर्ण जैन वाङ्मय की आधार-भूमि पाँच समिति और तीन गुप्ति ही हैं। माता के समान साधक का हित करने के कारण भी इनको माता कहा जाता है। इनका विशद वर्णन आगे यथास्थान किया जाने वाला है।

दशविध श्रमण धर्म में श्रामण योग :

श्रमण, साधू को कहते हैं। उसका क्षान्ति, मुक्ति आदि दशविध धर्म—जिसका वर्णन आगे किया जाने वाला है—श्रमणधर्म कहलाता है। दशविध श्रमण धर्म

में श्रामण योग क्या है ? इसके लिए यह बात है कि श्रमण-सम्बन्धी योग=कर्तव्य को श्रामण योग कहते हैं। दशविध श्रमण धर्म में श्रमण का क्या कर्तव्य है ? कर्तव्य यह है कि क्षमा आदि दश-विध श्रमण धर्म का सम्यक् रूप से आचरण करना चाहिए, सम्यक् श्रद्धान=विश्वास रखना चाहिए और यथावसर सम्यक् प्ररूपण=प्रतिपादन भी करना चाहिए। आचार्य हरिभद्र कहते हैं—**'श्रामणयोगानाम् सम्यक् प्रतिसेवन—श्रद्धान—प्ररूपणालक्षणानां यत्खण्डितम् ।'**

खण्डित, विराधित :

'जं खंडियं जं विराहियं' में जो खण्डित और विराधित शब्द आए हैं, उनका कुछ विद्वान यह अर्थ करते हैं कि–**'एकदेशेन खण्डना'** होती है और **'सर्वदेशेन विराधना'**। परन्तु यह विराधना वाला अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता। यदि व्रत का पूर्णरूपेण सर्वदेशेन नाश ही हो गया तो फिर प्रतिक्रमण के द्वारा शुद्धि किसकी की जाती है ? जब वस्त्र नष्ट ही हो गया तो फिर उसके धोने का क्या प्रयत्न ? वास्तविक अर्थ यह है कि–**अल्पांशेन** खण्डना होती है और **अधिकांशेन** विराधना। अधिकांश का अर्थ अधिक मात्रा में नाश होना है, सर्वांश में पूर्णतया नाश नहीं। अधिकांश में नाश होने पर भी व्रत की सत्ता बनी रहती है, एकान्ततः अभाव नहीं होता, जहाँ कि—**'मूलं नास्ति कुतः शाखा'** वाला न्याय लग सके। आचार्य हरिभद्र भी इसी विचार से सहमत हैं—**'विराधितं सुतरां भग्नं, न पुनरेकान्ततोऽभावापादितम् ।'**

प्रस्तुत सूत्र में **'जं खंडियं जं विराहियं तस्स'** तक अतिचारों का क्रियाकाल बतलाया गया है; क्योंकि यहाँ अतिचार किस प्रकार किन व्रतों में हुए—यही बतलाया है, अभी तक उनकी शुद्धि का विधान नहीं किया। आगे चलकर **'मिच्छामि दुक्कडं'** में अतिचारों का निष्ठाकाल है। निष्ठा का अर्थ है यहाँ समाप्ति, नाश, अन्त। हृदय के अन्तस्तल से जब अतिचारों के प्रति पश्चात्ताप कर लिया, तो उनका नाश हो जाता है। यह रहस्य ध्यान में रखने योग्य है।

जैनधर्म दिवाकर पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज अपने साधु-प्रतिक्रमण में 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं' से पहले 'जो मे देवसिओ अइयारो कओ' यह अंश और जोड़ते हैं; परन्तु यह अर्थ-संगति में ठीक नहीं बैठता। सूत्र के प्रारंभ में जब 'जो मे देवसिओ अइयारो कओ' एक बार आ चुका है, तब व्यर्थ ही दूसरी बार पुनरुक्ति क्यों ? आचार्य हरिभद्र आदि भी यह अंश स्वीकार नहीं करते।

यह अतिचार-सूत्र प्रथम आवश्यक में सामायिक सूत्र के बाद अतिचार-स्मरण के लिए आता है, प्रस्तुत स्थान में प्रतिक्रमण के लिए है, एवं आगे कायोत्सर्ग से पहले अतिचार-शुद्धि को पुनः विमल करने के लिए है। प्रथम और अन्तिम में 'इच्छामि ठाइउं काउस्सग्गं' बोला जाता है, जिसका अर्थ है कायोत्सर्ग करना चाहता हूँ। ठाइउं का संस्कृत रूप स्थातुम् है। धातु अनेकार्थक हैं, अतः वहाँ स्था धातु करने अर्थ में है।

७ ऐर्यापथिक-सूत्र

ईच्छामि पडिक्कमिउं

इरियावहियाए विराहणाए

गमणागमणे पाणक्कमणे

बीय-क्कमणे, हरिय-क्कमणे,

ओसा-उत्तिंग-पणग-दग—

मट्टी-मक्कडा-संताणा-संकमणे,

जे मे जीवा विराहिया,

एगिंदिया, बेइंदिया,

तेइंदिया, चउरिंदिया,

पंचिंदिया

अभिहया, वत्तिया

लेसिया, संघाइया

संघट्टिया,

परियाविया, किलामिया

उद्दविया,

ठाणाओ ठाणं संकामिया,

जीवियाओ ववरोविया,

तस्स

मिच्छा मि दुक्कडं ।

शब्दार्थ

इच्छामि=चाहता हूँ।
पडिक्कमिउं=प्रतिक्रमण करना, निवृत्त होना
(किस से ?)
इरियावहियाए=ऐर्यापथिकसम्बन्धी
विराहणाए=विराधना से, हिंसा से
(विराधना किस तरह होती है ?)
गमणागमणे=मार्ग में आते जाते
पाणक्कमणे=प्राणियों को कुचलने से
वीयक्कमणे=बीजों को कुचलने से
हरियक्कमणे=हरित वनस्पति को कुचलने से
ओसा=ओस को
उत्तिंग=कीड़ीनाल या कीड़ी आदि के बिल को
पणग=सेवाल, काई को
दग=सचित्त जल को
मट्टी=सचित्त पृथ्वी को
मक्कडा संताणा=मकड़ों के जालों को
संकमणे=कुचलने से, मसलने से
जे=जो भी
मे=मैंने
जीवा=जीव
विराहिया=विराधित किए हों
(कौन जीव विराधित किए हों ?)
एगिंदिया=एकेन्द्रिय
बेइंदिया=द्वीन्द्रिय
तेइंदिया=त्रीन्द्रिय
चउरिंदिया=चतुरिन्द्रिय
पंचिंदिया=पंचेन्द्रिय
(विराधना के प्रकार)
अभिहया=सम्मुख आते हुए रोके हों
वत्तिया=धूलि आदि से ढाँपे हों
लेसिया=भूमि आदि पर मसले हों
संघाइया=इकट्ठे कर पीड़ित किए हों
संघट्टिया=छूकर पीड़ित किये हों
परियाविया=परितापित किए हों
किलामिया=अधमरे से किए हों
उद्दविया=त्रस्त किये हों
ठाणाओ=एक स्थान से
ठाणं=दूसरे स्थान पर
संकामिया=संक्रामित किये हों
जीवियाओ=जीवन से ही
ववरोविया=रहित किये हों, मार डाले हों
तस्स=तत्सम्बन्धी जो कुछ भी
दुक्क=डंदुष्कृत, पाप हो
मिच्छा=(वह सब) मिथ्या हो
मि=मेरे लिए

भावार्थ

प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ, मार्ग में चलते हुए अथवा संयम धर्म का पालन करते हुए यदि असावधानता से किसी भी जीव की और किसी भी प्रकार की विराधना=हिंसा हुई हो तो मैं उस पाप से निवृत्त होना चाहता हूँ।

(किन क्रियाओं से, किन जीवों की विराधना होती है ?) मार्ग में कहीं गमनागमन करते हुए प्राणियों को पैरों के नीचे या और किसी तरह कुचला हो, सचित्त जौ, गेहूँ या और किसी भी तरह के बीजों को कुचला हो, दबाया हो। घास, अंकुर आदि हरित वनस्पति को मसला हो, दबाया हो। आकाश से रात्रि में गिरने वाली ओस, चींटियों के बिल या नाल, पाँचों ही रङ्ग की सेवाल—काई, सचित्त जल, सचित्त पृथ्वी और मकड़ी के सचित्त जालों को दबाया हो, मसला हो।

किं बहुना ? एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति) एकेन्द्रिय जीव, स्पर्शन और रसन दो इन्द्रिय वाले (कृमि, शङ्ख, गिंडोआ आदि) द्वीन्द्रिय जीव; स्पर्शन, रसन, घ्राण-तीन इन्द्रिय वाले (चींटी, मकोड़ा, कुंथुआ, खटमल आदि) त्रीन्द्रिय जीव; स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु-चार इन्द्रिय वाले (मक्खी, मच्छर डाँस, बिच्छू, चाँचड़, टीड, पतङ्ग आदि) चतुरिन्द्रिय जीव; स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र उक्त पाँच इन्द्रिय वाले (गर्भ से उत्पन्न न होने वाले कुछ मछली, मेंढक आदि सम्मूर्च्छन तथा गर्भज तिर्यंच मनुष्य आदि) पञ्चेन्द्रिय जीव; इस प्रकार किसी भी प्राणी की मैंने विराधना की हो।

(किस तरह की विराधना की हो ?) सामने आते हुओं को रोक कर उनकी स्वतन्त्र गति में बाधा डाली हो, धूल आदि से ढँके हों, भूमि आदि पर मसले हों, समूह रूप में इकट्ठे कर एक दूसरे को आपस में टकराया हो, छूकर पीड़ित किए हों, परितापित=दुःखित किए हों, मरण-तुल्य अधमरे से किए हों, त्रस्त=भयभीत किए हों, एक स्थान से दूसरे स्थान पर उठाकर रखे हों—बदले हों, किं बहुना, प्राण से रहित भी किए हों, तो मेरा वह सब अतिचारजन्य पाप मिथ्या हो, निष्फल हो!

भाष्य

मानव-जीवन में गमनागमन का बहुत बड़ा महत्त्व है। यह वह क्रिया है, जो प्रायः सब क्रियाओं से पहले होती है, और सर्वत्र होती है। विहार करना हो, गोचरी जाना हो, शौच जाना हो, लघुशंका करनी हो, थूकना हो अर्थात् कुछ भी इधर-उधर का काम करना हो तो पहले गमनागमन की ही क्रिया होती है। शरीर की जो भी स्पन्दन या कम्पन रूप क्रिया है, वह सब गमनागमन में सम्मिलित हो जाती है। अतएव प्रतिक्रमण-साधना में सर्वप्रथम गमनागमन के प्रतिक्रमण का ही विधान किया गया है।

जब तक यह शरीर चैतन्य-सत्ता से युक्त है, तब तक शरीर को मांस पिंड बनाकर एक कोने में तो नहीं डाला जा सकता ? यदि कुछ दिन के लिए ध्यान लगाकर बैठें, योगसाधना की समाधि लगा लें, तब भी कितने दिन के लिए ? भगवान् महावीर छह-छह मास का कायोत्सर्ग करके पर्वत की चट्टान की तरह निःस्पन्द खड़े हो जाते थे; परन्तु आखिर वे भी तप के बाद भिक्षा के लिए जाते थे। इधर-उधर विहार करते थे। साधक के लिए यह असंभव है कि वह सारा जीवन निराहार रहकर एक स्थान में निस्पन्द पड़ा हुआ प्रतिपल मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे। और इस प्रकार का निष्क्रिय एवं निर्माल्य-जीवन यापन करना, स्वयं अपने आप में कोई साधना भी तो नहीं है। तीर्थंकर अरिहन्त आध्यात्मिक साधना के ऊँचे से ऊँचे शिखर पर पहुँचे हुए भी, केवल ज्ञान केवल दर्शन पाकर कृतकृत्य होते हुए भी, जन-कल्याण के लिए कितना भ्रमण करते हैं ? गाँव-गाँव और नगर-नगर घूम-घूम कर किस प्रकार सत्य की दुन्दुभि बजाते हैं ? श्री राहुल सांकृत्यायन भगवान महावीर को भारतवर्ष का सर्वश्रेष्ठ घुमक्कड़राज कहते हैं। घुमक्कड़राज, अर्थात् घुमक्कड़ों का, घूमने वालों का राजा। बहुत दूर न जाकर संक्षेप में कहूँ कि जब तक जीवन है, गमनागमन के बिना कैसे रहा जा सकता है ? गृहस्थ हो, साधु हो, तीर्थंकर हो, सबको गमनागमन करना ही होता है। गृहस्थ तो घर बांधकर बैठा है, वह तो एक गाँव में बँधकर बैठा भी रहे। परन्तु साधु के लिए तो चार मास वर्षा वास को छोड़कर शेष आठ महीने का काल विहार-काल ही माना गया है। कुछ विशेष कारण हो जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा सशक्त साधु के लिए शेष काल में विहार करते रहना आवश्यक है। यदि प्रमादवश विहार न करे तो प्रायश्चित्त का भागी होता है। जैन धर्म में साधु के लिए मठ बाँधकर बैठ जाना, सर्वथा निषिद्ध है। उसके लिए तो घुमक्कड़ी भी साधना का एक अंग है, अनासक्त जीवन की एक कसौटी है। वह साधु ही क्या, जो घुमक्कड़ न हो। घुमक्कड़ साधु का जीवन निर्मल रहता है, विकारों में नहीं उलझता है। उसे गंगा की धार की तरह बहते ही रहना चाहिए। बहती धार ही निर्मल रह सकती है। कहा है— **'साधू तो रमता भला, पड़ा गंधीला होय।'**

अब प्रश्न यह है कि गमनागमन की क्रिया में तो पाप लगता है, अतः साधु

के लिए गमनागमन, विहारचर्या कैसे विहित हो सकती है? जिस क्रिया में पाप लगता हो, वह तो साधु को नहीं करनी चाहिए ?

उत्तर में निवेदन है कि जैन धर्म उपयोग का धर्म है, यतना का धर्म है। यहाँ गमनागमन, भोजन, भाषण आदि के रूप में जो भी क्रियाएँ हैं, उन सब में पाप बताया है। परन्तु वह, प्रमाद अवस्था में होता है। अप्रमत्त दशा में रहते हुए कोई पाप नहीं है। साधक यदि असावधान है, विवेकहीन है, राग द्वेष की परिणति में फँसा है, यतना का कुछ भी विचार नहीं रखता है, तो वह पाप-कर्म का बन्ध करता है। वह कोई क्रिया करे या न करे, उसको पाप लगता ही रहता है। कर्तव्य के प्रति उपेक्षा, अविवेक और प्रमाद अपने आप में स्वयं एक पाप है। और यह पाप ही है, जो क्रियाओं को पाप के रंग से रंगता है। यदि साधक अप्रमत्त है, विवेकशील है, यतना का विचार रखता है, संयम की साधना में सतत जागृत रहता है, वह यदि कोई प्रवृत्ति करता भी है तो वह जागृत रहकर करता है, अतः उसे किसी प्रकार का पाप नहीं लगता है। पाप या दोष क्रियाओं में नहीं, क्रियाओं की पृष्ठ भूमि में रहने वाले काषायिक भाव में है, प्रमाद-भाव में है। इसके लिए मैं कुछ प्राचीन उद्धरण आपके सामने रख रहा हूँ।

भगवान् महावीर कहते हैं—

'पमायं कम्ममाहंसु
अप्पमायं तहावरं।'

(सूत्रकृतांग-सूत्र ८। ३)

—प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म है, कर्म का अभाव है।

'जयं चरे जयं चिट्ठे
जयमासे जयं सए।
जयं भुजंतो भासंतो,
पाव-कम्मं न बंधइ॥'

(दशवै० ४। ८)

—जो साधक यतना से चलता है, यतना से खड़ा होता है, यतना से बैठता है, यतना से सोता है, यतना से भोजन करता है और बोलता है, वह पापकर्म का बन्ध नहीं करता है।

आचार्य शीलांक कहते हैं :—

'अथोपयुक्तो याति ततोऽप्रमत्तत्वाद् अबन्धक एव।'

(सूत्रकृतांग—टीका १। १। २। २९)

—जब साधक उपयोगपूर्वक चलता है, तब वह चलता हुआ भी अप्रमत्त भाव में है, अतः अबन्धक होता है।

जैन संस्कृति में साधु के गमनागमन के लिए ईर्यासमिति शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है गमनागमन में सम्यक् प्रवृत्ति। यह समिति संवर है, पापाश्रव को रोकने वाली है, कर्मों की निर्जरा का कारण है, अपने आप में धर्म है। यहाँ निवृत्तिमूलक प्रवृत्ति होती है, अतः असत्क्रिया का त्याग और सत् क्रिया का स्वीकार ही जैनधर्म की प्रवृत्ति का प्राण है।

जैन-धर्म के आचार्यों का हजार-हजार वर्षों से सुनाया जाने वाला यह अमर स्वर क्या कभी मिथ्या ठहराया जा सकता है? और क्या इसके रहते हुए जैन धर्म को अव्यवहार्य और उपहासास्पद बताया जा सकता है? क्या अब भी विवेकानन्दजी का यह कहना सत्य है कि 'जैन धर्म के लोग प्रवृत्ति से इतना घबराते हैं, कि लम्बे-लम्बे उपवासों के द्वारा अपना शरीर त्याग देते हैं?' यदि ये सब लोग जैन धर्म की यतना को समझते होते, अप्रमत्त भाव के विचार पर लक्ष्य देते होते, तो क्या उपर्युक्त भ्रान्त-भावना व्यक्त करते? जैन धर्म का हृदय यतना है। यदि यतना है तो धर्म है, धर्म की रक्षा है, तप है, सब प्रकार का सुख तथा आनन्द है। यतना-पूर्वक की जाने वाली उचित प्रवृत्ति के क्षेत्र में पाप का प्रवेश नहीं है। एक जैनाचार्य कहता है:—

जयणेह धम्म-जणणी,
जयणा धम्मस्स पालिणी चेव।
तव-वुड्ढिकरी जयणा,
एगंत-सुहावहा जयणा॥

—यतना धर्म की जननी है, और यतना ही धर्म का रक्षण करने वाली है। यतना से तप की अभिवृद्धि होती है और वह एकान्त रूप में सुखावह=सुख देने वाली है।

अब प्रश्न यह है कि जब साधु गमन करता है, तब अप्रमत्त भाव के कारण उसे पाप तो लगता नहीं है, फिर वह ऐर्यापथिक क्रिया का प्रतिक्रमण क्यों करता है? प्रस्तुत ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण-पाठ की क्या आवश्यकता है?

समाधान है कि साधारण मनुष्य आखिर मनुष्य है, भूल का पुतला है। वह कितनी ही क्यों न सावधानी रक्खे, आखिर कभी न कभी लक्ष्यच्युत हो ही जाता है। जबतक मनुष्य पूर्ण सर्वज्ञ-पद का अधिकारी नहीं हो जाता, तबतक वह आध्यात्मिक उत्थान के पथ पर अग्रसर होता हुआ, पूरी-पूरी सावधानी से कदम रखता हुआ भी, कभी छोटी-मोटी स्खलनाएँ कर ही बैठता है। छद्मस्थ अवस्था में 'मैं पूर्ण शुद्ध हूँ' यह दावा करना सर्वथा अज्ञानतापूर्ण है, धृष्टता का सूचक है।

अतएव जानते या अजानते जो भी दूषण लगें, उन सबका प्रतिक्रमण करना और भविष्य में अधिकाधिक सावधानी से रहकर पापों से बचे रहने का दृढ़ संकल्प रखना, प्रत्येक संयमी मुमुक्षु का आवश्यक कर्त्तव्य है। दोषों को स्वीकार कर लेना,

अपने से पीड़ा पाए जीवों से क्षमा माँग लेना, पाप कार्य के प्रति अन्तर्हृदय से घृणा व्यक्त करना, और उचित प्रायश्चित ले लेना ही आत्म-विशुद्धि का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

प्रस्तुत पाठ के द्वारा यही उपर्युक्त आत्म-विशुद्धि का मार्ग बताया गया है। जिस प्रकार वस्त्र में लगा हुआ दाग क्षार तथा साबुन से धोकर साफ किया जाता है, वस्त्र को स्वच्छ तथा श्वेत कर लिया जाता है, उसी प्रकार गमनागमनादि क्रियाएँ करते समय अशुभयोग, मन की चंचलता, अज्ञानता, या अविवेक आदि के कारण से पवित्र संयम-धर्म में किसी भी तरह का कुछ भी पाप मल लगा हो, किसी भी जीव को किसी भी तरह का कष्ट पहुँचाया हो, तो वह सब पाप इस पाठ के पश्चात्तापमूलक चिन्तन द्वारा साफ किया जाता है, अर्थात् ऐर्यापथिक आलोचना के द्वारा अपने संयम-धर्म को पुनः स्वच्छ कर लिया जाता है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में प्रचलित **'पंच प्रतिक्रमण'** के भाष्यकार श्रीयुत प्रभुदासजी ने लिखा है कि ऐर्यापथिक क्रिया तेरहवें गुणस्थान में अरिहन्त केवलज्ञानियों को भी लगती है, अतः वे भी ऐर्यापथिक क्रिया से लगे कर्म को दूर करने के लिए प्रतिक्रमण करते हैं।

परन्तु बहुत कुछ विचार-विमर्श करने के बाद भी यह सिद्धान्त मैं नहीं समझ सका। यह ठीक है कि तेरहवें गुणस्थान में भी ऐर्यापथिक क्रिया लगती है और उससे केवल सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। वह बन्ध केवल योग-परिस्पन्दन के कारण होता है, कषाय एवं प्रमाद तो वहाँ है ही नहीं। कर्म का स्थितिबन्ध तो कषाय एवं प्रमाद के द्वारा ही होता है। अतः कषाय-रहित अप्रमत्त दशा में योग-परिस्पन्द रूप ऐर्यापथिक क्रिया से, पहले समय में कर्म बँधता है, दूसरे समय में उसका वेदन होता है और तीसरे समय में उसकी निर्जरा हो जाती है। इसके बाद वह कर्म अकर्म हो जाता है।* अब विचार कीजिए कि जो कर्म समयमात्र ही वेदनकाल में रहा है, उसका प्रतिक्रमण कैसे होगा? पाठादि के शब्द व्यवहार में तो असंख्य समय लग जाते हैं, तब तक तो वह कर्म, अकर्म ही हो गया, आत्मा पर लगा ही न रहा। अतः वीतराग अर्हन्त को केवल ज्ञान दशा में, अशुभ योग से शुभ योग में लौटने रूप ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण, कैसे हो सकता है? हाँ, व्यवहार रक्षा के लिए कहा जाय तो बात दूसरी है। इस पर भी विद्वानों को विचार करने की अपेक्षा है, क्योंकि वे कल्पातीत अवस्था में हैं। अतः व्यर्थ के व्यवहार से बँधे हुए नहीं हैं।

यह तो हुआ ऐर्यापथिक आलोचना का निदर्शन। अब कुछ मूल पाठ पर विवेचन करना है। पहला प्रश्न नाम का ही है कि प्रस्तुत पाठ को ऐर्यापथिक क्यों कहते हैं? आचार्य नमि का समाधान है कि **ईरणं=ईर्या, गमनमित्यर्थः। तत्प्रधानः**

*** इसके लिए देखिए, 'सूत्र कृतांग २-१८-१६'**

पन्था ईर्यापथः, तत्रभवा ऐर्यापथिकी !' अर्थात् ईर्या का अर्थ गमन है, गमन-प्रधान जो पथ=मार्ग, वह ईर्यापथ कहलाता है ! और ईर्यापथ में होने वाली क्रिया ऐर्यापथिकी क्रिया होती है । मार्ग में इधर-उधर आते-जाते जो क्रिया होती है, वह ऐर्यापथिकी कहलाती है । आचार्य हेमचन्द्र अपने योगशास्त्र की स्वोपज्ञवृत्ति में ईर्यापथ का अर्थ श्रेष्ठ आचार करते हैं, और उसमें गमनागमनादि के कारण असावधानता से जो दूषणरूप क्रिया हो जाती है, उसे ऐर्यापथिकी कहते हैं—'**ईर्यापथः साध्वाचारः, तत्रभवा ऐर्यापथिकी ।**' अस्तु, उक्त ऐर्यापथिकी क्रिया की शुद्धि के लिए जो प्रायश्चित्तरूप-सूत्र बोला जाता है, वह भी ऐर्यापथिकी-सूत्र कहलाता है ।

प्रस्तुत सूत्र एक गम्भीर विचार हमारे समक्ष रखता है । वह यह कि किसी जीव को मार देना ही, प्राणरहित कर देना ही, हिंसा नहीं है । प्रत्युत सूक्ष्म या स्थूल जीव को किसी भी सूक्ष्म या स्थूल चेष्टा के माध्यम से, किसी भी प्रकार की सूक्ष्म या स्थूल पीड़ा पहुँचाना भी हिंसा है । आपस में टकराना, ऊपर तले इकट्ठे कर देना, धूल आदि डालना, भूमि पर मसलना, ठोकर लगाना, स्वतन्त्रगति में रुकावट डालना, एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर बदलना, भयभीत करना, और तो क्या, छूना भी हिंसा है । जैनधर्म का अहिंसा-दर्शन कितना सूक्ष्म है ! वह हिंसा और अहिंसा का विचार करते समय केवल ऊपर-ऊपर ही नहीं तैरता, अपितु गहराई में उतरता है ।

जीव हिंसा का आगमों में, वैसे तो बहुत बड़े विस्तार के साथ वर्णन है । परन्तु इतने विस्तार में जाने का यहाँ प्रसंग नहीं है । संक्षेप में ही अहिंसा के मूल-रूप कितने होते हैं ? केवल यह बता देना ही आवश्यक है ।

सर्व-प्रथम जीव-हिंसा के तीन रूप होते हैं—संरंभ, समारंभ और आरंभ ।

संरंभ—जीवों की हिंसा का संकल्प करना ।

समारंभ—जीवों की हिंसा के लिए साधन जुटाना, प्रयत्न करना ।

आरंभ—जीवों को किसी भी तरह का आघात पहुँचाना, घात कर डालना ।

उक्त तीनों को क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों से गुणित करने पर ४×३=१२ होते हैं । इन बारह भेदों को मन, वचन, काय रूप तीन योगों से गुणन करने पर ३६ भेद होते हैं । इन ३६ भेदों को **कृत**=करना, **कारित**=कराना, **अनुमोदना**=समर्थन,—करते हुए को अच्छा समझना, इन तीन से गुणन करने पर जीवाधिकरणी हिंसा के १०८ भेद बन जाते हैं । अहिंसा-महाव्रत के साधकों को पूर्ण अहिंसा के लिए इन सब हिंसा के भेदों से बचकर रहने की आवश्यकता है ।

मूल पाठ में हिंसा के भेद बताते हुए कहा है कि जीवों को छूना भी हिंसा है, जीवों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदलना भी हिंसा है । इस सम्बन्ध में

प्रश्न है कि कोई दुर्बल अपंग पीड़ित जीव कहीं धूप या सरदी में पड़ा छटपटा रहा है, मृत्यु के मुख में पहुँच रहा है, तो क्या उसे छूना और दुःखप्रद स्थान से सुखप्रद स्थान में बदलना भी हिंसा ही है ? यदि यह भी हिंसा ही है, तो फिर दया और उपकार के लिए स्थान ही कहाँ रहेगा ?

उत्तर में निवेदन है कि मूल पाठ के स्थूल शब्दों पर दृष्टि न अटका कर भाव के गांभीर्य में उतरिए और शब्दों के पीछे रही हुई भाव की पृष्ठभूमि टटोलिए। हिंसा के भाव से, कषाय के भाव से, निर्दयता के भाव से यदि किसी जीव को छुआ जाय अथवा बदला जाय, तब तो हिंसा होती है। परन्तु यदि दया के भाव से, रक्षा के भाव से किसी को छूना और अन्यत्र बदलना हो तो वह हिंसा नहीं है, अपितु संबर और निर्जरा रूप धर्म है। क्रिया के पीछे भाव को देखना आवश्यक है। अन्यथा विवेकहीनता और जड़ता का राज्य स्थापित हो जायगा। साधक कहीं का भी न रहेगा। यदि कोई चींटी आदि जीव साधु के पात्र में गिर जाय तो क्या उसे छूएँ नहीं ? और अन्यत्र सुरक्षित स्थान में बदलें नहीं ? यदि ऐसा करें तो क्या हिंसा होगी ? आप उत्तर देंगे, नहीं होगी ? क्यों नहीं ? तो आप फिर उत्तर देंगे—'क्योंकि कष्ट पहुँचाने का दुःसंकल्प नहीं है, अपितु रक्षा करने का पवित्र संकल्प है।' अस्तु इसी प्रकार जीव-दया के नाते जीवों को छूने और बदलने में रहे हुए अहिंसा-रहस्य को भी समझ लेना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र के मुख्य रूप से तीन भाव हैं। **'इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए'** यह प्रारंभ का सूत्र आज्ञा सूत्र है। इसमें गुरुदेव से ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण की आज्ञा ली जाती है। **'इच्छामि'** शब्द से ध्वनित होता है कि साधक पर बाहर का कोई दबाव नहीं है, वह अपने आप ही आत्म-शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करना चाहता है और इसके लिए गुरुदेव से आज्ञा माँग रहा है। प्रायश्चित्त और दण्ड में यही तो भेद है। प्रायश्चित में अपराधी की इच्छा स्वयं ही अपराध को स्वीकार करने और उसकी शुद्धि के लिए उचित प्रायश्चित्त लेने की होती है। दण्ड में इच्छा के लिए कोई स्थान नहीं है। वह तो बलात लेना ही होगा। दण्ड में दबाव मुख्य है। अतः प्रायश्चित्त जहाँ अपराधी की आत्मा को ऊँचा उठाता है, वहाँ दण्ड उसे नीचे गिराता है। सामाजिक व्यवस्था में दण्ड से भले ही कुछ लाभ हो, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। यहाँ तो इच्छापूर्वक प्रसन्नता के साथ गुरुदेव के समक्ष पहले पापों की आलोचना करना और फिर उसका प्रतिक्रमण करना, जीवन की पवित्रता का मार्ग है।

हाँ, जिन दूसरे पाठों में **'इच्छामि पडिक्कमिउं'** न होकर केवल **'पडिक्कमामि'** है, वहाँ पर भी **'पडिक्कमामि'** क्रिया के गर्भ में **'इच्छामि'** अवश्य रहा हुआ है। पडिक्कमामि का भावार्थ यही है कि 'मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, अर्थात् मैं अब प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ, अतएव गुरुदेव ! आज्ञा दीजिए।'

'गमणागमणे' से लेकर **'जीवियाओ ववरोविया'** तक का अंश आलोचना-सूत्र है। आलोचना का अर्थ है—गुरुदेव के समक्ष स्पष्ट हृदय से व्यौरेवार अपराध का प्रकटीकरण, अर्थात् प्रकट करना। यह अंश भी कितना महत्वपूर्ण है ! अपने आप अपनी भूल को स्वीकार करना, साधारण बात नहीं है। साहसी वीर पुरुष ही ऐसा कर सकते हैं। जब लज्जा और अहंकार के दुर्भाव को छोड़ा जाता है, प्रतिष्ठा के भय को भी दूर हटा दिया जाता है, आत्मशुद्धि का पवित्र भाव हृदय के कण-कण में उभर आता है, तब कहीं आलोचना होती है। आलोचना का साधना के क्षेत्र में बहुत बड़ा महत्व है।

इसके आगे **'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं'** का अन्तिम अंश आता है। यह अंश प्रतिक्रमण सूत्र कहलाता है। प्रतिक्रमण का अर्थ है—**'मिच्छा मि दुक्कडं'** देना, अपराध के लिए क्षमा माँग लेना। जैनधर्म में आलोचना और प्रतिक्रमण, दश प्रायश्चित्त में से प्रथम के दो प्रायश्चित्त माने गए हैं।

इसी प्रकार अन्य प्रतिक्रमण के पाठों में भी उक्त तीन अंशों का परिज्ञान कर लेना चाहिए।

मूल-सूत्र में 'उत्तिंग' शब्द आया है, उसका अर्थ चींटियों का नाल या चींटियों का बिल किया है। आचार्य हरिभद्र 'गर्दभ की आकृति के जीव-विशेष' अर्थ भी करते हैं। **'उत्तिंगा गर्दभाकृतयो जीवा, कोटिकानगराणि वा।'** आचार्य जिनदास महत्तर के उल्लेख से मालूम होता है कि यह भूमि में गड्ढा करने वाला जीव है, अतः सम्भव है, यह आज की भाषा में **'घुग्गू'** हो। **'उत्तिंगा नाम गद्दभाकिती जीवा, भूमीए खड्डयं करेंति—आवश्यक चूर्णि।**

'दग-मट्टी' का अर्थ जल और पृथ्वी किया है। आचार्य हरिभद्र भी उक्त-सूत्र के दोनों शब्दों को भिन्न-भिन्न मान कर जल और पृथ्वी अर्थ करते हैं। परन्तु वे 'दग-मट्टी' शब्द को एक शब्द भी मानते हैं और उसका अर्थ करते हैं—'चिक्खल अर्थात् कीचड़।' **'दकमृत्तिका चिक्खलं, अथवा दकग्रहणादप्कायः, मृत्तिकाग्रहणात्पृथ्वीकायः।'**

आचार्य हरिभद्र ने **अभिहया** का अर्थ किया है—**'अभिमुखागता हता चरणेन घट्टिताः, उत्क्षिप्य क्षिप्ता वा।'** इसका भाव है—'पैर से ठोकर लगाना, या उठाकर फेंक देना।'

'वत्तिया' का अर्थ—**पुञ्ज** बनाना भी किया है। **'वर्तिताः पुञ्जी कृताः, धूल्या वा स्थगिताः'**—आचार्य हरिभद्र।

सङ्घट्टिता का अर्थ छूना किया है, जिसके लिए आचार्य हरिभद्र का आधार है। **सङ्घट्टिता मनाक् स्पृष्टाः।'**

ऊपर के शब्दों के सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र के जिस मत का उल्लेख किया गया है, ठीक वैसा ही आचार्य जिनदास महत्तर का भी मत है। इसके लिए आवश्यक-चूर्णि द्रष्टव्य है।

●

८ | शय्या-सूत्र

इच्छामि पडिक्कमिउं—

पगामसिज्जाए, निगामसिज्जाए,

उव्वट्टणाए, परिवट्टणाए, आउंटणाए, पसारणाए,[1]

छप्पइय-संघट्टणाए,

कूइए, कक्कराइए,

छीए, जंभाइए,

आमोसे, ससरक्खामोसे,

आउलमाउलाए, सोअणवत्तियाए,

इत्थीविप्परियासियाए, दिट्ठिविप्परियासियाए,

मण-विप्परियासियाए, पाणभोयण-विप्परियासियाए,—

जो मे देवसिओ अइयारो कओ,

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

शब्दार्थ

इच्छामि=चाहता हूं

पडिक्कमिउं=प्रतिक्रमण करना (किं विषयक ?)

पगामसिज्जाए=चिरकाल तक सोने से

निगामसिज्जाए=बार-बार चिर-काल तक सोने से

उव्वट्टणाए=करवट बदलने से

परिवट्टणाए=बार-बार करवट बदलने से

आउंटणाए=हाथ पैर आदि को संकुचित करने से

पसारणाए=हाथ पैर आदि को फैलाने से

१—'आउंटण-पसारणाए' इत्यपि पाठः ।

छप्पइय=षट्पदी-यूका आदि को
संघट्टणाए=स्पर्श करने से
कूइए=खाँसते हुये
कक्कराइए=शय्या के दोष कहते हुये
छीए=छींकते हुये
जंभाइए=उबासी लेते हुये
आमोसे=बिना पूँजे शरीर आदि का स्पर्श करते हुये
ससरक्खामोसे=सचित्त रज से युक्त वस्तु को छूते हुये
आउलमाउलाए=आकुल व्याकुलता से
सोअणवत्तियाए=स्वप्न के निमित्त से
इत्थी विप्परियासियाए=स्त्री-*सम्बन्धी विपर्यास से
दिट्ठि विप्परियासियाए=दृष्टि के विपर्यास से
मणविप्परियासियाए=मन के विपर्यास से
पाणभोयण=पानी और भोजन के
विप्परियासियाए=विपर्यास से
जो=जो भी
मे=मैंने
देवसिओ=दिवस सम्बन्धी
अइयारो=अतिचार
कओ=किया हो तो
तस्स=उसका
मिच्छा=मिथ्या हो
मि=मेरे लिए
दुक्कडं=पाप

भावार्थ

शयन-सम्बन्धी प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। शयनकाल में यदि बहुत देर तक सोता रहा हूँ, तथा बार-बार बहुत देर तक सोता रहा हूँ, अयतना के साथ एक बार करवट ली हो, तथा बार-बार करवट ली हो, हाथ पैर आदि अंग अयतना से समेटे हों तथा पसारे हों, यूका=जूँ आदि क्षुद्र जीवों को कठोर स्पर्श के द्वारा पीड़ा पहुँचाई हो—

---

* विपर्यास का अर्थ विपर्यय है। स्वप्न में स्त्री के द्वारा ब्रह्मचर्य की भावना में विपर्यय हो जाना, स्त्री-विपर्यास है। जिनदास महत्तर कहते हैं—'विपर्यासो अबंभचेरं।' परन्तु केवल अब्रह्मचर्य ही नहीं, किसी भी प्रकार की संयमविरुद्ध वृत्ति या प्रवृत्ति विपर्यास है। आगे मनोविपर्यास और पान-भोजनविपर्यास आदि में यही अर्थ ठीक बैठता है।

स्त्री साधक 'इत्थी विप्परियासिआए, के स्थान में 'पुरिसविप्परियासियाए' पढ़ें। उनके लिए पुरुष ही विपर्यास का निमित्त है।

विना यतना के अथवा ज़ोर से खाँसी ली हो, अथवा शब्द किया हो, यह शय्या बड़ी विषम तथा कठोर है—इत्यादि शय्या के दोष कहे हों, बिना यतना किए छींक एवं जँभाई ली हो, बिना प्रमार्जन किए शरीर को खुजलाया हो अथवा अन्य किसी वस्तु को छुआ हो, सचित्त रज वाली वस्तु का स्पर्श किया हो—

(ऊपर शयनकालीन जागते समय के अतिचार बतलाए हैं; अब सोते समय के अतिचार कहे जाते हैं।) स्वप्न में विवाह तथा युद्धादि के अवलोकन से आकुलता व्याकुलता रही हो—स्वप्न में मन भ्रान्त हुआ हो, स्वप्न में स्त्री संग किया हो, स्वप्न में स्त्री आदि को अनुराग भरी दृष्टि से देखा हो, स्वप्न में मन में विकार आया हो, स्वप्न दशा में रात्रि में भोजन-पान की इच्छा की हो या भोजन पान किया हो—

अर्थात् मैंने दिन में जो भी शयन-सम्बन्धी अतिचार किया हो, वह सब पाप मेरा मिथ्या=निष्फल हो।

भाष्य

जैन आचार शास्त्र बहुत ही सूक्ष्मताओं में उतरने वाला है। साधक-जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म चेष्टाओं, भावनाओं एवं विकल्पों पर सावधानी तथा नियंत्रण रखना, यह महान् उद्देश्य, इन सूक्ष्म चर्चाओं के पीछे रहा हुआ है। आज का उड़ाऊ चंचल मन भले ही इनको उपहास की चीज समझे तथाच लक्ष्य न दे, किन्तु जिसको साधना की चिन्ता है, भूलों का पश्चात्ताप है, वह कभी भी इस ओर से उदासीन नहीं रह सकता।

एक करोड़पति सेठ है। रात के बारह बज गए हैं, तथापि बहीखाते की जाँच-पड़ताल हो रही है। एक पाई गुम है, उसका मीजान नहीं मिल रहा है। आप कहेंगे—यह भी क्या ? पाई ही तो गुम हुई है, उसके लिए इतनी सिरदर्दी ? परन्तु आप अर्थशास्त्र पर ध्यान दीजिए। एक पाई का मूल्य भी कुछ कम नहीं है। '**जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः**' की उक्ति के अनुसार बूँद-बूँद से घट भर ज और पाई-पाई जोड़ते हुए तिजोरी भर जाती है।

धर्म-साधना के लिए भी ठीक यही बात है। साधारण साधक भी छोटी से छोटी साधनाओं पर लक्ष्य देते हुए एक दिन ऊँचा साधक बन जाता है। इसके विपरीत साधारण सी भूलों की उपेक्षा करते रहने से ऊँचे से ऊँचा साधक भी पतन के पथ पर फिसल पड़ता है। यही कारण है—जैन आचारशास्त्र सूक्ष्म से सूक्ष्म भूलों पर भी ध्यान रखने का आदेश देता है।

प्रस्तुत सूत्र शयन-सम्बन्धी अतिचारों का प्रतिक्रमण करने के लिए है। सोते समय जो भी शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक भूल हुई हो, संयम की सीमा से बाहर अतिक्रमण हुआ हो, किसी भी तरह का विपर्यास हुआ हो, उन सबके लिए पश्चात्ताप करने का, 'मिच्छा मिदुक्कडं' देने का विधान प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

आज की जनता, जब कि प्रत्यक्ष जागृत अवस्था में किए गए पापों का भी उत्तरदायित्व लेने के लिए तैयार नहीं है, तब जैनमुनि स्वप्न अवस्था की भूलों का उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर लिए हुए है। शयन तो एक प्रकार से क्षणिक मृतदशा मानी जाती है। वहाँ का मन मनुष्य के अपने वश में नहीं होता। अतः साधारण मनुष्य कह सकता है कि 'सोते समय मैं क्या कर सकता था? मन ही भ्रान्त रहा, मैंने तो कुछ नहीं किया?' परन्तु संयम पथ का श्रेष्ठ साधक ऐसा नहीं कह सकता। वह तो ज्ञात-अज्ञात सभी भूलों के प्रति अपना उत्तरदायित्व दृढ़ता से निभाता है। वह अपने साधना-जीवन के प्रति किसी भी अवस्था में बेखबर नहीं रह सकता।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो स्वप्न जगत् हमारे जागृत जगत् का ही प्रतिबिम्ब है। प्रायः जैसा जागृत होता है, वैसा ही स्वप्न होता है। यदि हम स्वप्न में भ्रान्त रहते हैं, संयम-सीमा से बाहर भटक कर कुछ विपर्यास करते हैं, तो इसका अर्थ है अभी हमारा जागृत भी सुदृढ़ नहीं है। स्वप्न की भूलें हमारी आध्यात्मिक दुर्बलताओं का संकेत करती हैं। यदि साधक अपने स्वप्न-जगत पर बराबर लक्ष्य देता रहे तो वह अवश्य ही अपने जागृत को महान बना सकता है। जीवन के किस क्षेत्र में अधिक दुर्बलता है? संयम का कौन-सा अंग अपरिपुष्ट है?— इसकी सूचना स्वप्न से हमें मिलती रहेगी और हम जागृत दशा में उसी पर अधिक चिन्तन मनन का भार देकर उसे सबल एवं सशक्त बनाते रहेंगे। आदर्श के प्रति जागरूकता संसार की एक बहुत बड़ी शक्ति है। यदि साधक चाहे तो क्या जागृति और क्या स्वप्न प्रत्येक दशा में अपने आप को सदाचारी, संयमी एवं प्रतिज्ञात व्रत पर सुदृढ़ बनाए रख सकता है।

प्रस्तुत सूत्र के प्रारम्भ में सोते समय के कुछ प्रारंभिक दोष बतलाए हैं। बार-बार करवटें बदलते रहना, बार-बार हाथ पैर आदि को सिकोड़ते और फैलाते रहना—मन की व्याक्षिप्त एवं अशान्त दशा की सूचना है। जिन लोगों का मन अधिक चंचल एवं इधर-उधर की बातों में अधिक उलझा रहता है, वे शय्या पर घंटों इधर-उधर करवटें बदलते रहते हैं, हाथ-पैर आदि को बराबर सिकोड़ते-पसारते रहते हैं; बार-बार आँखें बन्द कर सोने का उपक्रम करते हैं, फिर भी अच्छी तरह सो नहीं पाते। साधक जीवन के लिए मन की यह भूमिका अच्छी नहीं मानी जाती। साधक का कर्त्तव्य है कि सोने से पहले मन को संकल्प-विकल्पों से खाली कर ले; ताकि सुषुप्ति दशा में उचित निद्रा आए, फलतः शरीर भलीभाँति निश्चेष्ट रह कर अपनी श्रान्ति मिटा सके एवं संयम क्षेत्र से बाहर शरीर और मन का हिंसादिमूलक

विपर्यास भी न हो सके। सोने के लिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता है; यदि अधिक चिन्तन के साथ कहें तो जागृत अवस्था की अपेक्षा भी स्वप्नावस्था में जागरूक रहने का अधिक महत्व है।

प्रकामशय्या :

'शय्या' शब्द शयनवाचक है और 'प्रकाम' अत्यन्त का सूचक है ; अतः प्रकाम शय्या का अर्थ होता है—अत्यन्त सोना, मर्यादा से अधिक सोना, चिरकाल तक सोना। यह, शब्दार्थ और भावार्थ में हम प्रकट कर आये हैं। इसके अतिरिक्त 'प्रकाम शय्या' का एक अर्थ और भी है। उसमें **'शेरतेऽस्यामिति शय्या'**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'शय्या' शब्द संथारे का, बिछौने का वाचक है, और 'प्रकाम' उत्कट अर्थ का वाचक है। इसका अर्थ होता है—'प्रमाण से बाहर बड़ी एवं गद्देदार कोमल गुद-गुदी शय्या।' यह शय्या साधु के कठोर एवं कर्मठ जीवन के लिए वर्जित है। साधु आराम लेने के लिए नहीं सोता। प्रतिपल के विकट जीवन संग्राम में उसे कहाँ आराम की फुर्सत है ? अतः अशक्य परिहार के नाते ही निद्रा लेनी होती है, आराम के लिए नहीं। यदि इस प्रकार की कोमल शय्या का उपभोग करेगा तो अधिक देर तक आलस्य में पड़ा रहेगा, ठीक समय पर जाग न सकेगा; फलतः स्वाध्याय आदि धर्म क्रियाओं का भली-भाँति पालन न हो सकेगा।

निकाम शय्या :

प्रकाम शय्या का ही बार-बार सेवन करना, अथवा बार-बार अधिक काल तक सोते रहना, निकाम शय्या है। आचार्य हरिभद्र और नमि प्रकाम शय्या और निकाल शय्या के दोनों ही अर्थों का उल्लेख करते हैं। आचार्य जिनदास महत्तर का भी यही अभिमत है।

उद्वर्तना और परिवर्तना :

उद्वर्तना का अर्थ है एक बार करवट बदलना, और परिवर्तना का अर्थ है बार-बार करवट बदलना। **आचार्य जिनदास महत्तर** आवश्यक चूर्णि में उद्वर्तन का अर्थ करते हैं—'एक करवट से दूसरी करवट बदलना, बायीं करवट से दाहिनी करवट या दाहिनी से बायीं करवट बदलना।' और परिवर्तना का अर्थ करते हैं—'पुनः वही पहले वाली करवट ले लेना।' **'वामपासेण निवन्नो संतो जं पल्लत्थति, एतं उव्वत्तणं। जं पुणो वामपासेण एवं परियत्तणं।'** आचार्य हरिभद्र भी ऐसा ही कहते हैं। परिवर्तना का प्राकृत मूलरूप **'परियट्टणा'** भी मिलता है।

'उव्वट्टणाए' से पहले **संथारा** शब्द का प्रयोग भी बहुत-सी प्रतियों में मिलता है। उसका अर्थ किया जाता है 'संथारे पर करवट बदलना।' परन्तु जिनदास महत्तर और हरिभद्र आदि प्राचीन आचार्य उसका उल्लेख नहीं करते। अतः हमने भी मूल पाठ में इसको स्थान नहीं दिया है। वैसे भी कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं है। शय्या सूत्र यह

स्वयं ही है। अतः करवट शय्या पर ही ली जायगी। उसके लिए शय्या पर करवट बदलना, यह कथन कुछ गम्भीर अर्थ नहीं रखता।

कर्करायित :

'कर्करायित' शब्द का अर्थ 'कुड़कुड़ाना' है। शय्या यदि विषम हो, कठोर हो तो साधू को शान्ति के साथ सब कष्ट सहन करना चाहिए। साधू का जीवन ही तितिक्षामय है। अतः उसे शय्या के दोष कहते हुए कुड़कुड़ाना नहीं चाहिए।

स्वप्न-प्रत्यया :

प्रस्तुत-सूत्र में **'आउलमाउलाए'** के आगे **'सोअणवत्तियाए'** पाठांश आता है। उसका अर्थ है—स्वप्नप्रत्यया, अर्थात् स्वप्न के प्रत्यय=निमित्त से होने वाली संयम-विरुद्ध मानसिक क्रिया। आचार्य हरिभद्र ने इसका सम्बन्ध 'आउलमाउलाए' से जोड़ा है। प्रकरण की दृष्टि से आगे के शब्दों के साथ भी इसका सम्बन्ध है।

एक प्रश्न :

सूत्रों में दिवाशयन अर्थात् दिन में सोने का निषेध किया गया है। जब दिन में सोना ही नहीं है; तब साधू को इस सम्बन्ध में दैवसिक अतिचार कैसे लग सकता है? प्रश्न ठीक है। अब जरा उत्तर पर भी विचार कीजिए। जैनधर्म स्याद्वादमय धर्म है। यहाँ एकान्त निषेध अथवा एकान्त विधान, किसी सिद्धान्त का नहीं है। उत्सर्ग और अपवाद का चक्र बराबर चलता रहता है। अस्तु, दिवाशयन का निषेध औत्सर्गिक है और कारणवश उसका विधान आपवादिक है। विहारयात्रा की थकावट से तथा अन्य किसी कारण से अपवाद के रूप में यदि कभी दिन में सोना पड़े तो अल्प ही सोना चाहिए। यह नहीं कि अपवाद का आश्रय लेकर सर्वथा ही संयम-सीमा का अतिक्रमण कर दिया जाय! इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने प्रस्तुत शयनातिचार-प्रतिक्रमण-सूत्र का दैवसिक प्रतिक्रमण में भी विधान किया है। वस्तुतः उत्सर्गदृष्टि से यह सूत्र, रात्रि-प्रतिक्रमण का माना जाता है।

प्रस्तुत शय्या-सूत्र का, जब भी साधक सोकर उठे, अवश्य पढ़ने का विधान है। और शय्या-सूत्र पढ़ने के बाद किसी सम्प्रदाय में एक लोगस्स सूत्र तो किसी में चार लोगस्स पढ़ने की परम्परा है।

१ | गोचरचर्या-सूत्र

पडिक्कमामि

गोयरचरियाए, भिक्खायरियाए

उग्घाड-कवाड-उग्घाडणाए, साणा-वच्छा-दारासंघट्टणाए,

मडी-पाहुडियाए, बलि-पाहुडियाए, ठवणापाहुडियाए,—

संकिए, [1]सहसागारे, अणेसणाए,

पाणभोयणाए, बीयभोयणाए, हरियभोयणाए,

पच्छाकम्मियाए, पुरेकम्मियाए,

अदिट्ठहडाए, दग-संसट्ठ-हडाए, रय-संसट्ठ-हडाए,

पारिसाडणियाए, पारिट्ठावणियाए, ओहासण-भिक्खाए,

जं उग्गमेणं, उप्पायणेसणाए—

अपरिसुद्धं, परिग्गहियं, परिभुत्तं वा

जं न परिट्ठवियं,

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं !

१—'सहसागारिए' ऐसा भी कुछ प्रतियों में पाठ है। परन्तु जिनदास महत्तर और हरिभद्र आदि प्राचीन आचार्यों ने 'सहसागारे' पाठ का ही उल्लेख किया है।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ
गोयरचरियाए=गोचर-चर्या में
भिक्खायरियाए=भिक्षा-चर्या में
[दोष कैसे लगे ?]
उग्घाड=अधखुले[1]
कवाड=किवाड़ों को
उग्घाडणाए =खोलने से
साणा=कुत्ते
वच्छा=बछड़े
दारा=बच्चों का
संघट्टणाए=संघट्टा करने से
मंडी=अग्रपिण्ड की[2]
पाहुडियाए=भिक्षा से
बलि=बलिकर्म की[3]

१—'उग्घाडं नाम किंचि थगितं' इति जिनदास महत्तराः ।

२—'मंडीपाहुडिया नाम जाहे साधू आगतो ताए मंडीए अण्णंमि वा भायणे अग्ग-पिंडं उक्कड्ढिताए सेसाओ देति ।' इति जिनदास महत्तराः ।

३—'बलि-पाहुडिया नाम अग्गिंमि छुभति, चउद्दिसिं वा अच्चणितं करेति, ताहे साहुस्स देति ।' इति जिनदास महत्तराः ।

मण्डी प्राभृतिका और बलिप्राभृतिका के न लेने का यह अभिप्राय है—'प्राचीन काल में और बहुत से स्थानों में आजकल भी लोकमान्यता है कि जब तक तैयार किये हुए भोजन में से बलि के रूप में भोजन का कुछ अंश अलग निकाल कर नहीं रख दिया जाता, या निर्धारित दिशाओं में नहीं डाल दिया जाता, या अग्नि में आहुत नहीं कर दिया जाता, तब तक वह भोजन अछूता रहता है, फलतः उसे उपयोग में नहीं लाया जाता। बलि निकाल कर अलग न रक्खी हो, और इतने में साधु पहुँच जाए तो गृहस्थ पहले दूसरे पात्र में बलि निकाल कर रख लेता है और फिर साधु को भोजन देना चाहता है। परन्तु यह भिक्षा आरम्भ का निमित्त होने से ग्राह्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि जब तक बलि निकाली न थी, तब तक भोजन का उपयोग नहीं हो रहा था। अब साधु के निमित्त से बलि निकाल ली तो दूसरे लोगों को भोजन के लिए छूट हो गई। यह प्रवृत्ति-दोष भी साधु के निमित्त से ही होता है। अतः अहिंसा की सूक्ष्म विचारणा के कारण इस प्रकार की भिक्षा जैन मुनि के लिए अग्राह्य है।'

पाहुडियाए=भिक्षा से
ठवणा=स्थापना की
पाहुडियाए=भिक्षा से
संकिए=शंकित आहार लेने से
सहसागारे=शीघ्रता में लेने से
अणेसणाए=बिना एषणा के
लेने से
पाणभोयणाए=प्राणी वाले भोजन
से
बीयभोयणाए=बीज वाले भोजन
से
हरियभोयणाए=हरित वाले
भोजन से
पच्छाकम्मियाए=पश्चात्कर्म से
पुरेकम्मियाए=पुर:कर्म से
अदिट्ठ=अदृष्ट वस्तु के
हडाए=लेने से
दग संसट्ठ=जल से संसृष्ट
हडाए=लेने से
रय संसट्ठ=रज से संसृष्ट
हडाए=लेने से
पारिसाडणियाए=पारिशाटनिकासे
परिट्ठावणियाए=पारिष्ठापनिका
से
ओहासण=उत्तम वस्तु माँग कर
भिक्खाए=भिक्षा लेने से
जं=(और) जो
उग्गमेणं=आधाकर्मादि उद्गम
के दोषों से
उप्पायण=उत्पादन के दोषों से
एसणाए=एषणा के दोषों से
अपरिसुद्धं=अशुद्ध आहार
परिग्गहियं=ग्रहण किया हो
वा=तथा
परिभुत्तं=भोगा हो
जं (और) जो भूल से लिया
हुआ अशुद्ध आहार
न=नहीं
परिट्ठवियं=परठा हो तो
तस्स=उसका
दुक्कडं=पाप
मि=मेरे लिए
मिच्छा=मिथ्या हो

भावार्थ

गोचरचर्या रूप भिक्षाचर्या में, यदि ज्ञात अथवा अज्ञात किसी भी रूप में जो भी अतिचार=दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ=उस अतिचार से वापस लौटता हूँ ।

(कौन से अतिचार ?) अधखुले किवाड़ों को खोलना; कुत्ते, बछड़े और बच्चों का संघट्टा=स्पर्श करना; मण्डी प्राभृतिका=अग्रपिण्ड लेना; बलिप्राभृतिका=बलिकर्मार्थ तैयार किया हुआ भोजन लेना अथवा साधु

के आने पर बलिकर्म करके दिया हुआ भोजन लेना। स्थापनाप्रभृतिका= भिक्षुओं को देने के उद्देश्य से अलग रक्खा हुआ भोजन लेना। शंकित= आधाकर्मादि दोषों की शंका वाला भोजन लेना; सहसाकार=शीघ्रता में आहार लेना; विना एषणा=छान-बीन किए लेना; प्राण-भोजन=जिसमें कोई जीव पड़ा हो, ऐसा भोजन लेना; बीज-भोजन=बीजों वाला भोजन लेना; हरितभोजन=सचित्त वनस्पति वाला भोजन लेना; पश्चात्कर्म= साधु को आहार देने के बाद तदर्थ सचित्तजल से हाथ या पात्रों को धोने के कारण लगने वाला दोष; पुरःकर्म=साधु को आहार देने से पहले सचित्त जल से हाथ या पात्र के धोने से लगने वाला दोष; अदृष्टाहृत= बिना देखा भोजन लेना; उदक संसृष्टाहृत=सचित्त जल के साथ स्पर्श वाली वस्तु लेना; रजः संसृष्टाहृत=सचित्त रज से स्पृष्ट वस्तु लेना; पारि-शाटनिका=देते समय मार्ग में गिरता-बिखरता हुआ दिया जाने वाला भोजन लेना; पारिष्ठापनिका=[1]आहार देने के पात्र में पहले से रहे हुए किसी भोजन को डाल कर, दिया जाने वाला अन्य भोजन लेना; अवभाषण भिक्षा=विशिष्ट भोजन का माँगना अवभाषण है, सो अव-भाषण के द्वारा भिक्षा लेना; उद्गम—आधा कर्म आदि १६ उद्गम दोषों से सहित भोजन लेना; उत्पादन=धात्री आदि १६ साधु की तर्फ से लगने वाले दोषों से सहित भोजन लेना। एषणा=ग्रहणैषणा के शंका आदि १० दोषों से सहित भोजन लेना।

उपर्युक्त दोषों वाला अशुद्ध=साधुमर्यादा की दृष्टि से अयुक्त आहार पानी ग्रहण किया हो, ग्रहण किया हुआ भोग लिया हो; किन्तु दूषित जानकर भी परठा न हो, तो तज्जन्य मेरा समस्त पाप मिथ्या हो।

१—कुछ अनुवादक पारिष्ठापनिका का 'परठने-योग्य कालातीत अयोग्य वस्तु ग्रहण करना।' अथवा 'साधु को बहराने के बाद उसी पात्र में रहे हुए शेष भोजन को जहाँ दाता द्वारा फेंक देने की प्रथा हो, वहाँ अयतना की सम्भावना होते हुए भी आहार ले लेना।' ऐसा अर्थ भी करते हैं।

परन्तु हमने जो अर्थ किया है, उस के लिए आचार्य जिनदास महत्तर का प्राचीन आधार है—'पारिट्ठावणियाए तत्थ भायणे असणं किंचि आसी, ताहे तं परिट्ठ-वेतूण अण्णं देति।' आवश्यक चूर्णि।

भाष्य

जीवन-यात्रा के लिए मनुष्य को भोजन की आवश्यकता है। यदि मनुष्य भोजन न करे, सर्वदा और सर्वथा निराहार ही रहे तो मनुष्य का कोमल जीवन टिक नहीं सकता। और जीवन की अहिंसा, सत्य आदि उच्च साधनाओं के लिए, कर्त्तव्य-पूर्ति के लिए मनुष्य का जीवित रहना आवश्यक है। जीवन का महत्त्व संसार में किसी भी प्रकार से कम नहीं आँका जा सकता; परन्तु शर्त है कि वह शुभ उद्देश्य के लिए हो, स्वपर के कल्याण के लिए हो; दुराचार या अत्याचार के लिए न हो। जैन धर्म जैसा कठोर निवृत्तिप्रधान धर्म भी जीवन के प्रति उपेक्षित रहने को नहीं कहता। आत्मघाती के लिए वह महापापी शब्द का प्रयोग करता है।

भोजन आवश्यक है, इसके लिए कोई दूसरा विकल्प हो ही नहीं सकता। परन्तु भोजन कैसा और किसलिए करना चाहिए ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। साधारण लोगों का खयाल है कि भोजन स्वादिष्ट होना चाहिए, फिर भले वह कैसा ही हो ? ये लोग जीवन की महत्ता को नहीं जानते। इनका जीवन-क्षेत्र केवल जिह्वा के चार अंगुल के टुकड़े पर ही केन्द्रित है। अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट चटनी, आचार, मुरब्बे, मिष्टान्न आदि खाना और मस्त रहना, यही इनके जीवन का आदर्श रहता है। स्वादु भोजन के फेर में ये लोग धार्मिक मर्यादा का तो क्या खयाल रक्खेंगे ?; अपने स्वास्थ्य की भी चिन्ता नहीं करते और अंट-संट खा-पीकर एक दिन अपने अमूल्य मानव-जीवन को मिट्टी में मिला देते हैं। इनका आदर्श है—'भोजन के लिए जीवन'; जबकि होना चाहिए—'जीवन के लिए भोजन।'

दूसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं, जो स्वादु भोजन के फेर में तो नहीं पड़ते। परन्तु पुष्टिकर एवं शक्तिप्रद भोजन का मोह वे भी नहीं छोड़ सकते हैं। शरीर को मजबूत बनाएँ, बलिष्ठ पहलवान बनें, और मनचाही ऐश करें, यही आदर्श इन लोगों के जीवन का है। इसके आगे का कोई भी उज्ज्वल चित्र इनकी आँखों के समक्ष नहीं रहता। धर्म की मर्यादा से इनका भी कोई सम्बन्ध नहीं होता। भोजन पुष्टिकर होना चाहिए, फिर भले वह कैसा ही हो और किसी भी तरह मिला हो।

तीसरी श्रेणी आत्मतत्व के पारखी साधक पुरुषों की है। ये लोग 'जीवन के लिए भोजन' का आदर्श रख कर कार्य-क्षेत्र में उतरते हैं। स्वादु भोजन तथा पुष्टि-कर भोजन से इन्हें कुछ मतलब नहीं; इन्हें तो शरीर यात्रा के लिए जैसा भी रूखा-सूखा और जितना भी भोजन मिले, वही पर्याप्त है। साधक को अपने आहार पर पूरा-पूरा काबू रखना चाहिए। वह जो कुछ भी खाए, वह केवल औषधि के रूप में शरीर-रक्षा के लिए ही खाए, स्वाद आदि के लिए कदापि नहीं।

साधक के भोजन का आदर्श है—हित, मित, पथ्य। भोजन ऐसा होना चाहिए, जो अल्प हो, स्वास्थ्यवर्द्धक हो और धर्म की दृष्टि से भी उपयुक्त हो। मांस, मद्य अथवा अन्य धर्म-विरुद्ध अभक्ष्य भोजन, वह कदापि नहीं करता। एतदर्थ वह

जीवन से हाथ धोने के लिए तैयार रहता है, किन्तु अपवित्र मादक पदार्थों का सेवन किसी भी प्रकार नहीं कर सकता। भोजन का मन के साथ घनिष्ट-सम्बन्ध है। मनुष्य जैसा अन्न खाता है, मन वैसा ही बन जाता है। सात्विक भोजन करने वाले का मन सात्त्विक होता है, और तामसिक भोजन करने वाले का मन तामसिक। जो साधक अहिंसा एवं सत्य मार्ग का पथिक है; उसे विकार-वर्द्धक उत्तेजक पदार्थों से सर्वथा अलग रहना चाहिए। यह भोजन की द्रव्य-शुद्धि है।

दूसरी ओर भोजन का न्याय-प्राप्त होना भी आवश्यक है। किसी को पीड़ा पहुँचा कर अथवा असत्य आदि का प्रयोग करके प्राप्त हुआ भोजन, आत्मा को तेजस्वी नहीं बना सकता। तेजस्वी बनाना तो दूर, प्रत्युत आत्मा का पतन करता है और कभी-कभी तो मनुष्यता तक से शून्य बना देता है।

जैन संस्कृति में भोजन के ये दो ही प्रकार हैं–एक वह सात्त्विक होना चाहिए और दूसरे न्याय प्राप्त। एक तीसरा और विशेषण भी है, जो स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था के मानने वालों की ओर से लगाया जाता है। वह विशेषण है—भोजन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि उच्च कुल का होना चाहिए; शूद्र और अन्त्यज आदि का नहीं। जैन धर्म के तीर्थंकर उक्त तीसरे विशेषण में कोई सार नहीं देखते। मानव-मात्र की एक जाति है, उसमें ऊँच-नीच के भेद सर्वथा काल्पनिक हैं। केवल व्यापार-भेद, राष्ट्र-भेद अथवा रंग-भेद से मानव जाति में भेदबुद्धि पैदा करना और उसके बल पर आपस में घृणा और द्वेष की आग भड़काये रखना, संसार का सबसे भयंकर अपराध है। जैन-सूत्रों का आघोष है—'**न दीसइ जाइविसेस कोइ**'—'जन्म से जाति की कोई विशेषता नहीं देखी जाती'—उत्तराध्ययन। हम देखते हैं कि गौतम जैसे प्रतिष्ठित मुनि भी उत्तम, मध्यम और अधम तीनों कुलों में भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं। यद्यपि पश्चात्कालीन टीकाकारों ने स्पृश्या-स्पृश्यता के व्यामोह में पड़कर उत्तम मध्यमादि कुलों की व्याख्या, धनी और निर्धन के भेद पर की है; किन्तु यह व्याख्या स्पष्टतः मूल भावों का अनुसरण नहीं करती। मानवता के नाते केवल भोजन की स्वयं शुद्धता और न्याय प्राप्तता ही अपेक्षित है, फिर भले ही वह भोजन किसी का भी हो—ब्राह्मण का हो अथवा शूद्र का हो।

साधु का जीवन, त्याग-वैराग्य का जीवन है। वह स्वयं सांसारिक कार्यों से सर्वथा अलग है। अतः वह स्वयं भोजन न बना कर भिक्षा पर ही जीवन-यात्रा का निर्वाह करता है। साधु की भिक्षा साधारण भिक्षुओं जैसी नहीं होती। उसने भिक्षा पर भी इतने बन्धन डाले हैं कि, इसका एक पृथक् साहित्य ही बन गया है। जैन आगम साहित्य का अधिकांश भाग, जैन मुनि की गोचरचर्या के नियमोपनियमों से ही परिपूर्ण है। किसी को किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुँचाये बिना पूर्ण शुद्ध, सात्त्विक, उदर समाता भोजन लेना ही जैन भिक्षा का आदर्श है।

जैन भिक्षु के लिए नवकोटि-परिशुद्ध आहार ग्रहण करने का विधान है। नव-

कोटि इस प्रकार है—न स्वयं पकाना, न अपने लिए दूसरों से कहकर पकवाना, न पकाते हुए का अनुमोदन करना; न खुद बना बनाया खरीदना, न अपने लिए खरीदवाना और न खरीदने वाले का अनुमोदन करना; न स्वयं किसी को पीड़ा देना, न दूसरे से पीड़ा दिलवाना, और न पीड़ा देने वाले का अनुमोदन करना। उक्त नवकोटि के लिए, देखिए स्थानांग सूत्र का नवम स्थान।

आप देख सकते हैं—कितनी अधिक सूक्ष्म अहिंसा की मर्यादा का ध्यान रक्खा गया है। भिक्षा के लिए न स्वयं किसी तरह की पीड़ा देना, न दूसरे से पीड़ा दिलवाना और यदि कोई स्वयं ही साधु को भिक्षा दिलाने के उद्देश्य से किसी को पीड़ा देने लगे तो उसका भी अनुमोदन न करना। हृदय की विशाल कोमलता के लिए एवं भिक्षा की पवित्रता के लिए केवल इतना सा ही अंश पर्याप्त है।

भगवती सूत्र के सातवें शतक के प्रथम उद्देश में भिक्षा के चार दोष बतलाए हैं—क्षेत्रातिक्रान्त, कालातिक्रान्त, मार्गातिक्रान्त और प्रमाणातिक्रान्त।

१—**क्षेत्रातिक्रान्त** दोष यह है कि सूर्योदय से पहले ही आहार ग्रहण कर लेना और सूर्योदय होते ही खा लेना। साधु के लिए नियम है कि न रात में आहार ग्रहण करना और न रात में खाना। सूर्योदय होने के बाद जब तक आवश्यक स्वाध्याय न कर ले, तब तक आहार नहीं ग्रहण किया जा सकता। यह नियम भोजन के संयम के लिए अतीव आवश्यक है।

२—**कालातिक्रान्त** दोष यह है कि प्रथम प्रहर में लिया हुआ भोजन चतुर्थ प्रहर में खाना। भगवान महावीर ने मर्यादा बाँधी है कि साधु अपने पास तीन प्रहर से अधिक काल तक भोजन नहीं रख सकता। पहले प्रहर का लिया हुआ तीसरे प्रहर तक खा सकता है, यदि चतुर्थ प्रहर में खाए तो प्रायश्चित्त लेना होता है। यह नियम संग्रह वृत्ति को रोकने के लिए है। यदि संग्रह वृत्ति को न रोका जाए तो भिक्षा का पवित्र आदर्श ही नष्ट हो जाता है। अधिक से अधिक माँगना और अधिक से अधिक काल तक संग्रह किए रखना, भगवान महावीर को सर्वथा अनभीष्ट है। जैन साधु का भिक्षा-संग्रह अधिक से अधिक तीन पहर तक के लिए है, कितना आदर्श त्याग है?

३—**मार्गातिक्रान्त** दोष यह है कि अर्ध योजन से अधिक दूर तक आहार ले जाना। साधु के लिए नियम है कि वह आवश्यकता पड़ने पर अधिक से अधिक अर्ध योजन अर्थात् दो कोस तक भोजन ले जा सकता है, इसके आगे नहीं। यह नियम भी अधिक संग्रह की वृत्ति को रोकने और भोजन की तृष्णा को घटाने के लिए है। अन्यथा भोजन-गृद्ध साधु विहार यात्रा में भोजन से ही लदा हुआ फिरेगा, संयम का आदर्श कैसे पालेगा?

४—**प्रमाणातिक्रान्त** दोष यह है कि—प्रमाण से अधिक भोजन करना। जैन मुनि, यदि भोजन अधिक काल तक रख नहीं सकता तो अधिक खा भी नहीं सकता।

भोजन, शरीर-निर्वाह के लिए है और वह बत्तीस ग्रासों के द्वारा हो सकता है। अतः ३२ ग्रासों से अधिक आहार करना, मुनि के लिए सर्वथा निषिद्ध है। यह नियम भी भिक्षा के समय अधिक माँगने की प्रवृत्ति को रोकने पर रस-गृद्धता के भाव को कम करने के लिए है।

आचारांग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन नवम उद्देशक में वर्णन आता है कि साधु को रूखा सूखा जैसा भी भोजन मिले, वैसा ही सहर्ष खाना चाहिए। यह नहीं कि अच्छा-अच्छा खा लिया और रूखा-सूखा डाल दिया। यदि ऐसा किया जाय तो उसके लिए निशीथ सूत्र में दण्ड का विधान है। यह नियम भी भिक्षा की शुद्धि के लिए परमावश्यक है। अन्यथा ऐसा होता है कि विशिष्ट भोजन की तलाश में मनुष्य इधर-उधर देर तक माँगता रहता है और फिर अधिक संग्रह करने के बाद अच्छा-अच्छा खाकर बुरा-बुरा फेंक देता है।

दशवैकालिक आदि सूत्रों में यह भी विधान है कि भिक्षा के लिए धनिक घरों की ही खोज में न रहे, ताकि स्वादु भोजन मिले। मार्ग में चलते हुए जो भी घर आ जायँ सभी में बिना किसी अमीर गरीब के भेद के जाना चाहिए और अपनी विधि के अनुसार जैसा भी सुन्दर अथवा असुन्दर, किन्तु प्रकृति के अनुकूल भोजन मिले, ग्रहण करना चाहिए। भोजन के सम्बन्ध में स्वास्थ्य का ध्यान रखना तो आवश्यक है, किन्तु स्वाद का ध्यान कतई नहीं रखना चाहिए। भगवान महावीर ने प्रत्येक नियम, मानव जीवन की दुर्बलताओं को लक्ष्य में रखते हुए ऐसा बनाया है, जिससे भिक्षा में किसी भी प्रकार की दुर्बलता प्रवेश न कर सके और भिक्षा का आदर्श कलंकित न हो सके।

बृहत्कल्पभाष्य प्रथम उद्देशक में भिक्षा के लिए जाने से पहले कायोत्सर्ग करने का विधान है। इस कायोत्सर्ग=ध्यान में विचारा जाता है कि—आज मैंने कौन सा आचाम्ल अथवा निर्विकृति का व्रत ले रक्खा है और उसके लिये कितना और कैसा भोजन आवश्यक है? यह कायोत्सर्ग अपनी भूख की अन्तर्ध्वनि सुनने के लिए है, ताकि मर्यादित एवं आवश्यक भोजन ही लाया जाय, अमर्यादित तथा अनावश्यक नहीं।

भोजन लाने के बाद जब तक गुरुचरणों में अथवा भगवान् की साक्षी से गोचर-चर्या का आलोचन अथ च प्रतिक्रमण नहीं कर लिया जाता, तब तक भोजन नहीं खाया जा सकता। यह नियम गुरुदेव के समक्ष गोचरचर्या की रिपोर्ट देने के लिए है कि—किसके यहाँ से, किस तरह से, कितना, और कैसा भोजन लिया गया है? यदि कहीं गोचरी में भूल मालूम पड़े तो उसके प्रतिकारस्वरूप प्रायश्चित्त ग्रहण करना होता है।

उपर्युक्त लम्बा विवेचन लिखने का मेरा उद्देश्य यह है कि जैनसाधु की भिक्षा-वृत्ति, भीख माँगना नहीं है। यहाँ भिक्षावृत्ति में जीवन के महान आदर्शों को भुलाया नहीं जाता; प्रत्युत उन्हें और अधिक दृढ़ किया जाता है। भिक्षा महान् आदर्श है—

यदि उससे वास्तविक लाभ उठाया जाय तो। कौन घर कैसा है ? उसका आचार विचार क्या है ? जीवन की उच्च संस्कृति का उत्थान हो रहा है अथवा पतन ? कौन व्यसन कहाँ किस रूप में घुसा हुआ है ? इत्यादि सब प्रश्नों का उत्तर साधु को भिक्षा के द्वारा मिल सकता है और यदि वह समर्थ हो तो तदनुसार उपदेश देकर जनता का कल्याण भी कर सकता है। जैनधर्म में भिक्षाचर्या स्वयं एक तपस्या है। वह जीवन की पवित्रता का महान मार्ग है।

आजकल भिक्षा के विरुद्ध जो आन्दोलन चल रहा है, उसके साथ यह भी विचार करना आवश्यक है कि—कौन किस तरह भिक्षा माँग रहा है ? सबको एक लाठी से नहीं हाँका जा सकता। यद्यपि यह ठीक है कि आज राष्ट्र में बेकार भिखमंगों का दल जोर पकड़ गया है; हजारों लाखों साधुनामधारी आज देश के लिए अभिशाप सिद्ध हो रहे हैं। आचार्य हरिभद्र ऐसे मनुष्यों की भिक्षा को पौरुषघ्नी बतलाते हैं, वह अवश्य ही निषिद्ध भिक्षा है। भिक्षाष्टक में आचार्य ने तीन प्रकार की भिक्षा बतलाई है–सर्व सम्पत्करी, पौरुषघ्नी और वृत्तिभिक्षा। सर्व सम्पत्करी भिक्षा त्यागी विरागात्मा साधु मुनिराजों की होती है। यह भिक्षा स्वयं साधक की आत्मा में, राष्ट्र में तथा समाज में सदाचार का प्रचण्ड तेज सञ्चार करने वाली है। दूसरी पौरुषघ्नी भिक्षा है। जो मनुष्य आलस्यवश स्वयं पुरुषार्थ न करके साधुवेष पहन कर भिक्षा द्वारा आजीविका चलाता है, वह पौरुषघ्नी भिक्षा है। हट्टा-कट्टा मजबूत आदमी, यदि केवल साधुता की माया रचकर मौज उड़ाता है, तो वह अपने पौरुष को नष्ट करने के अतिरिक्त और क्या करता है ? यह भिक्षा अवश्य ही राष्ट्र के लिए घातक है। वाचक यशोविजय इसी सम्बन्ध में कहते हैं :—

दीक्षा-विरोधिनी भिक्षा,
पौरुषघ्नी प्रकीर्तिता;
धर्मलाघवमेव स्यात्,
तया पीनस्य जीवतः ॥११॥

—द्वात्रिं० ६

तीसरी वृत्तिभिक्षा वह है, जो दीन, अन्ध आदि असहाय मनुष्य स्वयं कुछ कार्य नहीं कर सकने के कारण भिक्षा माँगते हैं। जब तक राष्ट्र इन लोगों के लिए कोई विशेष प्रबन्ध नहीं कर देता, तब तक मानवता के नाते इन लोगों को भी भिक्षा माँगने का अधिकार है।

उपर्युक्त वक्तव्य से स्पष्ट हो गया है कि जैनमुनि की भिक्षा का क्या स्वरूप है ? वह अन्य भिक्षाओं से किस प्रकार पृथक् है ? वह राष्ट्र के लिए अथवा साधक के लिए घातक नहीं; प्रत्युत उपकारक है ? अब कुछ प्रस्तुत पाठान्तर्गत विशेष शब्दों का स्पष्टीकरण कर लेना भी आवश्यक है।

गोचर चर्या :

कितना ऊँचा भाव-भरा शब्द है ? **'गोश्चरणं गोचरः, चरणं चर्या, गोचर इव चर्या गोचर-चर्या'**—यह व्युत्पत्ति आचार्य हरिभद्र के द्वारा कथित है। इसका भावार्थ है—जिस प्रकार गाय वन में एक-एक घास का तिनका जड़ से न उखाड़ कर ऊपर से ही खाती हुई घूमती है, अपनी क्षुधा निवृत्ति कर लेती है और गोचरभूमि एवं वन की हरियाली को भी नष्ट नहीं करती है; उसी प्रकार मुनि भी किसी गृहस्थ को पीड़ा न देता हुआ थोड़ा-थोड़ा भोजन ग्रहण करके अपनी क्षुधा निवृत्ति करता है। दशवैकालिक सूत्र में इसके लिए मधुकर=भ्रमर की उपमा दी है। भ्रमर भी फूलों को कुछ भी हानि पहुँचाए बिना थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण करता है एवं उसी पर से आत्म-तृप्ति कर लेता है।

भिक्षा-चर्या :

भिक्षाचर्या का मूलार्थ भिक्षा के लिए चर्या होता है। अर्थात् भिक्षा के लिए भ्रमण करना। आवश्यक के टीकाकार श्री हरिभद्र तथा स्थानांग सूत्र के टीकाकार श्री अभयदेव ऐसा ही अर्थ करते हैं। परन्तु प्रतिक्रमण के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य तिलक यहाँ भिन्न अर्थ करते हैं और वह हृदय को लगता भी है। उनका कहना है—'प्रथम गोचर चर्या में चर्या शब्द भ्रमणार्थक है और यहाँ भिक्षाचर्या में चर्या शब्द भुक्ति=भक्षण का वाचक है।' अर्थ होगा—'उपलब्ध भिक्षा का खाना'। भिक्षान्न खाते समय भोजन की निन्दा एवं एक भोजन को दूसरे भोजन में मिलाकर स्वादिष्ट बनाने से जो संयोजन आदि दोषों के अतिचार होते हैं, उनकी शुद्धि से तात्पर्य है। **"आद्यश्चर्या शब्दो भ्रमणार्थः, द्वितीयः पुनः भक्षणार्थः। भिक्षायाः चर्या=भुक्तिरित्यर्थः"**—तिलकाचार्य।

कपाटोद्घाटन :

साधारण रूप से भी यदि घर के द्वार के किवाड़ बन्द हों तो उन्हें खोल कर भोजन लेना दोष है; क्योंकि इससे बिना प्रमार्जन किए उद्घाटन के द्वारा जीव-विराधना दोष की सम्भावना रहती है तथा इस प्रकार आहार लेने से असभ्यता भी प्रतीत होती है। संभव है, गृहस्थ घर के अंदर किसी विशेष व्यापार में संलग्न हो और साधु अचानक किवाड़ खोलकर अंदर जाए तो अनुचित मालूम दे। यह उत्सर्ग मार्ग है। यदि किसी विशेष कारण के लिए आवश्यक वस्तु लेनी हो और तदर्थ किवाड़ खोलने हों तो यतना के साथ स्वयं खोले अथवा खुलवाये जा सकते हैं, यह अपवादमार्ग है। इस पर से जो लोग यह अर्थ निकालते हैं कि—'साधु को किवाड़ खोलने और बन्द नहीं करने चाहिए' वे गलती पर हैं। इसके लिए दशवैकालिक सूत्र के पंचम अध्ययन की १८वीं गाथा देखनी चाहिए, वहाँ गृहस्थ की आज्ञा लेकर किवाड़ खोलने का विधान स्पष्टतया उल्लिखित है।

श्वानादि संघट्टन :

साधु को बहुत शान्ति और विवेक के साथ आहार ग्रहण करना चाहिए। मार्ग में रहे हुए कुत्तों, बछड़ों और बच्चों के ऊपर पड़ते हुए भिक्षा लेना, लोकसभ्यता और आगम दोनों ही दृष्टियों से वर्जित है। जीव-विराधना का दोष, इस प्रवृत्ति के द्वारा लगता है। मूल में दारा शब्द आता है, जिसका अर्थ स्त्री और बालक दोनों होते हैं, यह ध्यान में रहे। परन्तु टीकाकार बालक ही अर्थ ग्रहण करते हैं।

मण्डी प्राभृतिका :

मण्डी, ढक्कन को तथा उपलक्षण से अन्य पात्र को कहते हैं। उसमें तैयार किए हुए भोजन के कुछ अग्र अंश को पुण्यार्थ निकालकर, जो रख दिया जाता है, वह अग्रपिण्ड कहलाता है। लोक-रूढ़ि के कारण आधेय अग्रपिण्ड भी आधार अर्थात् मण्डी-पद वाच्य ही है। मण्डी की प्राभृतिका =भिक्षा, मण्डी प्राभृतिका कहलाती है। यह पुण्यार्थ होने से साधु के लिए निषिद्ध है। अथवा साधु के आने पर पहले अग्र-भोजन दूसरे पात्र में निकाल ले और फिर शेष में से दे तो वह भी मण्डी प्राभृतिका दोष है; क्योंकि इससे प्रवृत्ति दोष लगता है। आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज उक्त पद का अग्निपिण्ड अर्थ करते हैं, इसका रहस्य क्या है, यह अभी अज्ञात है। हाँ प्राचीन परम्परा में कहीं भी यह अर्थ नहीं देखा गया।

बलि-प्राभृतिका :

देवता आदि के लिए पूजार्थ तैयार किया हुआ भोजन बलि कहलाता है। वह भिक्षा में नहीं ग्रहण करना चाहिए। यदि ग्रहण कर ले तो दोष होता है। अथवा साधू को दान देने से पहले दाता द्वारा सर्वप्रथम आवश्यक बलिकर्म करने के लिए बलि को चारों दिशाओं में फेंककर अथवा अग्नि में डाल कर पश्चात् जो भिक्षा दी जाती है, वह बलि प्राभृतिका है। ऐसा करने से साधु के निमित्त से अग्नि आदि जीवों की विराधना का दोष होता है।

स्थापना प्राभृतिका :

साधु के उद्देश्य से पहले से रक्खा हुआ भोजन लेना, स्थापना प्राभृतिका दोष है। अथवा अन्य भिक्षुओं के लिए अलग निकालकर रक्खे हुए भोजन में से भिक्षा लेना, स्थापना प्राभृतिका दोष होता है। ऐसा करने से अन्तराय दोष लगता है।

शङ्कित :

आहार लेते समय यदि भोजन के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के आधाकर्मादि दोष की आशंका हो तो वह आहार कदापि न लेना चाहिए। भले ही दोष का एकान्ततः निश्चय न हो, केवल दोष की संभावना ही हो, तब भी आहार लेना शास्त्र में वर्जित है। साधना-मार्ग में जरा-सी आशंका की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। दोष की आशंका रहते हुए भी आहार ग्रहण कर लेना, बहुत बड़ी मानसिक दुर्बलता एवं आसक्ति का सूचक है।

सहसाकार :

प्रत्येक कार्य विवेक और विचार पूर्वक होना चाहिए। शीघ्रता में कार्य करना, क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर, दोनों ही दृष्टियों से अहित-कर है। शीघ्रता करने से कार्य के गुण-दोष की ओर कुछ भी लक्ष्य नहीं रहता। शीघ्रता मनुष्य-हृदय के हलकेपन एवं छिछलेपन को प्रकट करती है। अतएव शास्त्रकार कहते हैं कि यदि साधु शीघ्रता से आहार लेता है और तत्कालीन परिस्थिति पर कुछ भी गंभीरतापूर्वक विचार नहीं करता है, तो वह सहसाकार दोष माना जाता है।

पाणेसणाए :

बहुत-सी आधुनिक प्रतियों में **अणेसणाए** के आगे **पाणेसणाए** पाठ भी लिखा मिलता है। किन्तु किसी भी प्राचीन प्रति में इसका उल्लेख देखने में नहीं आया। न हरिभद्र आदि प्राचीन आचार्य ही आवश्यक सूत्र पर की अपनी टीकाओं में इस सम्बन्ध में कुछ कहते हैं। वैसे भी यह व्यर्थ-सा ही प्रतीत होता है। प्रस्तुत सूत्र में केवल गोचरचर्या सम्बन्धी दोषों की चर्चा है, वहाँ अन्न अथवा पानी की एषणा के सम्बन्ध में कोई पृथक् संकेत नहीं हैं। जो भी दोष हैं, सब अन्न और जल दोनों पर सामान्यरूप से लगते हैं। पाणेसणाए का अर्थ होता है, पानी की एषणा से। मैं नहीं समझता, पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज, किस आधार पर इस पद का अर्थ करते हैं कि—'पानी की एषणा पूर्ण रीति से न की हो।' **'पाणेसणाए'** में कहीं भी 'न' का प्रयोग नहीं है। एक और बात है—पूज्य श्रीजी मूल पाठ में इस शब्द का उल्लेख नहीं करते, किन्तु व्याख्या करते हुए इसे मूल पाठ मान कर अर्थ करते हैं। पता नहीं, मूल पाठ में न होते हुए भी यह शब्द व्याख्या में किस आधार पर मूल मान लिया गया?

कुछ आधुनिक अशुद्ध प्रतियों में 'पाणेसणाए' भी है और उसके आगे 'अणभोयणा' पाठ भी है। परन्तु वह पाठ भी अर्थ-हीन है। संभव है, कुछ लोगों ने 'पाणेसणाए' से पानी और 'अणभोयणाए' से अन्न = भोजन समझा हो।

प्राणभोजना :

मूल शब्द **'पाणभोयणा'** है। इसका संस्कृत रूप **'पानभोजना'** बनाकर कुछ विद्वान पानी और भोजन अर्थ करते हैं। परन्तु परंपरा के नाते और अर्थ—संगति के नाते यह अर्थ ठीक नहीं लगता। हरिभद्र आदि आचार्यों की परंपरा के अनुसार यहाँ वही अर्थ उचित है, जो हमने शब्दार्थ तथा भावार्थ में प्रकट किया है। विकृत दधि तथा ओदन आदि भोजन में जो यदा-कदा रसज प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी विराधना जिस भिक्षा में होती है, वह भिक्षा प्राणभोजना कहलाती है। एक साधारण-सा प्रश्न यहाँ उठ सकता है। वह यह कि मूल शब्द में प्राणी नहीं, प्राण शब्द है। उसका अर्थ प्राणी किस प्रकार किया जा सकता है? उत्तर में कहना है कि अर्शाद्यच्

प्रत्यय के द्वारा '**प्राणा अस्य सन्तीति प्राणः**' इस प्रकार प्राणों वाला प्राणी भी प्राण शब्द-वाच्य हो जाता है। ऐर्यापथिक आलोचना सूत्र में '**पाणक्कमणे**' का अर्थ भी उक्त रीति से प्राणियों पर आक्रमण करना होता है। द्वादशावर्त वन्दन सूत्र इच्छामि खमासमणों में '**कोहाए**' आदि चार शब्द भी अर्शाद्यच् के द्वारा ही सिद्ध होते हैं। '**कोहाए**'= '**क्रोधया**' का अर्थ होता है—'**क्रोधोऽस्य अस्तीति क्रोधा, तया क्रोधवत्या क्रोधानुगतया।** जो आशातना क्रोध से युक्त हो वह क्रोधा कहलाती है। आगम में इस भाँति अर्शाद्यच् प्रत्यय का प्रयोग विपुल परिमाण में हुआ है। अतएव पाणभोयणा में भी पाण= प्राण शब्द प्राणी का वाचक ही माना जाता है।

अदृष्टाहृताः

गृहस्थ के घर पर पहुँच कर, साधू को जो भी वस्तु लेनी हो, वह जहाँ रक्खी हो, स्वयं अपनी आँखों से देखकर लेनी चाहिए। यदि कोठे आदि में रक्खी हुई वस्तु, बिना देखे ही गृहस्थ के द्वारा लाई हुई ले ली जाती है, तो वह अदृष्टाहृत दोष से दूषित होने के कारण अग्राह्य होती है। इस दोषोल्लेख के अन्तर में यह भाव है कि—देय वस्तु न मालूम किस सचित्त वस्तु पर रक्खी हुई हो? अतः उसके लेने में जीवविराधना दोष लगता है।

पारिष्ठापनिकाः

परिष्ठापन से होने वाली भिक्षा, पारिष्ठापनिका कहलाती है। पूज्यश्री आत्मारामजी महाराज इसका अर्थ कहते हैं–बिना कारण आहार को परिष्ठापन करना =गेर देना।' मालूम होता है—पूज्यश्री जी यहाँ परिष्ठापना समिति के भ्रम में हैं। परन्तु यह अर्थ उचित नहीं प्रतीत होता। यहाँ ये सब शब्द तृतीयान्त तथा सप्तम्यन्त हैं और इनका सम्बन्ध 'अपरिसुद्धं परिग्गहियं' से है। अतएव उक्त समग्र वाक्य-समूह का अर्थ होता है–कपाटोद्घाटन, पारिष्ठापनिका आदि दोषसहित भिक्षा के द्वारा जो अशुद्ध आहार ग्रहण किया हो, तो वह पाप मिथ्या हो। अब आप देख सकते हैं कि परिष्ठापना समिति का यहाँ 'परिगृहीत' के साथ कैसे अन्वय हो सकता है? परिष्ठापना समिति का काल तो परिगृहीत,=ग्रहण करने के बाद भुक्त—शेष को डालते समय होता है? अतएव आचार्य नमि यहाँ पारिष्ठापनिका शब्द का वही अर्थ करते हैं, जो हमने शब्दार्थ और भावार्थ में किया है—'**प्रदानभाजनगत द्रव्यान्तरोज्झनलक्षणं परिष्ठापनम्, तेन निर्वृत्ता पारिष्ठापनिका, तया।**'

अवभाषण भिक्षाः

गृहस्थ के घर पहुँच कर साधू को केवल भोजन और पानरूप साधारण भिक्षा ही माँगनी चाहिए। यदि वहाँ किसी विशिष्ट वस्तु की माँग करता है तो वह दोष माना जाता है। साधू को केवल उदर-पूर्त्यर्थ ही भोजन लेना है, फिर वह भले ही साधारण हो या असाधारण। इस महान आदर्श को भूल कर यदि साधू सुन्दर आहार की प्रवंचना में घरों में अच्छा भोजन माँगता फिरता है, तो वह साधुत्व से भी गिरता

है, साथ ही धर्म की एवं श्रमण संघ की अवहेलना भी करता है। हाँ, अपवाद-रूप में किसी विशेष कारण के होने पर, यदि कोई विशिष्ट वस्तु, किसी परिचित घर से माँगी जाय तो फिर कोई दोष नहीं होता।

उद्गम, उत्पादन, एषणा;

गोचरचर्या में उपर्युक्त तीन शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। जबतक साधु उक्त तीनों शब्दों का वास्तविक परिचय न प्राप्त कर ले, तबतक गोचरचर्या की पूर्ण शुद्धि नहीं की जा सकती। एषणा समिति के तीन भेद हैं—गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा, परिभोगैषणा। गवेषणैषणा की शुद्धि के लिए १६ उद्गम दोष और १६ उत्पादन दोषों का परिहार करना चाहिए। उद्गम दोष गृहस्थ की ओर से लगते हैं और उत्पादन दोष साधु की ओर से। ग्रहणैषणा के साधु तथा गृहस्थ दोनों के संयोग से उत्पन्न होने वाले शंकित आदि १० दोष हैं, इस प्रकार सब मिलाकर ये ४२ दोष हैं, जिनके कारण गृहीत आहार अशुद्ध माना जाता है। परिभोगैषणा के पाँच भेद हैं, जो माण्डले के दोषरूप में प्रसिद्ध हैं। ये दोष भोजन करते हुए लगते हैं। इन सबका वर्णन परिशिष्ट में देखिए।

यह गोचरचर्या का पाठ गोचरी लाने और करने के बाद अवश्य पठनीय है।

१० | काल-प्रतिलेखना-सूत्र

पडिक्कमामि
चाउक्कालं सज्झायस्स अकरणयाए
उभओकालं भंडोवगरणस्स
अप्पडिलेहणाए, दुप्पडिलेहणाए,
अप्पमज्जणाए, दुप्पमज्जणाए,
अइक्कमे, वइक्कमे,
अइयारे, अणायारे,
जो मे देवसिओ अइयारो कओ
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ
चाउक्कालं=चार काल में
सज्झायस्स=स्वाध्याय के
अकरणयाए=न करने से
उभओकालं=दोनों काल में
भंडोवगरणस्स=भाण्ड तथा उपकरण की
अप्पडिलेहणाए=अप्रतिलेखना से
दुप्पडिलेहणाए=दुष्प्रतिलेखना से
अप्पमज्जणाए=अप्रमार्जना से
दुप्पमज्जणाए=दुष्प्रमार्जना से
अइक्कमे=अतिक्रम सम्बन्धी
वइक्कमे=व्यतिक्रम सम्बन्धी
अइयारे=अतिचार सम्बन्धी
अणायारे=अनाचार सम्बन्धी
जो=जो
मे=मैंने
देवसिओ=दिवस सम्बन्धी
अइयारो=अतिचार=दोष
कओ=किया हो
तस्स=उसका
दुक्कडं=पाप
मि=मेरे लिए
मिच्छा=मिथ्या हो

भावार्थ

स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना-सम्बन्धी प्रतिक्रमण करता हूँ। यदि प्रमादवश दिन और रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम प्रहर-रूप[1] चार काल में स्वाध्याय न की हो, प्रातः तथा सन्ध्या दोनों काल में वस्त्र-पात्र आदि भाण्डोपकरण की प्रतिलेखना न की हो, अच्छी तरह प्रतिलेखना न की हो, प्रमार्जना न की हो, अच्छी तरह प्रमार्जना न की हो, फल-स्वरूप अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार-सम्बन्धी जो भी दैवसिक अतिचार=दोष लगा हो, तो वह सब पाप मेरे लिए मिथ्या =निष्फल हो।

भाष्य

संसार में काल की बड़ी महिमा है। जो मनुष्य, जो समाज, जो राष्ट्र समय का आदर करते हैं, उचित समय से लाभ उठाते हैं, वे अभ्युदय के गौरव-शिखर पर पहुँच कर संसार को चमत्कृत कर देते हैं। इसके विपरीत जो आलस्यवश समयानुकूल प्रवृत्ति न कर सकने के कारण समय का लाभ नहीं उठा पाते, वे प्रगति की दौड़ में सर्वथा पीछे रह जाते हैं, उनके भाग्य में पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता।

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि—वह योजना के अनुसार, प्रोग्राम के मुताबिक प्रगति करे। जिस कार्य के लिए जो समय निश्चित किया हो, उस कार्य को उसी समय करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। मनुष्य वह है, जो ठीक घड़ी की सुई की तरह पूर्ण नियमित ढंग से कार्य करता है। स्वीकृत योजना का परित्याग कर जरा भी इधर-उधर हेर-फेर से किया जाने वाला कार्य रस-प्रद एवं शक्ति-प्रद नहीं होता। दूर क्यों जाएँ, पास ही देखिए। जब मनुष्य को कड़ाके की भूख लगी हो और उस समय यदि ठंडा पानी पीने के लिए लाया जाय तो कैसा रहेगा? और जब बहुत उग्र प्यास लगी हो तब सुन्दर मिष्ट भोजन उपस्थित किया जाय तो क्या आनन्द आएगा? प्रत्येक कार्य अपने समय पर ही ठीक होता है। समयविरुद्ध अच्छे से अच्छा कार्य भी अभद्र एवं अरुचिकर हो जाता है। मानव जीवन के लिए यह अनमोल समय मिला है। इसे व्यर्थ ही प्रमादवश बर्बाद न करो। भगवान महावीर के

१—'दिया पढमचरिमासु, रत्तिंपि पढमचरिमासु च पोरसीसु सज्झाओ अवस्सं कातव्वो।' इति जिनदासमहत्तराः।

'चतुष्कालं—दिवसरजनी—प्रथम—चरमप्रहरेषु इत्यर्थः।' इति आचार्य हरिभद्राः।

उपदेशानुसार प्रत्येक सत्कार्य को, उसके निश्चित समय पर ही करने के लिए तैयार रहो। कितनी ही झंझट हो, गड़बड़ हो, किन्तु अपने निश्चित कर्तव्य से न चूको। **'काले कालं समायरे'—उत्तराध्ययन सूत्र** ।

लोकदृष्टि की भाँति लोकोत्तर दृष्टि में भी कालोचित क्रिया का बड़ा महत्त्व है। साधु का जीवन सर्वथा नियमित रूप से गति करता है। युद्ध में चढ़े हुए सेनापति के लिए जिस प्रकार प्रत्येक क्षण अमूल्य होता है, उसी प्रकार कर्म-शत्रुओं से युद्ध में संलग्न साधक भी जीवन का प्रत्येक क्षण अमूल्य समझता है। कर्त्तव्य के प्रति जरा-सी भी उपेक्षा समस्त योजनाओं को धूल में मिला देती है। योजना के अनुसार प्रगति न करने से, मनुष्य, जीवन क्षेत्र में पिछड़ जाता है। जीवन की प्रगति के प्रत्येक अंग को आलोकित रखने के लिए काल की प्रतिलेखना करना, अतीव आवश्यक है। उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्ययन में काल-प्रतिलेखना के सम्बन्ध में एक बहुत ही सुन्दर प्रश्नोत्तर है :—

कालपडिलेहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
कालपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ।

"भगवन् ! काल की प्रतिलेखना से क्या फल होता है ?"
"काल की प्रतिलेखना से ज्ञानावरण कर्म का क्षय होता है।"

उपर्युक्त सूत्र काल-प्रतिलेखना का है। सूत्रकार ने अपनी गंभीर भाषा में कालोचित क्रिया का महत्व बहुत ही सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। आगम में कथन है कि दिन के पूर्व भाग तथा अपर भाग में तथैव रात्रि के पूर्व भाग तथा अपर भाग में, इस प्रकार दिन और रात्रि के चारों कालों में, नियमित स्वाध्याय करनी चाहिए। इसी प्रकार प्रातःकाल और सायं-काल दिन के दोनों कालों में नियमित रूप से वस्त्र पात्र आदि की प्रतिलेखना भी आवश्यक है। यदि आलस्यवश उक्त दोनों आवश्यक कर्तव्यों में भूल हो जाय तो उसकी शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करने का विधान है।

स्वाध्याय :

भारतीय संस्कृति में स्वाध्याय का स्थान बहुत ऊँचा एवं पवित्र माना गया है। हमारे पूर्वजों ने जो भी ज्ञानराशि एकत्रित की है और जिसे देखकर आज समस्त संसार चमत्कृत है, वह स्वाध्याय के द्वारा ही प्राप्त हुई है। भारत जब तक स्वाध्याय की ओर से उदासीन न हुआ, तब तक वह ज्ञान के दिव्य प्रकाश से जगमगाता रहा।

पूर्वकाल में जब भारतीय विद्यार्थी गुरुकुल से शिक्षा समाप्त कर विदा होता था तो उस समय आशीर्वाद के रूप में आचार्य की ओर से यही महावाक्य मिलता था कि—**'स्वाध्यायान्मा प्रमदः।'** इसका अर्थ है—'वत्स ! भूलकर भी स्वाध्याय करने में प्रमाद न करना।' कितना सुन्दर उपदेश है ? स्वाध्याय के द्वारा ही हित और अहित का ज्ञान होता हैं, पाप पुण्य का पता चलता है, कर्तव्य अकर्तव्य का ज्ञान

होता है। स्वाध्याय हमारे अन्धकारपूर्ण जीवन पथ के लिए दीपक के समान है। जिस प्रकार दीपक के द्वारा हमें मार्ग के अच्छे और बुरेपन का पता चलता है और तदनुसार खराब ऊबड़-खाबड़ मार्ग को छोड़ कर अच्छे साफ सुथरे पथ पर चलते हैं, ठीक उसी प्रकार स्वाध्याय के द्वारा हम धर्म और अधर्म का पता लगा लेते हैं और जरा विवेक का आश्रय लें तो अधर्म को छोड़कर धर्म के पथ पर चलकर जीवन-यात्रा को प्रशस्त बना सकते हैं।

शास्त्रकारों ने स्वाध्याय को नन्दन वन की उपमा दी है। जिस प्रकार नन्दन वन में प्रत्येक दिशा की ओर भव्य से भव्य दृश्य, मन को आनन्दित करने के लिए होते हैं, वहाँ जाकर मनुष्य सब प्रकार की दुःख और क्लेश-सम्बन्धी झंझटें भूल जाता है, उसी प्रकार स्वाध्यायरूप नन्दन वन में भी एक से एक सुन्दर एवं शिक्षाप्रद दृश्य देखने को मिलते हैं, तथा मन दुनियावी झंझटों से मुक्त होकर एक अलौकिक आनन्द लोक में विचरण करने लगता है। स्वाध्याय करते समय कभी महापुरुषों के जीवन की पवित्र एवं दिव्य झाँकी आँखों के सामने आती है, कभी स्वर्ग और नरक के दृश्य धर्म तथा अधर्म का परिणाम दिखलाने लगते हैं। कभी महापुरुषों की अमृतवाणी की पुनीत धारा बहती हुई मिलती है, कभी तर्क-वितर्क की हवाई उड़ान बुद्धि को बहुत ऊँचे अनन्त विचाराकाश में उठा ले जाती है। और कभी कभी श्रद्धा, भक्ति एवं सदाचार के ज्योतिर्मय आदर्श हृदय को गद्गद कर देते हैं। शास्त्र वाचन हमारे लिए 'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' का आदर्श उपस्थित करता है। जब कभी आपका हृदय बुझा हुआ हो, मुरझाया हुआ हो, तुम्हें चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार घिरा नजर आता हो, कदम-कदम पर विघ्नबाधाओं के जाल बिछे हुए हों, तो आप किसी उच्चकोटि के पवित्र आध्यात्मिक ग्रन्थ का स्वाध्याय कीजिए। आपका हृदय ज्योतिर्मय हो जायगा, चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश फैला नजर आयगा, विघ्नबाधाएँ चूर-चूर होती मालूम होंगी, एक महान दिव्य अलौकिक स्फूर्ति तुम्हें प्रगति के पथ पर अग्रसर करती हुई प्राप्त होगी।

योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास भी स्वाध्याय के आदर्श पुजारी हैं। आप परमात्म-ज्योति के दर्शन पाने का साधन एकमात्र स्वाध्याय ही बतलाते हैं :—

स्वाध्यायाद् योगमासीत,
योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याय—योगसंपत्त्या,
परमात्मा प्रकाशते ॥

(योग० १ । २८—व्यासभाष्य)

—'स्वाध्याय से योग और योग से स्वाध्याय की साधना होती है। जो साधक स्वाध्यायमूलक योग का अच्छी तरह अभ्यास कर लेता है, उसके सामने परमात्मा प्रकट हो जाता है।'

भगवान् महावीर तो स्वाध्याय के प्रबल पक्षपाती हैं। बारह प्रकार की तपः साधना में स्वाध्याय का स्थान भी रक्खा गया है और स्वाध्याय तप को बहुत ऊँचा अन्तरंग तप माना गया है। अपने अन्तिम प्रवचनस्वरूप वर्णन किए गए उत्तराध्ययन सूत्र में आप बतलाते हैं कि—**'सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।'** 'स्वाध्याय करने से ज्ञानावरण कर्म का क्षय होता है, ज्ञान का अलौकिक प्रकाश जगमगा उठता है।' आप देखते हैं—जीवन में जो भी दुःख है; अज्ञान-जन्य ही है। जितने भी पाप, जितनी भी बुराइयाँ हो रही हैं, सबके मूल में अज्ञान ही छुपा बैठा है। अस्तु, यदि अज्ञान का नाश हो जाय तो फिर किस चीज की कमी रह जाती है? मनुष्य ने जहाँ ज्ञान, विवेक, विचार की शक्ति का प्रकाश पाया, वहाँ उसने संसार का समस्त ऐश्वर्य भर पाया।

जं अन्नाणी कम्मं,
खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो,
खवेइ उसासमित्तेण॥ ११३॥

—संथारपइन्ना

—'अज्ञानी साधक करोड़ों वर्षों की कठोर तपः साधना के द्वारा जितने कर्म नष्ट करता है; ज्ञानी साधक मन, वचन और शरीर को वश में करता हुआ उतने ही कर्म एक श्वास-भर में क्षय कर डालता है।'

स्वाध्याय वाणी की तपस्या है। इसके द्वारा हृदय का मल धुलकर साफ हो जाता है। स्वाध्याय अन्तः प्रेक्षण है। इसी के अभ्यास से बहुत से पुरुष आत्मोन्नति करते हुए महात्मा, परमात्मा हो गए हैं। अन्तर का ज्ञानदीपक बिना स्वाध्याय के प्रज्ज्वलित हो ही नहीं सकता।

यथाग्निर्दारुमध्यस्थो,
नोत्तिष्ठेन्मथनं विना।
विना चाभ्यासयोगेन,
ज्ञानदीपस्तथा न हि॥ —योग शिखोपनिषद्

—'जैसे लकड़ी में रही हुई अग्नि मन्थन के बिना प्रकट नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानदीपक, जो हमारे भीतर ही विद्यमान है, स्वाध्याय के अभ्यास के बिना प्रदीप्त नहीं हो सकता।'

अब यह विचार करना है कि स्वाध्याय क्या वस्तु है? स्वाध्याय शब्द के अनेक अर्थ हैं:—

'अध्ययनं अध्यायः, शोभनोऽध्यायः स्वाध्यायः,—आव० ४ अ०। सु+अध्याय अर्थात् सुष्ठु अध्याय=अध्ययन का नाम स्वाध्याय है। निष्कर्ष यह है कि—आत्म-कल्याणकारी पठन-पाठनरूप श्रेष्ठ अध्ययन का नाम ही स्वाध्याय है।

स्थानांग-सूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि स्वाध्याय का अर्थ करते हैं— सुष्ठु=भलीभाँति, आ=मर्यादा के साथ अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। **'सुष्ठु आ=मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः'**—स्थानाँग २ स्था० २३०।

वैदिक विद्वान् स्वाध्याय का अर्थ करते हैं—**'स्वयमध्ययनम्'**—किसी अन्य की सहायता के बिना स्वयं ही अध्ययन करना, अध्ययन किये हुए का मनन और निदिध्यासन करना। दूसरा अर्थ है—**'स्वस्यात्मनोऽध्ययनम्'**—अपने आपका अध्ययन करना और देखभाल करते रहना कि अपना जीवन ऊँचा उठ रहा है या नहीं?

जैन शास्त्रकारों ने स्वाध्याय के पांच भेद बतलाए हैं—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।

गुरुमुख से सूत्र पाठ लेकर, सूत्र जैसा हो वैसा ही उच्चारण करना, वाचना है। वाचना के द्वारा सूत्र के शब्द-शरीर की पूर्ण-रूप से रक्षा की जाती है। अतएव हीनाक्षर, अत्यक्षर, पदहीन, घोष-हीन आदि दोषों से बचने की सावधानी रखनी चाहिए।

स्वाध्याय का दूसरा भेद पृच्छना है—सूत्र पर जितना भी अपने से हो सके तर्क-वितर्क, चिन्तन-मनन करना चाहिए और ऐसा करते हुए जहाँ भी शंका हो गुरुदेव से समाधान के लिए पूछना चाहिए। हृदय में उत्पन्न हुई शंका को शंका के रूप में ही रखना ठीक नहीं होता।

सूत्र-वाचना विस्मृत न हो जाय, एतदर्थ सूत्र की बार-बार गुणनिका=परिवर्तना करना, परिवर्तना है!

सूत्रवाचना के सम्बन्ध में तात्विक चिन्तन करना, अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा, स्वाध्याय का महत्वपूर्ण अंग है। बिना अनुप्रेक्षा के ज्ञान चमक ही नहीं सकता।

जब कि सूत्र-वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा के बाद तत्व का वास्तविक रूप सुदृढ़ हो जाय, तब जन-कल्याण के लिए धर्मोपदेश करना धर्म-कथा है।

भगवान् महावीर ने कितना अधिक सुन्दर वैज्ञानिक क्रम, स्वाध्याय का रक्खा है? शास्त्रों के शब्द और अर्थ दोनों अंगों की रक्षा के लिए कितनी सुन्दर योजना है? यदि उपर्युक्त पद्धति से शास्त्रों का स्वाध्याय=अध्ययन किया जाय तो साधक अवश्य ही ज्ञान के क्षेत्र में अद्वितीय प्रकाश पा सकता है। कुछ भी अध्ययन न करके धर्म-कथा के मञ्च पर पहुँचने वाले कथक्कड़ जरा इस ओर लक्ष्य दें कि धर्म कथा का नम्बर कौन सा है?

आजकल स्वाध्याय के नाम पर बिल्कुल अर्थहीन परंपरा चल रही है। आज के स्वाध्यायी लोग, स्वाध्याय का अभिप्राय यही समझते हैं कि किसी धर्म पुस्तक का नित्य कुछ पाठ कर लेना, और बस! न शुद्ध उच्चारण की ओर ध्यान दिया

जाता है और न अर्थ का ही कुछ चिन्तन मनन होता है। स्वाध्याय के लिए केवल शास्त्र के शब्द-शरीर को स्पर्श कर लेने से ही काम नहीं चल सकता। यद्यपि शुद्ध उच्चारण मात्र से भी कुछ लाभ अवश्य होता है। क्योंकि शब्दों के शुद्ध उच्चारण से भी भावों का स्पन्दन तरंगित होता है और उसका जीवन पर प्रभाव पड़ता है। परन्तु हम पूरा लाभ तभी उठा सकेंगे, जब कि पाठ करते समय पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा का भी ध्यान रक्खें।

स्वाध्याय में बल पैदा करने के लिए वर्तमान युग के अध्ययन सम्बन्धी ग्रन्थों में भी कुछ नियम ऐसे हैं, जिन पर विचार करने की आवश्यकता है। यदि अच्छी तरह से निम्नोक्त नियमों पर ध्यान दिया जाय तो स्वाध्याय का अपूर्व आनन्द प्राप्त हो सकता है।

(१) **एकाग्रता**—जब हम स्वाध्याय कर रहे हों तो हमारा ध्यान चारों ओर से हटकर पुस्तक के शब्दों और अर्थों की ओर ही होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि जो कुछ हम मुख से पाठ करें, उसे अपने कानों से भी ध्यानपूर्वक सुनते जायँ। जिह्वा और श्रोत्र दो इन्द्रियों के एक साथ काम करने से मन अवश्य एकाग्र हो जाता है। अच्छा हो, यदि पाठ करते समय प्रत्येक पंक्ति को ठहर-ठहर कर दो तीन बार पढ़ा जाय।

(२) **नैरन्तर्य**—स्वाध्याय में जहाँ तक हो सके अन्तर (विक्षेप) नहीं होना चाहिए। थोड़ा-बहुत स्वाध्याय नित्य नियमपूर्वक करते ही रहना चाहिए। परंपरा की कड़ी टूटते ही स्वाध्याय की वही हालत होती है जैसी कि साँकल की कड़ी टूटने पर साँकल की होती है।

(३) **विषयोपरति**—स्वाध्याय के लिए ग्रन्थों का चुनाव करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि हमारा उद्देश्य सांसारिक विषयवासनाओं के जीवन से ऊपर उठना है। अतः राग-द्वेष, शृंगार, घृणा, आदि की पुस्तकें न पढ़ कर सदाचार, भक्ति और कर्तव्य सम्बन्धी पुस्तकें ही पढ़नी चाहिएँ।

(४) **प्रकाश की उत्कण्ठा**—स्वाध्याय करते समय मन में यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि पाठ के द्वारा हमारी अन्तःस्थ आत्मा में प्रकाश फैल रहा है। संकल्प का बल महान होता है, अतः स्वाध्याय के समय का शुद्ध संकल्प अवश्य ही अन्तर्ज्योति प्रदान करेगा।

(५) **स्वाध्याय का स्थान**—स्वाध्याय के लिए पवित्र एवं शुद्ध वातावरण से सम्पन्न स्थान होना चाहिए। जो स्थान कोलाहल एवं गंदे दृश्यों वाला हो, वह स्वाध्याय के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होता है।

प्रतिलेखना :

साधु के पास जो भी वस्त्र पात्र आदि उपधि हो, उसकी दिन में दो बार-प्रातः और सायं-प्रतिलेखना करनी होती है। उपधि को बिना देखे-भाले उपयोग में लाने से

हिंसा का दोष लगता है। उपधि में सूक्ष्म जीवों के उत्पन्न हो जाने की अथवा बाहर के जीवों के आश्रय लेने की संभावना रहती है; अतः प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए जीवों को देखना चाहिए, और यदि कोई जीव दृष्टिगत हो तो उसे प्रमार्जन के द्वारा किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुँचाए बिना एकान्त स्थान में धीरे से छोड़ देना चाहिए। प्रथम अहिंसाव्रत की कितनी अधिक सूक्ष्म साधना है ? धर्म के प्रति कितनी अधिक जागरूकता है ? भगवान महावीर, अपने शिष्यों को, कर्त्तव्य क्षेत्र में, कहीं भी उपेक्षित नहीं होने देते।

वस्त्रपात्र आदि को अच्छी तरह खोलकर चारों ओर से देखना, प्रति लेखना है और रजोहरण तथा पूंजणी के द्वारा अच्छी तरह साफ करना, प्रमार्जना है। पात्रादि को बिल्कुल ही न देखना, अप्रतिलेखना है। और इसी प्रकार बिल्कुल प्रमार्जन न करना, अप्रमार्जना है। आलस्यवश शीघ्रता में अविधि से देखना, दुष्प्रतिलेखना है। और इसी प्रकार शीघ्रता में बिना विधि से उपयोग-हीन दशा में प्रमार्जन करना, दुष्प्रमार्जना है। प्रतिलेखना के सम्बन्ध में जानकारी की इच्छा रखने वाले सज्जन उत्तराध्ययन सूत्र का समाचारी अध्ययन अवलोकन करें।

चार प्रकार के दोष :

प्रत्येक व्रत में लगने वाले जितने भी दोष होते हैं, उनके चार प्रकार हैं—(१) अतिक्रम, (२) व्यतिक्रम, (३) अतिचार, और (४) अनाचार।

(१) **अतिक्रम**—ग्रहण किए हुए व्रत अथवा प्रतिज्ञा को भंग करने का संकल्प करना।

(२) **व्यतिक्रम**—व्रत भंग करने के लिए उद्यत होना।

(३) **अतिचार**—व्रत भंग करने के लिए साधन जुटा लेना तथा एक देश=अंश से व्रत अर्थात् प्रतिज्ञा को खण्डित करना।

(४) **अनाचार**—व्रत को अधिकांश में अर्थात् सर्वथा भंग करना।

उदाहरण के लिए आधाकर्मी आहार का उदाहरण अधिक स्पष्ट है। इस पर से दोषों की कल्पना ठीक तरह समझ में आ सकती है।

—कोई अनुरागी भक्त आधाकर्मी आहार तैयार कर साधु को निमन्त्रण दे और साधु जानते हुए भी उस निमन्त्रण को स्वीकार कर ले, आधाकर्मी आहार लेने की इच्छा करे और पात्र लेकर उठ खड़ा हो, तो यहाँ तक अतिक्रम दोष होता है। आधाकर्मी आहार लेने के लिए उपाश्रय से बाहर पैर रखने से लेकर घर में प्रवेश करने, झोली खोलकर फैलाने तक व्यतिक्रम दोष है। आधाकर्मी आहार ग्रहण करने से लेकर उपाश्रय में आकर खाने की तैयारी करने तथा ग्रास हाथ में उठाने तक अति-चार दोष है। और ग्रास मुख में डालने तथा खा लेने पर अनाचार दोष लगता है। इन चारों ही दोषों में उत्तरोत्तर दोष की अधिकता है।

अतिक्रमादि के लिए, ऊपर आधाकर्मदूषित आहार के ग्रहण का जो उदाहरण दिया है, उसके लिए जिनदास महत्तर-कृत आवश्यक चूर्णि देखनी चाहिए। वहाँ विस्तार से अतिक्रमादि के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

आचार्य हरिभद्र ने भी जिनदास महत्तर के उल्लेखानुसार ही अतिक्रमादि का विवेचन किया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक प्राचीन प्राकृत-गाथा उद्धृत की है, जो संक्षेपरुचि जिज्ञासु के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण है। लेखक भी उसको उद्धृत करने का भाव संवरण नहीं कर सकता।

"आधाकम्म-निमंतण,
पडिसुणमाणे अइक्कमो होइ।
पय-भेयाइ वइक्कम,
गहिए तइए यरो गलिए॥"
[आधाकर्म-निमन्त्रणे,
प्रतिशृण्वति अतिक्रमो भवति।
पद-भेदादि व्यतिक्रमो,
गृहीते तृतीय इतरो गिलिते॥]

अहिंसा, सत्य आदि महाव्रत—रूप मूल गुणों में अतिक्रम, व्यतिक्रम तथा अतिचार के कारण मलिनता आती है, अर्थात् चारित्र का मूल रूप दूषित हो जाता है, परन्तु सर्वथा नष्ट नहीं होता, अतः उसकी शुद्धि आलोचना एवं प्रतिक्रमण के द्वारा करने का विधान है। परन्तु यदि मूल गुणों में जान-बूझ कर उद्दण्डता से अनाचार का दोष लगाया जाए तो चारित्र का मूल रूप ही नष्ट हो जाता है। अतः उक्त दोष की शुद्धि के लिए केवल आलोचना एवं प्रतिक्रमण ही काफी नहीं है; प्रत्युत कठोर प्रायश्चित्त लेने का अथवा कुछ विशेष दुःप्रसंगों पर नए सिरे से व्रत-ग्रहण करने का विधान है।

परन्तु उत्तर गुणों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उत्तर गुणों में तो अतिक्रमादि चारों ही दोषों से चारित्र में मलिनता आती है, परन्तु पूर्णतः चारित्र-भंग नहीं होता। स्वाध्याय और प्रतिलेखना उत्तर गुण हैं। अतः प्रस्तुत काल-प्रतिलेखना सूत्र के द्वारा चारों ही दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

शास्त्रोक्त समय पर स्वाध्याय या प्रतिलेखना न करना, शास्त्र-निषिद्ध समय पर करना, स्वाध्याय एवं प्रतिलेखना पर श्रद्धा न करना तथा इस सम्बन्ध में मिथ्या प्ररूपणा करना, या उचित विधि से न करना, इत्यादि रूप में स्वाध्याय और प्रतिलेखना सम्बन्धी अतिचार दोष होते हैं।

यह काल-प्रतिलेखना सूत्र, स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना करने के बाद भी पढा जाता है।

११ | असंयम-सूत्र

पडिक्कमामि
एगविहे
असंजमे ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ, निवृत्त होता हूँ
एगविहे=एक प्रकार के
असंजमे=असंयम से

भावार्थ

अविरतिरूप एक-विध असंयम[१] का आचरण करने से जो भी अतिचार=दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

भाष्य

मनुष्य क्या है ? इसका उत्तर कविता की भाषा में है—'कामनाओं का समुद्र ।' संसारी मनुष्य की कामनाएँ अनन्त हैं । कौन क्या प्राप्त नहीं करना चाहता ? जिस प्रकार समुद्र में हजारों, लाखों, करोड़ों तरंगें उच्चावच-भाव से इधर-उधर सतत दोलायमान रहती हैं; उसी प्रकार मनुष्य के मन में कामनाओं की अनन्त तरंगें तूफान मचाए रहती हैं । किसी बम्बई, कलकत्ते जैसे विशाल शहर के चौराहे पर खड़े हो जाइए, कामना-समुद्र का प्रत्यक्ष हो जायगा । हजारों नरमुण्ड पूर्व से पश्चिम, पश्चिम से पूर्व, दक्षिण से उत्तर, उत्तर से दक्षिण आ जा रहे हैं । सबकी अपनी-अपनी एक धुन है, अपनी-अपनी एक कल्पना है । कौन नर मुण्डों के इस समुद्र को इधर से उधर, उधर से इधर प्रवाहित कर रहा है ? उत्तर है—'कामना' । ये रेलें इतनी तेज रोज क्यों दौड़ाई जा रही हैं ? ये भीमकाय जलयान समुद्र का वक्षःस्थल चीरते हुए क्यों

१—'**संजमो सम्मं उवरमो** ।' इति जिनदास महत्तराः ।

'**असंयमे अविरतलक्षणे सति प्रतिषिद्धकरणादिना यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृत इति गम्यते**' इत्याचार्य हरिभद्राः ।

चीखें मार रहे हैं ? ये वायुयान क्यों इतनी शीघ्रता से आकाश में दौड़ाये जा रहे हैं ? कहना पड़ेगा, 'कामना के लिए।' कामनाओं के कारण आज, आज क्या अनादि काल से संसार में भयंकर उथल-पुथल मच रही है। **'इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।' कामानां हृदये वासः, संसार इति कीर्तितः।'**

परन्तु प्रश्न है—मनुष्य को कामनाओं से क्या मिला ? सुख ? सुख नहीं, दुःख ही मिला है। आज तक कोई भी मनुष्य, अपनी कामनाओं के अनुसार सुख नहीं पा सका। रंक को भी देखा है, राजा को भी, सभी इच्छापूर्ति के अभाव में व्याकुल हैं। मनुष्य नाम धारी जीव, अपनी आशाओं की अवधि का पार पाले, यह सर्वथा असम्भव है। और जब तक कामनाओं की पूर्ति न हो जाय, तब तक शान्ति कहाँ ? सुख कहाँ ? अतएव हमारे वीतराग महापुरुषों ने कामनाओं की पूर्ति में नहीं, कामनाओं के नियंत्रण में ही, सन्तोष में ही सुख माना है। कामनाओं के सम्बन्ध में किसी न किसी मर्यादा का आश्रय लिए बिना काम चल ही नहीं सकता। शास्त्रीय परिभाषा में इसी का नाम संयम है। 'सं+यम' अर्थात् सावधानी के साथ भली-भाँति इच्छाओं का नियमन करना। संयम मनुष्यता की कसौटी है। जिसमें जितना अधिक संयम, उसमें उतनी ही अधिक मनुष्यता।

संयम का विरोधी असंयम है। यही समस्त सांसारिक दुःखों का मूल है। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले राग द्वेष-रूप कषाय भाव का नाम असंयम है। असंयम के होने पर आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में परिणति नहीं करता। सदाचार में प्रवृत्ति नहीं करता। असंयमी की दृष्टि बहिर्मुखी होती है, अतः वह पुद्गल-वासना को ही श्रेय समझने लगता है। अतएव प्रस्तुत सूत्र में असंयम के प्रतिक्रमण का यह भाव है कि—संयम पथ पर चलते हुए यदि कहीं भी प्रमादवश असंयम हो गया हो, अन्तर्हृदय साधना पथ से भटक गया हो, तो वहाँ से हटाकर पुनः उसे आत्म-स्वरूप में केन्द्रित करता हूँ।

संग्रहनय की दृष्टि से सब प्रकार के असंयमों का सामान्यतः एक असंयम पद से ग्रहण कर लिया है। आगे आने वाले सूत्रों में विशेष रूप से असंयमों का नामोल्लेख किया गया है।

प्राचीन प्रतियों में 'एगविहे असंजमे' से लेकर अन्तिम 'मिच्छामि दुक्कडं' तक एक ही पाठ माना है। यह मानना है भी ठीक : अतएव यहाँ से लेकर, सब सूत्रों का सम्बन्ध अन्तिम 'मिच्छामि दुक्कड' से किया जाता है। यहाँ पृथक्-पृथक् सूत्रों का विभाग, केवल विषयावबोध की दृष्टि से किया गया है। सूत्र का क्रम-भंग करना अपना उद्देश्य नहीं है।

१२ | बन्धन-सूत्र

पडिक्कमामि
दोहिं बंधणेहिं-
राग-बंधणेणं,
दोस-बंधणेणं ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि—**प्रतिक्रमण करता हूं**
दोहिं—**दोनों**
बन्धणेहिं—**बन्धनों से**
रागबन्धणेणं—**राग के बन्धन से**
दोसबन्धणेणं—**द्वेष के बन्धन से**

भावार्थ

दो प्रकार के बन्धनों से लगे दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ, अर्थात् उनसे पीछे हटता हूँ । (कौन से बन्धनों से ?) राग के बन्धन से, द्वेष के बन्धन से ।

भाष्य

जन्म-मरण रूप संसार विष-वृक्ष के दो ही बीज हैं—राग और द्वेष । राग आसक्ति को कहते हैं और द्वेष अप्रीति को । मनुष्य ने शरीर और इन्द्रियों को ही सब कुछ माना हुआ है, इन्हीं की परिचर्या में सर्वस्व निछावर किया हुआ है । अतएव जब शरीर और इन्द्रियों को अच्छी लगने वाली कोई इष्ट अवस्था होती है तो उससे राग करता है और जब शरीर और इन्द्रियों को अच्छी न लगने वाली कोई विपरीत अनिष्ट अवस्था होती है तो उससे द्वेष करता है । इस प्रकार कहीं राग तो कहीं द्वेष—इन्हीं दुर्विकल्पों में मानव जीवन की अमूल्य घड़ियाँ बर्बाद हो रही हैं । जब तक राग-द्वेष की मलिनता है, तब तक चारित्र की शुद्धता किसी भी तरह नहीं हो सकती । चारित्र की शुद्धता की क्या बात ? कभी-कभी राग-द्वेष का आधिक्य तो चारित्र को मूल से ही नष्ट कर डालता है । रागद्वेष की प्रवृत्ति चारित्र-मोह के उदय से होती है, और चारित्र-मोह को संयम-जीवन का दूषक एवं घातक माना गया है ।

यदि अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो राग-द्वेष हमारे दुर्बल मन की ही कल्पनाएँ हैं। किसी वस्तु के साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।[1] वस्तु अपने स्वरूप में न कोई अच्छी है और न कोई बुरी। मनुष्य की कल्पना ही उन्हें अच्छी-बुरी माने हुए है। उदाहरण के लिए निशानाथ चन्द्र को ही लीजिए। आकाशमण्डल में चन्द्रमा के उदय होते ही चकोर हर्षोन्मत्त हो जाता है, तो चकवा चकवी शोक से व्याकुल हो उठते हैं। चन्द्रमा का उदय देखकर चोर दुःखित होता है, तो साहूकार हर्षित। अब बताइए, चन्द्रमा दुःखरूप है अथवा सुखरूप ? आप कहेंगे-दोनों में से एक भी नहीं। यदि वह दुःख रूप होता तो प्रत्येक को दुःख ही देता। और सुखरूप ही होता तो प्रत्येक को सुख ही देता। परन्तु ऐसा है कहाँ ? वह तो एक ही समय में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न रूप में सुख-दुःख का जनक होता है। अतएव पं० टोडरमल जी राग-द्वेष करने को मिथ्या भाव बतलाते हैं। किसी वस्तु में उस वस्तु से विपरीत भावना करना ही तो मिथ्या भाव है और यहाँ पर द्रव्य में इष्टता तथा अनिष्टता कुछ भी नहीं है, परन्तु रागद्वेष के द्वारा उसमें वह की जाती है ! अतएव रागद्वेष, मिथ्या नहीं तो क्या है ?

जैन धर्म का सम्पूर्ण साहित्य, राग-द्वेष के विरोध में ही सन्नद्ध किया गया है। जैन धर्म निवृत्तिप्रधान धर्म है, फलतः उसने राग-द्वेष की निवृत्ति पर अत्यधिक बल दिया है। राग-द्वेष को घटाए बिना तपश्चरण का, साधना का कुछ अर्थ नहीं रहता। आचार्य मुनिचन्द्र का एक श्लोक है—**"रागद्वेषौ यदि स्यातां तपसा किं प्रयोजनम् ?"**

प्रस्तुत सूत्र में रागद्वेष को बन्धन कहा है। रागद्वेष के द्वारा अष्टविध कर्मों का बन्धन होता है, अतः वे बन्धन-पदवाच्य हैं। **"बद्ध्यतेऽष्टविधेन कर्मणा येन हेतुभूतेन तद् बन्धनम्"**—आचार्य नमि।

आचार्य जिनदास महत्तर-कृत राग-द्वेष की व्याख्या का भाव यह है—जिसके द्वारा आत्मा कर्म से रँगा जाता है, वह मोह की परिणति राग है और जिस मोह की परिणति से किसी से शत्रुता, घृणा, क्रोध, अहंकार आदि किया जाता है वह द्वेष है।

---

१. न काम-भोगा समयं उवेन्ति,
न यावि भोगा विगइं उवेन्ति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र ३२। १०१

—काम भोग अर्थात् सांसारिक पदार्थ अपने आप न तो किसी मनुष्य में समभाव पैदा करते हैं और न किसी में राग-द्वेष रूप विकृति ही पैदा करते हैं। परन्तु मनुष्य स्वयं ही उनके प्रति राग-द्वेष के नाना विकल्प बनाकर मोह से विकार-ग्रस्त हो जाता है।

'रंजनं रज्यते वाऽनेन जीव इति रागः, राग एव बन्धनम् । द्वेषणं द्विषत्यनेन इति वा द्वेषः, द्वेष एव बन्धनम् ।' आवश्यक चूर्णि ।

आचार्य हरिभद्र, अपनी आवश्यक-टीका में, एक श्लोक उद्‌धृत करते हैं, जो रागद्वेष से होने वाले कर्म-बन्ध पर अच्छा प्रकाश डालता है—

'स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य,
रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
राग-द्वेषाक्लिन्नस्य,
कर्म - बन्धो भवत्येवम् ।।'

—अर्थात् जिस मनुष्य ने शरीर पर तेल चुपड़ रक्खा हो, उसका शरीर उड़ने वाली धूल से जैसे सन जाता है, वैसे ही राग-द्वेष के भाव से आक्लिन्न हुए आत्मा पर कर्म-रज का बन्ध हो जाता है ।

१३ | दण्ड-सूत्र

पडिक्कमामि
तिहिं दंडेहिं—
मणदंडेणं,
वयदंडेणं,
कायदडेणं ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=**प्रतिक्रमण करता हूं**
तिहिं=**तीनों**
दंडेहिं=**दण्डों से**
मणदंडेणं=**मन के दण्ड से**
वयदंडेणं=**वचन के दण्ड से**
कायदंडेणं=**काय के दण्ड से**

भावार्थ

तीन प्रकार के दण्डों से लगे दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ । (कौन से दण्डों से ? मनोदण्ड से, वचन दण्ड से, काय दण्ड से ।

भाष्य

दुष्प्रयुक्त मन, वाणी और शरीर को आध्यात्मिक-भाषा में दण्ड कहते हैं । जिसके द्वारा व्यक्ति दण्डित हो, ऐश्वर्य का अपहार=नाश हो, वह दण्ड कहलाता है । लौकिक द्रव्य-दण्ड लाठी आदि हैं, उनके द्वारा व्यक्ति भौतिक रूप से दण्डित होता है और उपर्युक्त दुष्प्रयुक्त मन आदि भाव-दण्डत्रय से चारित्ररूप आध्यात्मिक ऐश्वर्य का विनाश होने के कारण आत्मा दण्डित=धर्मभ्रष्ट होता है । **'दण्ड्यते चारित्रैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते एभिरात्मेति दण्डाः द्रव्यभावभेदभिन्नाः । भावदंडैरिहाधिकारः······ मनः-प्रभृतिभिश्च दुष्प्रयुक्तैर्दण्ड्यते आत्मेति ।'** आचार्य हरिभद्र ।

आगमकार उक्त दण्डों से बचने के लिए साधक को सर्वथा सावधान करते हैं । इस सम्बन्ध में जरा सी भूल भी आत्मा का पतन करने वाली है ।

मन, वचन, शरीर की अशुभ प्रवृत्ति दण्ड है। इस अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा ही अपने आप को तथा दूसरे प्राणियों को दुःख पहुँचता है। किस दण्ड से किस प्रकार दुःख पहुँचता है ? किस प्रकार श्रेष्ठ आचार मलिन होता है ? इसके लिए नीचे की तालिका पर दृष्टिपात कीजिए—

मनो-दण्ड

(१) विषाद करना, (२) निर्दय विचार करना, (३) व्यर्थ कल्पनाएँ करना, (४) मन को वश में न करके इधर-उधर भटकने देना, (५) दूषित और अपवित्र विचार रखना, (६) किसी के प्रति घृणा, द्वेष, अनिष्ट चिन्तन करना आदि-आदि।

वचन-दण्ड

(१) असत्य=मिथ्या भाषण करना, (२) किसी की निन्दा व चुगली करना, (३) कड़वा बोलना, गाली एवं शाप देना, (४) अपनी बड़ाई हाँकना (५) व्यर्थ की बातें करना, (६) शास्त्रों के सम्बन्ध में मिथ्या प्ररूपणा करना, आदि।

काय-दण्ड

(१) किसी को पीड़ा पहुँचाना, मार-पीट करना, (२) व्यभिचार करना, (३) किसी की चीज चुराना, (४) अकड़ कर चलना, (५) व्यर्थ की चेष्टाएँ करना, (६) असावधानी से चलना, किसी चीज के उठाने और रखने में अयतना करना, आदि।

१४ गुप्ति-सूत्र

पडिक्कमामि
तिहिं गुत्तीहिं-
मणगुत्तीए,
वयगुत्तीए,
कायगुत्तीए ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि = **प्रतिक्रमण करता हूँ**
तिहिं = **तीनों**
गुत्तीहिं = **गुप्तियों से**
मणगुत्तीए = **मनोगुप्ति से**
वयगुत्तीए = **वचनगुप्ति से**
कायगुत्तीए = **कायगुप्ति से**

भावार्थ

तीन प्रकार की गुप्तियों से = अर्थात् उनका आचरण करते हुए प्रमादवश जो भी तत्सम्बन्धी विपरीताचरणरूप दोष लगे हों, उनका प्रतिक्रमण करता हूँ । (किन गुप्तियों से ?) मनोगुप्ति से, वचनगुप्ति से, कायगुप्ति से ।

भाष्य

गुप्ति का अर्थ, रक्षा होता है—**'गोपनं गुप्तिः'** । अतएव मनोगुप्ति मन की रक्षा, वचनगुप्ति वचन की रक्षा, कायगुप्ति काय की रक्षा है । रक्षा का अर्थ नियंत्रण है । आचार्य हरिभद्र के उल्लेखानुसार गुप्ति **प्रवीचार और अप्रवीचार उभय-रूपा** होती है ; अतः अशुभयोग से निवृत्त होकर शुभयोग में प्रवृत्ति[1] करना, गुप्ति का स्पष्ट अर्थ

१—जब कि गुप्ति में भी अशुभ योग का निग्रह और शुभ योग का संग्रह, अर्थात् अशुभयोग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्तिहोती है और इसी प्रकार समिति में भी अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति होती है; फिर दोनों में भेद क्या रहा ?

है। अपने विशुद्ध आत्म-तत्व की रक्षा के लिए अशुभ योगों को रोकना, गुप्ति का स्पष्टतर अर्थ है। आत्ममन्दिर में आने वाले कर्मरज को रोकना, गुप्ति का स्पष्टतम अर्थ है।

मनोगुप्ति :

आर्त तथा रौद्र ध्यान-विषयक मन से संरंभ, समारभ तथा आरम्भ-सम्बन्धा संकल्प-विकल्प न करना, लोक-परलोक हितकारी धर्म ध्यान-सम्बन्धी चिन्तन करना, मध्यस्थ-भाव रखना; मनोगुप्ति है।

वचन-गुप्ति :

वचन के संरंभ, समारंभ, आरम्भ-सम्बन्धी व्यापार को रोकना, विकथा न करना; झूठ न बोलना; निन्दा चुगली आदि न करना; मौन रहना; वचन गुप्ति है।

काय-गुप्ति :

शारीरिक क्रिया-सम्बन्धी संरंभ, समारंभ, आरम्भ में प्रवृत्ति न करना; उठने बैठने-हलने-चलने-सोने आदि में संयम रखना; अशुभ व्यापारों का परित्याग कर यतना-पूर्वक सत्प्रवृत्ति करना; काय-गुप्ति है।

सरंभ, समारंभ, आरम्भ :

हिंसा आदि कार्यों के लिए प्रयत्न करने का संकल्प करना संरंभ है। उसी संकल्प एवं कार्य की पूर्ति के लिए साधन जुटाना समारंभ है और अन्त में उस संकल्प को कार्य रूप में परिणत कर देना आरम्भ है। हिंसा आदि कार्य की, संकलपात्मक सूक्ष्म अवस्था से लेकर उसको प्रकट रूप में पूरा कर देने तक, जो तीन अवस्थाएँ हैं, उन्हें ही अनुक्रम से संरंभ, समारंभ, आरम्भ कहते हैं।

तत्वार्थ सूत्रकार उमास्वाति ने **'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः'** ९।४—इस सूत्र में मन, वचन और शरीर के योगों का जो प्रशस्त निग्रह किया जाता है, उसे गुप्ति कहा है। प्रशस्तनिग्रह का अर्थ है—विवेक और श्रद्धा पूर्वक मन, वचन एवं शरीर को उन्मार्ग से रोकना और सन्मार्ग में लगाना। इस पर से फलित होता है कि

उत्तर है कि गुप्ति में असत्क्रिया का निषेध मुख्य है और समिति में सत्क्रिया का प्रवर्तन मुख्य है। गुप्ति अन्ततोगत्वा प्रवृत्ति-रहित भी हो सकती है। परन्तु समिति कभी प्रवृत्ति-रहित नहीं हो सकती। वह प्रवीचार-प्रधान ही होती है। आवश्यक सूत्र की टीका में आचार्य हरिभद्र ने इसी सम्बन्ध में एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है—

'समिओ नियमा गुत्तो,
गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो।
कुसल—वइमुदीरितो,
जं य गुत्तो वि समिओ वि॥,

हठयोग आदि की प्रक्रियाओं द्वारा किया जाने वाला योगनिग्रह गुप्ति में सम्मिलित नहीं होता।

एक बात और। यहाँ सूत्र में गुप्तियों से प्रतिक्रमण नहीं किया है, प्रत्युत-गुप्तियों से होने वाले दोषों से प्रतिक्रमण किया है। यही कारण है कि 'गुत्तीहिं' में अपादानार्थक पंचमी न करके हेत्वर्थक तृतीया विभक्ति की है, जिसका सम्बन्ध गुप्तिहेतुक अति-चारों से है। गुप्ति से अतिचार कैसे होते हैं ? गुप्ति का ठीक आचरण न करना, उसकी श्रद्धा न करना, अथवा गुप्ति के सम्बन्ध में विपरीत प्ररूपणा करना, गुप्तिहेतुक अतिचार होते हैं।

१५ | शल्य-सूत्र

पडिक्कमामि
तिहिं सल्लेहिं
माया-सल्लेणं,
नियाण-सल्लेणं,
मिच्छादंसण-सल्लेणं

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ
तिहिं=तीनों
सल्लेहिं=शल्यों से
माया-सल्लेणं=माया के शल्य से
नियाणसल्लेणं=निदान के शल्य से
मिच्छा-दंसण=मिथ्या दर्शन के
सल्लेणं=शल्य से

भावार्थ

तीन प्रकार के शल्यों से होने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। (किन शल्यों से ?) मायाशल्य से, निदानशल्य से, और मिथ्यादर्शन शल्य से।

भाष्य

अहिंसा, सत्य आदि व्रतों के लेने मात्र से कोई सच्चा व्रती नहीं बन सकता। सुव्रती होने के लिए सबसे पहली एवं मुख्य शर्त यह है कि उसे शल्य-रहित होना चाहिए। इसी आदर्श को ध्यान में रखकर आचार्य उमास्वाति तत्त्वार्थ-सूत्र में कहते हैं—'निःशल्यो व्रती'-७।१३।

माया, निदान और मिथ्यादर्शन, उक्त तीनों दोष आगम की भाषा में शल्य कहलाते हैं। इनके कारण आत्मा स्वस्थ नहीं बन सकता, स्वीकृत व्रतों के पालन में एकाग्र नहीं हो सकता।

शल्य का अर्थ होता है—जिसके द्वारा अन्तर में पीड़ा सालती रहती हो, कसकती रहती हो वह तीर, भाला, काँटा आदि। द्रव्य और भाव दोनों शल्यों पर घटने वाली आचार्य हरिभद्र की शल्य-व्युत्पत्ति यह है:—**'शल्यतेऽनेनेति शल्यम्।'** आध्यात्मिक क्षेत्र में माया, निदान और मिथ्या-दर्शन को लक्षणा वृत्ति के द्वारा शल्य इसलिए कहा है कि जिस प्रकार शरीर के किसी भाग में काँटा, कील तथा तीर आदि तीक्ष्ण वस्तु घुस जाए तो जैसे वह मनुष्य को क्षुब्ध किए रहती है, चैन नहीं लेने देती है; उसी प्रकार सूत्रोक्त शल्यत्रय भी अन्तर में रहे हुए साधक की अन्तरात्मा को शान्ति नहीं लेने देते हैं, सर्वदा व्याकुल एवं बेचैन किए रहते हैं। तीनों ही शल्य, तीव्र कर्म-बन्ध के हेतु हैं, अतः दुःखोत्पादक होने के कारण शल्य हैं।

माया-शल्य :

माया का अर्थ कपट होता है। अतएव छल करना, ढोंग रचना, ठगने की वृत्ति रखना, दोष लगाकर गुरुदेव के समक्ष माया के कारण आलोचना न करना, अन्य रूप से मिथ्या आलोचना करना तथा किसी पर झूँठा आरोप लगाना; इत्यादि माया-शल्य है।

निदान-शल्य :

धर्माचरण के द्वारा सांसारिक फल की कामना करना, भोगों की लालसा रखना, निदान शल्य होता है। उदाहरण के लिए देखिए। किसी राजा अथवा देवता आदि का वैभव देखकर किंवा सुन कर मन में यह संकल्प करना कि-ब्रह्मचर्य, तप आदि मेरे धर्म के फलस्वरूप मुझे भी ऐसा ही वैभव, समृद्धि प्राप्त हो; यह निदान शल्य है।

मिथ्या दर्शन शल्य :

सत्य पर श्रद्धा न लाना एवं असत्य का कदाग्रह रखना, मिथ्या-दर्शन शल्य होता है। यह शल्य बहुत ही भयंकर है। इसके कारण कभी भी सत्य के प्रति अभि-रुचि नहीं होती। यह शल्य सम्यग्-दर्शन का विरोधी है, दर्शन मोहनीय कर्म का फल है।

१६ | गौरव-सूत्र

पडिक्कमामि
तिहिं गारवेहिं-
इड्ढी गारवेणं,
रस-गारवेणं,
सायागारवेणं।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=**प्रतिक्रमण करता हूँ**
तिहिं=**तीनों**
गारवेहिं=**गौरवों से**
इड्ढीगारवेणं=**ऋद्धि-गौरव से**
रसगारवेणं=**रस-गौरव से**
सायागारवेणं=**साता-गौरव से**

भावार्थ

तीन प्रकार के गौरव—अशुभ भावनारूप भार से लगने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। (किन गौरवों से ?) ऋद्धि के गौरव से, रस के गौरव से, और साता=सुख के गौरव से।

भाष्य

गौरव का अर्थ गुरुत्व है। यह गौरव, द्रव्य और भाव से दो प्रकार का होता है। पत्थर आदि की गुरुता, द्रव्य गौरव है और अभिमान एवं लोभ के कारण होने वाला आत्मा का अशुभ भाव, भाव गौरव है। प्रस्तुत सूत्र में भाव गौरव की चर्चा है। भाव गौरव आत्मा को संसार सागर में डुबाये रखता है, ऊपर उभरने नहीं देता।

भाव गौरव के तीन भेद हैं—ऋद्धि गौरव, रस-गौरव और साता-गौरव। इनके स्पष्टीकरण के लिए नीचे देखिए।

ऋद्धि-गौरव :

राजा आदि के द्वारा प्राप्त होने वाला ऊँचा पद एवं सत्कार सम्मान पाकर अभिमान करना, और प्राप्त न होने पर उसकी लालसा रखना, ऋद्धि गौरव है।

संक्षेप-भाषा में सत्कार-सम्मान, वन्दन, उग्र व्रत, विद्या आदि का अभिमान करना, ऋद्धि गौरव कहलाता है।

रस गौरव :

दूध, दही, घृत आदि मधुर एवं स्वादिष्ट रसों की इच्छानुसार प्राप्ति होने पर अभिमान करना, और प्राप्त न होने पर उनकी लालसा रखना, रस गौरव है। आचार्य जिनदास महत्तर रस-गौरव के लिए जिह्वा-दण्ड शब्द का बहुत सुन्दर प्रयोग करते हैं। **'रसगारवे जिब्भादंडो।'**

साता-गौरव :

साता का अर्थ—आरोग्य एवं शारीरिक सुख है। अतएव आरोग्य, शारीरिक सुख तथा वस्त्र, पात्र, शयनासन आदि सुख के साधनों के मिलने पर अभिमान करना, और न मिलने पर उनकी लालसा=इच्छा करना, साता गौरव है।

१७ | विराधना-सूत्र

पडिक्कमामि
तिहिं विराहणाहिं-
नाण-विराहणाए,
दंसण-विराहणाए,
चरित्त-विराहणाए ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=**प्रतिक्रमण करता हूँ**
तिहिं=**तीनों**
विराहणाहिं=**विराधनाओं से**
नाण=**ज्ञान की**
विराहणाए=**विराधना से**
दंसण=**दर्शन की**
विराहणाए=**विराधना से**
चरित्त=**चारित्र की**
विराहणाए=**विराधना से**

भावार्थ

तीन प्रकार की विराधनाओं से होने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। (कौन सी विराधनाओं से ?) ज्ञान की विराधना से, दर्शन की विराधना से, और चारित्र की विराधना से ।

भाष्य

किसी भी प्रकार का दोष न लगाते हुए चारित्र का विशुद्ध रूप से पालन करना आराधना होती है और इसके विपरीत ज्ञानादि आचार का सम्यक् रूप से आराधन न करना, उनका खण्डन करना, उनमें दोष लगाना, विराधना है । **'विगता आराहणा विराहणा ।'** जिनदास महत्तर । **'कस्यचिद् वस्तुनः खण्डनं विराधनं, तदेव विराधना ।'** आचार्य हरिभद्र ।

ज्ञान विराधना :

ज्ञान की तथा ज्ञानी की निन्दा करना, गुरु आदि का अपलाप करना,

आशातना करना, ज्ञानार्जन में आलस्य करना, दूसरे के अध्ययन में अन्तराय डालना, अकाल स्वाध्याय करना, इत्यादि ज्ञान विराधना है।

दर्शन विराधना :

दर्शन से अभिप्राय सम्यग् दर्शन से है। सम्यग्दर्शन का अर्थ—'सम्यक्त्व' है। अतः सम्यक्त्व एवं सम्यक्त्व धारी साधक की निन्दा करना, मिथ्यात्व एवं मिथ्यात्वी की प्रशंसा करना, पाखण्ड मत का आडंबर देखकर डगमगा जाना, दर्शन विराधना है।

चारित्र विराधना :

चारित्र का अर्थ—'सच्चरण' है। अहिंसा, सत्य आदि चारित्र का भली भाँति पालन न करना, उसमें दोष लगाना, उसका खण्डन करना, चारित्र विराधना है।

१८ | कषाय-सूत्र

पडिक्कमामि
चउहिं कसाएहिं—
कोह कसाएणं,
माणकसाएणं,
मायाकसाएणं,
लोभकसाएणं।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=**प्रतिक्रमण करता हूँ**
चउहिं=**चारों**
कसाएहिं=**कषायों से**
कोहकसाएणं=**क्रोधकषाय से**
माणकसाएणं=**मानकषाय से**
मायाकसाएणं=**मायाकषाय से**
लोभकसाएणं=**लोभ कषाय से**

भावार्थ

क्रोध कषाय, मान कषाय, माया कषाय और लोभ कषाय—इन चारों कषायों के द्वारा होने वाले अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ=अर्थात् उनसे पीछे हटता हूँ।

भाष्य

'कषाय' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। दो शब्द हैं—'**कष**' और '**आय**'। कष का अर्थ संसार होता है, क्योंकि इसमें प्राणी विविध दुःखों के द्वारा कष्ट पाते हैं, पीड़ित होते हैं। देखिए-नमि-कृत व्युत्पत्ति—'**कष्यते प्राणी विविधदुःखैरस्मिन्निति कषः संसारः**।' दूसरा शब्द 'आय' है, जिसका अर्थ लाभ=प्राप्ति होता है। बहुव्रीहि समास के द्वारा दोनों शब्दों का सम्मिलित अर्थ होता है—जिनके द्वारा कष=संसार की आय=प्राप्ति हो, वे क्रोधादि चार कषाय-पदवाच्य हैं।

—'कषः संसारस्तस्य आयो लाभो येभ्यस्ते कषायाः ।'

कषायों का वेग वस्तुतः बहुत प्रबल है। जन्म-मरणरूप यह संसार वृक्ष कषायों के द्वारा ही हराभरा रहता है। यदि कषाय न हों तो जन्म मरण की परम्परा का विष-वृक्ष स्वयं ही सूखकर नष्ट हो जाय। दशवैकालिक-सूत्र में आचार्य शय्यंभव ठीक ही कहते हैं कि—'अनिगृहीत कषाय पुनर्भव के मूल को सींचते रहते हैं, उसे शुष्क नहीं होने देते।'

—'सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स।'

सूत्रकृतांग-सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के षष्ठ अध्ययन में कषायों को अध्यात्म-दोष बतलाया है। कषाय प्रकट और अप्रकट दोनों ही तरह से आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप शुद्धस्वरूप को मलिन करते हैं, कर्म रंग से आत्मा को रँग देते हैं और चिरकाल के लिए आत्मा की सुख-शान्ति को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। जो साधक इन कषायों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वही सच्चा साधक है। कषायविजयी साधक न स्वयं पाप कर्म करता है, न दूसरों से करवाता है, और न करने वालों का अनुमोदन ही करता है, अतएव वह दुःखों से सदा के लिए छुटकारा प्राप्त कर लेता है। कारण के अभाव में कार्य कैसे हो सकता है? कषाय ही तो कर्मों के उत्पादक हैं, और कर्मों से ही दुःख होता है। जब कषाय नहीं रहे तो कर्म नहीं, कर्म नहीं रहे तो दुःख नहीं रहा। कषायों की कर्मोत्पादकता के सम्बन्ध में आचार्य वीरसेन के धवला-ग्रन्थ में, देखिए, क्या लिखा है? **'दुःखशस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्ति फलवत्कुर्वन्ति इति कषायाः'**—'जो दुःखरूप धान्य को पैदा करने वाले कर्मरूपी खेत को कर्षण करते हैं अर्थात् फल वाले करते हैं, वे क्रोध मान आदि कषाय कहलाते हैं—।'

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय-नासणो;
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्व-विणासणो।
उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे,
मायमज्जव-भावेणं, लोभं संतोसओ जिणे।

—दशवै० ८। ३८-३९।

'क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी सद्गुणों का नाश करता है।'

'शान्ति से क्रोध को, मृदुता से मान को, सरलता से माया को, और सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिए।'

प्रत्येक साधक को दशवैकालिक-सूत्र की यह अमर वाणी, हृदय पट पर सदा अंकित रखनी चाहिए। आचार्य शय्यंभव के ये अमर वाक्य, अवश्य ही कषाय-विजय में हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ पथ-प्रदर्शक हैं।

१९ | संज्ञा-सूत्र

पडिक्कमामि
चउहिं सन्नाहिं-
आहार-सन्नाए
भय-सन्नाए
मेहुण-सन्नाए
परिग्गह-सन्नाए ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=**प्रतिक्रमण करता हूँ**
चउहिं=**चारों**
सन्नाहिं=**संज्ञाओं से**
आहारसन्नाए=**आहार संज्ञा से**
भयसन्नाए=**भय संज्ञा से**
मेहुणसन्नाए=**मैथुन संज्ञा से**
परिग्गह=**परिग्रह की**
सन्नाए=**संज्ञा से**

भावार्थ

आहार संज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा—इन चार प्रकार की संज्ञाओं के द्वारा जो भी अतिचार=दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

भाष्य

संज्ञा का अर्थ 'चेतना' होता है, 'संज्ञानं संज्ञा ।' किन्तु यहाँ यह अर्थ अभीष्ट नहीं है । जैनागमों में संज्ञा शब्द एक विशेष अर्थ के लिए भी रूढ़ है । मोहनीय और असाता वेदनीय कर्म के उदय से जब चेतना शक्ति विकारयुक्त हो जाती है, तब वह 'संज्ञा' पदवाच्य होती है । लोक भाषा में यदि आप संज्ञा का सीधा-सादा स्पष्ट अर्थ करना चाहें तो यह कर सकते हैं कि='कर्मोदय के प्राबल्य से होने वाली अभिलाषा=इच्छा ।'

यह शब्द कहने के लिए तो बहुत साधारण है । साधारण संसारी जीव इच्छा को कोई महत्त्व नहीं देते । उन लोगों का कहना है कि—'केवल इच्छा ही

तो की है, और कुछ तो नहीं किया ? खाली इच्छा से क्या पाप होता है ?' परन्तु उन्हें याद रखना चाहिए कि संसार में इच्छा का मूल्य बहुत है। संकल्पों के ऊपर ही मनुष्य के उत्थान और पतन दोनों मार्गों का निर्माण होता है। सांसारिक भोगों की इच्छा करते रहने से अवश्य ही आत्मा का पतन होगा। मन का चित्र यदि गन्दा है तो उसका प्रतिबिम्ब आत्मा को दूषित किए बिना किसी भी हालत में नहीं रहेगा। साधक को मन के समुद्र में उठने वाली प्रत्येक वासना-तरंगों को ध्यान में रखना चाहिए और उन्हें शान्त करने सम्बन्धी शास्त्र-प्रतिपादित विधानों की जरा भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

आहार-संज्ञा :

क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से आहार की आवश्यकता होती है। यह सामान्यतः आहार संज्ञा है। क्षुधा की पूर्ति के लिए भोजन करना पाप नहीं है। परन्तु मनुष्य की मानसिक धारा जब पेट पर ही केन्द्रित हो जाती है, तब आहार संज्ञा अपनी मर्यादा को लाँघने लगती है और साधक के लिए घातक होने लगती है। मोह का आश्रय पाकर यह संज्ञा जब अधिक बल पकड़ लेती है, तब अधिक से अधिक सुन्दर स्वादु भोजन खाकर भी मनुष्य सन्तुष्ट नहीं होता। अग्नि के समान आहार के लिए उसका हृदय धधकता ही रहता है। निरन्तर आहार का स्मरण करने एवं आहार कथा सुनने से आहार संज्ञा प्रज्ज्वलित होती है।

भय संज्ञा :

भय मोहनीय के उदय से आत्मा में जो त्रास का भाव पैदा होता है, वह भय संज्ञा है। भय आत्म-शक्ति का नाश करने वाला है। भयाकुल मनुष्य और तो क्या अपने सम्यग्दर्शन को भी सुरक्षित नहीं रख सकता। भय की बात सुनने, भयानक दृश्य देखने तथा भय के कारणों की बार-बार उद्भावना—चिन्तना करने से भय संज्ञा उत्पन्न होती है।

मैथुन संज्ञा :

वेदमोहोदय संवेदन यानी मैथुन की इच्छा, मैथुनसंज्ञा कहलाती है। काम-वासना सभी पापों की जड़ है। काम से क्रोध, संमोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश और अन्त में मृत्यु के चक्र में मानव फँस जाता है। कामकथा के श्रवण से, सदैव मैथुन के संकल्प रखने आदि से मैथुन संज्ञा प्रबल होती है।

परिग्रह संज्ञा :

लोभमोहनीय के उदय से मनुष्य की संग्रहवृत्ति जागृत होती है। परिग्रहसंज्ञा के फेर में पड़कर मनुष्य इधर-उधर जो भी चीज देखता है, उसी पर मुग्ध हो जाता है, उसे संगृहीत करने की इच्छा करता है, सदैव सतृष्ण रहता है। परिग्रह की बात सुनने, सुन्दर वस्तु देखने और बार-बार संग्रह वृत्ति के चिन्तन आदि से परिग्रह संज्ञा बलवती होती है।

२० | विकथा-सूत्र

पडिक्कमामि
चउहिं विकहाहिं—
इत्थी कहाए,
भत्त कहाए,
देस-कहाए,
राय-कहाए।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=**प्रतिक्रमण करता हूँ**
चउहिं=**चारों**
विकहाहिं=**विकथाओं से**
इत्थी=**स्त्री की**
कहाए=**कथा से**
भत्त=**भोजन की**
कहाए=**कथा से**
देस=**देश की**
कहाए=**कथा से**
राय=**राजा की**
कहाए=**कथा से**

भावार्थ

स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश कथा और राज-कथा-इन चारों विकथाओं के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

भाष्य

आध्यात्मिक अर्थात् संयम-जीवन को दूषित करने वाली विरुद्ध एवं भ्रष्ट कथा को विकथा कहते हैं। **'विरुद्धा विनष्टा वा कथा विकथा'** आचार्य हरिभद्र। साधक को विकथाओं से उसी प्रकार दूर रहना चाहिए, जिस प्रकार काल-सर्पिणी से दूर रहा जाता है। आगमों में विकथाओं को लेकर बड़ी लम्बी चर्चा की गयी है और इन्हें संयम को नष्ट करने वाली बताया गया है।

मानव जीवन की यह बहुत बड़ी दुर्बलता है कि वह व्यर्थ की चर्चाओं में अधिक रस लेता है। हजारों लोग इसी तरह गप्पों के फेर में पड़कर अपने महान् व्यक्तित्व के निर्माण में पश्चात्पद रह जाते हैं, और फिर सदा के लिए पछताया करते हैं। साधना के उच्च जीवन की बात छोड़िए, साधारण गृहस्थ की जिन्दगी पर भी विकथाओं का बड़ा घातक प्रभाव पड़ता है। विकथा के रस में पड़कर मानवता न इस लोक में यशस्विनी होती है और न परलोक में। व्यर्थ ही राग-द्वेष की गन्दगी से अन्तर्हृदय दूषित होकर उभयतो भ्रष्ट हो जाता है।

आजकल चारों ओर से बेकारी की पुकार आ रही है। मनुष्य की कीमत पशुओं से भी नीचे गिर गयी है। हर जगह ठाली बैठा हुआ मानव, अपने अभ्युत्थान के सम्बन्ध में कुछ भी न सोचकर विकथा के द्वारा जीवन नष्ट कर रहा है। आज जापान के इतने जहाज नष्ट हो गए, आज अमरीका का बेड़ा डूब गया, आज इतने हजार सैनिक खेत रहे, आज सिनेमा संसार में रेणुका का नम्बर पहला है, वह बहुत मधुर गाने वाली एवं श्रेष्ठ नाचने वाली है, आज अमुक के यहाँ दावत खूब ही अच्छी हुई, इत्यादि वे सिर-पैर की अर्थहीन बातों में हमारे जन-समाज का अमूल्य समय बर्बाद हो रहा है। क्या गृहस्थ, क्या साधु, दोनों ही वर्गों को इस विकथा की महामारी से बचने की आवश्यकता है।

स्त्री कथा :

अमुक देश और अमुक जाति की अमुक स्त्री सुन्दर है अथवा कुरूप है। वह बहुत सुन्दर वस्त्र पहनती है। अमुक का गाना कोयल के समान है। इत्यादि विचार अथवा वार्तालाप करना स्त्री-कथा है।

भक्त कथा :

भक्त का अर्थ भोजन है। अतः भोजन सम्बन्धी कथा, भक्त कथा कहलाती है। अमुक भोजन कहाँ, कब, कैसा बनाया जाता है ? लड्डू बढ़िया होते हैं या जलेबियाँ ? घी अधिक पुष्टि कर है या दूध ? इत्यादि भोजन की चर्चा में ही व्यस्त रहना, विकथा नहीं तो और क्या है ?

देश कथा :

देशों की विविध वेश-भूषा, शृङ्गार रचना, भोजन-पद्धति, गृह-निर्माण कला, रीति रिवाज आदि की प्रशंसा या निन्दा करना, देश-कथा है।

राज कथा :

राजाओं की सेना, रानियाँ, युद्धकला, भोगविलास, वीरता आदि का वर्णन करना, राजकथा कहलाती है। राजकथा हिंसा और भोगवासना के भावों को उत्तेजित करने वाली है, अतः सर्वथा हेय है।

२१ ध्यान-सूत्र

पडिक्कमामि
चउहिं झाणेहिं—
अट्टेणं झाणेणं
रुद्देणं झाणेणं
धम्मेणं झाणेणं
सुक्केणं झाणेणं ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ
चउहिं=चारों
झाणेंहि=ध्यानों से
अट्टेणं=आर्त
झाणेणं=ध्यान से
रुद्देणं=रौद्र
झाणेणं=ध्यान से
धम्मेणं=धर्म
झाणेणं=ध्यान से
सुक्केणं=शुक्ल
झाणेणं=ध्यान से

भावार्थ

आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल-ध्यान—इन चारों ध्यानों से अर्थात् आर्त, रौद्र ध्यान के करने से तथा धर्म, शुक्ल ध्यान के न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

भाष्य

निर्वात स्थान में स्थिर दीपशिखा के समान निश्चल और अन्य विषयों के संकल्प से रहित केवल एक ही विषय का धारावाही चिन्तन, ध्यान कहलाता है । अर्थात् अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थिर अध्यवसान एवं मन की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं ।

जीवस्स एगग्ग-जोगाभिणिवेसो झाणं ।

अंतोमुहुत्तं तीव्रयोगपरिणामस्य अवस्थानमित्यर्थः ।'

—आचार्य जिनदास गणी

ध्यान, प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार का होता है । आर्त तथा रौद्र अप्रशस्त ध्यान हैं, अतः हेय=त्याज्य हैं । धर्म तथा शुक्ल प्रशस्त ध्यान हैं, अतः उपादेय=आदरणीय हैं । अप्रशस्त ध्यान करना और प्रशस्त ध्यान न करना दोष है, इसी का प्रतिक्रमण प्रस्तुत-सूत्र में किया गया है ।

आर्त ध्यान :

आर्ति का अर्थ दुःख, कष्ट एवं पीड़ा होता है । आर्ति के निमित्त से जो ध्यान होता है, वह आर्त ध्यान कहलाता है । अनिष्ट वस्तु के संयोग से, इष्ट वस्तु के वियोग से, रोग आदि के कारण से तथैव भोगों की लालसा से जो मन में एक प्रकार की विकलता-सी अर्थात् सतत कसक-सी होती है, वह आर्त ध्यान है ।

रौद्र ध्यान :

हिंसा आदि क्रूर विचार रखने वाला व्यक्ति रुद्र कहलाता है । रुद्र व्यक्ति के मनोभावों को रौद्र ध्यान कहा जाता है । हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने और प्राप्त विषय भोगों की संरक्षण वृत्ति से ही क्रूरता का उद्भव होता है । अतएव हिंसा, असत्य आदि का अर्थात् छेदन-भेदन, मारण-ताड़न एवं मिथ्या भाषण, कर्कश-भाषण, आदि कठोर प्रवृत्तियों का सतत चिन्तन करना, रौद्र ध्यान कहलाता है ।

धर्म ध्यान :

श्रुत एवं चारित्र की साधना को धर्म कहते हैं । अस्तु, जो चिन्तन, मनन धर्म के सम्बन्ध में किया जाता है वह धर्म ध्यान कहलाता है । और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो सूत्रार्थ की साधना करना, महाव्रतों को धारण करना, बन्ध और मोक्ष के हेतुओं का विचार करना, पाँच इन्द्रियों के विषय से निवृत्त होना, प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखना; इत्यादि शुभ लक्ष्यों पर मन का एकाग्र होना धर्म ध्यान होता है ।

शुक्ल ध्यान :

कर्म मल को शोधन करने वाला तथा शुच=शोक को दूर करने वाला ध्यान, शुक्ल ध्यान होता है । **'शोधयत्यष्ट प्रकारकर्ममलं शुचं वा क्लमयतीति शुक्लम्'**— आचार्य नमि । धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान का साधन है । शुक्ल ध्यान में पहुँच कर मन पूर्ण एकाग्र, स्थिर, निश्चल एवं निस्पन्द हो जाता है । साधक के सामने कितने ही क्यों न सुन्दर प्रलोभन हों, शरीर को तिल-तिल करने वाले कैसे ही क्यों न छेदन-भेदन हों, शुक्ल ध्यान के द्वारा स्थिर हुआ अचंचल चित्त लेशमात्र भी चलायमान नहीं होता । शुक्ल ध्यान की उत्कृष्टता, केवलज्ञान उत्पन्न करने वाली है और केवल ज्ञान की प्राप्ति सदा के लिए जन्म-मरण के बन्धन से छुड़ाने वाली है ।

आर्त आदि चारों ही ध्यानों का स्वरूप संक्षेप-भाषा में स्मृतिस्थ रह सके, इसके लिए हम यहाँ एक प्राचीन गाथा उद्धृत करते हैं। यह गाथा आचार्य जिनदास महत्तर ने आवश्यक चूर्णि के प्रतिक्रमणाध्ययन में इसी प्रसंग पर 'उक्तं च' के रूप में उद्धृत की है। गाथा प्राकृत और संस्कृत भाषा में सम्मिश्रित है और बड़ी ही सुन्दर है।

'हिंसाणुरंजितं रौद्रं,
अट्टं कामाणुरंजितं।
धम्माणुरंजियं धम्मं,
सुक्कं झाणं निरंजणं॥'

—हिंसा से अनुरञ्जित=रँगा हुआ ध्यान रौद्र और काम से अनुरञ्जित ध्यान आर्त कहलाता है। धर्म से अनुरञ्जित ध्यान धर्मध्यान है और शुक्ल ध्यान पूर्ण निरंजन होता है।

ध्यान का वर्णन बहुत विस्तृत है। यहाँ संक्षेपरुचि के कारण अधिक चर्चा में नहीं उतर सके हैं। इस सम्बन्ध में अधिक जिज्ञासा वाले सज्जन प्रवचन सारोद्धार, ध्यान शतक, तत्वार्थ-सूत्र, स्थानांग-सूत्र आदि का अवलोकन करने का कष्ट करें।

पडिक्कमामि
पंचहिं किरियाहिं—
काइआए
अहिगरणियाए
पाउसियाए
पारितावणियाए
पाणाइवाय-किरियाए।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ
पंचहिं=पाँचों
किरियाहिं=क्रियाओं से
काइआए=कायिकी से
अहिगरणियाए=आधिकरणिकी से
पाउसियाए=प्राद्वेषिकी से
पारितावणियाए=पारितापनिकी से
पाणाइवायकिरियाए=प्राणातिपात क्रिया से

भावार्थ

कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपात-क्रिया—इन पाँचों क्रियाओं के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

भाष्य

कर्मबन्ध करने वाली चेष्टा, यहाँ क्रिया शब्द का वाच्य अर्थ है। स्पष्ट भाषा में—'हिंसाप्रधान दुष्ट व्यापार-विशेष' को क्रिया कहते हैं। आगमसाहित्य में क्रियाओं का बहुत विस्तृत वर्णन है। विस्तार-पद्धति में क्रिया के २५ भेद माने गये हैं। परन्तु अन्य समस्त क्रियाओं का सूत्रोक्त पाँच क्रियाओं में ही अन्तर्भाव हो जाता है, अतः मूल क्रयाएँ पांच ही मानी जाती हैं।

कायिकी :

काय के द्वारा होने वाली क्रिया, कायिकी कहलाती है। इसके तीन भेद माने गए हैं—मिथ्या दृष्टि और अविरत सम्यग्-दृष्टि की क्रिया अविरत कायिकी होती है, प्रमत्त संयमी मुनि की क्रिया दुष्प्रणिहित कायिकी होती है, और अप्रमत्त संयमी की क्रिया सावद्ययोग से उपरत होने के कारण उपरत कायिकी होती है।

आधिकरणिकी :

जिसके द्वारा आत्मा नरक आदि दुर्गति का अधिकारी होता है, वह दुर्मंत्रादि का अनुष्ठान-विशेष अथवा घातक शस्त्र आदि, अधिकरण कहलाता है। अधिकरण से निष्पन्न होने वाली क्रिया, आधिकरणिकी होती है।

प्राद्वेषिकी :

प्रद्वेष का अर्थ 'मत्सर, डाह, ईर्ष्या' होता है। यह अकुशल परिणाम कर्म-बन्ध का प्रबल कारण माना जाता है। अस्तु, जीव तथा अजीव किसी भी पदार्थ के प्रति द्वेषभाव रखना, प्राद्वेषिकी क्रिया होती है।

पारितापनिकी :

ताडन आदि के द्वारा दिया जाने वाला दुःख परितापन कहलाता है। परितापन से निष्पन्न होने वाली क्रिया, पारितापनिकी क्रिया कहलाती है। परितापन, अपने तथा दूसरे के शरीर पर किया जाता है, अतः स्व तथा पर के भेद से पारितापनिकी क्रिया दो प्रकार की होती है।

प्राणातिपातिकी :

प्राणों का अतिपात=विनाश, प्राणातिपात कहलाता है। प्राणातिपात से होने वाली क्रिया, प्राणातिपातिकी कहलाती है। इसके दो भेद हैं—क्रोधादि कषायवश होकर अपनी हिंसा करना, स्वप्राणातिपातिकी क्रिया है, और इसी प्रकार कषायवश दूसरे की हिंसा करना, पर-प्राणातिपातिकी है।

२३ | काम-गुण-सूत्र

पडिक्कमामि
पंचहिं कामगुणेहिं—
सद्देणं
रूवेणं
गंधेणं
रसेणं
फासेणं ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ
पंचहिं=पांचों
कामगुणेहिं=काम गुणों से
सद्दणं=शब्द से
रूवेणं=रूप से
गधेणं=गंध से
रसेणं=रस से
फासेणं=स्पर्श से

भावार्थ

शब्द, रूप गन्ध, रस, और स्पर्श—इन पाँचों काम गुणों के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

भाष्य

काम का अर्थ है—'विषयभोग' । काम के साधनों को—रूप, रस आदि को—कामगुण कहते हैं । कामगुण में गुण शब्द श्रेष्ठता का वाचक न हो कर केवल बन्धन-हेतु वाचक है । काम के साधन शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श हैं, अतः ये सब काम गुणशब्दवाच्य हैं ।

'कामगुण' शब्द के पीछे रहे हुए भाव की स्पष्टता के लिए जरा इस पर और विचार करलें । आचार्य हरिभद्र आवश्यक सूत्र पर की अपनी शिष्यहिता टीका में कहते हैं कि संसारी जीवों के द्वारा शब्द, रूप आदि की कामना की जाती है, अतः वे काम

कहलाते हैं और गुण का अर्थ है रस्सी। अस्तु, शब्दादि काम ही गुण—रूप=बन्धन रूप होने से गुण हैं। शब्दादि कामों से बढ़कर संसारी जीव के लिए और कौन-सा बन्धन होगा ? सब जीव इसी बन्धन में बँधे पड़े हैं। **'काम्यन्त इति कामाः शब्दादयस्त एव स्व-स्वरूपगुणबन्धहेतुत्वाद् गुणा इति।'**

आचार्य हरिभद्र की भावना को स्पष्ट करते हुए मलधारगच्छीय आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि **'तेषां शब्दादिकामानां स्वकीयं यत्स्वरूपं तदेव गुण इव गुणो—दवरकस्तेन यः प्राणिनां बन्धः—सङ्गस्तद् हेतुत्वाद् गुणाः उच्यन्ते, प्राणिनां बन्ध-हेतुत्वेन रज्जव इति यावत्।'**

—हरिभद्रीयावश्यक वृत्ति टीप्पणक

मानव जीवन में चारों ओर बन्धन का जाल बिछा हुआ है। कोई विरला सावधान साधक ही इस जाल को पार करके अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँच सकता है। कहीं मनोहर सुरीले शब्दों का जाल है तो कहीं कर्कश कठोर उत्तेजक शब्दों का जाल है। कहीं नयन-विमोहक सुन्दर रूप का जाल बिछा है तो कहीं बीभत्स भयानक कुरूपता का जाल तना हुआ है। कहीं अगर, तगर, चन्दन, केशर, कस्तूरी आदि की दिल खुश करने वाली सुगन्ध का जाल लगा हुआ है तो कहीं गंदी मोरी, कीचड़, सड़ते हुए तालाब आदि की वमन करा देने वाली दुर्गन्ध का जाल फँसाने को तैयार खड़ा है। कहीं सुन्दर सुगन्धित मधुर मिष्टान्न रस का जाल ललचा रहा है तो कहीं कटु, तिक्त, खट्टा, बकबका, कुरस का जाल बेचैन किए हुए है। कहीं मृदुल सुकोमल स्पर्श का जाल शरीर में गुदगुदी पैदा कर रहा है तो कहीं कर्कश कठोर स्पर्श का जाल शरीर में कँपकँपी पैदा कर रहा है। किंबहुना, मनुष्य जिधर भी दृष्टि डालता है उधर ही कोई न कोई राग या द्वेष का जाल आत्मा को फंसाने के लिए विद्यमान है।

आप विचार करते होंगे—"फिर तो मुक्ति का कोई मार्ग ही नहीं ?" क्यों नहीं, अवश्य है। सावधान रहने वाले साधक के लिए संसार में कोई भी जाल नहीं। कुछ भी सुन्दर या असुन्दर कामगुण आए, आप उस पर राग अथवा द्वेष न कीजिए, तटस्थ रहिए। फिर कोई बन्धन नहीं, कोई जाल नहीं। वस्तु स्वयं बन्धक नहीं है। बन्धक है, मनुष्य का रागद्वेषाकुल मन। जब रागद्वेष करोगे ही नहीं, सर्वथा तटस्थ ही रहोगे, फिर बन्धन कैसा ? जाल कैसा ?

प्रस्तुत सूत्र में यही उल्लेख है कि यदि संयम यात्रा करते हुए कहीं किसी शब्दादि में मन भटक गया हो, तटस्थता को छोड़कर रागद्वेष युक्त हो गया हो, जाल में फँस गया हो तो उसे वहाँ से हटाकर पुनः संयम पथ पर अग्रसर करना चाहिए। यही काम गुण से आत्मा का प्रतिक्रमण है।

२४ महाव्रत-सूत्र

पडिक्कमामि

पंचहिं महव्वएहिं—

सव्वाओ[1] पाणाइवायाओ वेरमणं

सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं

सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं,

सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं,

सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ
पंचहिं=पाँचों
महव्वएहिं=महाव्रतों से
सव्वाओ=सब प्रकार के
पाणाइवायाओ=प्राणातिपात से
वेरमणं=विरमण,
सव्वाओ=सब प्रकार के
मुसावायाओ=मृषावाद से
वेरमणं=विरमण

सव्वाओ=सब प्रकार के
अदिन्नादाणाओ=अदत्ता दान से
वेरमणं=विरमण, निवृत्ति
सव्वाओ=सब प्रकार के
मेहुणाओ=मैथुन से
वेरमणं=विरमण
सव्वाओ=सब प्रकार के
परिग्गहाओ=परिग्रह से
वेरमणं=विरमण

१—आचार्य जिनदास महत्तर और हरिभद्र ने 'सव्वाओ' का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु दशवैकालिक आदि के महाव्रताधिकार में प्राय: सर्वत्र 'सव्वाओ' का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए सव्वाओ का प्रयोग औचित्यपूर्ण है। वैसे प्राणातिपातविरमण में भी अन्तर्जल्पाकार रूप में सर्व का भाव है ही।

भावार्थ

सर्व प्राणातिपात-विरमण=अहिंसा, सर्व-मृषावाद-विरमण=सत्य, सर्व-अदत्तादान-विरमण=अस्तेय, सर्व-मैथुन-विरमण=ब्रह्मचर्य, सर्व-परिग्रह-विरमण=अपरिग्रह—इन पाँचों महाव्रतों से अर्थात् पाँचों महाव्रतों का सम्यक् रूप से पालन न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

भाष्य

अहिंसा, सत्य, अस्तेय=चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये जब मर्यादित=सीमित रूप में ग्रहण किए जाते हैं, तब अणुव्रत कहलाते हैं । अणुव्रत का अधिकारी गृहस्थ होता है; क्योंकि गृहस्थ अवस्था में रहने के कारण साधक, अहिंसा आदि की साधना के पथ पर पूर्णतया नहीं चल सकता, हिंसा आदि का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता । अतः वह अहिंसा आदि व्रतों की उपासना अपनी संक्षिप्त सीमा के अन्दर रहकर ही करता है । किन्तु साधु का जीवन गृहस्थ के उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्त होता है, अतः वह पूर्ण आत्मबल के द्वारा संयम-पथ पर अग्रसर होता है और अहिंसा आदि व्रतों को नवकोटि से सदा सर्वथा पूर्ण साधना करता है, फलतः साधु के अहिंसा आदि व्रत महाव्रत कहलाते हैं ।

योगदर्शनकार वैदिक ऋषि पतञ्जलि ने भी महाव्रत की व्याख्या सुन्दर ढंग से की है । योगदर्शन के दूसरे पाद का ३१वाँ सूत्र है —'**जाति देशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्** । सूत्र का आशय यह है कि—[1] जाति, देश, काल और समय== आचार अर्थात् कुलोचित कर्तव्य के बन्धन से रहित सार्वभौम=सर्व विषयक महाव्रत होते हैं । मत्स्य हिंसा के सिवा अन्य हिंसा न करना, मच्छी मार की **जात्यवच्छिन्ना** अहिंसा है । अमुक तीर्थ आदि पर हिंसा नहीं करना **देशावच्छिन्ना** अहिंसा है । पूर्णमासी आदि पर्व के दिन हिंसा न करना **कालावच्छिन्ना** अहिंसा है । क्षत्रियों की युद्ध के सिवा अन्य हिंसा न करने की प्रतिज्ञा **समयावच्छिन्ना** अहिंसा है । अहिंसा के समान ही सत्य आदि के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए । जो अहिंसा आदि व्रत

१—जैन-धर्म में **जात्यवच्छिन्ना** अहिंसा आदि का कोई महत्व नहीं है । जैन गृहस्थ की सीमित अहिंसा भी जाति, देश, तीर्थ आदि के बन्धन से रहित होती है । गृहस्थ की हिंसा विरोधी से आत्मरक्षा या किसी अन्य आवश्यक सामाजिक उद्देश्य के लिए ही खुली रहती है । जाति, कुल, तीर्थ यात्रा आदि के नाम पर होने वाली हिंसा जैन गृहस्थ के लिए त्याज्य है । गृहस्थ का अणुव्रत भी जाति, देश, कुल, तीर्थयात्रादि से अवच्छिन्न नहीं होता । वह इन सबसे ऊपर होता है ।

उपर्युक्त जाति, देश, काल, और समय की सीमा से सर्वथा मुक्त, असीम, निरवच्छिन्न तथा सर्वरूपेण हों वे महाव्रत पदवाच्य होते हैं।

महाव्रत, तीन करण और तीन योग से ग्रहण किए जाते हैं। किसी भी प्रकार की हिंसा न स्वयं करना, न दूसरे से कराना, न करने वालों का अनुमोदन करना मन से, वचन से और काय से—यह अहिंसा महाव्रत है। इसी प्रकार असत्य, स्तेय=चोरी, मैथुन=व्यभिचार, परिग्रह=धन धान्य आदि के त्याग के सम्बन्ध में भी नवकोटि की प्रतिज्ञा का भाव समझ लेना चाहिए।

पाँच महाव्रत साधु के पाँच मूल गुण कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त शेष आचार उत्तर गुण कहलाता है। उत्तर गुणों का आदर्श मूल गुणों की रक्षा में है, स्वयं स्वतन्त्र उनका कोई प्रयोजन नहीं।

प्रस्तुत सूत्र में पाँच महाव्रतों से प्रतिक्रमण नहीं किया गया है, प्रतिक्रमण किया गया है महाव्रतों में रागद्वेषादि के औदयिक भाव के कारण प्रमादवश लगे हुए दोषों से। यह ध्यान में रखिए, यहाँ हेत्वर्थक तृतीया है, पंचमी नहीं। हेत्वर्थक तृतीया का सम्बन्ध अतिचारों से किया जाता है और फिर अतिचारों का 'पडिक्कमामि' एवं 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' से सम्बन्ध होता है।

विशेष ज्ञातव्य—

प्रस्तुत महाव्रत-सूत्र के पश्चात् प्रायः सभी प्राप्त प्रतियों और आवश्यक सूत्र के टीका-ग्रन्थों मे समिति सूत्र का उल्लेख मिलता है। परन्तु आचार्य जिनदास महत्तर ने '**एत्थ के वि अण्णं पि पठन्ति**'' अर्थात् यहाँ कुछ आचार्य दूसरे पाठ भी पढ़ते हैं—इस प्रकार प्रकारान्तर के रूप में पाँच आश्रव द्वार, पाँच अनाश्रव=संवर द्वार, और पाँच निर्जरा स्थान के प्रतिक्रमण का भी उल्लेख किया है। पाठकों की जानकारी के लिए हम उन सत्र पाठों को यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

"पडिक्कमामि पंचहिं आसवदारेहिं, मिच्छत्त अविरति पमाद कसाय जोगेहिं।
पंचहिं अणासवदारेहिं, सम्मत्त विरति अपमाद अकसायित्त अजोगित्तेहिं।
पंचहिं निज्जर-ठाणेहिं, नाण दंसण चरित्त तव संजमेहिं।"

२५ | समिति-सूत्र

पडिक्कमामि
पंचहिं समिईहिं—
इरियासमिईए
भासासमिईए
एसणासमिईए
आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिईए
उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिट्ठावणिया—
समिईए।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ
पंचहिं=पाँचों
समिईहिं=समितियों से
इरिया=ईर्या
समिईए=समिति से
भासा=भाषा
समिईए=समिति से
एसणा=एषणा
समिईए=समिति से
आयाण=आदान
भंडमत्त=भाण्डमात्र
निक्खेवणा=निक्षपणा
समिईए=समिति से
उच्चार=उच्चार, पुरीष
पासवण=प्रस्रवण, मूत्र
खेल=श्लेष्म, कफ
जल्ल=जल्ल, शरीर का मल
सिंघाण=नाक का मल
परिट्ठावणिया=इनको परठनेकी
समिईए=समिति से

भावार्थ

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-भाण्डमात्रनिक्षेपणा समिति, उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्म-जल्ल-सिंघाण-पारिष्ठापनिका समिति—

उक्त पाँचों समितियों से अर्थात् समितियों का सम्यक् पालन न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

भाष्य

विवेक-युक्त होकर प्रवृत्ति करना, समिति है। **'सम्=एकीभावेन इतिः=प्रवृत्तिः समितिः, शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टेत्यर्थः।'** आचार्य नमि की उपर्युक्त समिति की व्युत्पत्ति ही समिति के वास्तविक स्वरूप को प्रकट कर देती है। हिन्दी भाषा में उक्त संस्कृत व्युत्पत्ति का आशय यह है कि—प्राणातिपात आदि पापों से निवृत्त रहने के लिए प्रशस्त एकाग्रता-पूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् प्रवृत्ति, समिति कहलाती है।

समिति और गुप्ति में यह अन्तर है कि गुप्ति, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति उभय-रूप है। और समिति केवल प्रवृत्ति रूप है। अतएव समिति वाला नियमतः गुप्ति वाला होता है, क्योंकि समिति भी सत् प्रवृत्ति रूप अंशतः गुप्ति ही है। परन्तु जो गुप्ति वाला है, वह विकल्पेन समिति वाला होता है, अर्थात् समिति वाला हो भी, नहीं भी हो। क्योंकि सत्प्रवृत्तिरूप गुप्ति के समय समिति पायी जाती है, पर केवल निवृत्ति रूप गुप्ति के समय समिति नहीं पायी जाती। **'प्रवीचाराप्रवीचाररूपा गुप्तयः। समितयः प्रवीचाररूपा एव।'**

—आचार्य हरिभद्र

ईर्या समिति :

युग-परिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए, जीवों को बचाते हुए यतनापूर्वक गमनागमन करना, ईर्या समिति है। ईर्या का अर्थ गमन होता है, अतः गमन-विषयक सत्प्रवृत्ति, ईर्या समिति होती है। **'ईर्यायां समितिः, ईर्या-समितिस्तया। ईर्याविषये एकीभावेन चेष्टनमित्यर्थः'**

—आचार्य हरिभद्र।

भाषा समिति :

आवश्यकता होने पर भाषा के दोषों का परिहार करते हुए यतनापूर्वक भाषण में प्रवृत्ति करना, फलतः हित, मित, सत्य, एवं स्पष्ट वचन कहना, भाषा समिति कहलाती है। **'भाषा समितिर्नाम हितमितासंदिग्धार्थभाषणम्।'** —आचार्य हरिभद्र।

एषणा समिति :

गोचरी के ४२ दोषों से रहित शुद्ध आहार पानी तथा वस्त्र पात्र आदि उपधि ग्रहण करना, एषणा समिति है।

आदानभाण्डमात्र-निक्षेपणा समिति :

वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि भाण्डमात्र=उपकरणों को उपयोग पूर्वक आदान=ग्रहण करना एवं जीवरहित प्रमार्जित भूमि पर निक्षेपण=रखना, आदान-भाण्डमात्र

निक्षेपणा समिति होती है । **'आदानभाण्डमात्र निक्षेपणा समितिर्नाम भाण्डमात्रे आदान-निक्षेपविषक्षेया समितिः सुन्दरचेष्टेत्यर्थः ।'**—आचार्य हरिभद्र ।

पारिष्ठापनिका समितिः

मल मूत्र आदि या भुक्तशेष भोजन तथा भग्नपात्र आदि परठने योग्य वस्तु जीवरहित एकान्त स्थण्डिलभूमि में परठना, जीवादि उत्पन्न न हों—एतदर्थ उचित यतना कर देना, पारिष्ठापनिका समिति होती है ।

आचार्य हरिभद्र, आवश्यक सूत्र की शिष्यहिता टीका में पारिष्ठापनिका समिति का निर्वचन करते हुए कहते हैं—**'परितः—सर्वैः प्रकारैः स्थापनम्—अपुनर्ग्रहणतया न्यासः, तेन निर्वृत्ता पारिष्ठापनिको ।'** इसका भावार्थ यह है कि सब प्रकार से वस्तुओं को डाल देना, डाल देने के बाद पुनः ग्रहण न करना, पारिष्ठापनिका समिति है । आदान-निक्षेप समिति में भी वस्तु का निक्षेप है और पारिष्ठापनिका में भी स्थापना शब्देन निक्षेप ही है । भेद इतना ही है कि आदान–निक्षेप समिति में सदा के लिए वस्तु का त्याग नहीं किया जाता, केवल उचित स्थान में रक्खा जाता है । परन्तु पारिष्ठापनिका में सदा के लिए त्याग कर दिया जाता है ।

पारिष्ठापनिका समिति के पाठ में जल्ल के आगे मल शब्द का भी कुछ लोग प्रयोग करते हैं, वह अयुक्त है । जल्ल का अर्थ ही मल है, फिर व्यर्थ ही द्विरुक्ति क्यों की जाय ? आचार्य हरिभद्र आदि किसी भी प्राचीन आचार्य ने मल शब्द का उल्लेख नहीं किया है । पूज्यश्री आत्मारामजी महाराज ने मूल पाठ में तो मल का प्रयोग नहीं किया है, परन्तु अर्थ में 'जल्ल-मल्ल' पाठ बताकर क्रमशः जल, मल अर्थ किया है । 'मल' के लिए 'मल्ल' शब्द किस भाषा में है ? कम से कम हम तो नहीं समझ सके । मल्ल का अर्थ पहलवान तो होता है । और जल्ल का जल अर्थ भी विचित्र ही है !

२६ जीवनिकाय-सूत्र

पडिक्कमामि
छहिं जीवनिकाएहिं—
पुढविकाएणं
आउकाएणं
तेउकाएणं
वाउकाएणं
वणस्सइकाएणं
तसकाएणं ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=**प्रतिक्रमण करता हूँ**
छहिं=**छहों**
जीवनिकाएहिं=**जीवनिकायों से**
पुढवि काएणं=**पृथिवीकाय से**
आउकाएणं=**अप् काय से**
तेउकाएणं=**तेजः काय से**
वाउकाएणं=**वायुकाय से**
वणस्सइ=**वनस्पति**
काएणं=**काय से**
तसकाएणं=**त्रसकाय से**

भावार्थ

पृथिवी, आप्=जल, तेजः=अग्नि, वायु, वनस्पति, और त्रस=द्वीन्द्रिय आदि—इन छहों प्रकार के जीव निकायों से अर्थात् इन जीवों की हिंसा करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रति क्रमण करता हूँ ।

भाष्य

'**जीवनिकाय**' शब्द, जीव और निकाय—इन दो शब्दों से बना है । जीव का अर्थ है—चैतन्य=आत्मा और निकाय का अर्थ है—राशि, अर्थात् समूह । जीवों

की राशि को जीवनिकाय कहते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस—ये छह जीव–निकाय हैं। इन्हें छह काय भी कहते हैं। शरीर नाम कर्म से होने वाली शरीर-रचना एवं वृद्धि को काय कहते हैं। "**चीयते इति कायः।**'

जिन जीवों का शरीर पृथिवी रूप है, वे पृथिवीकाय कहलाते हैं। जिन जीवों का शरीर जलरूप है, वे अप्काय कहलाते हैं। जिन जीवों का शरीर अग्निरूप है, वे तेजस्काय कहलाते हैं। जिन जीवों का शरीर वायुरूप है, वे वायुकाय कहलाते हैं। जिन जीवों का शरीर वायुरूप है, वे वायुकाय कहलाते हैं। जिन जीवों का शरीर वनस्पतिरूप है, वे वनस्पतिकाय कहलाते हैं। ये पाँच, स्थावरपद वाच्य हैं। इन को केवल स्पर्शन इन्द्रिय होती है। त्रसनामकर्म के उदय से गतिशील शरीर को धारण करने वाले द्वीन्द्रिय=कीड़े आदि, त्रीन्द्रिय=यूका खटमल आदि, चतुरिन्द्रिय=मक्खी मच्छर आदि, और पंचेन्द्रिय=पशु पक्षी मानव आदि जीव त्रसकाय कहलाते हैं।

संसार में चारों ओर मत्स्यन्याय चल रहा है। छोटे जीवों की हिंसा, बड़े जीवों के द्वारा की जा रही है। कहीं भी जीव का जीवन सुरक्षित नहीं है। नाना प्रकार के दुःसंकल्प में फँसकर प्राणी जीव-हिंसा में लगा हुआ है। आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुत स्कंध और प्रथम अध्ययन में जीवहिंसा के छह कारण बतलाए हैं—(१) जीवन निर्वाह के लिए, (२) लोगों से वीरता आदि की प्रशंसा पाने के लिए, (३) सम्मान पाने के लिए, (४) अन्नपान आदि का सत्कार पाने के लिए (५) धर्म-भ्रान्ति के कारण जन्ममरण से मुक्ति पाने के लिए, (६) आरोग्य, सुख तथा शान्ति पाने के लिए।

जैन-मुनि के लिए सर्वथा जीवहिंसा का त्याग होता है। वह किसी जीव को किसी भी कारण से पीड़ा नहीं देता। एक बात और भी है। दूसरे धर्म, अहिंसा के केवल स्थूल रूप तक ही पहुँचे हैं, जब कि जैनधर्म का मुनि-धर्म अहिंसा की सूक्ष्म से सूक्ष्म तह तक पहुँचा है। पृथिवी, जल जैसे सूक्ष्म जीवों के प्रति भी वह उसी प्रकार सदय रहता है, जिस प्रकार संसारी जीव प्रिय स्वजनों के प्रति। इस लिए मुनि को छह काय का पीहर कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में छहों प्रकार के जीवसमूह को किसी भी प्रकार की प्रमाद-वश पीड़ा पहुँचायी हो, उसका प्रतिक्रमण किया गया है। अहिंसा के प्रति कितनी अधिक जागरूकता है!

२७ | लेश्या-सूत्र

पडिक्कमामि
छहिं लेसाहिं—
किण्ह-लेसाए,
नील-लेसाए,
काउलेसाए,
तेउलेसाए,
पम्हलेसाए,
सुक्कलेसाए ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ
छहिं=छहों
लेसाहिं=लेश्याओं से
किण्हलेसाए=कृष्ण लेश्या से
नील लेसाए=नील लेश्या से
काउलेसाऐ=कापोत लेश्या से
तेउलेसाए=तेजोलेश्या से
पम्हलेसाए=पद्म लेश्या से
सुक्कलेसाए=शुक्ल लेश्या से

भावार्थ

कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या—इन छहों लेश्याओं के द्वारा अर्थात् प्रथम तीन अधर्म-लेश्याओं का आचरण करने से और बाद की तीन धर्म-लेश्याओं का आचरण न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ ।

भाष्य

लेश्या[1] का संक्षिप्त अर्थ है— 'मनोवृत्ति या विचार तरंग'। उत्तराध्ययन सूत्र, भगवती सूत्र, कर्मग्रन्थ आदि में लेश्या के सम्बन्ध में काफी विस्तृत एवं सूक्ष्म रहस्यपूर्ण चर्चा की गई है। परन्तु यहाँ इतनी सूक्ष्मता में उतरने का न तो प्रसंग ही है, और न हमारे पास समय ही। हाँ, जानकारी के नाते कुछ पंक्तियाँ अवश्य लिखी जा रही हैं, जो जिज्ञासापूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं, तो कुछ उपादेय अवश्य होंगी।

कृष्ण लेश्या :

यह मनोवृत्ति सबसे जघन्य है। कृष्ण लेश्या वाले के विचार अतीव क्षुद्र, क्रूर, कठोर एवं निर्दय होते हैं। अहिंसा, सत्य आदि से इसे घृणा होती है। गुण और दोष का विचार किए विना ही सहसा कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। लोक और परलोक दोनों के ही बुरे परिणामों से नहीं डरता। वह सर्वथा अजितेन्द्रिय, भोगविलासी प्राणी होता है। वह अपने सुख से मतलब रखता है। दूसरों के जीवन का कुछ भी हो— उसे कोई मतलब नहीं।

नील लेश्या :

यह मनोवृति पहली की अपेक्षा कुछ ठीक है, परन्तु उपादेय यह भी नहीं। यह आत्मा ईर्ष्यालु, असहिष्णु, मायावी, निर्लज्ज, सदाचार शून्य, रसलोलुप होता है। अपनी सुख-सुविधा में जरा भी कमी नहीं होने देता। परन्तु जिन प्राणियों के द्वारा सुख मिलता है, उनकी भी अजपोषण न्याय के अनुसार कुछ सार सँभाल कर लेता है।

---

१ 'लेश्या' की व्याख्या करते हुए आचार्य जिनदास महत्तर कहते हैं कि आत्मा के जिन शुभाशुभ परिणामों के द्वारा शुभाशुभ कर्म का संश्लेष होता है, वे परिणाम लेश्या कहलाते हैं। मन, वचन और कायरूप योग के परिणाम लेश्या पदवाच्य है।

—'**लिश् संश्लेषण' संश्लिष्यते आत्मा तैस्तैः परिणामान्तरैः। यथा श्लेषेण वर्ण-सम्बन्धो भवति एवं लेश्याभिरात्मनि कर्माणि संश्लिश्यंते। योग-परिणामो लेश्या, जम्हा अयोगि-केवली अलेस्सो।**' आवश्यक-चूर्णि

श्री जिनदास महत्तर के उल्लेखानुसार धर्मलेश्या भी शुभ-कर्म का बन्ध-हेतु है। फिर भी उसे जो उपादेय कहा है, उसका कारण यह है कि आत्मा की अशुभ, शुभ और शुद्ध तीन परिणतियाँ होती हैं। शुद्ध सर्वोपरि श्रेष्ठ परिणति है। परन्तु जब तक शुद्ध में नहीं पहुँचा जाता है, जब तक पूर्णरूप से योगों का निरोध नहीं हो पाता है, तब तक साधक के लिए अशुभ योग से हटकर शुभ योग में परिणति करना ही श्रेयस्कर है।

कापोत लेश्या :

यह मनोवृत्ति भी दूषित है । यह व्यक्ति विचारने, बोलने और कार्य करने में वक्र होता है । अपने दोषों को ढँकता है । कठोर-भाषी होता है । परन्तु अपनी सुख-सुविधा में सहायक होने वाले प्राणियों के प्रति करुणावश नहीं, किन्तु स्वार्थवश संरक्षण का भाव रखता है ।

तेजोलेश्या :

यह मनोवृत्ति पवित्र है । इसके होने पर मनुष्य नम्र, विचारशील, दयालु एवं धर्म में अभिरुचि रखने वाला होता है । अपनी सुख-सुविधाओं को कम महत्व देता है और दूसरों के प्रति अधिक उदारभावना रखता है ।

पद्मलेश्या :

पद्मलेश्या वाले मनुष्य का जीवन कमल के समान दूसरों को सुगन्ध देने वाला होता है । इसका मन शान्त, निश्चल एवं अशुभ प्रवृत्तियों को रोकने वाला होता है । पाप से भय खाता है, मोह और शोक पर विजय प्राप्त करता है । क्रोध, मान आदि कषाय अधिकांश में क्षीण एवं शान्त हो जाते हैं । वह मितभाषी, सौम्य, जितेन्द्रिय होता है ।

शुक्ल लेश्या :

यह मनोवृत्ति सबसे अधिक विशुद्ध होने के कारण शुक्ल कहलाती है । यह अपने सुखों के प्रति लापरवाह होता है । शरीर-निर्वाहमात्र आहार ग्रहण करता है । किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता । परमशुक्ल लेश्यावाला तो आसक्तिरहित होकर सतत समभाव रखता है । राग-द्वेष की परिणति हटाकर वीतराग भाव धारण करता है ।

प्रथम की तीन वृत्तियाँ त्याज्य हैं और बाद की तीन वृत्तियाँ उपादेय हैं । अन्तिम शुक्ल लेश्या के बिना आत्मविकाश की पूर्णता का होना असम्भव है । जीवन शुद्धि के पथ में अधर्म लेश्याओं का आचरण किया हो और धर्मलेश्याओं का आचरण न किया हो तो प्रस्तुत-सूत्र के द्वारा उसका प्रतिक्रमण किया जाता है ।

पडिक्कमामि

सत्तहिं भयट्ठाणेहिं, अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं, नवहिं बंभचेरगुत्तीहिं, दसविहे समणधम्मे,—

एक्कारसहिं उवासग-पडिमाहिं, बारसहिं भिक्खु-पडिमाहिं, तेरसहिं किरियाठाणेहिं, चउद्दसहिं भूयगा-मेहिं, पन्नरसहिं परमाहम्मिएहिं, सोलसहिं गाहासोलसएहिं, सत्तरसविहे असंजमे, अट्ठारसविहे अबंभे, एगूणवीसाए नायज्झयणेहिं, वीसाए असमाहि-ठाणेहिं,—

इक्कवीसाए सबलेहिं, बावीसाए परीसहेहिं, तेवीसाए सूयगडज्झयणेहिं, चउवीसाए देवेहिं, पणवीसाए भावणाहिं, छव्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेहिं, सत्तावीसाए अणगारगुणहिं, अट्ठावीसाए आयारप्पकप्पेहिं, एगूणतीसाए पावसुय-प्पसंगेहिं, तीसाए महामोहणोयट्ठाणेहिं,—

एगतीसाए सिद्धाइगुणेहिं, बत्तीसाए जोग-संगहेहिं, तेत्तीसाए आसायणाहिं—

(१) अरिहंताणं आसायणाए, (२) सिद्धाणं आसायणाए, (३) आयरियाणं आसायणाए, (४) उवज्झायाणं आसायणाए, (५) साहूण आसायणाए, (६) साहुणीणं आसायणाए, (७) सावयाणं

आसायणाए, (८) सावियाणं आसायणाए, (९) देवाणं आसायणाए, (१०) देवीणं आसायणाए, (११) इहलोगस्स आसायणाए, (१२) परलोगस्स आसायणाए, (१३) केवलि-पन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए, (१४) सदेव—मणुआऽसुरस्स लोगस्स आसायणाए, (१५) सव्वपाण-भूय-जीव-सत्ताणं आसायणाए, (१६) कालस्स आसायणाए, (१७) सुअस्स आसायणाए, (१८) सुअदेवयाए आसायणाए, (१९) वायणायरियस्स आसायणाए,—

जं (२०) वाइद्धं, (२१) वच्चामेलियं, (२२) हीणक्खरं (२३) अच्चक्खरं (२४) पयहीणं (२५) विणयहीणं, (२६) जोग-हीणं, (२७) घोसहीणं, (२८) सुट्ठु दिन्नं, (२९) दुट्ठु पडिच्छियं, (३०) अकाले कओ सज्झाओ, (३१) काले न कओ सज्झाओ, (३२) असज्झाइए सज्झाइयं, (३३) सज्झाइए न सज्झाइयं,—

तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

शब्दार्थ

पडिक्कमामि=**प्रतिक्रमण करता हूँ**
सत्तहिं=**सात**
भयट्ठाणेहिं=**भय के स्थानों से**
अट्ठहिं=**आठ**
मयट्ठाणेहिं=**मद के स्थानों से**
नवहिं=**नौ**
बंभचेर=**ब्रह्मचर्य की**
गुत्तीहिं=**गुप्तियों से**
दसविहे=**दश प्रकार के**
समण=**साधु के**
धम्मे=**धर्म में (लगे दोषों से)**
एक्कारसहिं=**ग्यारह**
उवासग=**श्रावक की**
पडिमाहिं=**प्रतिमाओं से**
बारसहिं=**बारह**
भिक्खु=**भिक्षु की**
पडिमाहिं=**प्रतिमाओं से**
तेरसहिं=**तेरह**

किरिया=क्रिया के
ठाणेहिं=स्थानों से
चउद्दसहिं=चौदह
भूयगामेहिं=जीव-समूहों से
पन्नरसहिं=पन्द्रह
परमाहम्मिएहिं=परमाधार्मिकों से
सोलसहिं=सोलह
गाहा सोलसएहिं=गाथा षोडशकों से
सत्तरसविहे=सत्तरह प्रकार के
असंजमे=असंयम में
अट्ठारसविहे=अठारह प्रकार के
अबंभे=अब्रह्मचर्य में
एगूणवीसाए=उन्नीस
नायज्झयणेहि=ज्ञाता सूत्र के अध्ययनों से
वीसाए=बीस
असमाहि=असमाधि के
ठाणेहिं=स्थानों से
इक्कवीसाए=इक्कीस
सबलेहिं=शबल दोषों से
बावीसाए=बाईस
परीसहेहिं=परीषहों से
तेवीसाए=तेईस
सूयगड=सूत्रकृताङ्ग के
ज्झयणेहिं=अध्ययनों से
चउवीसाए=चौबीस
देवेहिं=देवों से
पणवीसाए=पच्चीस
भावणाहिं=भावनाओं से

छव्वीसाए=छब्बीस
दसा=दशाश्रुतस्कन्ध-सूत्र
कप्प=बृहत्कल्प-सूत्र
ववहाराण=व्यवहार सूत्र के
उद्देसणकालेहिं=उद्देशन कालों से
सत्तावीसाए=सत्ताईस
अणगार=साधु के
गुणेहिं=गुणों से
अट्ठावीसाए=अट्ठाईस
आचार=आचार
प्पकप्पेहिं=प्रकल्पों से
एगूणतीसाए=उनतीस
पावसुय=पाप श्रुत के
प्पसंगेहिं=प्रसंगों से
तीसाए=तीस
महामोहणीय=महामोहनीय कर्म के
ट्ठाणेहिं=स्थानों से
एगतीसाए=इकतीस
सिद्धाइ=सिद्ध के आदि
गुणेहिं=गुणों से
बत्तीसाए=बत्तीस
जोगसंगहेहिं=योग-संग्रहों से
तेत्तीसाए=तेतीस
आसायणाहिं=आशातनाओं से
अरिहंताणं=अरिहंतों की
आसायणाए=आशातना से
सिद्धाण=सिद्धों की
आसायणाए=आशातना से
आयरियाणं=आचार्यों की
आसायणाए=आशातना से

उवज्झायाणं=उपाध्यायों की
आसायणाए=आशातना से
साहूणं=साधुओं की
आसायणाए=आशातना से
साहुणीणं=साध्वियों की
आसायणाए=आशातना से
सावयाणं=श्रावकों की
आसायणाए=आशातना से
सावियाणं=श्राविकाओं की
आसायणाए=आशातना से
देवाणं=देवों की
आसायणाए=आशातना से
देवीणं=देवियों की
आसायणाए=आशातना से
इहलोगस्स=इस लोक की
आसायणाए=आशातना से
परलोगस्स=परलोक की
आसायणाए=आशातना से
केवलि=सर्वज्ञ द्वारा
पन्नत्तस्स=प्ररूपित
धम्मस्स=धर्म की
आसायणाए=आशातना से
सदेव=देव-सहित
मणुआ=मनुष्य-सहित
ऽसुरस्स=असुर-सहित
लोगस्स=समग्र लोक की
आसायणाए=आशातना से
सव्व=सब
पाण=प्राणी
भूत=भूत

जीव=जीव
सत्ताणं=सत्वों की
आसायणाए=आशातना से
कालस्स=काल की
आसायणाए=आशातना से
सुयस्स=श्रुत की
आसायणाए=आशातना से
सुयदेवयाए=श्रुत देवता की
आसायणाए=आशातना से
वायणायरियस्स=वाचनाचार्य की
आसायणाए=आशातना से
(जो दोष लगा हो)
जं=और जो (आगम पढ़ते हुए)
वाइद्धं=पाठ आगे पीछे बोला हो
वच्चामेलियं=शून्य मन से कई बार बोला हो अथवा अन्य सूत्र का पाठ अन्य सूत्र में मिला दिया हो
हीणक्खरं=अक्षर छोड़ दिए हों
अच्चक्खरं=अक्षर बढ़ा दिए हों
पयहीणं=पद छोड़ दिए हों
विणयहीणं=विनय न किया हो
जोगहीणं=योग से हीन पढ़ा हो
घोसहीणं=घोष से रहित पढ़ा हो
सुट्ठु=योग्यता से अधिक पाठ
दिन्नं=शिष्यों को दिया हो
दुट्ठु=बुरे भाव से
पडिच्छियं=ग्रहण किया हो
अकाले=अकाल में
सज्झाओ=स्वाध्याय

कओ=किया हो	**न=नहीं**
का=लेकाल में	**सज्झाइयं=स्वाध्याय की हो**
सज्झाओ=स्वाध्याय	**तस्स=उसका**
न कओ=न किया हो	**दुक्कडं=पाप**
असज्झाइए=अस्वाध्यायिक में	**मि=मेरे लिए**
सज्झाइयं=स्वाध्याय की हो	**मिच्छा=मिथ्या हो**
सज्झाइए=स्वाध्यायिक में	

भावार्थ

प्रतिक्रमण करता हूँ [सात भय से लेकर तेतीस आशातनाओं तक जो अतिचार लगा हो उसका] सात भय के स्थानों=कारणों से, आठ मद के स्थानों से, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियों से=उनका सम्यक् पालन न करने से, दशविध क्षमा आदि श्रमण-धर्म की विराधना से—

ग्यारह उपासक=श्रावक की प्रतिमा=प्रतिज्ञाओं से अर्थात् उनकी अश्रद्धा तथा विपरीत प्ररूपणा से, बारह भिक्षु की प्रतिमाओं से=उनकी श्रद्धा, प्ररूपणा तथा आसेवना अच्छी तरह न करने से, तेरह क्रिया के स्थानों से अर्थात् क्रियाओं के करने से, चौदह जीवों के समूह से अर्थात् उनकी हिंसा से, पन्दरह परमाधार्मिकों से अर्थात् उन जैसा भाव या आचरण करने से, सूत्रकृताङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के गाथा अध्ययन-सहित सोलह अध्ययनों से अर्थात् तदनुसार आचरण न करने से, सत्तरह प्रकार के असंयम में रहने से, अट्टारह प्रकार के अब्रह्मचर्य में वर्तने से, ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनों से अर्थात् तदनुसार संयम में न रहने से, बीस असमाधि के स्थानों से,—

इक्कीस शबलों से, बाईस परीषहों से अर्थात् उनको सहन न करने से, सूत्र कृताङ्ग सूत्र के तेईस अध्ययनों से अर्थात् तदनुसार आचरण न करने से, चौबीस देवों से अर्थात् उनकी अवहेलना करने से, पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं से अर्थात् उनका आचरण न करने से, दशा श्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार—उक्त सूत्रत्रयी के छब्बीस उद्देशन कालों से अर्थात् तदनुकूल आचरण न करने से, सत्ताईस साधु के गुणों से अर्थात् उनको पूर्णतः धारण न करने से, आचार प्रकल्प=आचारांग तथा निशीथ सूत्र के अट्ठाईस अध्ययनों से अर्थात् तदनुसार आचरण

न करने से, उनतीस पाप श्रुत के प्रसंगों से अर्थात् मन्त्र आदि पापश्रुतों का प्रयोग करने से, महामोहनीय कर्म के तीस स्थानों से—

सिद्धों के इकत्तीस आदि गुणों से अर्थात् उनकी उचित श्रद्धा तथा प्ररूपणा न करने से, बत्तीस योग-संग्रहों से अर्थात् उनका आचरण न करने से, तेतीस आशातनाओं से (जो कोई अतिचार लगा हो उससे प्रतिक्रमण करता हूँ—उसका मिच्छामि दुक्कडं देता हूँ)

(कौन-सी तेतीस आशातनाओं से ?) अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, देव, देवी, इहलोक, परलोक, केवलि-प्ररूपित धर्म, देव मनुष्य-असुरों सहित समग्र लोक, समस्त प्राण=विकल त्रय, भूत=वनस्पति, जीव=पञ्चेन्द्रिय, सत्व=पृथिवी काय आदि चार स्थावर, तथैव काल, श्रुत=शास्त्र, श्रुत-देवता, वाचनाचार्य—इन सबकी आशातना से—

तथा आगमों का अभ्यास करते एवं कराते हुए व्याविद्ध=सूत्र के पाठों को या सूत्र के अक्षरों को उलट-पुलट आगे पीछे किया हो, व्यत्याम्रेडित=शून्य मन से कई बार पढ़ता ही रहा हो, अथवा अन्य सूत्रों के एकार्थक, किन्तु मूलतः भिन्न-भिन्न पाठ अन्य सूत्रों में मिला दिए हों, हीनाक्षर=अक्षर छोड़ दिए हों, अत्यक्षर=अक्षर बढ़ा दिए हों, पद हीन=अक्षर समूहात्मक पद छोड़ दिए हों, विनय हीन=शास्त्र एवं शास्त्राध्यापक का समुचित विनय न किया हो, घोष हीन=उदात्तादि स्वरों से रहित पढ़ा हो, योगहीन=उपधानादि तपोविशेष के बिना अथवा उपयोग के बिना पढ़ा हो, सुष्ठुदत्त=अधिक ग्रहण करने की योग्यता न रखने वाले शिष्य को भी अधिक पाठ दिया हो, दुष्ठु-प्रतीच्छित=वाचनाचार्य के द्वारा दिए हुए आगम पाठ को दुष्ट भाव से ग्रहण किया हो, अकाले स्वाध्याय=कालिक उत्कालिक सूत्रों को उनके निषिद्ध काल में पढ़ा हो, कालेऽस्वाध्याय=विहित काल में सूत्रों को न पढ़ा हो, अस्वाध्यायिके स्वाध्यायित=अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय किया हो; स्वाध्यायिकेऽस्वाध्यायित=स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न किया हो—उक्त प्रकार से श्रुत ज्ञान की चौदह आशातनाओं से, सब मिलाकर तेतीस आशातनाओं से जो भी अतिचार लगा हो, उसका दुष्कृत=पाप मेरे लिए मिथ्या हो।

भाष्य

प्रस्तुत-सूत्र बहुत ही संक्षिप्त भाषा में, गंभीर अर्थों की सूचना देता है। भय से लेकर आशातना तक के बोल कुछ उपादेय हैं, कुछ ज्ञेय हैं, कुछ हेय हैं। यदि इसी प्रकार हेय, ज्ञेय, उपादेय पर दृष्टि रखकर जीवन को साधना पथ पर प्रगतिशील बनाया जाय तो अवश्य ही उत्तराध्ययन-सूत्र के अमर शब्दों में वह संसार के बन्धन में नहीं रह सकता। '**से न अच्छइ मंडले।**'

इसके विपरीत आचरण करने से अर्थात् हेय को उपादेय, उपादेय को हेय और ज्ञेय को अज्ञेय रूप समझने से एवं तदनुकूल प्रवृत्ति करने से अवश्य ही आत्मा कर्म बन्धनों में बँध जाता है। ऊँचे से ऊँचा साधक भी राग-द्वेष की मलिनता के चक्कर में आकर पतित हुए बिना नहीं रह सकता। प्रस्तुत सूत्र में इसी विपरीत श्रद्धा, प्ररूपणा तथा आचरण की आलोचना एवं प्रतिक्रमण करने का विधान है।

सात भयस्थान :

(१) **इहलोकभय**—अपनी ही जाति के प्राणी से डरना, इहलोकभय है। जैसे मनुष्य का मनुष्य से, तिर्यंच का तिर्यंच से डरना।

(२) **परलोकभय**—दूसरी जाति वाले प्राणी से डरना, परलोकभय है। जैसे मनुष्य का देव से या तिर्यंच आदि से डरना।

(३) **आदानभय**—अपनी वस्तु की रक्षा के लिए चोर आदि से डरना।

(४) **अकस्माद्भय**—किसी बाह्य निमित्त के बिना अपने आप ही सशंक होकर रात्रि आदि में अचानक डरने लगना।

(५) **आजीवभय**—दुर्भिक्ष आदि में जीवन-यात्रा के लिए भोजन आदि की अप्राप्ति के दुर्विकल्प से डरना।

(६) **मरणभय**—मृत्यु से डरना।

(७) **अश्लोकभय**—अपयश की आशंका से डरना।

उक्त सात भय समवायांग-सूत्र के अनुसार हैं।

भय मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले आत्मा के उद्वेगरूप परिणाम-विशेष को भय कहते हैं। उसके उपर्युक्त सात स्थान—कारण हैं। साधु को किसी भी भय के आगे अपने आपको नहीं झुकाना चाहिए। निर्भय होने का अर्थ है—'न स्वयं भयभीत होना और न किसी दूसरे को भयभीत करना।' भय के द्वारा संयम-जीवन दूषित होता है, तदर्थ भय का प्रतिक्रमण किया जाता है।

आठ मद-स्थान :[1]

---

१ 'स्थान' शब्द का अर्थ हेतु अर्थात् कारण किया है। अतः जाति, कुल आदि जो आठ मद के कारण हैं, मैं उनका प्रतिक्रमण करता हूँ। आचार्य अभयदेव, समवायांग-सूत्र की टीका में स्थान शब्द का अर्थ आश्रय अर्थात् आधार करते हैं। 'मदस्य-अभिमानस्य स्थानानि=आश्रयाः मदस्थानानि जात्यादीनि।'—समवायांग वृत्ति।

(१) **जातिमद**—ऊँची और श्रेष्ठ जाति का अभिमान।

(२) **कुलमद**—ऊँचे कुल का अभिमान।

(३) **बलमद**—अपने बल का घमण्ड करना।

(४) **रूपमद**—अपने रूप, सौन्दर्य का गर्व करना।

(५) **तपमद**—उग्र तपस्वी होने का अभिमान।

(६) **श्रुतमद**—शास्त्राभ्यास का अर्थात् पण्डित होने का अभिमान।

(७) **लाभमद**—अभीष्ट वस्तु के मिल जाने पर अपने लाभ का अहंकार।

(८) **ऐश्वर्यमद**—अपने ऐश्वर्य अर्थात् प्रभुत्व का अहंकार।

ये आठ मद समवायांग सूत्र के उल्लेखानुसार हैं।

मान मोहनीय कर्म के उदय से जन्य ये आठों ही मद सर्वथा त्याज्य हैं। यदि कभी प्रमादवश आठों मदों में से किसी भी मद का आसेवन कर लिया गया हो तो तदर्थ हार्दिक प्रतिक्रमण करना उचित है।

नौ ब्रह्मचर्य-गुप्ति :

(१) **विविक्त-वसति-सेवन**—स्त्री, पशु और नपुंसकों से युक्त स्थान में न ठहरे।

(२) **स्त्री कथा परिहार**—स्त्रियों की कथा-वार्ता, सौन्दर्य आदि की चर्चा न करे।

(३) **निषद्यानुपवेशन**—स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे, उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस आसन पर न बैठे।

(४) **स्त्री-अंगोपांगादर्शन**—स्त्रियों के मनोहर अंग उपांग न देखे। यदि कभी अकस्मात् दृष्टि पड़ जाय तो सहसा हटा ले, फिर उसका ध्यान न करे।

(५) **कुड्यान्तर-शब्दश्रवणादि-वर्जन**—दीवार आदि की आड़ से स्त्री के शब्द, गीत, रूप आदि न सुने और न देखे।

(६) **पूर्वभोगाऽस्मरण**—पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करे।

(७) **प्रणीत भोजन-त्याग**—विकारोत्पादक गरिष्ठ भोजन न करे।

(८) **अतिमात्रभोजन-त्याग**—रूखा-सूखा भोजन भी अधिक न करे। आहार-सम्बन्धी ग्रन्थों के अनुसार आधा पेट अन्न से भरे, आधे में से दो भाग पानी के लिए और एक भाग हवा के लिए छोड़ दे।

आचार्य जिनदास, स्थान का अर्थ पर्याय अर्थात् भेद' करते हैं। "मदो नाम मानोदयादात्मोत्कर्षपरिणामः। स्थानानि—तस्यैव पर्याया भेदाः।....तानि च अष्टौ—जातिमद, कुलमद, बलमद....।"

—आवश्यक-चूर्णि

आचार्य जिनदास के उक्त अभिप्राय को हरिभद्र और अभयदेव भी स्वीकार करते हैं।

(९) **विभूषा-परिवर्जन**—अपने शरीर की विभूषा=सजावट न करे ।[1]

ब्रह्म का अर्थ 'परमात्मा' है । आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए जो चर्या =गमन=प्रयत्न किया जाता है, उसका नाम ब्रह्मचर्य है । शारीरिक और आध्यात्मिक सभी शक्तियों का आधार ब्रह्मचर्य है । ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ बातें आवश्यक हैं, वे नौ ही गुप्तिपद वाच्य हैं । स्त्रियों को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उपर्युक्त वर्णन में स्त्री के स्थान में पुरुष समझना चाहिए ।

यदि साधना करते हुए कहीं भी प्रमादवश नौ गुप्तियों का अतिक्रमण किया हो, अर्थात् ब्रह्मचर्य के लिए प्रतिषिद्ध कार्यों का आचरण किया हो तो उसका प्रस्तुत सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण किया जाता है ।

दश श्रमण धर्म :

(१) **क्षान्ति**=क्रोध न करना ।

(२) **मार्दव**=मृदु भाव रखना, जाति तथा कुल आदि का अहंकार न करना ।

(३) **आर्जव**=ऋजुभाव—सरलता रखना, माया न करना ।

(४) **मुक्ति**=निर्लोभता रखना, लोभ न करना ।

(५) **तप**=अनशन आदि बारह प्रकार का तपश्चरण करना ।

(६) **संयम**=हिंसा आदि आश्रवों का निरोध करना ।

(७) **सत्य**=सत्य भाषण करना, झूठ न बोलना ।

(८) **शौच**=संयम में दूषण न लगाना, संयम के प्रति निरुपलेपता-पवित्रता रखना ।

(९) **आकिंचन्य**=परिग्रह न रखना ।

---

१ यह गुप्तियों का वर्णन, उत्तराध्ययन-सूत्र के १६ वें अध्ययन के अनुसार किया गया है । परन्तु समवायांग सूत्र में गुप्तियों का उल्लेख अन्य रूप में किया है । कहाँ क्या भेद है, यहाँ संक्षेप में बताया जाता है ।

समवायांग सूत्र में तीसरी गुप्ति, स्त्रियों के समुदाय के साथ निकट सम्पर्क न रखना है । 'नो इत्थीणं गणाइं सेवित्ता भवइ, ३ ।'

समवायांग सूत्र में प्रणीतरस भोजन त्याग और अति भोजन त्याग गुप्ति की संख्या क्रमशः पाँचवी तथा छठी है । पूर्वभोग-स्मरण का त्याग तथा शब्द-रूपानुपातिता आदि का त्याग सातवें और आठवें नम्बर पर है ।

समवायांग सूत्र में, नौवीं गुप्ति का स्वरूप, सांसारिक सुखोपभोग की आसक्ति का त्याग है । यह विभूषानुवादिता से अधिक व्यापक है । किसी भी प्रकार के सुखोपभोग की कामना अब्रह्मचर्य है । 'नो साया-सोक्ख-पडिबद्धे या वि भवइ ४ । ३ ।'

—समवायांग सूत्र नवम समवाय ।

(१०) **ब्रह्मचर्य**=ब्रह्मचर्य का पालन करना।

यह दशविध श्रमण धर्म, आचार्य हरिभद्र के द्वारा उद्धृत प्राचीन संग्रहणी गाथा के अनुसार है—

खंती य मद्दवज्जव,
मुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे।
सच्चं सोयं आकिंचणं च,
बंभं च जइ—धम्मो॥

समवायांग सूत्र का उल्लेख इस प्रकार है—'**खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बंभचेरवासे।**' स्थानांग सूत्र में भी ऐसा ही मूल पाठ है।

आचार्य हरिभद्र ने '**अन्ये त्वेवं वदन्ति**' कहकर दशविध श्रमण-धर्म के लिए एक और प्राचीन गाथा मतान्तर के रूप में उद्धृत की है—

खंती मुत्ती अज्जव,
मद्दव तह लाघवे तवे चेव;
संजम चियागऽकिंचण,
बोद्धव्वे बंभचेरे य॥

आचार्य हरिभद्र लाघव का अप्रतिबद्धता-अनासक्तता और त्याग का संयमी साधकों को वस्त्रादि का दान, ऐसा अर्थ करते हैं। **लाघवं—अप्रतिबद्धता, त्यागः—संयतेभ्यो वस्त्रादिदानम्।**'—आवश्यक-शिष्यहिता टीका।

आचार्य अभयदेव, समवायांग सूत्र की टीका में लाघव का अर्थ द्रव्य से अल्प उपधि रखना और भाव से गौरव का त्याग करना, करते हैं—'**लाघवं द्रव्यतोऽल्पोपधिता, भावतो गौरव-त्यागः।**'

श्री अभयदेव ने 'चियाए'—'त्याग' का अर्थ सब प्रकार के आसंगों का त्याग अथवा साधुओं को दान करना, किया है। '**त्यागः सर्वसङ्गानां, संविग्न-मनोज्ञसाधुदानं वा।**'

स्थानांग सूत्र के दशम स्थान में दशविध श्रमण-धर्म की व्याख्या करते हुए श्री अभयदेव ने 'चियाए' का केवल सामान्यतः दान अर्थ ही किया है—'**चियाएत्ति त्यागो दानधर्म इति।**'

आचार्य जिनदास, आवश्यक चूर्णि में श्रमण धर्म का उल्लेख इस प्रकार करते हैं— '**उत्तमा खमा, मद्दवं, अज्जवं, मुत्ती, सोयं, सच्चो, संजमो, तवो, अकिंचणत्तणं, बंभचेरमिति।**' आचार्य ने क्षमा से पूर्व उत्तम शब्द का प्रयोग बहुत सुन्दर किया है। उसका सम्बन्ध प्रत्येक धर्म से है, जैसे उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव आदि। क्षमा आदि धर्म तभी हो सकते हैं, जब कि वे उत्तम हों, शुद्धभाव से किए गए हों, उनमें किसी प्रकार से प्रवंचना का भाव न हो। वाचकाचार्य

श्री उमास्वाति भी तत्वार्थ सूत्र में क्षमा आदि से पूर्व उत्तम विशेषण का उल्लेख करते हैं।

आचार्य जिनदास शौच का अर्थ 'धर्मोपकरण में भी अनासक्त भावना' करते हैं। **'सोयं अलुद्धा धम्मोवगरणेसु वि।'** अकिंचनत्व का अर्थ, अपने देहादि में भी निःसंगता रखना, किया है। **'नत्थि जस्स किंचणं सो अकिंचणो, तस्स भावो आकिंचणियं।....सदेहादिसु वि निस्संगेण भवितव्वं।**—आवश्यक चूर्णि।

दशविध श्रमण धर्म में मूल और उत्तर दोनों ही श्रमण-गुणों का समावेश हो जाता है। **संयम**=प्राणातिपात से विरति, **सत्य**=मृषावाद से विरति, **अकिंचनत्व**= अदत्तादान और परिग्रह से विरति, **ब्रह्मचर्य**=मैथुन से विरति। ये पंचमहाव्रत रूप मूल गुण हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच और तप-ये सब उत्तर गुण हैं।

आध्यात्मिक साधना में अहर्निश श्रम करने वाले सर्वविरत साधक को श्रमण कहते हैं। श्रमण के धर्म श्रमण-धर्म कहलाते हैं। उक्त दशविध मुनिधर्मों की उचित श्रद्धा, प्ररूपणा तथा आसेवना न की हो तो तज्जन्य दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

ग्यारह उपासक प्रतिमा :

(१) दर्शन प्रतिमा—किसी भी प्रकार का राजाभियोग आदि आगार न रखकर शुद्ध, निरतिचार, विधिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन करना। इसमें मिथ्यात्व अतिचार रूप कदाग्रह का त्याग मुख्य है। **'सम्यग्दर्शनस्य शङ्कादिशल्यरहितस्य अणुव्रतादिगुणविकलस्य योऽभ्युपगमः। सा प्रतिमा प्रथमेति।' अभयदेव, समवायांग वृत्ति।** इस प्रतिमा का आराधन एक मास तक किया जाता है।

(२) व्रत प्रतिमा—व्रती श्रावक सम्यक्त्व लाभ के बाद व्रतों की साधना करता है। पाँच अणुव्रत आदि व्रतों की प्रतिज्ञाओं को अच्छी तरह निभाता है, किन्तु सामायिक का यथासमय सम्यक् पालन नहीं कर पाता। यह प्रतिमा दो मास की होती है।

(३) सामायिक प्रतिमा—इस प्रतिमा में प्रातः और सायंकाल सामायिक व्रत की साधना निरतिचार पालन करने लगता है, समभाव दृढ़ हो जाता है। किन्तु पर्व दिनों में पौषधव्रत का सम्यक् पालन नहीं कर पाता। यह प्रतिमा तीन मास की होती है।

(४) पौषध प्रतिमा—अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा आदि पर्व दिनों में आहार, शरीर संस्कार, अब्रह्मचर्य और व्यापार का त्याग-इस प्रकार चतुर्विध त्याग रूप प्रति पूर्ण पौषध व्रत का पालन करना, पौषध प्रतिमा है। यह प्रतिमा चार मास की होती है।

(५) **नियम प्रतिमा**— उपर्युक्त सभी व्रतों का भली-भाँति पालन करते हुए प्रस्तुत प्रतिमा में निम्नोक्त बातें विशेष रूप से धारण करनी होती हैं—वह स्नान नहीं करता, रात्रि में चारों आहार का त्याग करता है। दिन में भी प्रकाशभोजी होता है। धोती की लाँग नहीं देता, दिन में ब्रह्मचारी रहता है, रात्रि में मैथुन की मर्यादा करता है। पौषध होने पर रात्रि-मैथुन का त्याग और रात्रि में कायोत्सर्ग करना होता है। यह प्रतिमा कम से कम एक दिन, दो दिन आदि और अधिक से अधिक पाँच मास तक होती है।

(६) **ब्रह्मचर्य प्रतिमा**—ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना। इस प्रतिमा की काल-मर्यादा जघन्य एक रात्रि की और उत्कृष्ट छह मास की है।

(७) **सचित्त त्याग प्रतिमा**—सचित्त आहार का सर्वथा त्याग करना। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि की और उत्कृष्ट काल मान से सात मास की होती है।

(८) **आरम्भ त्याग प्रतिमा**—इस प्रतिमा में स्वयं आरम्भ नहीं करता, छः काय के जीवों की दया पालता है। इसकी काल मर्यादा जघन्य एक, दो, तीन दिन और उत्कृष्ट आठ मास होती है।

(९) **प्रेष्य त्याग प्रतिमा**—इस प्रतिमा में दूसरों के द्वारा आरम्भ कराने का भी त्याग होता है। वह स्वयं आरम्भ नहीं करता, न दूसरों से करवाता है, किन्तु अनुमोदन का उसे त्याग नहीं होता। इस प्रतिमा का जघन्य काल एक, दो, तीन दिन है और उत्कृष्ट काल नौ मास है।

(१०) **उद्दिष्ट भक्त त्याग प्रतिमा**—इस प्रतिमा में उद्दिष्ट भक्त का भी त्याग होता है। अर्थात् अपने निमित्त बनाया गया भोजन भी ग्रहण नहीं किया जाता। उस्तरे से सर्वथा शिरोमुण्डन करना होता है, या शिखामात्र रखनी होती है। किसी गृह-सम्बन्धी विषयों के पूछे जाने पर यदि जानता है तो जानता हूँ और यदि नहीं जानता है तो नहीं जानता हूँ—इतना मात्र कहे। यह प्रतिमा जघन्य एक रात्रि की, उत्कृष्ट दश मास की होती है।

(११) **श्रमणभूत प्रतिमा**—इस प्रतिमा में श्रावक श्रमण तो नहीं, किन्तु श्रमण भूत=मुनिसदृश हो जाता है। साधु के समान वेष बनाकर और साधु के योग्य ही भाण्डोपकरण धारण करके विचरता है। शक्ति हो तो लुञ्चन करता है, अन्यथा उस्तरे से शिरोमुण्डन कराता है। साधु के समान ही निर्दोष गोचरी करके भिक्षावृत्ति से जीवन-यात्रा चलाता है। इसका कालमान जघन्य एक रात्रि अर्थात् एक दिन रात और उत्कृष्ट ग्यारह मास होता है।

प्रतिमाओं के कालमान के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं। आगमों के टीकाकार कुछ आचार्य कहते हैं कि सब प्रतिमाओं का जघन्यकाल एक, दो, तीन दिन आदि का होता है और उत्कृष्ट काल क्रमशः एक मास, दो मास यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा का ग्यारह मास होता है। उत्तराध्ययन सूत्र की टीका में भावविजयजी लिखते हैं—

'इह या प्रतिमा यावत् संख्या स्यात् सा उत्कर्षतस्तावन्मासमाना यावदेकादशी एकादश-मास प्रमाणा। जघन्यतस्तु सर्वा अपि एकाहादिमानाः स्युः।' उत्तराध्ययन ३१।११।

दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र में ग्यारह प्रतिमाओं का विस्तार से वर्णन है। परन्तु वहाँ पहली चार प्रतिमाओं के काल का उल्लेख नहीं है। हाँ, पाँचवीं से ग्यारहवीं प्रतिमा तक के काल का उल्लेख वही है, जो हमने ऊपर लिखा है। अर्थात् जघन्य एक, दो, तीन दिन आदि और उत्कृष्ट क्रमशः पाँच, छह, सात यावत् ग्यारह मास। परन्तु आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज अपनी दशाश्रुत स्कन्ध की टीका में वही उल्लेख करते हैं, जो हमने प्रतिमाओं के वर्णन में कालमान के सम्बन्ध में लिखा है। अर्थात् एक मास से लेकर यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा के ग्यारह मास। परन्तु इस मास-वृद्धि में वे पूर्व की प्रतिमाओं के काल को मिलाने का उल्लेख करते हैं। वैसे वे प्रत्येक प्रतिमा का काल एक मास ही मानते हैं। उनके कथनानुसार, जैसा कि वे दूसरी प्रतिमा के वर्णन में लिखते हैं—**'इस प्रतिमा के लिए दो मास समय अर्थात् एक मास पहली प्रतिमा का और एक मास इस प्रतिमा का निर्धारित किया है।'** सब प्रतिमाओं का काल ग्यारह मास ही होना चाहिए। परन्तु आचार्य श्री उपसंहार में सब प्रतिमाओं का पूर्णकाल साढ़े पाँच वर्ष लिखते हैं। यह जोड़ में भूल कैसे हुई? पूर्वापर का विरोध संगति चाहता है।

प्रतिमाधारक श्रावक, प्रतिमा की पूर्ति के बाद संयम ग्रहण कर लेता है। यदि इसी बीच में मृत्यु हो जाय तो स्वर्गारोही बनता है। **'तत्प्रतिपत्तेरनन्तरमेका-दिभिर्दिनैः संयम प्रतिपत्या जीवितक्षयाद् वा।'** भावविजय, उत्तराध्ययन वृत्ति ३१।११।

परन्तु यह नियमेन संयम ग्रहण करने का मत कुछ आचार्यों को अभीष्ट नहीं है। कार्तिक सेठ ने सौ बार प्रतिमा ग्रहण की थी, ऐसा उल्लेख भी मिलता है।

पूर्व-पूर्व प्रतिमाओं की चर्या उत्तरोत्तर अर्थात् आगे की प्रतिमाओं में भी चालू रहती है। देखिए, भावविजय जी क्या लिखते हैं? **"प्रथमोक्तं च अनुष्ठानमग्रेतनायां सर्वं कार्यं यावदेकादश्यां पूर्वप्रतिमादशोक्तमपि।'** उत्तराध्ययन ३१।११।

उपासक का अर्थ श्रावक होता है। और प्रतिमा का अर्थ—प्रतिज्ञा=अभिग्रह है। उपासक की प्रतिमा, उपासक प्रतिमा कहलाती है।

ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं का साधु के लिए अतिचार यह है कि इन पर श्रद्धा न करना, अथवा इनकी विपरीत प्ररूपणा करना। इसी अश्रद्धा एवं विपरीत प्ररूपणा का यहाँ प्रतिक्रमण है।

बारह भिक्षु-प्रतिमा :

(१) प्रथम प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है। साधु के पात्र में दाता द्वारा दिए जाने वाले अन्न और जल की धारा जब तक अखण्ड बनी रहे, उसका नाम दत्ति है। धारा खण्डित होने पर दत्ति की समाप्ति हो जाती है। जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो वहीं

से लेना चाहिए, किन्तु जहाँ दो तीन आदि अधिक व्यक्तियों के लिए भोजन बना हो, वहाँ से नहीं लेना। इसका समय एक महीना है।

(२—७) दूसरी प्रतिमा भी एक मास की है। दो दत्ति आहार की, दो दत्ति पानी की लेनी। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी और सातवीं प्रतिमाओं में क्रमशः तीन, चार, पाँच, छह और सात दत्ति अन्न की और उतनी ही पानी की ग्रहण की जाती हैं। प्रत्येक प्रतिमा का समय एक-एक मास है। केवल दत्तियों की वृद्धि के कारण ही ये क्रमशः द्विमासिकी, त्रिमासकी, चतुर्मासिकी, पञ्चमासिकी, षण्मासिकी, और सप्तमासिकी कहलाती हैं।

(८) यह आठवीं प्रतिमा सप्तरात्रि=सात दिन रात की होती है। इसमें एकान्तर चौविहार उपवास करना होता है। गाँव के बाहर उत्तानासन (आकाश की ओर मुँह करके सीधा लेटना), पार्श्वासन (एक करवट से लेटना) अथवा निषद्यासन (पैरों को बराबर करके बैठना) से ध्यान लगाना चाहिए। उपसर्ग आए तो शान्त चित्त से सहन करना चाहिए।

(९) यह प्रतिमा भी सप्तरात्रि की होती है। इसमें चौविहार बेले-बेले पारणा किया जाता है। गाँव के बाहर एकान्त स्थान में दण्डासन, लगुडासन अथवा उत्कटुकासन से ध्यान किया जाता है।

(१०) यह भी सप्तरात्रि की होती है। इसमें चौविहार तेले-तेले पारणा किया जाता है। गाँव के बाहर गोदोहनासन, वीरासन अथवा आम्रकुब्जासन से ध्यान किया जाता है।

(११) यह प्रतिमा अहोरात्र की होती है। एक दिन और एक रात् अर्थात् आठ प्रहर तक इसकी साधना की जाती है। चौविहार बेले के द्वारा इसकी आराधना होती है। नगर के बाहर दोनों हाथों को घुटनों की ओर लम्बा करके दण्डायमान रूप में खड़े होकर कायोत्सर्ग किया जाता है।

(१२) यह प्रतिमा एक रात्रि की है। अर्थात् इसका समय केवल एक रात है। इसका आराधन बेले को बढ़ाकर चौविहार तेला करके किया जाता है। गाँव के बाहर खड़े होकर, मस्तक को थोड़ा-सा झुकाकर, किसी एक पुद्गल पर दृष्टि रखकर, निर्निमेष नेत्रों से निश्चलतापूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है। उपसर्गों के आने पर उन्हें समभाव से सहन किया जाता है।

भिक्षु प्रतिमाओं के सम्बन्ध में कुछ मान्यताएँ भिन्न-भिन्न धारा पर चल रही हैं। प्रथम से लेकर सात तक प्रतिमाओं का काल, कुछ विद्वान क्रमशः एक-एक मास बढ़ाते हुए सात मास तक मानते हैं। उनकी मान्यता द्विमासिकी आदि यथाश्रुत शब्द के आधार पर है। आठवीं, नौवीं, दशवीं में कुछ आचार्य केवल निर्जल चौविहार उपवास ही एकान्तर रूप से मानते हैं। दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र, अभयदेवकृत समवायांग-टीका, हरिभद्रकृत आवश्यक टीका में भी उक्त तीनों प्रतिमाओं में चौविहार उपवास

का ही उल्लेख है। और भी कुछ अन्तर हैं किन्तु समयाभाव से तथा साधनाभाव से यहाँ अधिक विस्तार में न जाकर साधारण-सा परिचय मात्र दिया है। कहीं प्रसंग आया तो इस पर विशद स्पष्टीकरण करने की इच्छा है। दशा श्रुत स्कन्ध, भगवती-सूत्र, हरिभद्र सूरि का पंचाशक आदि इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं।

बारह भिक्षु प्रतिमाओं का यथाशक्ति आचरण न करना, श्रद्धा न करना तथा विपरीत प्ररूपणा करना, अतिचार है।

तेरह क्रिया-स्थान :

(१) **अर्थ-क्रिया**—अपने किसी अर्थ—प्रयोजन के लिए त्रस स्थावर जीवों की हिंसा करना, कराना तथा अनुमोदन करना। 'अर्थाय क्रिया अर्थ क्रिया।'

(२) **अनर्थ क्रिया**—बिना किसी प्रयोजन के किया जाने वाला पाप कर्म अनर्थ क्रिया कहलाता है। व्यर्थ ही किसी को सताना, पीड़ा देना।

(३) **हिंसा क्रिया**—अमुक व्यक्ति मुझे अथवा मेरे स्नेहियों को कष्ट देता है, देगा, अथवा दिया है—यह सोचकर किसी प्राणी की हिंसा करना, हिंसा क्रिया है।

(४) **अकस्मात् क्रिया**—शीघ्रतावश बिना जाने हो जाने वाला पाप, अकस्मात् क्रिया कहलाता है। जैसे कि बाणादि से अन्य की हत्या करते हुए अचानक ही अन्य किसी की हत्या हो जाना।

(५) **दृष्टि विपर्यास क्रिया**—मति-भ्रम से होने वाला पाप। चौरादि के भ्रम में साधारण अनपराधी पुरुष को दण्ड दे देना।

(६) **मृषा क्रिया** – झूठ बोलना।

(७) **अदत्तादान क्रिया**—चोरी करना।

(८) **अध्यात्म क्रिया**—बाह्य निमित्त के बिना मन में होने वाला शोक आदि का दुर्भाव।

(९) **मान क्रिया**—अपनी प्रशंसा करना, घमण्ड करना।

(१०) **मित्र क्रिया**—प्रियजनों को कठोर दण्ड देना।

(११) **माया क्रिया**—दम्भ करना।

(१२) **लोभ क्रिया**—लोभ करना।

(१३) **ईर्यापथिकी क्रिया**—अप्रमत्त विवेकी संयमी को गमना-गमन से लगने वाली क्रिया।

चौदह भूत ग्राम=जीवसमूह :

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय। इन सातों के पर्याप्त और अपर्याप्त—कुल चौदह भेद होते हैं। इनकी विराधना करना, किसी भी प्रकार की पीड़ा देना, अतिचार है।

कुछ आचार्य भूतग्राम से चौदह गुण स्थानवर्ती जीव समूहों का उल्लेख करते हैं। देखिए—आवश्यक चूर्णि तथा हरिभद्र कृत आवश्यक टीका।

पंदरह परमाधार्मिक

(१) अम्ब (२) अम्बरीष (३) श्याम (४) शबल (५) रौद्र (६) उपरौद्र (७) काल (८) महाकाल (९) असिपत्र (१०) धनुः (११) कुम्भ (१२) वालुक (१३) वैतरणि (१४) खरस्वर (१५) महाघोष। ये परम अधार्मिक, पापाचारी, क्रूर एवं निर्दय असुर जाति के देव हैं। नारकीय जीवों को व्यर्थ ही, केवल मनोविनोद के लिए यातना देते हैं। जिन संक्लिष्ट रूप परिणामों से परमाधार्मिकत्व होता है, उनमें प्रवृत्ति करना अतिचार है। उन अतिचारों का प्रतिक्रमण यहाँ अभीष्ट है। **'एत्थ जेहिं परमाधम्मियत्तणं भवति तेसु ठाणेसु जं वट्टितं।'**

—जिनदास महत्तर।

गाथा षोडशक[1] :

(१) स्वसमय पर समय (२) वैतालीय (३) उपसर्ग परिज्ञा (४) स्त्री परिज्ञा (५) नरक विभक्ति (६) वीर स्तुति (७) कुशील परिभाषा (८) वीर्य (९) धर्म (१०) समाधि (११) मार्ग (१२) समवसरण (१३) याथातथ्य (१४) ग्रन्थ (१५) आदानीय (१६) गाथा।

ये सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के गाथा षोडशक=सोलह अध्ययन हैं। अध्ययनोक्त आचार-विचार का भलीभाँति पालन न करना, अतिचार है।

सतरह असंयम :

(१—९) पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय

१—गाथा षोडशक का अभिप्राय यह है कि 'गाथा नामक सोलहवाँ अध्ययन है जिनका, वे सूत्रकृतांग-सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन।' आचार्य अभयदेव समवायांग सूत्र की टीका में उक्त शब्द पर विवेचन करते हुए लिखते हैं—'गाथाभिधान मध्ययनं षोडशं येषां तानि गाथाषोडशकानि।' श्री भावविजयजी भी उत्तराध्ययनान्तर्गत चरण विधि अध्ययन की व्याख्या में ऐसा ही अर्थ करते हैं। श्री जिनदास महत्तर भी आवश्यक चूर्णि में लिखते हैं—'गाहाए सह सोलस अज्झयणा तेसु, सुत्तगडपढमसुतक्खंध-अज्झयणेसु इत्यर्थः।'

परन्तु आचार्य श्री आत्मारामजी उत्तराध्ययन-सूत्र में उक्त शब्द का भावार्थ लिखते हैं कि 'गाथा नामक सोलवें अध्ययन में।'—उत्तराध्ययन ३१।१३। मालूम होता है आचार्यजी ने शब्दगत बहुवचन पर ध्यान नहीं दिया है, फलतः उन्हें बहुव्रीहि समास का ध्यान नहीं रहा।

तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा करना, कराना, अनुमोदन करना ।

(१०) **अजीव असंयम**=अजीव होने पर भी जिन वस्तुओं के द्वारा असंयम होता है, उन बहुमूल्य वस्त्रपात्र आदि का ग्रहण करना अजीव असंयम है ।

(११) **प्रेक्षा असंयम**=जीव-सहित स्थान में उठना, बैठना, सोना आदि ।

(१२) **उपेक्षा असंयम**=गृहस्थ के पाप कर्मों का अनुमोदन करना ।

(१३) **अपहृत्य असंयम**=अविधि से परठना । इसे परिष्ठापना असंयम भी कहते है ।

(१४) **प्रमार्जना असंयम**=वस्त्रपात्र आदि का प्रमार्जन न करना ।

(१५) **मनः असंयम**=मन में दुर्भाव रखना ।

(१६) **वचन असंयम**=कुवचन बोलना ।

(१७) **काय असंयम**=गमनागमनादि में असावधान रहना ।

ये सतरह असंयम समवायांग सूत्र में कहे गए हैं ।

असंयम के अन्य भी सत्तरह प्रकार हैं—हिंसा, असत्य, अस्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, पाँचों इन्द्रियों की उच्छृङ्खल प्रवृत्ति, चार कषाय और तीन योगों की अशुभ प्रवृत्ति ।

आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक में 'असंजमे' के स्थान में 'संजमे' का उल्लेख किया है । 'संजमे' का अर्थ संयम है । संयम के भी उपर्युक्त ही पृथ्वीकाय-संयम आदि सतरह भेद हैं ।

अठारह अब्रह्मचर्य :

देव-सम्बन्धी भोगों का मन, वचन और काय से स्वयं सेवन करना, दूसरों से कराना तथा करते हुए को भला जानना—इस प्रकार नौ भेद वैक्रिय शरीर-सम्बन्धी होते हैं । मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी औदारिक भोगों के भी इसी तरह नौ भेद समझ लेने चाहिएँ । कुल मिलाकर अठारह भेद होते हैं । [समवायांग]

ज्ञाता धर्म कथा के १९ अध्ययन :

(१) उत्क्षिप्त अर्थात् मेघकुमार, (२) संघाट (३) अण्ड (४) कूर्म (५) शैलक (६) तुम्ब (७) रोहिणी (८) मल्ली (९) माकन्दी (१०) चन्द्रमा (११) दावदव (१३) उदक (१३) मण्डूक (१४) तेतलि (१५) नन्दी फल (१६) अवरकंका (१७) आकीर्णक (१८) सुंसुमादारिका (१९) पुण्डरीक । उक्त उन्नीस उदाहरणों के भावानुसार साधुधर्म की साधना न करना, अतिचार है ।

बीस असमाधि :

(१) **द्रुत-द्रुत चारित्व**=जल्दी जल्दी चलना ।

(२) **अप्रमृज्य चारित्व**=बिना पूँजे रात्रि आदि में चलना ।

(३) **दुष्प्रमृज्य चारित्व**=बिना उपयोग के प्रमार्जन करना।

(४) **अतिरिक्त शय्यासनिकत्व**=अमर्यादित शय्या और आसन रखना।

(५) **रात्निक पराभव**=गुरुजनों का अपमान करना।

(६) **स्थविरोपघात**=स्थविरों का उपहनन=अवहेलना करना।

(७) **भूतोपघात**=भूत-जीवों का उपहनन (हिंसा) करना।

(८) **संज्वलन**=प्रति क्षण यानी बार-बार क्रुद्ध होना।

(९) **दीर्घ कोप**=चिरकाल तक क्रोध रखना।

(१०) **पृष्ठ मांसिकत्व**=पीठ पीछे निन्दा करना।

(११) **अभीक्ष्णावभाषण**=सशंक होने पर भी निश्चित भाषा बोलना।

(१२) **नवाधिकरण करण**=नित्य नए कलह करना।

(१३) **उपशान्तकलहोदीरण**=शान्त कलह को पुनः उत्तेजित करना।

(१४) **अकालस्वाध्याय**=अकाल में स्वाध्याय करना।

(१५) **सरजस्कपाणि-भिक्षाग्रहण**=सचित्तरज-सहित हाथ आदि से भिक्षा लेना।

(१६) **शब्दकरण**= पहर रात बीते विकाल में जोर से बोलना।

(१७) **झंझाकरण**=गण-भेदकारी अर्थात् संघ में फूट डालने वाले वचन बोलना।

(१८) **कलह करण**=आक्रोश आदि रूप कलह करना।

(१९) **सूर्यप्रमाण भोजित्व**=दिन भर कुछ न कुछ खाते-पीते रहना।

(२०) **एषणाऽसमितत्व**= एषणा समिति का उचित ध्यान न रखना।

जिस सत्कार्य के करने से चित्त में शान्ति हो, तथा आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप मोक्षमार्ग में अवस्थित रहे, उसे समाधि कहते हैं और जिस कार्य से चित्त में अप्रशस्त एवं अशान्त भाव हो, ज्ञानादि मोक्षमार्ग से आत्मा भ्रष्ट हो, उसे असमाधि कहते हैं। उपर्युक्त बीस कार्यों के आचरण से अपने और दूसरे जीवों को असमाधि भाव उत्पन्न होता है, साधक की आत्मा दूषित होती है, और उसका चारित्र मलिन होता है, अतः इन्हें असमाधि कहा जाता है।

समाधानं समाधि :—चेतसः स्वास्थ्यं, मोक्षमार्गेऽवस्थितिरित्यर्थः। न समाधिरसमाधिरतस्य स्थानानि—आश्रया भेदाः पर्याया असमाधि—स्थानानि।'

—आचार्य हरिभद्र।

असमाधि-स्थानों के आसेवन से जहाँ कहीं आत्मा संयम-भ्रष्ट हुआ हो, उसका प्रतिक्रमण प्रस्तुत पाठ के द्वारा किया जाता है।

इक्कीस शबल दोष :

(१) **हस्तकर्म**=हस्त-मैथुन करना।

(२) **मैथुन**=स्त्री-स्पर्श आदि मैथुन करना।

(३) **रात्रिभोजन**=रात्रि में भोजन लेना और करना।

(४) **आधाकर्म**=साधु के निमित्त से बनाया गया भोजन लेना।

(५) **सागारिकपिण्ड**=शय्यातर अर्थात् स्थानदाता का आहार लेना।

(६) **औद्देशिक**=साधु के या याचकों के निमित्त बनाया गया, क्रीत= खरीदा हुआ आहार, आहृत=स्थान पर लाकर दिया हुआ, प्रामित्य=उधार लाया हुआ, आच्छिन्न=छीनकर लाया हुआ आहार लेना।

(७) **प्रत्याख्यान भंग**=बार-बार प्रत्याख्यान भंग करना।

(८) **गणपरिवर्तन**=छह मास में गण से गणान्तर में जाना।

(९) **उदक लेप**=एक मास में तीन बार नाभि या जंघा प्रमाण जल में प्रवेश कर नदी आदि पार करना।

(१०) **मातृ स्थान**=एक मास में तीन बार माया—स्थान सेवन करना। अर्थात् कृत अपराध छुपा लेना।

(११) **राजपिण्ड**=राजपिण्ड ग्रहण करना।

(१२) **आकुट्‌व्या हिंसा**=जानबूझ कर हिंसा करना।

(१३) **आकुट्‌व्या मृषा**=जानबूझ कर झूठ बोलना।

(१४) **आकुट्‌व्या अदत्तादान**=जानबूझ कर चोरी करना।

(१५) **सचित्त पृथिवी स्पर्श**=जानबूझ कर सचित्त पृथिवी पर बैठना, सोना, खड़े होना।

(१६) इसी प्रकार सचित्त जल से सस्निग्ध और सचित्त रज वाली पृथिवी, सचित्त शिला अथवा घुणों वाली लकड़ी आदि पर बैठना, सोना, कायोत्सर्ग आदि करना, शबल दोष है।

(१७) जीवों वाले स्थान पर तथा प्राणी, बीज, हरित, कीड़ी नगरा, लीलन-फूलन, पानी, कीचड़, और मकड़ी के जालों वाले स्थान पर बैठना, सोना, कायोत्सर्ग आदि करना शबल दोष है।

(१८) जानबूझ कर कन्द, मूल, छाल, प्रवाल, पुष्प, फूल, बीज, तथा हरित-काय का भोजन करना।

(१९) वर्ष के अन्दर दस बार उदक लेप=नदी पार करना।

(२०) वर्ष में दस माया स्थानों का सेवन करना।

(२१) जानबूझ कर सचित्त जल वाले हाथ से तथा सचित्त जल-सहित कड़छी आदि से दिया जाने वाला आहार ग्रहण करना।

उपर्युक्त शबल दोष साधु के लिए सर्वथा त्याज्य हैं। जिन कार्यों के करने से चारित्र की निर्मलता नष्ट हो जाती है, चारित्र मलक्लिन्न होने के कारण कर्बुर हो जाता है, उन्हें शबल दोष कहते हैं। उक्त दोषों के सेवन करने वाले साधु भी शबल

कहलाते हैं। **'शबलं-कर्बुरं चारित्रं यैः क्रियाविशेषैर्भवति ते शबलास्तद्योगात्साधवोऽपि ।'**
—अभयदेवकृत समवा० टीका।

उत्तरगुणों में अतिक्रमादि चारों दोषों का एवं मूल गुणों में अनाचार के सिवा तीन दोषों का सेवन करने से चारित्र शबल होता है।

बाईस परीषह :

(१) क्षुधा=भूख (२) पिपासा=प्यास (३) शीत=ठंड (४) उष्ण=गर्मी (५) दंशमशक (६) अचेल=वस्त्राभाव का कष्ट (७) अरति=कठिनाइयों से घबरा कर संयम के प्रति होने वाली उदासीनता (८) स्त्री-परीषह (९) चर्या=विहार यात्रा में होने वाला गमनादि कष्ट (१०) नैषधिकी=स्वाध्याय भूमि आदि में होने वाले उपद्रव (११) शय्या=निवास-स्थान की प्रतिकूलता (१२) आक्रोश=दुर्वचन (१३) वध=लकड़ी आदि की मार सहना (१४) याचना (१५) अलाभ (१६) रोग (१७) तृण स्पर्श (१८) जल्ल=मल का परीषह (१९) सत्कार पुरस्कार=पूजा प्रतिष्ठा (२०) प्रज्ञा=बुद्धि का गर्व (२१) अज्ञान=बुद्धिहीनता का दुःख (२२) दर्शन परीषह=सम्यक्त्व भ्रष्ट करने वाले मिथ्या मतों का मोहक वातावरण।

हरिभद्र आदि कितने ही आचार्य नैषेधिकी के स्थान में निषद्या परीषह मानते हैं और उसका अर्थ वसति=स्थान करते हैं। इस स्थिति में उनके द्वारा अग्रिम शय्या परीषह का अर्थ—संस्तारक अर्थात् संथारा, बिछौना अर्थ किया गया है। स्त्री साधक के लिए पुरुष परीषह है।

क्षुधा आदि किसी भी कारण के द्वारा आपत्ति आने पर संयम में स्थिर रहने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए जो शारीरिक तथा मानसिक कष्ट, साधु को सहन करने चाहिएं, उन्हें परीषह करते हैं।' **परीसहिज्जंते इति परोसहा अहियासिज्जंतित्ति वुत्तं भवति ।**'—जिनदास महत्तर। परीषहों को भाली भाँति शुद्ध भाव से सहन न करना, परीषह सम्बन्धी अतिचार होता है, उसका प्रतिक्रमण प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

सूत्रकृताङ्ग सूत्र के २३ अध्ययन :

प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन सोलहवें बोल में बतला आए हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अध्ययन ये हैं—(१७) पौण्डरीक (१८) क्रिया-स्थान (१९) आहार-परिज्ञा (२०) प्रत्याख्यान क्रिया (२१) आचारश्रुत (२२) आर्द्रकीय (२३) नालन्दीय उक्त तेईस अध्ययनों के कथनानुसार संयमी जीवन न होना, अतिचार है।

चौबीस देव :

असुरकुमार आदि दश भवनपति, भूत यक्ष आदि आठ व्यन्तर, सूर्य चन्द्र आदि पाँच ज्योतिष्क, और वैमानिक देव—इस प्रकार कुल चौबीस जाति के देव हैं। संसार में भोगजीवन के ये सबसे बड़े प्रतिनिधि हैं। इनकी प्रशंसा करना भोगजीवन

की प्रशंसा करना है और निन्दा करना द्वेष भाव है, अतः मुमुक्षु को तटस्थ भाव ही रखना चाहिए। यदि कभी तटस्थता का भग किया हो तो अतिचार है।

उत्तराध्ययन सूत्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य शान्तिसूरि यहाँ देव शब्द से चौबीस तीर्थङ्कर देवों का भी ग्रहण करते हैं। इस अर्थ के मानने पर अतिचार यह होगा कि—उनके प्रति आदर, श्रद्धाभाव न रखना, उनकी आज्ञानुसार न चलना, आदि-आदि।

पाँच महाव्रतों की २५ भावनाएँ :

महाव्रतों का शुद्ध पालन करने के लिए शास्त्रों में प्रत्येक महाव्रत की पाँच भावना बतलाई गयी हैं। भावनाओं का स्वरूप बहुत की हृदयग्राही एवं जीवनस्पर्शी है। श्रमण-धर्म शुद्ध पालन करने के लिए भावनाओं पर अवश्य ही लक्ष्य देना चाहिए।

प्रथम अहिंसा-महाव्रत की ५ भावना—

(१) ईर्यासमिति=उपयोगपूर्वक गमनागमन करे (२) आलोकित पान भोजन=देखभाल कर प्रकाशयुक्त स्थान में आहार करे (३) आदान निक्षेप समिति= विवेक पूर्वक पात्रादि उठाए तथा रक्खे (४) मनोगुप्ति=मन का संयम (५) वचन-गुप्ति=वाणी का संयम।

द्वितीय अस्तेय महाव्रत की ५ भावना—

(१) अनुविचिन्त्य भाषणता=विचार पूर्वक बोलना (२) क्रोधविवेक=क्रोध का त्याग (३) लोभ-विवेक=लोभ का त्याग (४) भय-विवेक=भय का त्याग (५) हास्य-विवेक=हंसी मजाक का त्याग।

तृतीय अस्तेय महाव्रत की ५ भावना—

(१) अवग्रहानुज्ञापना=अवग्रह अर्थात् वसति लेते समय उसके स्वामी को अच्छी तरह जानकर आज्ञा माँगना (२) अवग्रह—सीमापरिज्ञानता=अवग्रह के स्थान की सीमा का ज्ञान करना (३) अवग्रहानुग्रहणता=स्वयं अवग्रह की याचना करना अर्थात् वसतिस्थ तृण, पट्ट आदि अवग्रह-स्वामी की आज्ञा लेकर ग्रहण करना (४ गुरुजनों तथा अन्य सार्धमिकों की आज्ञा लेकर ही सबके संयुक्त भोजन में से भोजन करना (५) उपाश्रय में रहे हुए पूर्व सार्धमिकों की आज्ञा लेकर ही वहाँ रहना तथा अन्य प्रवृत्ति करना।

चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत की ५ भावना—

(१) अतीव स्निग्ध पौष्टिक आहार नहीं करना (२) पूर्व-भुक्त भोगों का स्मरण नहीं करना अथवा शरीर की विभूषा नहीं करना (३) स्त्रियों के अंग उपांग नहीं देखना (४) स्त्री, पशु और नपुंसक वाले स्थान में नहीं ठहरना (५) स्त्री विषयक चर्चा नहीं करना।

पंचम अपरिग्रह महाव्रत की ५ भावना—

(१—५) पाँचों इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श के इन्द्रिय-

गोचर होने पर मनोज्ञ पर रागभाव तथा अमनोज्ञ पर द्वेषभाव न लाकर उदासीन भाव रखना।

महाव्रतों की भावनाओं पर विशेष लक्ष्य देने की आवश्यकता है। महाव्रतों की रक्षा उक्त भावनाओं के बिना हो ही नहीं सकती। यदि संयम यात्रा में कहीं भावनाओं के प्रति उपेक्षा भाव रक्खा हो तो अतिचार होता है, तदर्थ यहाँ प्रतिक्रमण का उल्लेख है।

दशाश्रुत आदि सूत्रत्रयी के २६ उद्देशनकाल :

दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र के दश उद्देश, बृहत्कल्प के छह उद्देश, और व्यवहार सूत्र के दश उद्देश—इस प्रकार सूत्रत्रयी के छब्बीस उद्देश होते हैं। जिस श्रुतस्कन्ध या अध्ययन के जितने उद्देश होते हैं उतने ही वहाँ उद्देशनकाल—अर्थात् श्रुतोपचार रूप उद्देशावसर होते हैं। उक्त सूत्रत्रयी में साधुजीवन—सम्बन्धी आचार की चर्चा है। अतः तदनुसार आचरण न करना अतिचार होता है।

सत्ताईस अनगार के गुण :

(१—५) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों का सम्यक् पालन करना। (६) रात्रि भोजन का त्याग करना। (७—११) पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना (१२) भावसत्य=अन्तःकरण की शुद्धि (१३) करणसत्य=वस्त्र पात्र आदि की भली-भाँति प्रतिलेखना करना (१४) क्षमा (१५) विरागता=लोभ-निग्रह (१६) मन की शुभ प्रवृत्ति (१७) वचन की शुभ प्रवृत्ति (१८) काय की शुभ प्रवृत्ति (१९—२४) छह काय के जीवों की रक्षा (२५) संयमयोग-युक्तता (२६) वेदनाऽभिसहना=तितिक्षा अर्थात् शीतादिकष्ट-सहिष्णुता (२७) मारणान्तिक उपसर्ग को भी समभाव से सहना।

उपर्युक्त सत्ताईस गुण, आचार्य हरिभद्र ने अपनी आवश्यक सूत्र की शिष्यहिता टीका में, संग्रहणीकार की एक प्राचीन गाथा के अनुसार वर्णन किए हैं। परन्तु समवायांग सूत्र में मुनि के सत्ताईस गुण कुछ भिन्न रूप में अंकित हैं—पाँच महाव्रत, पाँच इन्द्रियों का निरोध, चार कषायों का त्याग; भाव-सत्य, करण—सत्य, योग सत्य, क्षमा, विरागता, मनः समाहरणता, वचन समाहरणता, काय समाहरणता, ज्ञान सम्पन्नता, दर्शन-सम्पन्नता, चारित्र सम्पन्नता, वेदनातिसहनता; मारणान्तिकातिसहनता

आचार्य हरिभद्र ने यहाँ **सत्तावीसविहे अणगारचरित्ते**, पाठ का उल्लेख किया है। इसका भावार्थ है=सत्ताईस प्रकार का अनगार-सम्बन्धी चारित्र। परन्तु आचार्य जिनदास आदि '**सत्तावीसाए अणगार गुणेहिं**' पाठ का ही उल्लेख करते हैं। समवायांग-सूत्र में भी अणगार गुण ही है।

उक्त सत्ताईस अनगार गुणों अर्थात् मुनिगुणों का शास्त्रानुसार भली भाँति पालन न करना, अतिचार है। उसकी शुद्धि के लिए मुनि-गुणों का प्रतिक्रमण है, अर्थात् अतिचारों से वापस लौटकर मुनि-गुणों में आना।

अट्ठाईस आचार-प्रकल्प :

आचार-प्रकल्प की व्याख्या के सम्बन्ध में बहुत सी विभिन्न मान्यताएँ हैं। आचार्य हरिभद्र कहते हैं—आचार ही आचार-प्रकल्प कहलाता है—'**आचार एव आचारप्रकल्पः ।**'

आचार्य अभयदेव समवायांग-सूत्र की टीका में कहते हैं कि आचार का अर्थ प्रथम अंग सूत्र है। उसका प्रकल्प अर्थात् अध्ययन-विशेष निशीथ सूत्र आचार प्रकल्प कहलाता हैं। अथवा ज्ञानादि साधु-आचार का प्रकल्प अर्थात् व्यवस्थापन आचार-प्रकल्प कहा जाता है। '**आचारः प्रथमाङ्गं तस्य प्रकल्पः अध्ययन विशेषो निशीथमित्य-पराभिधानम्। आचारस्य वा साध्वाचारस्य ज्ञानादिविषयस्य प्रकल्पो व्यवस्थापनमिति आचारप्रकल्पः ।**'

उत्तराध्ययन-सूत्र के चरण विधि अध्ययन में केवल प्रकल्प शब्द ही आया है। अतः उक्त सूत्र के टीकाकार आचार्य शान्तिसूरि प्रकल्प का अर्थ करते हैं कि 'प्रकृष्ट= उत्कृष्ट कल्प=मुनि जीवन का आचार वर्णित है जिस शास्त्र में वह आचारांग-सूत्र प्रकल्प कहा जाता है।'

आचारांग-सूत्र के शस्त्र परिज्ञा आदि २५ अध्ययन हैं और निशीथ सूत्र भी आचारांग-सूत्र की चूलिकास्वरूप माना जाता है, अतः उसके तीन अध्ययन मिलकर आचारांग-सूत्र के सब अट्ठाईस अध्ययन होते हैं—

(१) शस्त्र परिज्ञा (२) लोक विजय (३) शीतोष्णीय (४) सम्यक्त्व (५) लोकसार (६) धूताध्ययन (७) महापरिज्ञा (८) विमोक्ष (९) उपधानश्रुत (१०) पिण्डैषणा (११) शय्या (१२) ईर्या (१३) भाषा (१४) वस्त्रैषणा (१५) पात्रैषणा (१६) अवग्रहप्रतिमा (१६+७=२३) सप्त स्थानादि सप्तैकका (२४) भावना (२५) विमुक्ति (२६) उद्घात (२७) अनुद्घात और (२८) आरोपण।

समवायांग-सूत्र में आचार प्रकल्प के अट्ठाईस भेद अन्य रूप में हैं।

पूज्य श्री आतमारामजी महाराज, उत्तराध्ययन सूत्र हिंदी पृष्ठ १४०१ पर इस सम्बन्ध में लिखते हैं—

"समवायांग सूत्र में २८ प्रकार का आचारप्रकल्प इस प्रकार से वर्णन किया है। यथा—

(१) एक मास का प्रायश्चित्त (२) एक मास पाँच दिन का प्रायश्चित्त (३) एक मास दश दिन का प्रायश्चित्त। इसी प्रकार पाँच दिन बढ़ाते हुए पाँच मास तक कहना चाहिए। इस प्रकार २५ हुए। (२६) उपघातक अनुपघातक (२७) आरोपण और (२८) कृत्स्न=सम्पूर्ण, अकृत्स्न=असंपूर्ण।"

पूज्यश्रीजी के उपर्युक्त लेख की समवायांग सूत्र के मूल पाठ से संगति नहीं बैठती। वहाँ मासिक आरोपणा के छह भेद किए हैं। इसी प्रकार द्विमासिकी, त्रिमासिकी एवं चतुर्मासिकी आरोपणा के भी क्रमशः छः छः भेद होते हैं। सब मिलकर

आरोपणा के अब तक २४ भेद हुए है, जिन्हें पूज्यश्रीजी २५ लिखते हैं। अब शेष चार भेद भी समवायांग सूत्र के मूल पाठ में ही देख लीजिए **'उवघाइया आरोवणा, अणुव घाइया आरोवणा, कसिणा आरोवणा, अकसिणा आरोवणा।'** उक्त मूल सूत्र के प्राकृत नामों का संस्कृत रूपान्तर है--उपघातिक आरोपणा, अनुपघातिक आरोपणा, कृत्स्न आरोपणा और अकृत्स्न आरोपणा।

जो कुछ हमने ऊपर लिखा है, इसका समर्थन, समवायांग के मूल पाठ और अभयदेव-कृत वृत्ति से स्पष्टतः हो जाता है। अस्तु, हम विचार में हैं कि आचार्य श्रीजी ने प्रथम के २४ भेदों को २५ कैसे गिन लिया ? और बाद के चार भेदों के तीन ही भेद बना लिए। प्रथम के दो भेदों को मिलाकर एक भेद कर लिया। और आरोपणा, जो कि स्वयं कोई भेद नहीं है, प्रत्युत सबके साथ विशेष्य रूप से व्यवहृत हुआ है, उसको सत्ताईसवें भेद के रूप में स्वतन्त्र भेद मान लिया है। और अन्तिम दो भेदों का फिर अट्ठाईसवें भेद के रूप में एकीकरण कर दिया गया है। इस सम्बन्ध में अधिक न लिखकर संक्षेप में केवल विचार-सामग्री उपस्थित की है, ताकि सत्यार्थ के निर्णय के लिए तत्व-जिज्ञासु कुछ विचार-विमर्श कर सकें।

आचार-प्रकल्प के २८ अध्ययनों में वर्णित साध्वाचार का सम्यक् रूप से आचरण न करना, अतिचार है।

पापश्रुत के २९ भेद :

(१) भौम=भूमिकम्प आदि का फल बताने वाला शास्त्र।

(२) उत्पात=रुधिर वृष्टि, दिशाओं का लाल होना इत्यादि का शुभाशुभ फल बताने वाला निमित्त शास्त्र।

(३) स्वप्न-शास्त्र।

(४) अन्तरिक्ष=आकाश में होने वाले ग्रहबेध आदि का वर्णन करने वाला शास्त्र।

(५) अंगशास्त्र=शरीर के स्पन्दन आदि का फल कहने वाला शास्त्र।

(६) स्वर शास्त्र।

(७) व्यञ्जन शास्त्र=तिल, मष आदि का वर्णन करने वाला शास्त्र।

(८) लक्षण शास्त्र=स्त्री पुरुषों के लक्षणों का शुभाशुभ फल कहने वाला शास्त्र।

ये आठों ही सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से चौबीस शास्त्र हो जाते हैं।

(२५) विकथानुयोग=अर्थ और काम के उपायों को बताने वाले शास्त्र, जैसे वात्स्यायनकृत काम सूत्र आदि।

(२६) विद्यानुयोग=रोहिणी आदि विद्याओं की सिद्धि के उपाय बताने वाले शास्त्र।

(२७) मन्त्रानुयोग=मन्त्र आदि के द्वारा कार्यसिद्धि बताने वाले शास्त्र।

(२८) योगानुयोग=वशीकरण आदि योग बताने वाले शास्त्र ।

(२९) अन्यतीर्थिकानुयोग=अन्य तीर्थिकों द्वारा प्रवर्तित एवं अभिमत हिंसा-प्रधान आचार-शास्त्र ।

(समवायांग)

महामोहनीय के ३० स्थान :

(१) त्रस जीवों को पानी में डुबा कर मारना ।
(२) त्रस जीवों को श्वास आदि रोक कर मारना ।
(३) त्रस जीवों को मकान आदि में बंद करके धुएँ से घोटकर मारना ।
(४) त्रस जीवों को मस्तक पर दण्ड आदि का घातक प्रहार करके मारना ।
(५) त्रस जीवों को मस्तक पर गीला चमड़ा आदि बाँध कर मारना ।
(६) पथिकों को धोखा देकर लूटना ।
(७) गुप्तरीति से अनाचार का सेवन करना ।
(८) दूसरे पर मिथ्या कलंक लगाना ।
(९) सभा में जान-बूझ कर मिश्रभाषा=सत्य जैसा प्रतीत होने वाला झूठ बोलना ।
(१०) राजा के राज्य का ध्वंस करना ।
(११) बाल ब्रह्मचारी न होते हुए भी बाल ब्रह्मचारी कहलाना ।
(१२) ब्रह्मचारी न होते हुए भी ब्रह्मचारी होने का ढोंग रचना ।
(१३) आश्रयदाता का धन चुराना ।
(१४) कृत उपकार को न मानकर कृतघ्नता करना ।
(१५) गृहपति अथवा संघपति आदि की हत्या करना ।
(१६) राष्ट्रनेता की हत्या करना ।
(१७) समाज के आधारभूत विशिष्ट परोपकारी पुरुष की हत्या करना ।
(१८) दीक्षित साधु को संयम से भ्रष्ट करना ।
(१९) केवल ज्ञानी की निन्दा करना ।
(२०) अहिंसा आदि मोक्षमार्ग की बुराई करना ।
(२१) आचार्य तथा उपाध्याय की निन्दा करना ।
(२२) आचार्य तथा उपाध्याय की सेवा न करना ।
(२३) बहुश्रुत न होते हुए भी बहुश्रुत=पण्डित कहलाना ।
(२४) तपस्वी न होते हुए भी अपने को तपस्वी कहना ।
(२५) शक्ति होते हुए भी अपने आश्रित वृद्ध, रोगी आदि की सेवा न करना ।
(२६) हिंसा तथा कामोत्पादक विकथाओं का बार-बार प्रयोग करना ।
(२७) जादू टोना आदि करना ।

(२८) कामभोग में अत्यधिक लिप्त रहना, आसक्त रहना।

(२९) देवताओं की निन्दा करना।

(३०) देवदर्शन न होते हुए भी प्रतिष्ठा के मोह से देवदर्शन की बात कहना।

(दशाश्रुत स्कन्ध)

जैन धर्म में आत्मा को आवृत करने वाले आठ कर्म माने गए हैं। सामान्यतः आठों ही कर्मों को मोहनीय कर्म कहा जाता है। परन्तु विशेषतः चतुर्थ कर्म के लिए मोहनीय संज्ञा रूढ़ है। प्रस्तुत सूत्र में इसी से तात्पर्य है। आचार्य हरिभद्र आवश्यक वृत्ति में लिखते हैं—"**सामान्येन एकप्रकृति कर्म मोहनीयमुच्यते। उक्तं च, अट्ठविहंपि य कम्मं, भणियं मोहोत्ति जं समासेणमित्यादि। विशेषेण चतुर्थी प्रकृति : मोहनीयमुच्यते तस्य स्थानानि—निमित्तानि भेदाः पर्याया मोहनीय स्थानानि।**"

मोहनीय कर्म बन्ध के कारणों की कुछ इयत्ता नहीं है। तथापि शास्त्रकारों ने विशेष रूप से मोहनीय कर्म बन्ध के हेतु-भूत कारणों के तीस भेदों का उल्लेख किया है। उल्लिखित कारणों में दुरध्यवसाय की तीव्रता एवं क्रूरता इतनी अधिक होती है कि कभी-कभी महामोहनीय कर्म का बन्ध हो जाता है, जिससे अज्ञानी आत्मा सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर तक संसार में परिभ्रमण करता है, दुःख उठाता है।

प्रस्तुत सूत्र के मूल पाठ में प्रचलित महामोहनीय शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु आचार्य हरिभद्र और जिनदास महत्तर केवल मोहनीय शब्द का ही प्रयोग करते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र, समवायांग सूत्र और दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में भी केवल मोहनीय स्थान कहा है। परन्तु भेदों का उल्लेख करते हुए अवश्य महामोह शब्द का प्रयोग हुआ है। 'महामोहं पकुव्वइ।'

सिद्धों के ३१ गुण :

(१) क्षीण-मतिज्ञानावरण
(२) क्षीणश्रुतज्ञानावरण
(३) क्षीणअवधिज्ञानावरण
(४) क्षीण मनःपर्ययज्ञानावरण
(५) क्षीण केवल ज्ञानावरण
(६) क्षीणचक्षुर्दर्शनावरण
(७) क्षीणअचक्षुर्दर्शनावर
(८) क्षीणअवधिदर्शनावरण
(९) क्षीणकेवलदर्शनावरण
(१०) क्षीणनिद्रा
(११) क्षीणनिद्रानिद्रा
(१२) क्षीणप्रचला
(१३) क्षीणप्रचला प्रचला
(१४) क्षीणस्त्यानगृद्धि
(१५) क्षीण सातावेदनीय
(१६) क्षीण असातावेदनीय
(१७) क्षीण दर्शन मोहनीय
(१८) क्षीण चारित्र मोहनीय
(१९) क्षीण नैरयिकायु
(२०) क्षीण तिर्यञ्चायु
(२१) क्षीण मनुष्यायु
(२२) क्षीण देवायु
(२३) क्षीण उच्च गोत्र
(२४) क्षीण नीच गोत्र
(२५) क्षीण शुभ नाम
(२६) क्षीण अशुभनाम

(२७) क्षीण दानान्तराय (३०) क्षीण उपभोगान्तराय
(२८) क्षीण लाभान्तराय (३१) क्षीण वीर्यान्तराय
(२९) क्षीण भोगान्तराय

(समवायांग)

सिद्धों के गुणों का एक प्रकार और भी है। पाँच संस्थान, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, तीन वेद, शरीर, आसक्ति और पुनर्जन्म—इन सब इकत्तीस दोषों के क्षय से भी इकत्तीस गुण होते हैं। (आचारांग)

आदि गुण का अर्थ है—ये गुण सिद्धों में प्रारम्भ से ही होते हैं। यह नहीं कि कालान्तर में होते हों। क्योंकि सिद्धों की भूमिका क्रमिक विकास की नहीं है। आचार्य श्री शान्तिसूरि 'सिद्धाइगुण' का अर्थ—'सिद्धाऽतिगुण' करते हैं। अतिगुण का भाव है—'उत्कृष्ट, असाधारण गुण।'

बत्तीस योग-संग्रह :

(१) गुरुजनों के पास दोषों की आलोचना करना (२) किसी के दोषों की आलोचना सुनकर और के पास न कहना (३) संकट पड़ने पर भी धर्म में दृढ़ रहना (४) आसक्ति-रहित तप करना (५) सूत्रार्थ ग्रहणरूप ग्रहण-शिक्षा एवं प्रतिलेखना आदि रूप आसेवना=आचार शिक्षा का अभ्यास करना (६) शोभा श्रृंगार नहीं करना (७) पूजा प्रतिष्ठा का मोह त्यागकर गुप्त तप करना (८) लोभ का त्याग (९) तितिक्षा (१०) आर्जव=सरलता (११) शुचि=संयम एवं सत्य की पवित्रता (१२) सम्यक्त्व शुद्धि (१३) समाधि=प्रसन्न-चित्तता (१४) आचार पालन में माया न करना (१५) विनय (१६) धैर्य (१७) संवेग=सांसारिक भोगों से भय अथवा मोक्षाभिलाषा (१८) माया न करना (१९) सदनुष्ठान (२०) संवर=पापाश्रव को रोकना (२१) दोषों की शुद्धि करना (२२) काम भोगों से विरक्ति (२३) मूलगुणों का शुद्ध पालन (२४) उत्तरगुणों का शुद्ध पालन (२५) व्युत्सर्ग करना (२६) प्रमाद न करना (२७) प्रतिक्षण संयम यात्रा में सावधानी रखना (२८) शुभ ध्यान (२९) मारणान्तिक वेदना होने पर भी अधीर न होना (३०) संग का परित्याग करना (३१) प्रायश्चित्त ग्रहण करना (३२) अन्त समय में संलेखना करके आराधक बनना।

(समवायांग)

आचार्य जिनदास बत्तीस योग-संग्रह का एक दूसरा प्रकार भी लिखते हैं! उनके उल्लेखानुसार धर्म ध्यान के सोलह भेद और इसी प्रकार शुक्ल ध्यान के सोलह भेद, सब मिल कर योग-संग्रह के बत्तीस भेद हो जाते हैं। **'धम्मो सोलसविधं एवं सुक्कंपि।'**

मन, वचन और काय के व्यापार को योग कहते हैं। शुभ और अशुभ भेद सेयोग के दो प्रकार हैं। अशुभ योग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्ति ही संयम है।

प्रस्तुत सूत्र में शुभ प्रवृत्ति रूप योग ही ग्राह्य है। उसी का संग्रह संयमी जीवन की पवित्रता को अक्षुण्ण बनाए रख सकता है।

—'युज्यन्ते इति योगाः मनोवाक्कायव्यापाराः ते चेह प्रशस्ता एव विवक्षिताः।'

—आचार्य अभयदेव, समवायांग टीका।

प्रश्न है, आलोचनादि को संग्रह क्यों कहा गया है ? ये तो संग्रह के निमित्त हो सकते हैं, स्वयं संग्रह नहीं। आप ठीक कहते हैं। यहाँ संग्रह शब्द की संग्रह के निमित्त में ही लक्षणा है। **'प्रशस्तयोग-संग्रहनिमित्तत्वादालोचनादय एवं तथोच्यन्ते।'**—

—अभयदेव, समवायांग टीका।

योग संग्रह की साधना में जहाँ कहीं भूल हुई हो, उसका प्रतिक्रमण यहाँ अभीष्ट है।

तेतीस आशातना :

अरिहन्त की आशातना से लेकर चौदह ज्ञान की आशातना तक तेतीस आशातना, मूल सूत्र में वर्णन की गई हैं। कुछ टीकाकार यहाँ पर भी आशातना से गुरुदेव की ही तेतीस आशातना लेते हैं। गुरुदेव की तेतीस आशातनाओं का वर्णन परिशिष्ट में दिया गया है।

जैनाचार्यों ने आशातना शब्द की निरुक्ति बड़ी ही सुन्दर की है। सम्यग्दर्शन आदि आध्यात्मिक गुणो की प्राप्ति को आय कहते हैं और शातना का अर्थ खण्डन है। गुरुदेव आदि पूज्य पुरुषों का अपमान करने से सम्यग्दर्शन आदि सद्गुणों की शातना=खण्डना होती है। **'आयः—सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणस्तस्य शातना—खण्डनं निरुक्तादाशातना।'**—आचार्य अभयदेव समवायांग टीका। **'आसातणा णामं नाणादि आयस्स सातणा। यकारलोपं कृत्वा आशातना भवति।'**

—आचार्य जिनदास, आवश्यकचूर्णि।

अरिहन्तों की आशातना :

सूत्रोक्त तेतीस आशातनाओं में पहली आशातना अरिहन्तों की है। जैन शासन के केन्द्र अरिहन्त ही हैं, अतः सर्व-प्रथम उनका ही उल्लेख आता है। वे जगजीवों के लिए धर्म का उपदेश करते हैं, सन्मार्ग का निरूपण करते हैं और अनन्त-काल से अन्धकार में भटकते हुए जीवों को सत्य का प्रकाश दिखलाते हैं। अतः उप-कारी होने से सर्वप्रथम उनकी ही महिमा का उल्लेख है।

आजकल हमारे यहाँ भारतवर्ष में अरिहन्त विद्यमान नहीं है, अतः उनकी आशातना कैसे हो सकती है ? समाधान है कि अरिहन्त की कभी कोई सत्ता ही नहीं रही है, उन्होंने निर्दय होकर सर्वथा अव्यवहार्य कठोर निवृत्ति-प्रधान धर्म का उपदेश दिया है, वीतराग होते हुए भी स्वर्णसिंहासन आदि का उपयोग क्यों करते हैं ? इत्यादि दुर्विकल्प करना अरिहंतों की आशातना है।

सिद्धों की आशातना :

सिद्ध हैं ही नहीं। जब शरीर ही नहीं है, तो फिर उनको सुख किस बात का ? संसार से सर्वथा अलग निश्चेष्ट पड़े रहने में क्या आदर्श है ? इत्यादि रूप में अवज्ञा करना, सिद्धों की आशातना है।

साध्वियों की आशातना :

स्त्री होने के कारण साध्वियों को नीचा बताना। उनको कलह और संघर्ष की जड़ कहना। साधुओं के लिए साध्वियाँ उपद्रव रूप हैं। ऋतुकाल में कितनी मलिनता होती होगी ? इत्यादि रूप से अवहेलना करना, साध्वियों की आशातना है।

श्राविकाओं की आशातना :

जैन धर्म अतीव उदार और विराट धर्म है। यहाँ केवल अरिहन्त आदि महान् आत्माओं का ही गौरव नहीं है। अपितु साधारण गृहस्थ होते हुए भी जो स्त्री-पुरुष श्रावक-धर्म का पालन करते हैं, उनका भी यहाँ गौरवपूर्ण स्थान है। श्रावक और श्राविकाओं की अवज्ञा करना भी एक पाप है। प्रत्येक आचार्य, उपाध्याय और साधु को भी, प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल प्रतिक्रमण के समय, श्रावक एवं श्राविकाओं के प्रति ज्ञात या अज्ञात रूप से की जाने वाली अवज्ञा के लिए, पश्चात्ताप करना होता है—मिच्छामि दुक्कडं देना होता है।

अन्य धर्मों में प्रायः स्त्री का स्थान बहुत नीचा माना गया है। कुछ धर्मों में तो स्त्री साध्वी भी नहीं बन सकती। वह मोक्ष भी नहीं प्राप्त कर सकती। उसे स्वतन्त्र रूप से यज्ञ, पूजा आदि के अनुष्ठान का भी अधिकार नहीं है। कुछ लोग उसे शूद्र और कुछ शूद्र से भी निंद्य समझते हैं। उन्हें वेदादि पढ़ने का भी अधिकार नहीं है। परन्तु जैन-धर्म में स्त्री को पुरुष के बराबर ही धर्म-कार्य का अधिकार है, मोक्ष पाने का अधिकार है। जैन-धर्म किसी विशेष वेष-भेद और स्त्री-पुरुष आदि के लिंग-भेद के कारण किसी को ऊँचा नीचा नहीं समझता, किसी की स्तुति-निंदा नहीं करता। जैन धर्म गुण पूजा का धर्म है। गुण हैं तो स्त्री भी पूज्य है, अन्यथा पुरुष भी नहीं। अतएव गृहस्थ-स्थिति में रहती हुई स्त्री, यदि धर्माराधन करती है—श्रावक-धर्म का पालन करती है, तो वह स्तुति योग्य है, निन्दनीय नहीं।

यही कारण है कि प्रस्तुत सूत्र में श्राविका की अवहेलना करने का भी प्रतिक्रमण है। श्राविका गृह कार्य में लगी रहती हैं, आरम्भ में ही जीवन गुजारती हैं, बाल-बच्चों के मोह में फँसी रहती हैं, उनकी सद्गति कैसे होगी ? '**आरभंताणं कतो सोग्गती ?**' इत्यादि श्राविकाओं की अवहेलना है, जो त्याज्य है। साधक को '**दोष दृष्टिपरं मनः**' नहीं होना चाहिए।

देव और देवियों की आशातना :

देवताओं की आशातना से यह अभिप्राय है कि देवताओं को कामगर्दभ कहना, उन्हें आलसी और अकिंचित्कर कहना। देवता मांस खाते हैं, मद्य पीते हैं—इत्यादि निन्दास्पद सिद्धान्तों का प्रचार करना।

साधु और श्रावकों के लिए देव-जगत के सम्बन्ध में तटस्थ मनोवृत्ति रखना ही श्रेयस्कर है। देवताओं का अपलाप एवं अवर्णवाद करने से साधारण जनता को, जो उनकी मानने वाली होती है, व्यर्थ ही कष्ट पहुँचता है, बुद्धि-भेद होता है, और साम्प्रदायिक संघर्ष भी बढ़ता है।

इहलोक और परलोक की आशातना :

इहलोक और परलोक का अभिप्राय समझ लेना आवश्यक है। मनुष्य के लिए मनुष्य इहलोक है और नारक, तिर्यंच तथा देव परलोक हैं। स्वजाति का प्राणी-वर्ग इहलोक कहा जाता है और विजातीय प्राणी-वर्ग परलोक। इहलोक और परलोक की असत्य प्ररूपणा करना, पुनर्जन्म आदि न मानना, नरकादि चार गतियों के सिद्धान्त पर विश्वास न रखना-इत्यादि इहलोक और परलोक की आशातना है।

लोक की आशातना :

लोक, संसार को कहते हैं। उसकी अशातना क्या? लोक की आशातना से यह अभिप्राय है कि देवादि-सहित लोक के सम्बन्ध में मिथ्या प्ररूपणा करना, उसे ईश्वर आदि के द्वारा बना हुआ मानना, लोक-सम्बन्धी पौराणिक कल्पनाओं पर विश्वास करना; लोक की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय-सम्बन्धी भ्रान्त धारणाओं का प्रचार करना।

प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों की आशातना :

प्राण, भूत आदि शब्दों को एकार्थक माना गया है। सबका अर्थ जीव है। आचार्य जिनदास कहते हैं—'**एगट्ठिता वा एते।**' परन्तु आचार्य जिनदास महत्तर और हरिभद्र आदि ने उक्त शब्दों के कुछ विशेष अर्थ भी स्वीकार किए हैं। द्वीन्द्रिय आदि जीवों को प्राण और पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों को भूत कहा जाता है। समस्त संसारी प्राणियों के लिए जीव और संसारी तथा मुक्त सब अनन्तानन्त जीवों के लिए सत्त्व-शब्द का व्यवहार होता है। "**प्राणिनः द्वीन्द्रियादयः ···। भूतानि पृथिव्यादयः····। जीवन्ति जीवा—आयु कर्मानुभवयुक्ताः सर्व एव····। सत्वाः—सांसारिक-संसारातीतभेदाः।**"

—आवश्यक शिष्य-हिता टीका।

प्राण, भूत आदि शब्दों की व्याख्या का एक और प्रकार भी है, जो प्रायः आज भी सर्वमान्य रूप में प्रचलित है और आगम साहित्य के प्राचीन टीकाकारों को भी मान्य है। द्वीन्द्रिय आदि तीन विकलेन्द्रिय जीवों को प्राण कहते हैं। वृक्षों को भूत,

पञ्चेन्द्रिय प्राणियों को जीव तथा शेष सब जीवों को सत्त्व कहा गया है। **"प्राणा द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिया, भूताश्च तरवो, जीवाश्च पञ्चेन्द्रियाः, सत्वाश्च शेषजीवाः।"**

—भाव विजय कृत उत्तराध्ययन सूत्र-टीका २६।१६।

विश्व के समस्त अनन्तानन्त जीवों की आशातना का यह सूत्र बड़ा ही महत्वपूर्ण है। जैन-धर्म की करुणा का अनन्त प्रवाह केवल परिचित और स्नेही जीवों तक ही सीमित नहीं है। अपितु समस्त जीवराशि से क्षमा माँगने का महान् आदर्श है। प्राणी निकट हों या दूर हों, स्थूल हों, या सूक्ष्म हों, ज्ञात हों या अज्ञात हों, शत्रु हों या मित्र हों, किसी भी रूप में हों, उनकी आशातना एवं अवहेलना करना साधक के लिए सर्वथा निषिद्ध है।

यहाँ आशातना का प्रकार यह है कि आत्मा की सत्ता ही स्वीकार न करना, पृथ्वी आदि को जड़ मानना, आत्मतत्व को क्षणिक कहना, एकेन्द्रिय तथा द्वीन्द्रिय आदि जीवों के जीवन को तुच्छ समझना, फलतः उन्हें पीड़ा पहुँचाना।

काल की आशातना :

साधक को समय की गति का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। अब कैसा काल है? क्या परिस्थिति है? इस समय कौन-सा कार्य कर्त्तव्य है और कौन सा अकर्त्तव्य? एक बार गया हुआ समय फिर लौट कर नहीं आता। समय की क्षति सबसे बड़ी क्षति है। इत्यादि विचार साधक-जीवन के लिए बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। जो लोग आलसी हैं, समय का महत्व नहीं समझते, **'काले कालं समायरे'** के स्वर्ण सिद्धान्त पर नहीं चलते, वे साधना-पथ से भ्रष्ट हुए बिना नहीं रह सकते।

इसी भावना को ध्यान में रखकर काल की आशातना न करने का विधान किया है। काल की अवहेलना बहुत बड़ा पाप है। संयम-जीवन की अनियमितता ही काल की आशातना है।

आचार्य जिनदास और हरिभद्र आदि का कहना है कि काल है ही नहीं, काल ही विश्व का कर्ता हर्ता है, काल देव या ईश्वर है, प्रतिलेखना आदि के अमुक निश्चित काल क्यों माने गए हैं? इत्यादि विचार काल की आशातना है।

श्रुत की आशातना :

जैन-धर्म में श्रुत ज्ञान को भी धर्म कहा है। बिना श्रुत-ज्ञान के चारित्र कैसा? श्रुत तो साधक के लिए तीसरा नेत्र है, जिसके बिना शिव बना ही नहीं जा सकता। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं। **'आगम-चक्खू साहू।'**

श्रुत की आशातना साधक के लिए अतीव भयावह है। जो श्रुत की अवहेलना करता है, वह साधना की अवहेलना करता है—धर्म की अवहेलना करता है। श्रुत के लिए अत्यन्त श्रद्धा रखनी चाहिए। उसके लिए किसी प्रकार की भी अवहेलना का भाव रखना घातक है।

आचार्य हरिभद्र श्रुत-आशातना के सम्बन्ध में कहते हैं कि "जैन श्रुत साधारण भाषा प्राकृत में है। पता नहीं, उसका कौन निर्माता है? वह केवल कठोर चारित्र धर्म पर ही बल देता है। श्रुत के अध्ययन के लिए काल मर्यादा का बन्धन क्यों है? इत्यादि विपरीत विचार और वर्तन श्रुत की आशातना है।"

श्रुत-देवता की आशातना :

श्रुत-देवता कौन है? और उसका क्या स्वरूप है? यह प्रश्न बड़ा ही विवादास्पद है। स्थानकवासी परंपरा में श्रुत देवता का अर्थ किया जाता है—'**श्रुत-निर्माता तीर्थंकर तथा गणधर।**' वह श्रुत का मूल अधिष्ठाता है, रचयिता है, अतः वह उसका देवता है। आचार्य श्री आत्मारामजी, भायाणी हरिलाल जीवराज भाई गुजराती, जीवणलाल छगनलाल संघवी आदि प्रायः सभी लेखक ऐसा ही अर्थ करते हैं।

परन्तु श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक परंपरा में 'श्रुत देवता' एक देवी मानी जाती है, जो श्रुत की अधिष्ठात्री के रूप में उनके यहाँ प्रसिद्ध है। यह मान्यता भी काफी पुरानी है। आचार्य जिनदास भी इसका उल्लेख करते हैं—'**जीए सुतमधिष्ठितं, तीए आसातणा। नत्थि सा, अकिंचिक्करी वा एवमादि।**'—आवश्यक चूर्णि।

वाचनाचार्य की आशातना :

आचार्य और उपाध्याय की आशातना का उल्लेख पहले आ चुका है। फिर यह वाचनाचार्य कौन है? आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज आदि अध्यापक तथा उपाध्याय अर्थ करते हैं। परन्तु वह ठीक नहीं मालूम होता। सूत्रकार व्यर्थ ही पुनरुक्ति नहीं कर सकते।

हाँ तो आइए, जरा विचार करें कि यह वाचनाचार्य कौन है? किंस्वरूप है? वाचनाचार्य, उपाध्याय के नीचे श्रुतोद्देष्टा के रूप में एक छोटा पद है। उपाध्यायश्री की आज्ञा से यह पढ़ने वाले शिष्यों को पाठरूप में केवल श्रुत का उद्देश आदि करता है। आचार्य जिनदास और हरिभद्र यही अर्थ करते हैं। **वायणायरियो नाम जो उवज्झाय-संदिट्ठो उद्देसादि करेति।**'—आवश्यक चूर्णि।

व्यत्याम्रेडित :

'**वच्चामेलियं**' का संस्कृत रूप '**व्यत्याम्रेडित**' होता है। इसका अर्थ हमने शब्दार्थ में, दो-तीन बार बोलना किया है। शून्यचित्त होकर अनवधानता से शास्त्र-पाठों को दुहराते रहना, शास्त्र की अवहेलना है। कुछ आचार्य, व्यत्याम्रेडित का अर्थ भिन्न रूप से भी करते हैं। वह अर्थ भी महत्वपूर्ण है। 'भिन्न-भिन्न सूत्रों में तथा स्थानों पर आए हुए एक जैसे समानार्थक पदों को एक साथ मिलाकर बोलना भी व्यत्याम्रेडित है।

योग-हीन :

योग-हीन का अर्थ मन, वचन और काय योग की चंचलता है अथवा बिना उपयोग के पढ़ना भी योगहीनता है।

श्री हरिभद्र आदि कुछ प्राचीन आचार्य, योग का अर्थ उपधान-तप भी करते है। सूत्रों को पढ़ते हुए किया जाने वाला एक विशेष तपश्चरण उपधान कहलाता है। उसे योग भी कहते हैं। अतः योगोद्वहन के बिना सूत्र पढ़ना भी योग-हीनता है।

विनय-हीन :

विनय-हीन का अर्थ है, सूत्रों का अध्ययन करते समय वाचनाचार्य आदि के प्रति तथा स्वयं सूत्र के प्रति अनादर बुद्धि रखना, उचित विनय न करना। ज्ञान विनय से ही प्राप्त होता है। विनय जिन शासन का मूल है। जहाँ विनय नहीं, वहाँ कैसा ज्ञान और कैसा चारित्र ?

यहाँ कुछ पाठ में व्यत्यय है। किन्हीं प्रतियों में **'विणय-हीणं' 'घोसहीणं'** यह क्रम है। आजकल प्रचलित पाठ भी यही है। परन्तु हरिभद्र का क्रम इससे भिन्न है। वह **विणय हीणं, घोसहीणं, जोगहीणं**—ऐसा क्रम सूचित करते हैं। अब रहे आवश्यक-चूर्णिकार जिनदास महत्तर। उन्होंने क्रम रक्खा है—**पयहीणं, घोसहीणं, विणयहीणं।** हमें श्री जिनदास महत्तर का क्रम अधिक संगत प्रतीत होता है। पद-हीनता और घोष हीनता तो उच्चारण सम्बन्धी भूलें हैं। योग-हीनता और विनय हीनता श्रुत के प्रति आवश्यक रूप में करने योग्य कर्त्तव्य की भूलें हैं। अतः इन सबका पृथक्-पृथक् रूप में उल्लेख करना ही अच्छा रहता है। पदहीनता के बाद विनयहीनता और योगहीनता तथा उसके पश्चात् अन्त में घोष-हीनता का होना, विद्वानों के लिए विचारणीय विषय है। हमारी अल्प बुद्धि में तो यह क्रमभंग ही प्रतीत होता है। क्यों न हम आचार्य जिनदास के क्रम को अपनाने का प्रयत्न करें।

घोष-हीन :

शास्त्र के दो शरीर माने जाते हैं-शब्द शरीर और अर्थ-शरीर। शास्त्र का पढ़ने वाला जिज्ञासु सर्वप्रथम शब्द-शरीर को ही स्पर्श करता है। अतः उसे उच्चारण के प्रति अधिक लक्ष्य देना चाहिए। स्वर के उतार-चढ़ाव के साथ मनोयोगपूर्वक सूत्र पाठ पढ़ने से शीघ्र ही अर्थ-प्रतीति होती है और आस-पास के वातावरण में मधुर ध्वनि गूँजने लगती है। अतः उदात्त (ऊँचा स्वर), अनुदात्त (नीचा स्वर), और स्वरित (मध्यम स्वर) का ध्यान न रखते हुए स्वर-हीन शास्त्र-पाठ करना, घोषहीन दोष माना गया है।

सुष्ठुदत्त :

'सुष्ठुदत्त' के सम्बन्ध में बहुत-सी विवादास्पद व्याख्याएं हैं। कुछ विद्वान् **'सुट्ठुदिन्नं दुट्ठु पडिच्छियं'** को एक अतिचार मानकर ऐसा अर्थ करते हैं कि 'गुरुदेव ने अच्छी तरह अध्ययन कराया हो परन्तु मैंने दुर्विनीत भाव से बुरी तरह ग्रहण किया हो तो।' यह अर्थ संगत नहीं है। ऐसा मानने से ज्ञानातिचार के चौदह भेद न रह कर तेरह भेद ही रह जायँगे, जो कि प्राचीन परंपरा से सर्वथा विरुद्ध है। आशातना भी तेतीस से घटकर बत्तीस ही रह जायँगी, जो स्वयं आवश्यक के मूल पाठ

से ही विरुद्ध है। अतः दोनों पद, दो भिन्न अतिचारों के सूचक हैं, एक के नहीं।

पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज आदि ऐसा अर्थ करते हैं कि 'मूर्ख, अविनीत तथा कुपात्र शिष्य को अच्छा ज्ञान दिया हो तो।' इस अर्थ में भी तर्क है कि मूर्ख तथा अविनीत शिष्य को अच्छा ज्ञान नहीं देना तो क्या बुरा ज्ञान देना ? ज्ञान को अच्छा विशेषण लगाने की क्या आवश्यकता है ? अविनीत तथा कुपात्र तो ज्ञान-दान का अधिकारी पात्र ही नहीं है। रहा मूर्ख, तो उसे धीरे-धीरे ज्ञानदान के द्वारा ज्ञानी बनाना, गुरु का परम कर्त्तव्य है। अस्तु, यह अर्थ भी कुछ संगत प्रतीत नहीं होता।

आगमोद्धारक पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज का अर्थ तो बहुत ही भ्रान्तिपूर्ण है। आपने लिखा है—'विनीत को ज्ञान दे।' यह वाक्य क्या अभिप्राय रखता है, हम नहीं समझ सके। विनीत को ज्ञान देना, कोई दोष तो नहीं है ? कहीं भूल से 'न' तो नहीं छूट गया है ? दुट्ठु पडिच्छियं का अर्थ अविनीत को ज्ञान देना किया है। यह भी ठीक नहीं; क्योंकि पडिच्छियं का अर्थ लेना है, देना नहीं।

कितने ही विद्वानों का एक और अर्थ भी है। वह बहुत विलक्षण है। वे 'सुट्ठु दिन्नं' में 'सुट्ठुऽदिन्नं' इस प्रकार दिन्नं से पहले अकार का प्रश्लेष मानते हैं और अर्थ करते हैं कि आलस्यवश या अन्य किसी ईर्ष्यादि के कारण से योग्य शिष्य को अच्छी तरह ज्ञानदान न दिया हो।' यह अर्थ बहुत सुन्दर मालूम देता है।

अब अन्त में एक महत्वपूर्ण अर्थ की चर्चा की जा रही है। इस अर्थ के पीछे एक प्राचीन और विद्वान् आचार्यों की परंपरा है। आचार्य हरिभद्र कहते हैं—'सुष्ठु दत्तं गुरुणा दुष्ठु प्रतीच्छितं कलुषान्तरात्मनेति। इस संक्षेपोक्ति में दोनों पदों को मिलाकर एक अतिचार मानने का भ्रम होता है। इस भ्रान्ति को दूर करते हुए मलधार गच्छीय आचार्य हेमचन्द्र, अपनी हरिभद्रीय आवश्यक टिप्पणक में लिखते हैं 'सुष्ठु दत्तं' में सुष्ठु शब्द शोभन वाचक नहीं है, जिसका अर्थ अच्छा किया जाता हैं। क्योंकि अच्छी तरह ज्ञान देने में कोई अतिचार नहीं है। अतः यहाँ सुष्ठु शब्द अतिरेकवाचक समझना चाहिए। अल्प श्रुत के योग्य अल्पबुद्धि शिष्य को अधिक अध्ययन करा देना, उसकी योग्यता का विचार न करना, ज्ञानातिचार है।

—"ननु तथाप्येतानि चतुर्दश पदानि तथा पूर्यन्ते यदा सुष्ठु दत्तं दुष्ठु प्रतीच्छितमिति पदद्वयं पृथगाशातना-स्वरूपतया गण्यते। नचैतद् युज्यते, सुष्ठु दत्तस्य तद्रूपताऽयोगात्। नहि शोभनविधिना दत्ते काचिदाशातना संभवति ?

सत्यं, स्यादेतद् यदि शोभनत्ववाचकोऽत्र सुष्ठु शब्दः स्यात्। तच्च नास्ति, अतिरेकवाचित्वेन इहास्य विवक्षितत्वाद्। एतदत्र हृदयम्—सुष्ठु=अतिरेकेण विवक्षिताऽल्पश्रुतयोग्यस्य पात्रस्याऽऽधिक्येन यत् श्रुतं दत्तं तस्य मिथ्यादुष्कृतमिति विवक्षितत्वान्न किञ्चिदसङ्गतमिति।"

प्रत्येक कार्य में योग्यता का ध्यान रखना आवश्यक है। साधारण अल्पबुद्धि शिष्य को मोह या आग्रह के कारण शास्त्रों की विशाल वाचना दे दी जाय तो वह

सँभाल नहीं सकता। फलतः ज्ञान के प्रति अरुचि होने के कारण वह थोड़ा-सा अपने योग्य ज्ञानाभ्यास भी नहीं कर सकेगा। अतः गुरु का कर्त्तव्य है कि यथा योग्य थोड़ा-थोड़ा अध्ययन कराए, ताकि धीरे-धीरे शिष्य की ज्ञान के प्रति अभिरुचि एवं जिज्ञासा बलवती होती चली जाय।

अकाल में स्वाध्याय :

कालिक और उत्कालिक रूप से शास्त्रों के दो विभाग किए हैं। कालिक श्रुत वे हैं जो प्रथम तथा अन्तिम पहर में ही पढ़े जाते हैं, बीच के पहरों में नहीं। उत्कालिक वे हैं, जो चारों ही प्रहरों में पढ़े जा सकते हैं। अस्तु, जिस शास्त्र का जो काल नहीं है उसमें उस शास्त्र का स्वाध्याय करना ज्ञानातिचार है। इसी प्रकार नियत काल में स्वाध्याय न करना भी अतिचार है।

ज्ञानाभ्यास के लिए काल का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। बेमौके की रागिनी अच्छी नहीं होती। यदि शास्त्राध्ययन करता हुआ कालादि का ध्यान न रखेगा तो कब तो प्रतिलेखना करेगा ? कब गोचरचर्या के लिए जायगा ? कब गुरुजनों की सेवा का लाभ लेगा ? कालातीत अध्ययन कुछ दिन ही चलेगा, फिर अन्त में वहाँ भी उत्साह ठंडा पड़ जायगा। शक्ति से अधिक प्रयत्न करना भी दोष है। इसी प्रकार शक्ति के अनुकूल प्रयत्न न करना भी दोष है। स्वाध्याय का समय होते हुए भी आलस्यवश या किसी अन्य अनावश्यक कार्य में लगा रहकर जो साधक स्वाध्याय नहीं करता है, वह ज्ञान का अनादर करता है—अपमान करता है। वह दिव्य ज्ञान-प्रकाश के लिए द्वार बन्द कर अज्ञानान्धकार को निमन्त्रण देता है।

अस्वाध्यायिक में स्वाध्यायिक :

शीर्षक के शब्द कुछ नवीन से प्रतीत होते हैं। परन्तु नवीनता कुछ नहीं है। स्वाध्याय को ही स्वाध्यायिक कहते हैं और अस्वाध्याय को अस्वाध्यायिक। कारण में कार्य का उपचार हो जाता है। अतः स्वाध्याय और अस्वाध्याय के कारणों को भी क्रमशः स्वाध्यायिक तथा अस्वाध्यायिक कह सकते हैं। जिस प्रकार 'पानी जीवन है'—इस वाक्य में पानी जीवन रूप कार्य का कारण है, स्वयं जीवन नहीं है, फिर भी उसे कारण में कार्योपचार की दृष्टि से जीवन कहा है।

हाँ, तो रक्त, मांस, अस्थि तथा मृत कलेवर आदि आसपास में हों तो वहाँ स्वाध्याय करना वर्जित है। अतः जहाँ रुधिर आदि अस्वाध्यायिक हों अर्थात् अस्वाध्याय के कारण विद्यमान हों, फिर भी वहाँ स्वाध्याय करना, ज्ञानातिचार है। इसी प्रकार स्वाध्यायिक में अर्थात् अस्वाध्याय के कारण न हों, फलतः स्वाध्याय के कारण[1] हों, फिर भी स्वाध्याय न करना; यह भी ज्ञानातिचार है। अस्वाध्यायिक शब्द की

---

१. अस्वाध्याय के कारणों का न होना ही स्वाध्याय का कारण है।

उक्त व्याख्या के लिए आचार्य हरिभद्र-कृत आवश्यक सूत्र की शिष्यहिता वृत्ति द्रष्टव्य है। **"आ अध्ययनमाध्ययनमाध्यायः। शोभन आध्यायः स्वाध्यायः। स्वाध्याय एव स्वाध्यायिकम्। न स्वाध्यायिकमस्वाध्यायिकं, तत्कारणमपि च रुधिरादि कारणे कार्योपचारात् अस्वाध्यायिकमुच्यते।"**

अस्वाध्यायिक के मूल में दो भेद हैं—आतम-समुत्थ और परसमुत्थ। अपने व्रण से होने वाले रुधिरादि आतम-समुत्थ कहलाते हैं। और पर अर्थात् दूसरों से होने वाले पर समुत्थ कहे जाते हैं। आवश्यक निर्युक्ति में इन सबका बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। आचार्य जिनदास और हरिभद्रजी ने भी अपनी-अपनी व्याख्याओं में इस सम्बन्ध में काफी लम्बी चर्चा की है। अस्वाध्यायों का वर्णन विस्तार से तो नहीं, हाँ, संक्षेप में हमने भी परिशिष्ट में कर दिया है। जिज्ञासु वहाँ देखकर ज्ञानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

प्रतिक्रमण का विराट रूप :

'पडिक्कमामि एगविहे असंजमे' से लेकर **'तेत्तीसाए आसायणाहिं'** तक के सूत्र में एक-विध असंयम का ही विराट रूप बतलाया गया है। यह सब अतिचार-समूह मूलतः असंयम का ही पर्याय-समूह है। **'पडिक्कमामि एगविहे असंजमे'** यह असंयम का समास प्रतिक्रमण है। और यही प्रतिक्रमण आगे **'दोहि बंधणेहिं'** आदि से लेकर **'तेतीसाए आसायणाहिं'** तक क्रमशः विराट होता गया है।

क्या यह प्रतिक्रमण तेतीस बोल तक का ही है? क्या प्रतिक्रमण का इतना ही विराटरूप है? नहीं, यह बात नहीं है। यह तो केवल सूचनामात्र है, उपलक्षण मात्र है। मलधार-गच्छीय आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में **'दिङ्मात्रप्रदर्शनाय'** है।

हाँ, तो प्रतिक्रमण के तीन रूप हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। **'पडिक्कमामि एगविहे असंजमे'** यह अत्यन्त संक्षिप्त रूप होने से जघन्य प्रतिक्रमण है। दो से लेकर तीन, चार,....दश....शत....सहस्र....लक्ष....कोटि....अर्बुद....किं बहुना, संख्यात.... तथा असंख्यात....तक मध्यम प्रतिक्रमण है। और पूर्ण अनन्त की स्थिति में उत्कृष्ट प्रतिक्रमण होता है। इस प्रकार प्रतिक्रमण के संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त स्थान हैं।

यह लोकालोक प्रमाण अनन्त विराट संसार है। इसमें अनन्त ही असंयमरूप हिंसा, असत्य, आदि हेय स्थान हैं, अनन्त ही संयमरूप अहिंसा, सत्य आदि उपादेय-स्थान हैं, तथा अनन्त ही जीव, पुद्गल आदि ज्ञेय-स्थान हैं। साधक को इन सबका प्रतिक्रमण करना होता है। अनन्त संयम स्थानों में से किसी भी संयम स्थान का आचरण न किया हो, तो उसका प्रतिक्रमण है। अनन्त असंयम स्थानों में से किसी भी असंयम स्थान का आचरण किया हो, तो उसका प्रतिक्रमण है। अनन्त ज्ञेय स्थानों में से किसी भी ज्ञेय स्थान की सम्यक् श्रद्धा तथा प्ररूपणा न की हो, तो उसका प्रतिक्रमण है। सूत्रकार ने एक से लेकर तेतीस तक के बोल सूत्रतः गिना दिए हैं। आखिर

एक-एक बोल गिनकर कहाँ तक गिनाते ? कोटि-कोटि वर्षों का जीवन समाप्त हो जाय, तब भी इन सबकी गणना नहीं की जा सकती । अतः तेतीस के समान ही अन्य अनन्त बोल भी अर्थतः संकल्प में रखने चाहिएँ, भले ही वे ज्ञात हों या अज्ञात हों । साधक को केवल ज्ञात का ही प्रतिक्रमण नहीं करना है, अपितु अज्ञात का भी प्रतिक्रमण करना है । तभी तो आगे के अन्तिम पाठ में कहा है '**जं संभरामि, जं च न संभरामि** ।' अर्थात् जो दोष स्मृति में आ रहे हैं उनका प्रतिक्रमण करता हूँ । और जो दोष इस समय स्मृति में नहीं आ रहे हैं, परन्तु हुए हैं, उन सबका भी प्रतिक्रमण करता हूँ ।

यह है प्रतिक्रमण का विराट रूप । यहाँ बिन्दु में सिन्धु समाना होता है, पिण्ड में ब्रह्माण्ड का दर्शन करना होता है । एक सचित्त रजकण पर पैर आ गया, असंख्य जीवों की हिंसा हो गई । एक सचित्त जल-बिन्दु का उपघात हो गया, असंख्य जीवों की हिंसा हो गई । कहीं भी निगोद का स्पर्श हुआ तो अनन्त जीवों की विराधना हो गई । इस प्रकार असंयम स्थान अनन्त रूप ले लेते हैं । एक रजकण का भी यथार्थ श्रद्धान न हुआ तो तद्गत अनन्त परमाणुओं के कारण अश्रद्धा ने अनन्त रूप ले लिया । लोकालोक रूप अनन्त विश्व के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की मिथ्या प्ररूपणा हुई तो विपरीत प्ररूपणा अनन्त रूप ग्रहण कर लेती है । जब साधक इन सब विपरीत श्रद्धा, विपरीत प्ररूपणा एवं विपरीत आसेवना रूप अनन्त असंयम स्थानों से हटकर सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् प्ररूपणा एवं सम्यक् आसेवना रूप अनन्त संयम स्थानों में वापस लौट कर आता है, तब क्या प्रतिक्रमण अनन्त रूप नहीं हो जाता है ? अवश्य हो जाता है । तभी तो मलधारगच्छीय आचार्य हेमचन्द्र, आवश्यक टिप्पणक में प्रस्तुत प्रसंग को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"**अपरस्यापि चतुस्त्रिंशदादेरनंतपर्यवसानस्य प्रतिक्रमण—स्थानस्यार्थतोऽत्र सूचितत्वात् ।**"

आचार्य जिनदास महत्तर भी आवश्यक चूर्णि में लिखते हैं—**एवं ता सुत्तनिबंधं, अत्थतो तेत्तीसाओ चोत्तीसा भवंतीत्ति । चोत्तीसाए बुद्धवयणातिसेसेहिं, पणतीसाए सच्चवयणातिसेसेहिं, छत्तीसाए उत्तरज्झयणेहिं, एवं जहा समवाए जाव सतभिसयानक्खत्ते सतगतारे पण्णत्ते । एवं संखेज्जेहिं, असंखेज्जेहि, अणंतेहिं य असंजमट्ठाणेहि य संजमट्ठाणेहि य जं पडिसिद्ध-करणादिना अतियरितं तस्य मिच्छामि दुक्कडं । सव्वो वि य एसो दुगादीओ अतियारगणो एकविहस्स असंजमस्स पज्जायसमूहो इति । एवं संवेगाद्यर्थं अणेगधा दुक्कडगरिहा कता ।**

२९ | प्रतिज्ञा-सूत्र

नमो

चउवीसाए तित्थगराणं

उसभादि-महावीरपज्जवसाणाणं ।

इणमेव निग्गंथं पावयणं,—

सच्चं, अणुत्तरं, केवलियं, पडिपुण्णं, नेआउयं, संसुद्धं, सल्लगत्तणं, सिद्धिमग्गं, मुत्तिमग्गं, निज्जाणमग्गं, निव्वाणमग्गं, अवितहमविसंधि, सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं ।

इत्थं ठिआ जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वा-यंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ।

तं धम्मं सद्दहामि, पत्तिआमि, रोएमि, फासेमि, पालेमि,[1] अणुपालेमि ।

तं धम्मं सद्दहंतो, पत्तिअंतो, रोअंतो, फासंतो, पालंतो[2] अणुपालंतो ।

तस्स धम्मस्स

अब्भुट्ठिओमि आराहणाए,

विरओमि विराहणाए ।

असंजमं परिआणामि, संजमं उवसंपज्जामि ।

अबंभं परिआणामि, बंभं उवसंपज्जामि ।

---

१. २. आचार्य जिनदास महत्तर और आचार्य हरिभद्र ने 'पालेमि' और 'पालन्तो' का उल्लेख नहीं किया है ।

अकप्पं परिआणामि, कप्पं उवसंपज्जामि ।
अन्नाणं परिआणामि, नाणं उवसंपज्जामि ।
[1]अकिरियं परिआणामि, किरियं उवसंपज्जामि ।
मिच्छत्तं परिआणामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि ।
[2]अबोहिं परिआणामि, बोहिं उवसंपज्जामि ।
अमग्गं परिआणामि, मग्गं उवसंपज्जामि ।
जं[3] संभरामि, जं च न संभरामि,
जं पडिक्कमामि, जं च न पडिक्कमामि,
तस्स सव्वस्स देवसियस्य अइआरस्स पडिक्कमामि ।

समणोऽहं संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मो, अनियाणो, दिट्ठिसंपन्नो, माया-मोस-विवज्जिओ ।

(१)

अड्ढाइज्जेसु दीव—
समुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु ।
जावंत के वि साहू,
रयहरण-गुच्छ-पडिग्गह-धारा ॥

(२)

पंचमहव्वय-धारा
अड्ढार-सहस्स-सीलंगधारा ।
अक्खयायारचरित्ता,
ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥

१—आचार्य जिनदास महत्तर पहले 'मिच्छत्तं परिआणामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि' कहते हैं, और बाद में 'अकिरियं परिआणामि, किरियं उवसंपज्जामि ।'

२—आचार्य जिनदास की आवश्यक चूर्णि में 'अबोहिं परिआणामि, बोहिं उवसंपज्जामि । अमग्गं परिआणामि मग्गं उवसंपज्जामि' यह अंश नहीं है ।

३—आवश्यक चूर्णि में 'जं पडिक्कमामि, जं च न पडिक्कमामि' पहले है और बाद में 'जं संभरामि, जं च न संभरामि' है ।

शब्दार्थ

नमो=नमस्कार हो
चउवीसाए=चौबीस
तित्थगराणं=तीर्थंकरों को
उसभादि=ऋषभ आदि
महावीर=महावीर
पज्जवसाणाणं=पर्यन्तों को
इणमेव=यह ही
निग्गंथं=निर्ग्रन्थों का
पावयणं=प्रवचन
सच्चं=सत्य है
अणुत्तरं=सर्वोत्तम है
केवलियं=सर्वज्ञ-प्ररूपित अथवा अद्वितीय है
पडिपुण्णं=प्रतिपूर्ण है
नेआउयं=न्यायावाधित है, मोक्ष ले जाने वाला है
संसुद्धं=पूर्ण शुद्ध है
सल्ल=शल्यों को
गत्तणं=काटने वाला है
सिद्धि मग्गं=सिद्धि का मार्ग है
मुत्ति मग्गं=मुक्ति का मार्ग है
निज्जाणमग्गं=संसार से निकलने का मार्ग है, मोक्ष स्थान का मार्ग है
निव्वाण मग्गं=निर्वाण का मार्ग है, परम शान्ति का कारण है
अवितहं=तथ्य है, यथार्थ है
अविसंधि=अव्यवच्छिन्न है, सदा शाश्वत है

सव्व=सब
दुक्ख=दुःखों के
प्पहीण=क्षय का
मग्गं=मार्ग है
इत्थं=इसमें
ठिआ=स्थित हुए
जीवा=जीव
सिज्झंति=सिद्ध होते हैं
बुज्झंति=बुद्ध होते हैं
मुच्चंति=मुक्त होते हैं
परिनिव्वायंति=निर्वाण को प्राप्त होते हैं
सव्वदुक्खाणं=सब दुःखों का
अन्तं=अन्त, क्षय
करेन्ति=करते हैं
तं=उस
धम्मं=धर्म को
सद्दहामि=श्रद्धा करता हूँ
पत्तिआमि=प्रतीति करता हूँ
रोएमि=रुचि करता हूँ
फासेमि=स्पर्शना करता हूँ
पालेमि=पालना करता हूँ
अणु=विशेष रूप से निरन्तर
पालेमि=पालना करता हूँ
तं=उस
धम्मं=धर्म की
सद्दहंतो=श्रद्धा करता हुआ
पत्तिअंतो=प्रतीति करता हुआ
रोअंतो=रुचि करता हुआ

फासंतो=स्पर्शना करता हुआ
पालंतो=पालना करता हुआ
अणु=विशेष रूप से निरन्तर
पालंतो=पालना करता हुआ
तस्स=उस
धम्मस्स=धर्म की
आराहणाए=आराधना में
अब्भुट्ठिओमि=उपस्थित हुआ हूँ
विराहणाए=विराधना से
विरओमि=निवृत्त हुआ हूँ
असंजमं=असंयम को
परिआणामि=जानता हूँ एवं त्यागता हूँ
संजमं=संयम को
उवसंपज्जामि=स्वीकार करता हूँ
अबंभं=अब्रह्मचर्य को
परिआणामि=जानता हूँ और त्यागता हूँ
बंभं=ब्रह्मचर्य को
उवसंपज्जामि=स्वीकार करता हूँ
अकप्पं=अकल्प=अकृत्य को
परिआणामि=जानता हूँ, त्यागता हूँ
कप्पं=कल्प=कृत्य को
उवसंपज्जामि=स्वीकार करता हूँ
अन्नाणं=अज्ञान को
परिआणामि=जानता हूँ और त्यागता हूं
नाणं=ज्ञान को
उवसंपज्जामि=स्वीकार करता हूँ

अकिरियं=अक्रिया को
परिआणामि=जानता हूँ एवं त्यागता हूँ
किरियं=क्रिया को
उवसंपज्जामि=स्वीकार करता हूँ
मिच्छत्तं=मिथ्यात्व को
परिआणामि=जानता हूँ तथा त्यागता हूँ
सम्मत्तं=सम्यक्त्व को
उवसंपज्जामि=स्वीकार करता हूँ
अबोहिं=अबोधि को
परिआणामि=जानता हूँ और त्यागता हूँ
बोहिं=बोधि को
उवसंपज्जामि=स्वीकार करता हूँ
अमग्गं=अमार्ग को
परिआणामि=जानता हूँ, त्यागता हूँ
मग्गं=मार्ग को
उवसंपज्जामि=स्वीकार करता हूँ
जं=जो
संभरामि=स्मरण करता हूँ
च=और
जं=जो
न=नहीं
संभरामि=स्मरण करता हूँ
जं=जिसका
पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ
च=और
जं=जिसका
न=नहीं

पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ
तस्स=उस
सव्वस्स=सब
देवसियस्स=दिवस सम्बन्धी
अइयारस्स=अतिचार का
पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ
समणोहं=मैं श्रमण हूँ
संजय=संयमी हूँ
विरय=विरत हूँ
पडिहय=नाश करने वाला हूँ
पच्चक्खाय=त्याग करने वाला हूँ
पावकम्मो=पापकर्मों का
अनियाणो=निदान-रहित हूं
दिट्ठि=सम्यग दृष्टि से
संपन्नो=युक्त हूँ
माया=माया-सहित
मोस=मृषावाद से
विवज्जिओ=सर्वथा रहित हूँ
अढ्ढाइज्जेसु=अढ़ाई
दीव=द्वीप
समुद्देसु=समुद्रों में
पन्नरससु=पन्दरह
कम्मभूमीसु=कर्म भूमियों में

जावंत=जितने भी
केवि=कोई
साहू=साधु हैं
रयहरण=रजोहरण
गुच्छ=गुच्छक
पडिग्गह=पात्र के
धारा=धारक हैं
पंच=पाँच
महव्वय=महाव्रत के
धारा=धारक हैं
अड्ढार=अट्ठारह
सहस्स=हजार
सीलंग=शीलाङ्ग के
धारा=धारक हैं
अक्खय=अक्षत परिपूर्ण
आयार=आचार रूप
चरित्ता=चारित्र के धारक हैं
ते=उन
सव्वे=सबको
सिरसा=शिर से
मणसा=मन से
मत्थएण=मस्तक से
वंदामि=वन्दना करता हूँ

भावार्थ

भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर देवों को नमस्कार करता हूँ।

यह निर्ग्रन्थ प्रवचन अथवा प्रावचन ही सत्य है, अनुत्तर=सर्वोत्तम है, केवल=अद्वितीय है अथवा कैवलिक=केवल ज्ञानियों से प्ररूपित है, प्रतिपूर्ण=मोक्षप्रापक गुणों से परिपूर्ण है, नैयायिक=मोक्ष पहुँचाने वाला है अथवा न्याय से अबाधित है, पूर्ण शुद्ध अर्थात् सर्वथा निष्क-

लंक है, शल्यकर्तन=माया आदि शल्यों को नष्ट करने वाला है, सिद्धि-मार्ग=पूर्ण हितार्थ रूप सिद्धि की प्राप्ति का उपाय है, मुक्ति-मार्ग=अहित कर्म-बन्धन से मुक्ति का साधन है। निर्याण-मार्ग=मोक्ष स्थान का मार्ग है, निर्वाण-मार्ग=पूर्ण शान्ति रूप निर्वाण का मार्ग है। अवितथ=मिथ्यात्व रहित है, अविसन्धि=विच्छेद रहित अर्थात् सनातन नित्य है तथा पूर्वापर विरोध से रहित है, सब दुःखों का पूर्णतया क्षय करने का मार्ग है।

इस निर्ग्रन्थ प्रावचन में स्थित रहने वाले अर्थात् तदनुसार आचरण करने वाले भव्य जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध=सर्वज्ञ होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण=पूर्ण आत्म-शान्ति को प्राप्त करते हैं, समस्त दुःखों का सदा काल के लिए अन्त करते हैं।

मैं निर्ग्रन्थ प्रावचनस्वरूप धर्म की श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ=सभक्ति स्वीकार करता हूँ, रुचि करता हूँ, स्पर्शना करता हूँ, पालना अर्थात् रक्षा करता हूँ, विशेष रूप से निरन्तर पालना करता हूँ :—

मैं प्रस्तुत जिन-धर्म की श्रद्धा करता हुआ, प्रतीति करता हुआ, रुचि करता हुआ, स्पर्शना=आचरण करता हुआ, पालना=रक्षण करता हुआ, विशेषरूपेण निरन्तर पालना करता हुआ :—

धर्म की आराधना करने में पूर्ण रूप से अभ्युत्थित अर्थात् सन्नद्ध हूँ, और धर्म की विराधना=खण्डना से पूर्णतया निवृत्त होता हूँ :—

असंयम को जानता और त्यागता हूँ, संयम को स्वीकार करता हूँ। अब्रह्मचर्य को जानता और त्यागता हूँ, ब्रह्मचर्य को स्वीकार करता हूँ। अकल्प=अकृत्य को जानता और त्यागता हूँ। कल्प=कृत्य को स्वीकार करता हूँ। अज्ञान को जानता और त्यागता हूँ, ज्ञान को स्वीकार करता हूँ। अक्रिया=नास्तिवाद को जानता तथा त्यागता हूँ, क्रिया=सम्यग्वाद को स्वीकार करता हूँ। मिथ्यात्व=असदाग्रह को जानता तथा त्यागता हूँ, सम्यक्त्व—सदाग्रह को स्वीकार करता हूँ; अबोधि=मिथ्यात्वकार्य को जानता हूँ, एवं त्यागता हूँ, बोधि=सम्यक्त्व कार्य को स्वीकार करता हूँ, अमार्ग=हिंसा आदि अमार्ग को जानता तथा त्यागता हूँ, मार्ग=अहिंसा आदि मार्ग को स्वीकार करता हूँ :—

[दोष-शुद्धि] जो दोष स्मृतिस्थ हैं—याद हैं और जो स्मृतिस्थ नहीं हैं, जिनका प्रतिक्रमण कर चुका हूँ और जिनका प्रतिक्रमण नहीं कर पाया हूँ, उन सब दिवस-सम्बन्धी अतिचारों=दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ—

मैं श्रमण हूँ, संयत=संयमी हूँ, विरत=सावद्य व्यापारों से एवं संसार से निवृत्त हूँ, पाप कर्मों को प्रतिहत करने वाला हूँ एवं पाप कर्मों का प्रत्याख्यान—त्याग करने वाला हूँ, निदान-शल्य से रहित अर्थात् आसक्ति से रहित हूँ, दृष्टि सम्पन्न=सम्यग्दर्शन से युक्त हूँ, माया सहित मृषावाद=असत्य का परिहार करने वाला हूँ—

ढाई द्वीप और दो समुद्र के परिमाण वाले मानव-क्षेत्र में अर्थात् पंदरह कर्म भूमियों में जो भी रजोहरण, गुच्छक एवं पात्र के धारण करने वाले—

तथा पाँच महाव्रत, अठारह हजार शील=सदाचार के अंगों के धारण करने वाले एवं अक्षत आचार के पालक त्यागी साधु हैं, उन सबको शिर से, मन से, मस्तक से वन्दना करता हूँ।

भाष्य

यह अन्तिम प्रतिज्ञा का सूत्र है। प्रतिक्रमण आवश्यक के उपसंहार में साधक बड़ी ही उदात्त, गंभीर एवं भावनापूर्ण प्रतिज्ञा करता है। प्रतिज्ञा का एक-एक शब्द साधना को स्फूर्ति एवं प्रगति की दिव्य ज्योति से आलोकित करने वाला है। असंयम को त्यागता हूँ और संयम को स्वीकार करता हूँ, अब्रह्मचर्य को त्यागता हूँ और ब्रह्मचर्य को स्वीकार करता हूँ, अज्ञान को त्यागता हूँ और ज्ञान को स्वीकार करता हूँ, कुमार्ग को त्यागता हूँ, और सन्मार्ग को स्वीकार करता हूँ, इत्यादि कितनी मधुर एवं उत्थान के संकल्पों से परिपूर्ण प्रतिज्ञा है ?

जैन साधक निवृत्ति-मार्ग का पथिक है। उसका मुख कैवल्य पद की ओर है एवं पीठ संसार की ओर। वासना से उसे घृणा है, अत्यन्त घृणा है। उसका आदर्श एक मात्र उच्च जीवन, उच्च विचार और उच्च आचार ही है। वह असंयम से संयम की ओर, अब्रह्मचर्य से ब्रह्मचर्य की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर, अमार्ग से मार्ग की ओर गतिशील रहना चाहता है। यही कारण है कि यदि कभी भूल से कोई दोष हो गया हो, आत्मा संयम से असंयम की ओर भटक गया हो तो उसकी प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धि की जाती है, पश्चात्ताप के द्वारा

पाप कालिमा साफ की जाती है। असंयम की जरा सी भी रेखा जीवन पर नहीं रहने दी जाती। प्रतिक्रमण के द्वारा आलोचना कर लेना ही अलं नहीं हैं, परन्तु पुनः कभी भी यह दोष नहीं किया जायगा—यह दृढ़ संकल्प भी दुहराया जाता है। प्रस्तुत प्रतिज्ञासूत्र में यही शिव संकल्प है। प्रतिक्रमण आवश्यक की समाप्ति पर, साधक, फिर असंयम पथ पर कदम न रखने की अपनी धर्म-घोषणा करता है।

जैन धर्म का प्रतिक्रमण अपने तक ही केन्द्रित है। वह किसी ईश्वर अथवा परमात्मा के आगे पापों के प्रति क्षमा याचना नहीं है। ईश्वर हमारे पापों को क्षमा कर देगा, फलस्वरूप फिर हमें कुछ भी पाप का फल नहीं भोगना पड़ेगा, इस सिद्धान्त में जैनों का अणुभर भी विश्वास नहीं है। जो लोग इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, वे एक ओर पाप करते हैं एवं दूसरी ओर ईश्वर से प्रतिदिन क्षमा माँगते रहते हैं। उनका लक्ष्य पापों से बचना नहीं है, किन्तु पापों के फल से बचना है। जब कि जैन धर्म मूलतः पापों से बचने का ही आदर्श रखता है। अतएव वह कृत पापों के लिए पश्चात्ताप कर लेना ही पर्याप्त नहीं समझता; प्रत्युत फिर कभी पाप न होने पाएँ—इस बात की भी सावधानी रखता है।

पूर्व नमस्कार :

प्रतिज्ञा करने से पहले संयम-पथ के महान् यात्री श्री ऋषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर देवों को नमस्कार किया गया है। यह नियम है कि जैसी साधना करनी हो उसी साधना के उपासकों का स्मरण किया जाता है। युद्धवीर युद्धवीरों का तो अर्थवीर अर्थवीरों का स्मरण करते हैं। यह धर्म युद्ध है, अतः यहाँ धर्मवीरों का ही स्मरण किया गया है। जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकर धर्म-साधना के लिए अनेकानेक भयंकर परीषह सहते रहे हैं एवं अन्त में साधक से सिद्ध पद पर पहुँच कर अजर अमर परमात्मा हो गए हैं। अतः उनका पवित्र स्मरण हम साधकों के दुर्बल मन में उत्साह, बल एवं स्वाभिमान की भावना प्रदीप्त करने वाला है। उनकी स्मृति हमारी आत्मशुद्धि को स्थिर करने वाली है। तीर्थंकर हमारे लिए अन्धकार में प्रकाश-स्तंभ हैं।

भगवान् ऋषभदेव :

वर्तमान कालचक्र में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं, उनमें भगवान् ऋषभदेव सर्व-प्रथम हैं। आपके द्वारा ही मानव-सभ्यता का आविर्भाव हुआ है। आपसे पहले मानव जंगलों में रहता, वन-फल खाता एवं सामाजिक जीवन से शून्य अकेला घूमा करता था। न उसे धर्म का पता था और न कर्म का ही। भगवान् ऋषभ के प्रवचन ही उसे सामाजिक प्राणी बनाने वाले हैं, एक दूसरे के सुख दुःख की अनुभूति में सम्मिलित करने वाले हैं। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि उस युग में मानव के पास शरीर तो मानव का था, परन्तु आत्मा मानव की न थी। मानव-आत्मा का स्वरूप-दर्शन, सर्वप्रथम, भगवान ऋषभदेव ने ही कराया।

भगवान् ऋषभदेव जैन धर्म के आदि प्रवर्तक हैं। जो लोग जैन धर्म को सर्वथा आधुनिक माने बैठे हैं, उन्हें इस ओर लक्ष्य देना चाहिए। भगवान् ऋषभदेव के गुण गान वेदों और पुराणों तक में गाए गए हैं। वे मानव संस्कृति के आदि उद्धारक थे, अतः वे मानव-मात्र के पूज्य रहे हैं। आज भले ही वैदिक समाज ने, उनका वह ऋण, भुला दिया हो, परन्तु प्राचीन वैदिक ऋषि उनके महान् उपकारों को नहीं भूले थे; अतएव उन्होंने खुले हृदय से भगवान ऋषभदेव का स्तुति गान किया है।

अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं,
बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कें।

—ऋग्० मं० १ सू० १९० मं० १

अर्थात् मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुतियोग्य ऋषभ को पूजा-साधक मन्त्रों द्वारा वर्धित करो।

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां,
विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां न पातमश्विना हुवे धियं,
इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तमोजः॥

—अथर्ववेद, कां० १९।४२।४

अर्थात् सम्पूर्ण पापों से मुक्त तथा अहिंसक व्रतियों के प्रथम राजा, आदित्य-स्वरूप, श्रीऋषभदेव का मैं आवाहन करता हूँ। वे मुझे बुद्धि एवं इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें।

नाभेरसावृषभ आस सुदेवसूनुर्—
यो वै चचार समदृग् जडयोगचर्याम्।
यत्पारहंस्यमृषयः पदमामनन्ति,
स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्त-संगः॥

—श्रीमद्‌भागवत २।७।१०

वेद और भागवत क्या, अन्य भी वायु पुराण, पद्म पुराण आदि में भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की गई है। इन प्रमाणों से जाना जाता है कि—भगवान् ऋषभदेव समस्त भारतवर्ष के एक मात्र पूज्य देवता रहे हैं। यह तो वैदिक साहित्य का नमूना है। जैनधर्म का साहित्य तो भगवान् ऋषभदेव के गुणगान से सर्वथा ओत-प्रोत है ही। प्रत्येक पाठक इस बात से परिचित है, अतः जैन ग्रन्थों से उद्धरण देकर व्यर्थ ही लेख का कलेवर क्यों बढ़ाया जाय ?

भगवान् महावीर :

आज भगवान् महावीर को कौन नहीं जानता ? आज से अढ़ाई हजार वर्ष पहले भारतवर्ष में कितना भयंकर अज्ञान था, कितना तीव्र पाखण्ड था, कितना धर्म

के नाम पर अत्याचार था ? इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी उस समय के यज्ञादि में होने वाले भयंकर हिंसा-काण्डों से परिचित है। भगवान् महावीर ने उस समय अहिंसा धर्म की दुन्दुभि बजाई थी। कितने कष्ट सहे, कितनी आपत्तियां झेलीं; किन्तु भारत की काया-पलट कर ही दी। आध्यात्मिक क्रान्ति का सिंहनाद भारत के कोने-कोने में गूँज उठा ! भगवान् महावीर का ऋण भारतवर्ष पर अनन्त है, असीम है ! आज हम किसी भी प्रकार से उनका ऋण अदा नहीं कर सकते। प्रभु की सेवा के लिए हमारे पास क्या है ? और वे हम से चाहते भी तो कुछ नहीं। उनके सेवक किंवा अनुयायी होने के नाते हमारा इतना ही कर्त्तव्य है कि हम उनके बताए हुए सदाचार के पथ पर चलें और श्रद्धा भक्ति के साथ मस्तक झुकाकर उनके श्रीचरणों में वन्दन करें।

भगवान् महावीर का नाम पूर्णतया अन्वर्थक है। साधक-जीवन के लिए आपके नाम से ही बड़ी भारी आध्यात्मिक प्रेरणा मिलती है। एक प्राचीन आचार्य भगवान् के 'वीर' नाम की व्युत्पत्ति करते हुए बड़ी ही भव्य-कल्पना करते हैं—

विदारयति यत्कर्म,
तपसा च विराजते।
तपोवीर्येण युक्तश्च,
तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥

—जो कर्मों का विदारण करता है, तपस्तेज के द्वारा विराजित अर्थात् सुशोभित होता है, तप एवं वीर्य से युक्त रहता है, वह वीर कहलाता है।

भगवान् वीर के नाम में उपर्युक्त गुणों का प्रकाश सब ओर फैला हुआ है। उनका तप, उनका तेज, उनका आध्यात्मिक बल, उनका त्याग अद्वितीय है। भगवान् के जीवन की प्रत्येक झांकी हमारे लिए आध्यात्मिक प्रकाश अर्पण करने वाली है।

जिन-शासन की महत्ता :

तीर्थंकर देवों को नमस्कार करने के बाद जिन-शासन की महिमा का वर्णन किया गया है। अहिंसा प्रधान जिन-शासन के लिए ये विशेषण सर्वथा युक्तियुक्त हैं। वह सत्य है, अद्वितीय है, प्रतिपूर्ण है, तर्कसंगत है, मोक्ष का मार्ग है, दुःखों का नाश करने वाला है। धर्म का मौलिक अर्थ ही यह है कि—वह साधक को संसार के दुःख और परिताप से निकाल कर उत्तम एवं अविचल सुख में स्थिर करे। जिस धर्म से अनन्त, अविनाशी और अक्षय सुख की प्राप्ति न हो, वह धर्म ही नहीं। जैनधर्म त्याग, वैराग्य एवं वासना-निवृत्ति पर ही केन्द्रित है; अतः वह एक दृष्टि से आत्मधर्म है, आत्मा का अपना धर्म है। मानव-जीवन की चरम सफलता त्याग में ही रही हुई है, और वह त्याग जैनधर्म की साधना के द्वारा भली भाँति प्राप्त किया जा सकता है।

आइए, अब कुछ मूल शब्द पर विचार कर लें। मूल शब्द है—'निग्गंथं पावयणं।' 'पावयणं' विशेष्य है और 'निग्गंथं' विशेषण है। जैन साहित्य में 'निग्गंथं'

शब्द सर्वतोविश्रुत है। 'निग्गंथ' का संस्कृत रूप 'निर्ग्रन्थ' होता है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है—'धन, धान्य आदि बाह्यग्रन्थ और मिथ्यात्व, अविरति तथा क्रोध, मान, माया आदि आभ्यन्तर ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह से रहित पूर्ण त्यागी एवं संयमी साधु।'
'बाह्याभ्यन्तरग्रन्थनिर्गताः साधवः।' —आचार्य हरिभद्र

आचार्य हरिभद्र की उपर्युक्त व्युत्पत्ति के समान ही अन्य जैनाचार्यों ने भी निर्ग्रन्थ की यही व्युत्पत्ति की है। परन्तु जहाँ तक विचार की गति है, यह शब्द साधारण साधुओं के लिए उपचार से प्रयुक्त होता है, क्योंकि मुख्य रूप से बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी पूर्ण निर्ग्रन्थ तो अरिहन्त भगवान ही होते हैं। साधारण निर्ग्रन्थ-पदवाच्य साधु तो बाह्य परिग्रह का त्यागी होता है, और आन्तर परिग्रह के कुछ अंश को त्याग देता है एवं शेष अंश को त्यागने के लिए साधना करता है। यदि साधारण साधु भी क्रोधादि आभ्यन्तर परिग्रह का पूर्ण त्यागी हो जाय तो फिर वह साधक कैसा? पूर्ण न हो जाय, कृतकृत्य न हो जाय? निर्ग्रन्थत्व की विशुद्ध दशा उपशान्तमोह एवं क्षीण मोह गुण स्थानों पर ही प्राप्त होती है, नीचे नहीं। अतएव जो राग द्वेष की गाँठ को सर्वथा अलग कर देता है, वह तत्त्वतः निश्चयनयसिद्ध निर्ग्रन्थ है। और जो अभी अपूर्ण है, किन्तु नैर्ग्रन्थ्य अर्थात् निर्ग्रन्थत्व के प्रति यात्रा कर रहा है, भविष्य में निर्ग्रन्थत्व की पूर्ण स्थिति प्राप्त करना चाहता है, वह व्यवहारतः सम्प्रदाय-सिद्ध निर्ग्रन्थ है। देखिए, तत्त्वार्थभाष्य अध्याय ९, सू० ४८।

[1]निर्ग्रन्थों=अरिहंतों का प्रवचन, नैर्ग्रन्थ्य प्रावचन है। **'निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थ्यं प्रावचनमिति।'**—आचार्य हरिभद्र। मूल में जो 'निग्गंथं' शब्द है, वह निर्ग्रन्थवाचक न होकर नैर्ग्रन्थ्य-वाचक है। अब रहा 'पावयण' शब्द, उसके दो संस्कृत रूपान्तर हैं–प्रवचन और प्रावचन। आचार्य जिनदास प्रवचन कहते हैं और हरिभद्र प्रावचन। शब्दभेद होते हुए भी, दोनों आचार्य एक ही अर्थ करते हैं 'जिसमें जीवादि पदार्थों का तथा ज्ञानादि रत्नत्रय की साधना का यथार्थ रूप से निरूपण किया गया है, वह सामायिक से लेकर बिन्दुसार पूर्व तक का आगम साहित्य।' आचार्य जिनभद्र, आवश्यक चूर्णि में लिखते हैं—**'पावयणं सामाइयादि बिन्दुसारपज्जवसाणं, जत्थ नाण-दंसण चारित्त-साहणवावारा अणेगधा वण्णिज्जंति।'** आचार्य हरिभद्र लिखते हैं—**'प्रकर्षेण अभिविधिना उच्यन्ते जीवादयो यस्मिन् तत्प्रावचनम्।'**

ऊपर के वर्णन से प्रावचन अथवा प्रवचन का अर्थ 'श्रुत रूप शास्त्र' ध्वनित होता है। परन्तु हमने **'जिन शासन'** अर्थ किया है, और जिन शासन का फलितार्थ है **'जिन धर्म'**। इसके लिए एक तो आगे की वर्णन-शैली ही प्रमाण है। मोक्ष का मार्ग ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूप जैन धर्म है, केवल शास्त्र तो नहीं। भगवान महावीर ने निरूपण किया है—

१—आचार्य हरिभद्र भी सामायिकाध्ययन की ७८९ गाथा की टीका में कहते हैं—**'निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थ्यम्—आर्हतमिति भावना।'**

नाणं च दंसणं चेव,
चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गोत्ति पण्णत्तो,
जिणेहिं वर-दंसिहिं ॥

—उत्तराध्ययन २८।१।

—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ही मोक्ष का मार्ग है।

आचार्य उमास्वाति भी कहते हैं :—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।

—तत्त्वार्थ सूत्र १।१।

एक स्थान पर नहीं, सैकड़ों स्थान पर इसी प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र को मोक्ष-मार्ग कहा है। प्रस्तुत सूत्र के '**इत्थं ठिश्रा जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति**....' आदि पाठ के द्वारा भी यही सिद्ध होता है। धर्म में स्थित होने पर ही तो जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होते हैं; अन्यथा नहीं। आगे चलकर '**तं धम्मं सद्दहामि, पत्तिश्रामि**' में स्पष्टतः ही धर्म का उल्लेख किया है। 'तत्' शब्द भी पूर्व-परामर्शक होने के कारण पूर्व उल्लेख की ओर संकेत करता है। अर्थात् पूर्वोक्त-विशेषण-विशिष्ट प्रावचन को ही धर्म बताता है। आचार्य हरिभद्र भी यहाँ ऐसा ही उल्लेख करते हैं—'**य एष नैर्ग्रन्थ्य-प्रावचनलक्षणो धर्म उक्तः, तं धर्मं श्रद्दध्महे**....।'

यापनीय संघ के महान् आचार्य श्री अपराजित तो निर्ग्रन्थ का अर्थ ही मिथ्यात्व, अज्ञान एवं अविरति रूप ग्रन्थ से निर्गत होने के कारण सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यक् चारित्र आदि धर्म करते हैं और जिनागम-रूप प्रवचन का अभिधेय अर्थात् प्रतिपाद्य विषय होने से धर्म को ही प्रावचन भी कहते हैं। 'प्रावचन' शब्द को देखते हुए, उसका अर्थ, प्रवचन (शास्त्र) की अपेक्षा प्रावचन अर्थात् प्रवचन-प्रतिपाद्य ही भाषा-शास्त्र की दृष्टि से कुछ अधिक संगत प्रतीत होता है।

—"**ग्रथनन्ति रचयन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्थाः—मिथ्यादर्शनं, मिथ्याज्ञानं, श्रसंयमः, कषायाः, श्रशुभयोगत्रयं चेत्यमी परिणामाः। मिथ्यादर्शनान्निष्क्रान्तं किम्? सम्यग् दर्शनम्। मिथ्याज्ञानान्निष्क्रान्तं सम्यग् ज्ञानं, श्रसंयमात् कषायेभ्योऽशुभयोगत्रयाच्च निष्क्रान्तं सुचारित्रं। तेन तत्त्रयमिह निर्ग्रन्थशब्देन भण्यते।**

प्रावचनं=प्रवचनस्य जिनागमस्य श्रभिधेयम्।"

—मूलाराधना-विजयोदया १-४३।

सत्य :

धर्म के लिए सबसे पहला विशेषण सत्य है। सत्य ही तो धर्म हो सकता है। जो असत्य है, अविश्वसनीय है, वह धर्म नहीं, अधर्म है। जब भी कोई व्यक्ति किसी से किसी सिद्धान्त के सम्बन्ध में बात करता है तो पूछने वाला सर्वप्रथम यही पूछता है—क्या यह बात सच है? इस प्रश्न का उत्तर देना ही होगा। तभी कोई सिद्धान्त

आगे प्रगति कर सकता है। अतएव सूत्रकार ने सर्वप्रथम इसी प्रश्न का उत्तर दिया है और कहा है कि रत्नत्रय रूप जैन धर्म सत्य है।

आचार्य जिनदास सत्य की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं—'जो भव्यात्माओं के लिए हितकर हो तथा सद्भूत हो, वह सत्य होता है।'
'सद्भ्यो हितं सच्चं, सद्भूतं वा सच्चं।'

जैन धर्म वैज्ञानिक धर्म है। उसका सिद्धान्त पदार्थ-विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है। जड़ और चैतन्य तत्त्व का निरूपण, जिन शासन में इस प्रकार किया गया है कि जो आज भी विद्वानों के लिए चमत्कार की वस्तु है। अहिंसावाद, अनेकान्तवाद और कर्मवाद आदि इतने ऊँचे और प्रामाणिक सिद्धान्त हैं कि आज तक के इतिहास में कभी झुठलाए नहीं जा सके। झुठलाए जाएँ भी कैसे? जो सिद्धान्त सत्य की सुदृढ़ नींव पर खड़े किए गए हैं, वे त्रिकालाबाधित सत्य होते हैं, तीन काल में भी मिथ्या नहीं हो सकते। देखिए, विदेशी विद्वान् भी जैन धर्म की सत्यता और महत्ता को किस प्रकार आदर की दृष्टि से स्वीकार करते हैं :—

पौर्वात्य दर्शनशास्त्र के सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् डाक्टर ए० गिरनाट लिखते हैं—"मनुष्यों की उन्नति के लिए जैन धर्म में चारित्र-सम्बन्धी मूल्य बहुत बड़ा है। जैनधर्म एक बहुत प्रामाणिक, स्वतंत्र और नियमरूप धर्म है।"

पूर्व और पश्चिम के दर्शन शास्त्रों के तुलनात्मक अभ्यासी इटालियन विद्वान् डाक्टर एल० पी० टेसीटरी भी जैनधर्म की श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं–"जैन धर्म बहुत ही उच्च कोटि का धर्म है। इसके मुख्य तत्त्व, विज्ञान शास्त्र के आधार पर रचे हुए हैं। यह मेरा अनुमान ही नहीं, बल्कि अनुभव-मूलक पूर्ण दृढ़ विश्वास है कि ज्यों-ज्यों पदार्थ विज्ञान उन्नति करता जायगा, त्यों-त्यों जैन धर्म के सिद्धान्त सत्य सिद्ध होते जायँगे।'

राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक, भारत के सर्वप्रथम भारतीय गवर्नर जनरल चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, सरदार पटेल आदि ने भी जैन-धर्म की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और उसके सिद्धांतों की सत्यता के लिए अपनी स्पष्ट सम्मति प्रकट की है। सबके लेखों को यहाँ उद्धृत कर सकें, इतना हमें न अवकाश है और न वह लेख-सामग्री ही पास है।

केवलियं :

मूल में 'केवलियं' शब्द है, जिसके संस्कृत रूपान्तर दो किए जा सकते हैं— केवल और कैवलिक। केवल का अर्थ अद्वितीय है। सम्यग् दर्शन आदि तत्त्व अद्वितीय हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं। कौन है वह सिद्धान्त, जो इनके समक्ष खड़ा हो सके? मानवजाति का हित एकमात्र इन्हीं सिद्धान्तों पर चलने में है। पवित्र विचार और पवित्र आचार ही आध्यात्मिक सुख समृद्धि एवं शान्ति का मूल मन्त्र है।

कैवलिक का अर्थ है—'केवल ज्ञानियों द्वारा प्ररूपित अर्थात् प्रतिपादित। छद्मस्थ मनुष्य भूल कर सकता है। अतः उसके बताए हुए सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता। परन्तु जो केवल ज्ञानी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वद्रष्टा हैं,—त्रिकालदर्शी है; उनका कथन किसी प्रकार भी असत्य नहीं हो सकता। इसीलिए मंगल सूत्र में कहा गया है कि—**'केवलि-पन्नत्तो धम्मो मंगलं।'** सम्यग् दर्शन आदि धर्म तत्व का निरूपण केवल ज्ञानियों द्वारा हुआ है; अतः वह पूर्ण सत्य है, त्रिकाला-बाधित है।

उक्त दोनों ही अर्थों के लिए आचार्य जिनदास-कृत आवश्यक चूर्णि का प्रामाणिक आधार है—**"केवलियं—केवलं अद्वितीयं एतदेवैकं हितं, नान्यद् द्वितीयं प्रवचनमस्ति। केवलिणा वा पण्णत्तं केवलियं।"**

प्रतिपूर्ण :

जैनधर्म एक प्रतिपूर्ण धर्म है। सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही तो जैनधर्म है और वह अपने आप में सब ओर से प्रतिपूर्ण है, किसी प्रकार भी खण्डित नहीं है।

आचार्य हरिभद्र प्रतिपूर्ण का अर्थ करते हैं—'मोक्ष को प्राप्त कराने वाले सद्गुणों से पूर्ण, भरा हुआ।' **'अपवर्ग-प्रापकैर्गुणैर्भृतमिति।'**

नैयायिक :

'नेआउयं' का संस्कृत रूप **नैयायिक** होता है। आचार्य हरिभद्र, नैयायिक का अर्थ करते हैं—'जो नयनशील है, ले जाने वाला है, वह नैयायिक है। सम्यग् दर्शन आदि मोक्ष में ले जाने वाले हैं, अतः नैयायिक कहलाते हैं। **'नयनशीलं नैयायिकं मोक्षगमकमित्यर्थः।'**

श्री भावविजयजी न्याय का अर्थ 'मोक्ष' करते हैं। क्योंकि निश्चित आय=लाभ ही न्याय है, और ऐसा न्याथ एक-मात्र मोक्ष ही है। साधक के लिए मोक्ष से बढ़कर और कौन सा लाभ है? यह न्याय=मोक्ष ही प्रयोजन है जिनका, वे सम्यग् दर्शन आदि नैयायिक कहलाते हैं। **'निश्चित आयो लाभो न्यायो मुक्तिरित्यर्थः, स प्रयोजनमस्येति नैयायिकः।'**—उत्तराध्ययनवृत्ति, अध्य० ४। गा० ५।

आचार्य जिनदास नैयायिक का अर्थ न्यायाबाधित करते हैं। **'न्यायेन चरति नैयायिकं, न्यायाबाधितमित्यर्थः'**। सम्यग् दर्शन आदि जैनधर्म सर्वथा न्यायसंगत हैं। केवल आगमोक्त होने से ही मान्य हैं, यह बात नहीं। यह पूर्ण तर्कसिद्ध धर्म है। यही कारण है कि जैनधर्म तर्क से डरता नहीं है। अपितु तर्क का स्वागत करता है। शुद्ध-बुद्धि से धर्मतत्वों की परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा की कसौटी पर, यदि धर्म सत्य है, तो वह और अधिक कान्तिमान होगा, प्रकाशमान होगा। वह सत्य ही क्या, जो परीक्षा की आग में पड़कर म्लान हो जाय? **'सत्ये नास्ति भयं क्वचित्।'** सत्य को कहीं भी भय नहीं है। खरा सोना क्या कभी परीक्षा से घबराता है? अतएव जैनधर्म

की परीक्षा के लिए, उत्तराध्ययन सूत्र के केशी गौतम-संवाद में गणधर गौतम ने स्पष्टतः कहा है—'**पन्ना समिक्खए धम्मं।**' 'तर्कशील बुद्धि ही धर्म की परख करती है।'

शल्य-कर्तन :

आगम की भाषा में शल्य का अर्थ है 'माया, निदान और मिथ्यात्व।' बाहर के शल्य कुछ काल के लिए ही पीड़ा देते हैं, अधिक से अधिक वर्तमान जीवन का संहार कर सकते हैं। परन्तु ये अंदर के शल्य तो बड़े ही भयंकर हैं। अनन्तकाल से अनन्त आत्माएँ, इन शल्यों के द्वारा पीड़ित रही हैं। स्वर्ग में पहुँच कर भी इनसे मुक्ति नहीं मिली। संसार भर का विराट ऐश्वर्य एवं सुख-समृद्धि पाकर भी आत्मा अन्दर में स्वस्थ नहीं हो सकती, जब तक कि शल्य से मुक्ति न मिले। शल्यों का विस्तृत निरूपण, शल्य सूत्र में कर आए हैं, अतः पाठक वहाँ देख सकते हैं।

उक्त शल्यों को काटने की शक्ति एकमात्र धर्म में ही है। सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व शल्य को काटता है, सरलता माया-शल्य को और निर्लोभता निदान शल्य को। अतएव धर्म को शल्य-कर्तन ठीक ही कहा गया है—"**कृन्तोति कर्तनं शल्यानि-मायादीनि, तेषां कर्तनं भव-निबन्धन-मायादि-शल्यच्छेदकमित्यर्थः।**"—आचार्य हरिभद्र।

सिद्धि मार्ग :

आचार्य हरिभद्र सिद्धि का अर्थ 'हितार्थ-प्राप्ति' करते हैं। '**सेधनं सिद्धिः हितार्थ-प्राप्तिः।**' आचार्यकल्प पं० आशाधरजी मूलाराधना की टीका में 'अपने आत्म-स्वरूप की उपलब्धि को ही सिद्धि' कहते हैं। '**सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः।**' आत्मस्वरूप की प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई सिद्धि नहीं है। आत्मस्वरूपोपलब्धि ही सबसे महान् हितार्थ है।

मार्ग का अर्थ उपाय है। आत्मस्वरूपोपलब्धि का मार्ग=उपाय सम्यग् दर्शनादि रत्नत्रय है। यदि साधक सिद्धत्व प्राप्त करना चाहता है, आत्मस्वरूप का दर्शन करना चाहता है, कर्मों के आवरण को हटा कर शुद्ध आत्मज्योति का प्रकाश पाना चाहता है, तो इसके लिए शुद्ध भाव से सम्यग् दर्शनादि धर्म की साधना ही एकमात्र अमोघ उपाय है।

मुक्ति-मार्ग :

आचार्य जिनदास मुक्ति का अर्थ-निर्मुक्तता अर्थात् निःसंगता करते हैं। आचार्य हरिभद्र कर्मों की विच्युति को मुक्ति कहते हैं। '**मुक्तिः अहितार्थकर्मविच्युतिः।**' जब आत्मा कर्म बन्धन से मुक्त होता है, तभी वह पूर्ण शुद्ध आत्म-स्वरूप की प्राप्ति करता है।

निर्याण मार्ग :

आचार्य हरिभद्र निर्याण का अर्थ मोक्षपद करते हैं। जहाँ जाया जाता है वह यान होता है। निरुपम यान निर्याण कहलाता है। मोक्ष ही ऐसा पद है, जो सर्व-

श्रेष्ठ यान=स्थान है, अतः वह जैन आगम साहित्य में निर्याणपदवाच्य भी है। "यान्ति तदिति यानं 'कृत्यलुटो बहुलं' (पा०२—३—११३) इति वचनात्कर्मणि ल्युट्। निरुपमं यानं निर्याणं, ईषत्प्राग्भाराख्यं मोक्षपदमित्यर्थः।"

आचार्य जिनदास निर्याण का अर्थ 'संसार से निर्गमन' करते हैं। 'निर्याणं संसारात्पलायणं।' सम्यग् दर्शनादि धर्म ही अनन्तकाल से भटकते हुए भव्य जीवों को संसार से बाहर निकालते हैं। अतः संसार से बाहर निकलने का मार्ग होने से सम्यग् दर्शनादि धर्म निर्याण मार्ग कहलाता है।

निर्वाण मार्ग :

सब कर्मों के क्षय होने पर आत्मा को जो कभी नष्ट न होने वाला आत्यन्तिक आध्यात्मिक सुख प्राप्त होता है, वह निर्वाण कहलाता है। आचार्य हरिभद्र कहते हैं—'निर्वृति निर्वाणं—सकलकर्मक्षयजमात्यन्तिकं सुखमित्यर्थः।'

आचार्य जिनदास आत्म-स्वास्थ्य को निर्वाण कहते हैं। आत्मा कर्मरोग से मुक्त होकर जब अपने स्वस्वरूप में स्थित होता है, पर—परिणति से हटकर सदा के लिए स्वपरिणति में स्थिर होता है, तब वह स्वस्थ कहलाता है। इस आत्मिक स्वास्थ्य को ही निर्वाण कहते हैं।

देखिए, आवश्यक-चूर्णि प्रतिक्रमणाध्याय—"निव्वाणं निव्वत्ती आत्म-स्वास्थ्यमित्यर्थः।"

बौद्ध दर्शन में भी जैन परंपरा के समान ही निर्वाण शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है। जैन दर्शन की साधना के समान बौद्ध दर्शन की साधना का भी चरम लक्ष्य निर्वाण है। परन्तु जैन धर्म-सम्मत निर्वाण और बौद्धाभिमत निर्वाण में आकाश पाताल का अन्तर है। जैन धर्म का निर्वाण उपर्युक्त वर्णन के आधार पर भाववाचक है, आत्मा की अत्यन्त शुद्ध पवित्र अवस्था का सूचक है। हमारे यहाँ निर्वाण अभाव नहीं, परन्तु निजानन्द की सर्वोत्कृष्ट भूमिका है। निर्वाणपद प्राप्त कर साधक, आचार्य जिनदास के शब्दों में 'परम सुहिणो भवंति' अर्थात् परम सुखी हो जाते हैं, सब दुःखों से मुक्त होकर सदा एक रस रहने वाले आत्मानन्द में लीन हो जाते हैं। परन्तु बौद्ध दर्शन की यह मान्यता नहीं है। वह निर्वाण को अभाववाचक मानता है। उसके यहाँ निर्वाण का अर्थ है—बुझ जाना। जिस प्रकार दीपक जलता-जलता बुझ जाए तो वह कहाँ जाता है? ऊपर आकाश में जाता है या नीचे भूमि में? पूर्व को जाता है या पश्चिम को? दक्षिण को जाता है या उत्तर को? किस दिशा एवं विदिशा में जाता है? आप कहेंगे—वह तो बुझ गया, नष्ट हो गया। कहीं भी नहीं गया। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन भी कहता है कि "निर्वाण का अर्थ आत्म-दीपक का बुझ जाना, नष्ट हो जाना है। निर्वाण होने पर आत्मा कहीं नहीं जाता। जाता क्या, वह रहता ही नहीं। उसकी सत्ता ही सदा के लिए नष्ट हो गयी।" उक्त कथन के

प्रमाणस्वरूप सुप्रसिद्ध बौद्ध महाकवि अश्वघोष की निर्वाण-सम्बन्धी व्याख्या देखिए। वह कहता है :—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्,
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्,
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

(सौन्दरानन्द १६, २८-२९)

पाठक विचार कर सकते हैं—यह क्या निर्वाण हुआ ? क्या अपनी सत्ता को समाप्त करने के लिए ही यह साधना का मार्ग है। क्या अपने संहार के लिए ही इतने विशाल उग्र तपश्चरण किए जाते हैं ? महाकवि अश्वघोष के शब्दों में क्या शान्ति का यही रहस्य है ? बौद्ध धर्म का क्षणिकवाद साधना की मूल भावना को स्पर्श नहीं कर सकता ! साधक के मन का समाधान जैन निर्वाण के द्वारा ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं।

अवितथ :

अवितथ का अर्थ सत्य है। वितथ झूठ को कहते हैं, जो वितथ न हो वह अवितथ अर्थात् सत्य होता है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र ने सीधा ही अर्थ कर दिया है—'अवितथं=सत्यम्।'

परन्तु प्रश्न है कि जब अवितथ का अर्थ भी सत्य ही है तो फिर पुनरुक्ति क्यों की गई ? सत्य का उल्लेख तो पहले भी हो चुका है। प्रश्न प्रसंगोचित है। परन्तु जरा गंभीरता से मनन करेंगे तो प्रश्न के लिए अवकाश न रहेगा।

प्रथम सत्य शब्द, सत्य का विधानात्मक उल्लेख करता है। जब कि दूसरा अवितथ शब्द, निषेधात्मक पद्धति से सत्य की ओर संकेत करता है। सत्य है, इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि संभव है, कुछ अंश सत्य हो। परन्तु जब यह कहते हैं कि वह अवितथ है, असत्य नहीं है, तो असत्य का सर्वथा परिहार हो जाता है, पूर्ण यथार्थ सत्य का स्पष्टीकरण हो जाता है। इस स्थिति में दोनों शब्दों का यदि संयुक्त अर्थ करें तो यह होता है कि 'जिन शासन सत्य है, असत्य नहीं है।' उत्तर अंश के द्वारा पूर्व अंश का समर्थन होता है, दृढ़त्व होता है।

हम तो अभी इतना ही समझे हैं। वास्तविक रहस्य क्या है, यह तो केवलिगम्य है। हाँ, अभी तक और कोई समाधान हमारे देखने में नहीं आया है।

अविसन्धि

अविसंधि का अर्थ है—सन्धि से रहित। सन्धि, बीच के अन्तर को कहते हैं। अतः फलितार्थ यह हुआ कि जिन शासन अनन्तकाल से निरन्तर अव्यवच्छिन्न चला आ रहा है। भरतादि क्षेत्र में, किसी काल-विशेष में नहीं भी होता है, परन्तु महाविदेह क्षेत्र में तो सदा सर्वदा अव्यवच्छिन्न बना रहता है। काल की सीमाएँ जैनधर्म की प्रगति को अवरुद्ध नहीं कर सकतीं। वह धर्म ही क्या, जो काल के घेरे में आ जाय! जिन-धर्म, निज-धर्म है—आत्मा का धर्म है। अतः वह तीन काल और तीन लोक में कहीं न कहीं सदा सर्वदा मिलेगा ही। जैनधर्म ने देवलोक में भी सम्यक्त्व का होना स्वीकार किया है और नरक में भी। पशु-पक्षी तथा पृथ्वी, जल आदि में भी सम्यग् दर्शन का प्रकाश मिल जाता है। अतः किसी क्षेत्रविशेष एवं काल विशेष में जैनधर्म के न होने का जो उल्लेख किया है, वह चारित्ररूप धर्म का है, सम्यक्त्व धर्म का नहीं। सम्यक्त्व धर्म तो प्रायः सर्वत्र ही अव्यवच्छिन्न रहता है। हाँ, चारित्र धर्म की अव्यवच्छिन्नता भी महाविदेह की दृष्टि से सिद्ध हो जाती है।

सर्व दुःख प्रहीण-मार्ग :

धर्म का अन्तिम विशेषण सर्वदुःख प्रहीणमार्ग है। उक्त विशेषण में धर्म की महिमा का विराट सागर छुपा हुआ है। संसार का प्रत्येक प्राणी दुःख से व्याकुल है, क्लेश से संतप्त है। वह अपने लिए सुख चाहता है, आनन्द चाहता है! आनन्द भी वह, जो कभी दुःख से संभिन्न=स्पृष्ट न हो। दुःखासंभिन्नत्व ही सुख की विशेषता है। परन्तु संसार का कोई भी ऐसा सुख नहीं है, जो दुःख से असंभिन्न हो। यहाँ सुख से पहले दुःख है, सुख के बाद दुःख है, और सुख की विद्यमानता में भी दुःख है। एक दुखः का अन्त होता नहीं है और दूसरा दुःख सामने आ उपस्थित होता है। एक इच्छा की पूर्ति होती नहीं है, और दूसरी अनेक इच्छाएँ मन में उछल कूद मचाने लगती हैं। सांसारिक सुख इच्छा की पूर्ति में होता है, और सबकी सब इच्छाएँ पूर्ण कहाँ होतीं हैं? अतः संसार में एक दो इच्छाओं की पूर्ति के सुख की अपेक्षा अनेकानेक इच्छाओं की अपूर्ति का दुःख ही अधिक होता है। दुःखों का सर्वथा अभाव तो तब हो, जब कोई इच्छा ही मन में न हो। और यह इच्छाओं का सर्वथा अभाव, फलतः दुःखों का सर्वथा अभाव मोक्ष में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं। और वह मोक्ष, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म की साधना से ही प्राप्त हो सकता है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र लिखते हैं—"**सर्वदुःख—प्रहीणमार्ग—सर्व दुःख-प्रहीणो मोक्षस्तत्कारणमित्यर्थः।**"

सिज्झंति :

धर्म की आराधना करने वाले ही सिद्ध होते हैं। सिद्धि है भी क्या वस्तु? आराधना अर्थात् साधना की पूर्णाहुति का नाम ही सिद्धि है। जैन धर्म में आत्मा के

अनन्त गुणों का पूर्ण विकास हो जाना ही सिद्धत्व माना गया है। **'सिज्झंति-सिद्धा भवन्ति, परिनिष्ठितार्था भवन्ति।'**

—आचार्य जिनदास महत्तर।

जैन धर्म में मोक्ष के लिए सिद्ध शब्द का प्रयोग अत्यन्त युक्तिसंगत किया है। बौद्ध दार्शनिक, जहाँ मोक्ष का अर्थ दीप-निर्वाण के समान सर्वथा अभावात्मक स्थिति करते हैं, वहाँ जैन धर्म सिद्ध शब्द के द्वारा अनन्त-अनन्त आत्मगुणों की प्राप्ति को मोक्ष कहता है। हमारे यहाँ सिद्धि का अर्थ ही पूर्ण है। अतः अनात्मवादी बौद्ध दर्शन की मुक्ति का यह सिद्ध शब्द परिहार करता है, और उन दार्शनिकों की मुक्ति का भी परिहार करता है, जो अपूर्ण दशा में ही मोक्ष होना स्वीकार करते हैं। ईश्वर या अन्य किसी महाशक्ति के द्वारा अपूर्ण व्यक्तियों को मोक्ष देने की कथाएँ वैदिक पुराणों में बाहुल्येन वर्णित हैं। परन्तु जैन धर्म इन बातों पर विश्वास नहीं करता। वह तो अपूर्ण अवस्था को संसार ही कहता है, मोक्ष नहीं। जब तक ज्ञान अनन्त न हो, दर्शन अनन्त न हो, चारित्र अनन्त न हो, वीर्य अनन्त न हो, सत्य अनन्त न हो, सुख अनन्त न हो, किं बहुना, प्रत्येक गुण अनन्त न हो, तब तक मोक्ष होना स्वीकार नहीं करता। अनन्त आत्म-गुणों के विकास की पूर्ति अनन्तता में ही है, पहले नहीं। और यह पूर्णता अपनी साधना के द्वारा ही प्राप्त होती है। किसी की कृपा से नहीं। अतः **'इत्थं ठिआ जीवा सिज्झंति'** सर्वथा युक्त ही कहा है।

बुज्झंति :

'सिज्झंति' के बाद 'बुज्झंति' कहा है। बुज्झंति का अर्थ बुद्ध होता है, पूर्ण ज्ञानी होता है। प्रश्न है कि बुद्धत्व तो सिद्ध होने से पहले ही प्राप्त हो जाता है। आध्यात्मिक विकास क्रमस्वरूप चौदह गुण स्थानों में; अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन आदि गुण तेरहवें गुण स्थान में ही प्राप्त हो जाते हैं, और मोक्ष, चौदहवें गुण स्थान के बाद होती है। अतः 'सिज्झंति' के बाद 'बुज्झंति' कहने का क्या अर्थ है? विकासक्रम के अनुसार तो बुज्झंति का प्रयोग सिज्झंति से पहले होना चाहिए था।

यह सत्य है कि केवल ज्ञान तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त हो जाता है, अतः विकास क्रम के अनुसार बुद्धत्व का नम्बर पहला है। और सिद्धत्व का दूसरा। परन्तु यहाँ सिद्धत्व के बाद जो बुद्धत्व कहा है उसका अभिप्रायः यह है कि सिद्ध हो जाने के बाद भी बुद्धत्व बना रहता है, नष्ट नहीं होता है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि मोक्ष में आत्मा का अस्तित्व तो रहता है, किन्तु ज्ञान का सर्वथा अभाव हो जाता है। ज्ञान आत्मा का एक विशेष गुण है। और मुक्त अवस्था में कोई भी विशेष गुण रहता नहीं है, नष्ट हो जाता है। अतः मोक्ष में जब आत्मा चैतन्य भी नहीं रहता तब उसके अनन्त ज्ञानी बुद्ध होने का तो कुछ प्रश्न ही नहीं।

यह सिद्धान्त है वैशेषिक दर्शनकार महर्षि कणाद का। जैनदर्शन इसका सर्वथा विरोधी दर्शन है। जैनधर्म कहता है—'यह भी क्या मोक्ष? यह तो आत्मा का सर्वथा

बर्बाद हो जाना हुआ ! सर्वथा ज्ञानहीन जड़ पत्थर के रूप में हो जाना, कौन से महत्व की बात है ? इससे तो संसार ही अच्छा, जहाँ थोड़ा बहुत भान तो बना रहता है । अस्तु, आत्मा अनन्त ज्ञानी होने पर ही निजानन्द की अनुभूति कर सकता है । बुद्धत्व के बिना सिद्धत्व का कुछ मूल्य ही नहीं रहता । अतः सिद्ध हो जाने के बाद भी बुद्धत्व का रहना अत्यन्त आवश्यक है । ज्ञान, आत्मा का निजगुण है, भला वह नष्ट कैसे हो सकता है ? ज्ञानस्वरूप ही तो आत्मा है, अतः जब ज्ञान नहीं तो आत्मा का ही क्या अस्तित्व ? हाँ, मोक्ष में भी सिद्ध भगवान् सदाकाल अपने अनन्त ज्ञान-प्रकाश से जगमगाते रहते हैं, वहाँ एक क्षण के लिए भी कभी अज्ञान अन्धकार प्रवेश नहीं पा सकता ।

अब उस प्रश्न का समाधान हो जाता है कि सिद्धत्व से पहले होने वाले बुद्धत्व को पहले न कहकर बाद में क्यों कहा ? बुद्धत्व को बाद में इसलिए कहा कि कहीं वैशेषिक दर्शन की धारणा के अनुसार जिज्ञासुओं को यह भ्रम न हो जाय कि 'सिद्ध होने से पहले तो बुद्धत्व भले हो, परन्तु सिद्ध होने के बाद बुद्धत्व रहता है या नहीं ? अब पहले सिद्ध और बाद में बुद्ध कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिद्ध होने के बाद भी आत्मा पहले के समान ही बुद्ध बना रहता है, सिद्धत्व की प्राप्ति होने पर बुद्धत्व नष्ट नहीं होता ।

मुच्चंति :

'मुच्चंति' का अर्थ कर्मों से मुक्त होना है । जब तक एक भी कर्म-परमाणु आत्मा से सम्बन्धित रहता है, तब तक मोक्ष नहीं हो सकती । जैनदर्शन में 'कृत्स्नकर्म-क्षयो मोक्षः, ही मोक्ष का स्वरूप है । मोक्ष में न ज्ञानावरणादि कर्म रहते हैं और न कर्म के कारण राग-द्वेष आदि । अर्थात् किसी भी प्रकार का औदयिक भाव मोक्ष में नहीं रहता ।

आप प्रश्न करेंगे कि सब कर्मों का क्षय होने पर ही तो सिद्धत्व भाव प्राप्त होता है, मोक्ष होती है । फिर यह 'मुच्चंति' के रूप में कर्मों से मुक्त होने का स्वतंत्र उल्लेख क्यों किया गया ?

समाधान है कि कुछ दार्शनिक मोक्ष अवस्था में भी कर्म की सत्ता मानते हैं । उनके विचार में मोक्ष का अर्थ कर्मों से मुक्ति नहीं, अपितु कृत कर्मों के फल को भोगना मुक्ति है । जब तक शुभ कर्मों के सुख रूप फल का भोग पूर्ण नहीं होता, तब तक आत्मा मोक्ष में रहता है । और ज्यों ही फल-भोग पूर्ण हुआ त्यों ही फिर संसार में लौट आता है ।

जैन दर्शन का कहना है कि यह तो संसारस्थ स्वर्ग का रूपक है, मोक्ष का नहीं । मोक्ष का अर्थ छूट जाना है । यदि मोक्ष में भी कर्म और कर्म-फल रहे तो फिर छूटा क्या ? मुक्त क्या हुआ ? संसार और मोक्ष में कुछ अन्तर ही न रहा ? मोक्ष भी कहना और वहाँ कर्म भी मानना, यह तो वदतोव्याघात है । जिस प्रकार

'मैं गूँगा हूँ, बोलूँ कैसे ?' यह कहना अपने आप में असत्य है, उसी प्रकार मोक्ष में भी कर्म बन्धन रहता है, यह कथन भी अपने आप में भ्रान्त एवं असत्य है। मोक्ष में यदि शुभ कर्मों का अस्तित्व माना जाय तो वह कर्मजन्य सुख दुःखासंभिन्न नहीं हो सकेगा। और यदि मोक्ष में सुख के साथ दुःख भी रहा तो फिर वह मोक्ष ही क्या और मोक्ष का सुख ही क्या ? कर्म होंगे तो कर्मों से होने वाले जन्म, जरा, मरण भी होंगे ? इस प्रकार एक क्या, अनेकानेक दुःखों की परम्परा चल पड़ती है। अतः जैन धर्म का यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य है कि सिद्ध होने पर आत्मा सब प्रकार के शुभाशुभ कर्मों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। सिद्धत्व का अर्थ ही मुक्तत्व है।

परिनिव्वायंति :

यह पहले कहा जा चुका है कि जैन दर्शन का निर्वाण बौद्ध निर्वाण के समान अभावात्मक नहीं है। यहाँ आत्मा की सत्ता के नष्ट होने पर दुःखों का नाश नहीं माना है। बौद्ध दर्शन रोगी का अस्तित्व समाप्त होने पर कहता है कि देखो, रोग नहीं रहा। परन्तु जैन दर्शन रोगी का रोग नष्ट करता है, स्वयं रोगी को नहीं। रोग के साथ यदि रोगी भी समाप्त हो गया तो रोगी के लिए क्या आनन्द ? कर्म एक रोग है, अतः उसे नष्ट करना चाहिए। स्वयं आत्मा का नष्ट होना मानना, कहाँ का दर्शन है ?

वैशेषिक दर्शन आत्मा का अस्तित्व तो स्वीकार करता है, परन्तु वह मोक्ष में सुख का होना नहीं मानता। वैशेषिक दर्शन कहता है कि 'मोक्ष होने पर आत्मा में न ज्ञान होता है, न सुख होता है, न दुःख होता है।

—**'नवानामात्म-विशेषगुणानामुच्छेदो मोक्षः'**

जैन दर्शन मोक्ष में दुःखाभाव तो मानता है, परन्तु सुखाभाव नहीं मानता। सुख तो मोक्ष में ससीम से असीम हो जाता है—अनन्त हो जाता है। हाँ पुद्गल-सम्बन्धी कर्मजन्य सांसारिक सुख वहाँ नहीं होता; परन्तु आत्मसापेक्ष अनन्त आध्यात्मिक सुख का अभाव तो किसी प्रकार भी घटित नहीं होता। वह तो मोक्ष का वैशिष्ट्य है, महत्त्व है। 'परिनिव्वायंति' के द्वारा यही स्पष्टीकरण किया गया है कि जैन धर्म का निर्वाण न आत्मा का बुझ जाना है और न केवल दुःखाभाव का होना है। वह तो अनन्त सुख-स्वरूप है। और वह सुख भी, वह सुख है, जो कभी दुःख से संपृक्त नहीं होता। आचार्य जिनदास परिनिव्वायंति की व्याख्या करते हुए कहते हैं—**'परिनिव्वुया भवन्ति, परमसुहिणो भवंतीत्यःर्थ।'**

सव्वदुक्खाणमंतं करेंति :

मोक्ष की विशेषताओं को बताते हुए सबके अन्त में कहा गया है कि 'धर्माराधक साधक मोक्ष प्राप्त कर शारीरिक तथा मानसिक सब प्रकार के दुःखों का अन्त कर देता है। आचार्य जिनदास कहते हैं, **'सव्वेसिं सारीर-माणसाणं दुक्खाणं अंतकरा भवन्ति, वोच्छिण्ण-सव्वदुक्खा भवन्ति।'**

प्रस्तुत विशेषण का सारांश पहले के विशेषणों में भी आ चुका है। यहाँ स्वतंत्र रूप में इसका उल्लेख, सामान्यतः मोक्षस्वरूप का दिग्दर्शन कराने के लिए है। दर्शन शास्त्र में मोक्ष का स्वरूप सामान्यतः सब दुःखों का प्रहाण अर्थात् आत्यन्तिक नाश ही बताया गया है।

उक्त विशेषण का एक और भी अभिप्राय हो सकता है। वह यह कि सांख्य दर्शन आदि कुछ दर्शन आत्मा को सदा सर्वथा बन्धनरहित होना मानते हैं। उनके यहाँ न कभी आत्मा को कर्म बन्ध होता है और न तत्फलस्वरूप दुःख आदि ही। दुःख आदि सब प्रकृति के धर्म हैं, पुरुष अर्थात् आत्मा के नहीं। जैन दर्शन इस मान्यता का विरोध करता है। वह कहता है कि कर्म बन्ध आत्मा को होता है, प्रकृति को नहीं। प्रकृति तो जड़ है, उसको बन्ध क्या और मोक्ष क्या? यदि कर्म और तज्जन्य दुःख आदि आत्मा को लगते ही नहीं हैं तो फिर यह संसार की स्थिति किस बात पर है? आत्माएँ दुःख से हैरान क्यों हैं? अतः कर्म और उसका फल जब तक आत्मा से लगा रहता है, तब तक संसार है। और ज्यों ही कर्म तथा तज्जन्य दुःखादि का अन्त हुआ, आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेती है, मुक्त हो जाती है। जैन साहित्य में दुःख शब्द स्वयं दुःख के लिए भी आता है, और शुभाशुभ कर्मों के लिए भी। इसके लिए भगवती सूत्र देखना चाहिए। अतः '**सव्व दुक्खाणमंतं करेंति**' का जहाँ यह अर्थ होता है कि 'सब दुःखों का अन्त करता है', वहाँ यह अर्थ भी होता है कि 'सब शुभाशुभ कर्मों का अन्त करता है।' जब कर्म ही न रहे तो फिर सांसारिक सुख, दुःख, जन्म, मरण आदि का द्वन्द्व कैसे रह सकता है? जब बीज ही नहीं तो वृक्ष कैसा? जब मूल ही नहीं तो शाखा-प्रशाखा कैसी? मोक्ष, आत्मा की वह निर्द्वन्द्व अवस्था है, जिसकी उपमा विश्व की किसी अन्य वस्तु से नहीं दी जा सकती।

प्रीति और रुचि :

धर्म के लिए अपनी हार्दिक श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए साधक ने कहा है कि 'मैं धर्म की श्रद्धा करता हूँ, प्रीति करता हूँ, और रुचि करता हूँ।' यहाँ प्रीति और रुचि में क्या अन्तर है? यह प्रश्न अपना समाधान चाहता है।

समाधान यह है कि ऊपर से कोई अन्तर नहीं मालूम देता, परन्तु अन्तरंग में विशेष अन्तर है। प्रीति का अर्थ प्रेम भरा आकर्षण है और रुचि का अर्थ है अभिरुचि अर्थात् उत्सुकता। आचार्य जिनदास के शब्दों में कहें तो रुचि के लिए '**अभिलाषातिरेकेण आसेवनाभिमुखता**' कह सकते हैं।

[1]एक मनुष्य को दधि आदि वस्तु प्रिय तो होती है, परन्तु कभी किसी विशेष ज्वरादि स्थिति में रुचिकर नहीं होती। अतः सामान्य प्रेमाकर्षण को प्रीति कहते हैं,

---

१. **''प्रीती रुचिश्च भिन्ने एव, यतः क्वचिद् दध्यादौ प्रीतिसद्भावेऽपि न सर्वदा रुचिः।'—आचार्य हरिभद्र।**

और विशेष प्रेमाकर्षण को अभिरुचि । अस्तु, साधक कहता है—'मैं धर्म की श्रद्धा करता हूँ ।' श्रद्धा ऊपर मन से भी की जा सकती है । अतः कहता है कि 'मैं धर्म की प्रीति करता हूँ ।' प्रीति होते हुए भी कभी विशेष स्थिति में रुचि नहीं रहती । अतः कहता है कि 'मैं धर्म के प्रति सदाकाल रुचि रखता हूँ ।' कितने ही संकट हों, आपत्तियाँ हों, परन्तु सच्चे साधक की धर्म के प्रति कभी-भी अरुचि नहीं होती । वह जितना ही धर्माराधन करता है, उतनी ही उस ओर रुचि बढ़ती जाती है । धर्माराधन के मार्ग में न सुख बाधक बन सकता है और न दुःख ! दिन रात अविराम गति से हृदय में श्रद्धा, प्रीति और रुचि की ज्योति प्रदीप्त करता हुआ, साधक, अपने धर्म पथ पर अग्रसर होता रहता है । बीच मञ्जिल में कहीं ठहरना, उसका काम नहीं है । उसकी आंखें यात्रा के अन्तिम लक्ष्य पर लगी रहती हैं । वह वहाँ पहुँच कर ही विश्राम लेगा, पहले नहीं । यह है साधक के मन की अमर श्रद्धाज्योति, जो कभीबुझती नहीं ।

फासेमि, पालेमि, अणुपालेमि :

जैनधर्म केवल श्रद्धा, प्रीति और रुचि पर ही शान्त नहीं होता । उसका वास्तविक लीलाक्षेत्र कर्त्तव्य-भूमि है । वह कहनी के साथ करनी की रागनी भी गाता है । विश्वास के साथ तदनुकूल आचरण भी होना चाहिए । मन, वाणी और शरीर की एकता ही साधना का प्राण है । यही कारण है कि साधक श्रद्धा, प्रीति और रुचि से आगे बढ़कर कहता है—"मैं धर्म का स्पर्श करता हूँ, उसे आचरण के रूप में स्वीकार करता हूँ ।" "केवल स्पर्श ही नहीं, मैं प्रत्येक स्थिति में धर्म का पालन करता हूँ,—स्वीकृत आचार की रक्षा करता हूँ ।" "एक दो बार ही पालन करता हूँ, यह बात नहीं । मैं धर्म का नित्य निरन्तर पालन करता हूँ, बार-बार पालन करता हूँ, जीवन के हर क्षण में पालन करता हूँ ।"

आचार्य जिनदास 'अणुपालेमि' का एक और अर्थ भी करते हैं कि "पूर्वकाल के सत्पुरुषों द्वारा पालित धर्म का मैं भी उसी प्रकार अनुपालन करता हूँ ।" इस अर्थ में परम्परा के अनुसार चलने के लिए पूर्ण दृढ़ता अभिव्यक्त होती है । '**अहवा पुव्व-पुरिसेहिं पालितं अहं पि अणुपालेमित्ति** ।'—आवश्यक चूर्णि

अब्भुट्ठिओमि[1] :

यह उपर्युक्त शब्द कितना महत्वपूर्ण है ! साधक प्रतिज्ञा करता है कि "मैं धर्म की श्रद्धा, प्रीति, स्पर्शना, पालना तथा अनुपालना करता हुआ धर्म की अराधना में पूर्ण रूप से अभ्युत्थित होता हूँ । और धर्म की विराधना से निवृत्त होता हूँ ।" वाणी में कितना गंभीर, अटल, अचल स्वर गूँज रहा है ! एक-एक अक्षर में धर्माराधन के लिए अखंड सत्साहस की ज्वालाएँ जग रही हैं ! '**अभ्युत्थितोऽस्मि, सन्नद्धोऽस्मि**' यह कितना साहस भरा प्रण है !

क्या आप धर्म के प्रति श्रद्धा रखते हैं ? क्या आपकी धर्म के प्रति अभिरुचि

---

१ प्रस्तुत पाठ को '**अब्भुट्ठिओमि**' से खड़े होकर पढ़ने की परम्परा भी है ।

है ? क्या आप धर्म का पालन करना चाहते हैं ? यदि हाँ, तो फिर निष्क्रिय क्यों बैठते हैं ? कर्तव्य के क्षेत्र में चुप बैठना, आलसी बन कर पड़े रहना पाप है। कोई भी साधक निष्क्रिय रह कर जीवन का उत्थान नहीं कर सकता। अतः प्रत्येक साधक को यह अमर घोषणा करनी ही होगी कि 'अब्भुट्ठिओमि'—'मैं धर्माराधन के क्षेत्र में दृढ़ता के साथ खड़ा होता हूँ।'

जैनागमरत्नाकर पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज अपने आवश्यक सूत्र में 'सद्दहंतो, पत्तिअंतो, रोअंतो' आदि की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि "उस धर्म की अन्य को श्रद्धा करवाता हूँ, प्रतीति करवाता हूँ, रुचि करवाता हूँ............निरन्तर पालन करवाता हूँ।" कोई भी विचारक देख सकता है कि क्या यह अर्थ ठीक है ? यहाँ दूसरों को धर्म की श्रद्धा आदि कराने का प्रसंग ही क्या है ? किसी भी प्राचीन आचार्य ने यह अर्थ नहीं लिखा है। मालूम होता है—यहाँ आचार्य जी को प्रेरणार्थक ण्यन्त प्रयोग की भ्रान्ति हो गई है ! परन्तु वह है नहीं। यहाँ तो स्वयं श्रद्धा आदि करते रहने से तात्पर्य है, दूसरों को कराने से नहीं।

ज्ञ-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा :

आगम-साहित्य में दो प्रकार की परिज्ञाओं का उल्लेख आता है—एक ज्ञ-परिज्ञा तो दूसरी प्रत्याख्यान-परिज्ञा। ज्ञ-परिज्ञा का अर्थ, हेय आचरण को स्वरूपतः जानना है और प्रत्याख्यान-परिज्ञा का अर्थ, उसका प्रत्याख्यान करना है—उसको छोड़ना है। असंयम=प्राणातिपात आदि, अब्रह्मचर्य=मैथुन वृत्ति, अकल्प=अकृत्य, अज्ञान=मिथ्याज्ञान, अक्रिया=असत्क्रिया, मिथ्यात्व=अतत्त्वा-र्थश्रद्धान इत्यादि आत्म-विरोधी प्रतिकूल आचरण को त्याग कर संयम, ब्रह्मचर्य, कृत्य, सम्यग्ज्ञान, सत्क्रिया, सम्यग्दर्शन आदि को स्वीकार करते हुए यह आवश्यक है कि पहले असंयम आदि का स्वरूप-परिज्ञान किया जाय। जब तक यह ही नहीं पता चलेगा कि असंयम आदि क्या हैं ? उनका क्या स्वरूप है ? उनके होने से साधक की क्या हानि है ? उन्हें त्यागने में क्या लाभ है ? तब तब तक उन्हें त्यागा कैसे जायगा ? विवेकपूर्वक किया हुआ प्रत्याख्यान ही सुप्रत्याख्यान होता है। केवल अन्ध-परम्परा से शून्यभावेन प्रत्याख्यान कर लेने को तो शास्त्रकार कुप्रत्याख्यान कहते हैं। अतः प्रत्याख्यान-परिज्ञा से पहले ज्ञ-परिज्ञा अत्यन्त आवश्यक है। अज्ञानी साधक कुछ भी हिताहित नहीं जान सकता। **'अन्नाणी किं काही ? किंवा नाही सेयपावगं।'**

अतएव **'असंजमं परिआणामि संजमं उवसंपज्जामि'** इत्यादि सूत्रपाठ में जो **'परिआणामि'** क्रिया है, उसका अर्थ न केवल जानना है और न केवल छोड़ना। प्रत्युत सम्मिलित अर्थ है, 'जानकर छोड़ना।' इसी विचार को ध्यान में रखकर हमने भावार्थ में लिखा है कि 'असंयम को जानता हूँ और त्यागता हूँ' इत्यादि। आचार्य जिनदास भी यही कहते हैं—**'परियाणामित्ति ज्ञपरिण्णया जाणामि, पच्चक्खाणपरिण्णया पच्चक्खामि।'** आचार्य हरिभद्र भी 'पडिजाणामि' पाठ स्वीकार करके 'प्रति-

जानामि' संस्कृत रूप बनाते हैं और उसका अर्थ करते हैं—'**ज्ञ-परिज्ञया विज्ञाय प्रत्याख्यान-परिज्ञया प्रत्याख्यामीत्यर्थः ।**' श्रद्धेय पूज्यश्री आत्मारामजी महाराज ने भी दोनों ही परिज्ञाओं का उल्लेख किया है, जो परम्परासिद्ध एवं तर्कसंगत है। परन्तु श्रद्धेय पूज्यश्री अमोलक ऋषिजी केवल 'त्याग' अर्थ का ही उल्लेख करते हैं। संभव है, आपका ज्ञ-परिज्ञा से परिचय न हो !

अकल्प और कल्प :

कल्प का अर्थ आचार है। अतः चरण-करण रूप आचार-व्यवहार को आगम की भाषा में कल्प कहा जाता है। इसके विपरीत अकल्प होता है। साधक प्रतिज्ञा करता है कि 'मैं अकल्प=अकृत्य को जानता तथा त्यागता हूँ, और कल्प=कृत्य को स्वीकार करता हूँ।'[1]

पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज '**अकप्पं परिआणामि कप्पं उवसंपज्जामि**' का अर्थ करते हैं—'अकल्पनीक वस्तु का त्याग करता हूँ, कल्पनीक वस्तु को अंगीकार करता हूँ।' पूज्य श्री के अर्थ से कोई भी विचारक सहमत नहीं हो सकता। यहाँ प्रतिक्रमण किया जा रहा है, अयोग्य आचरण की आलोचना के बाद संयम पालन के लिए प्रण किया जा रहा है, फलतः कहा जा रहा है कि "मैं असंयम आदि की पर-परिणति से हटकर संयम आदि की स्वपरिणति में आता हूँ, औदयिक भाव का त्याग कर क्षायोपशमिक आदि आत्मभाव अपनाता हूँ।" भला यहाँ अकल्पनीक वस्तु को छोड़ता हूँ और कल्पनीक वस्तु को ग्रहण करता हूँ—इस प्रतिज्ञा की क्या संगति ?

आचार्य जिनदास सामान्यतः कहे हुए एक-विध असंयम के ही विशेष विवक्षाभेद से दो भेद करते हैं 'मूल गुण असंयम और उत्तर गुण असंयम।' और फिर अब्रह्म शब्द से मूल गुण असंयम का तथा अकल्प शब्द से उत्तर गुण असंयम का ग्रहण करते हैं। आचार्य श्री के कथनानुसार प्रतिज्ञा का रूप यह होता है—"मैं मूल गुण असंयम का विवेकपूर्वक परित्याग करता हूँ और मूल गुण संयम को स्वीकार करता हूँ। इसी प्रकार उत्तर गुण असंयम को त्यागता हूँ और उत्तर गुण संयम को स्वीकार करता हूँ।" **सो य असंजमो विसेसतो दुविहो—मूलगुण असंजमो उत्तरगुणअसंजमो य। अतो सामण्णेण भणिऊण संवेगाद्यर्थं विसेसतो चेव भणति अबंभं० अबंभग्गहणेण मूलगुणा भण्णंति ति एवं····अकप्पग्गहणेण उत्तरगुणत्ति।**"

—आवश्यक चूर्णि।

अक्रिया और क्रिया :

आचार्य हरिभद्र, अक्रिया को अज्ञान का ही विशेष भेद मानते हैं और क्रिया को सम्यग् ज्ञान का। अतः अपनी दार्शनिक भाषा में आप अक्रिया को नास्तिवाद कहते हैं और क्रिया को सम्यग्वाद। "**अक्रिया नास्तिवादः क्रिया सम्यग्वादः।**" नास्तिवाद का अर्थ लोक, परलोक, धर्म, अधर्म आदि पर विश्वास न रखने वाला

---

१ '**अकल्पोऽकृत्यमाख्यायते, कल्पस्तु कृत्यमिति।**'—**आचार्य हरिभद्र।**

नास्तिकवाद है। और सम्यग्वाद का अर्थ उक्त सब बातों पर विश्वास रखने वाला आस्तिकवाद है।

आचार्य जिनदास अप्रशस्त=अयोग्य क्रिया को अक्रिया कहते हैं और प्रशस्त=योग्य क्रिया को क्रिया। "**अप्पसत्था किरिया अकिरिया, इतरा किरिया इति।**"

अबोधि और बोध :

जैन साहित्य में अबोधि और बोधि शब्द बड़े ही गंभीर एवं महत्त्वपूर्ण हैं। अबोधि और बोधि का उपरितन शब्दस्पर्शी अर्थ होता है—'अज्ञान और ज्ञान।' परन्तु यहाँ यह अर्थ अभीष्ट नहीं है। यहाँ अबोधि से तात्पर्य है—मिथ्यात्व का कार्य, और बोधि से तात्पर्य है—सम्यक्त्व का कार्य। आचार्य हरिभद्र, अबोधि एवं बोधि को क्रमशः मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व का अंग मानते हुए कहते हैं—"**अबोधिः—मिथ्यात्वकार्यं, बोधिस्तु सम्यक्त्वस्येति।**"

असत्य का दुराग्रह रखना, संसार के कामभोगों में आसक्ति रखना, धर्म की निन्दा करना, प्राणियों के प्रति निर्दय भाव रखना, वीतराग अरिहन्त भगवान् का अवर्णवाद बोलना, इत्यादि मिथ्यात्व के कार्य हैं। सत्य का आग्रह रखना, संसार के काम भोगों में उदासीन रहना, धर्म के प्रति दृढ़ आस्था रखना, प्राणिमात्र पर प्रेम तथा करुणा का भाव रखना, वीतराग देव के प्रति शुद्ध निष्कपट भक्ति रखना, इत्यादि सम्यक्त्व के कार्य हैं। अबोधि को जानना, त्यागना और बोधि को स्वीकार करना, साधक के लिए परमावश्यक है।

आगमरत्नाकर पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज बोधि का अर्थ सुमार्ग करते हैं। पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज अबोधि का अर्थ '**अतत्वज्ञता**' करते हैं और बोधि का अर्थ '**बोधिबीज**'।

अमार्ग और मार्ग :

प्रथम असंयम के रूप में सामान्यतः विपरीत आचरण का उल्लेख किया गया था। पश्चात् अब्रह्म आदि में उसी का विशेष रूप से निरूपण होता रहा है। अब अन्त में पुनः सामान्य-रूपेण कहा जा रहा है कि "मैं मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषायभाव आदि अमार्ग को विवेकपूर्वक त्यागता हूँ और सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद और अकषाय भाव आदि मार्ग को ग्रहण करता हूँ।"

जं संभरामि, जं च न संभरामि :

भयादि सूत्र की व्याख्या में हमने प्रतिक्रमण के विराट रूप का दिग्दर्शन कराया है। उसका आशय यह है कि यह मानव जीवन चारों ओर से दोषाच्छन्न है। सावधानी से चलता हुआ साधक भी कहीं न कहीं भ्रान्त हो ही जाता है। जब तक साधक छद्मस्थ है[1], घातिकर्मोदय से युक्त है, तब तक अनाभोगता किसी न किसी

---

१. '**घातिकर्मोदयतः खलितमासेवितं पडिक्कमामि मिच्छा दुक्कडादिणा।**'
—आवश्यक चूर्णि।

रूप में बनी ही रहती है। अतः एक, दो आदि के रूप में दोषों की क्या गणना? असंख्य तथा अनन्त असंयम स्थानों में से, पता नहीं, कब और कौन सा असंयम का दोष लग जाय? कभी उन दोषों की स्मृति रहती है, कभी नहीं भी रहती है। जिन दोषों की स्मृति रहती है, उनका तो नामोल्लेख-पूर्वक प्रतिक्रमण किया जाता है। परन्तु जिनकी स्मृति नहीं है, उनका भी प्रतिक्रमण वर्तव्य है। इन्हीं भावनाओं को ध्यान में रखकर प्रतिक्रमण सूत्र की समाप्ति पर श्रमण साधक कहता है कि "जिन दोषों की मुझे स्मृति है, उनका प्रतिक्रमण करता हूँ, और जिन दोषों की स्मृति नहीं भी रही है, उनका भी प्रतिक्रमण करता हूँ।"

जं पडिक्कमामि, जं च न पडिक्कमामि :

'**जं संभरामि**' आदि से लेकर '**जं च न पडिक्कमामि**' तक के सूत्रांश का सम्बन्ध '**तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स पडिक्कमामि**' से है। अतः सबका मिलकर अर्थ होता है—जिनका स्मरण करता हूँ, जिनका स्मरण नहीं करता हूँ, जिनका प्रतिक्रमण करता हूँ, जिनका प्रतिक्रमण नहीं करता हूँ, उन सब दैवसिक अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ।

प्रश्न है कि जिनका प्रतिक्रमण करता हूँ, फिर भी उनका प्रतिक्रमण करता हूँ—इसका क्या अर्थ? प्रतिक्रमण का भी प्रतिक्रमण करना कुछ समझ में नहीं आता?

आचार्य जिनदास ऊपर की शंका का बहुत सुन्दर समाधान करते हैं। आप 'पडिक्कमामि' का अर्थ 'परिहरामि' करते हैं और कहते हैं—'शारीरिक दुर्बलता आदि किसी विशेष परिस्थितिवश यदि मैंने करने योग्य सत्कार्य छोड़ दिया हो—न किया हो, और न करने योग्य कार्य किया हो, तो उस सब अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूँ।' देखिए आवश्यक चूर्णि—"**संघयणादि-दौर्बल्यादिना जं पडिक्कमामि—परिहरामि करणिज्जं, जं च न पडिक्कमामि अकरणिज्जं।**"

आत्म-समुत्कीर्तन :

'**समणोऽहं संजय-विरय**……**मायामोसविवज्जिओ**' यह सूत्रांश आत्म-समुत्कीर्तनपरक है। "मैं श्रमण हूँ, संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा हूँ, अनिदान हूँ, दृष्टिसम्पन्न हूँ, और मायामृषाविवर्जित हूँ'—यह कितना उदात्त, ओजस्वी अन्तर्नाद है! अपने सदाचार के प्रति कितनी स्वाभिमान पूर्ण गम्भीर वाणी है। सम्भव है किसी को इसमें अहंकार की गन्ध आए! परन्तु यह अहंकार अप्रशस्त नहीं, प्रशस्त है। आत्मिक दुर्बलता का निराकरण करने के लिए साधक को ऐसा स्वाभिमान सदा सर्वदा ग्राह्य है, आदरणीय है। इतनी उच्च संकल्प भूमि पर पहुँचा हुआ साधक ही यह विचार कर सकता है कि[1] 'मैं इतना ऊँचा एवं महान् साधक हूँ, फिर भला

---

१ '**एरिसो य हों तो कहं पुण अकुसलमायरिस्सं?—आचार्य जिनदास**

अकुशल पापकर्म का आचरण कैसे कर सकता हूँ ?' यह है वह आत्माभिमान, जो साधक को पापाचरण से बचाता है, अवश्य बचाता है ! यह है वह आत्मसमुत्कीर्तन, जो साधक को धर्माचरण के लिए प्रखर स्फूर्ति देता है, और देता है अचंचल ज्ञान चेतना।

आइए, अब कुछ विशेष शब्दों पर विचार कर लें। 'श्रमण' शब्द में साधना के प्रति निरन्तर जागरूकता, सावधानता एवं प्रयत्नशीलता का भाव रहा हुआ है। 'मैं श्रमण हूँ' अर्थात् साधना के लिए कठोर श्रम करने वाला हूँ। मुझे जो कुछ पाना है, अपने श्रम अर्थात् पुरुषार्थ के द्वारा ही पाना है। अतः मैं संयम के लिए अतीत में प्रतिक्षण श्रम करता रहा हूँ। वर्तमान में श्रम कर रहा हूँ और भविष्य में भी श्रम करता रहूँगा। यह है वह विराट आध्यात्मिक श्रम—भावना, जो श्रमण शब्द से ध्वनित होती है।

संयत का अर्थ है—'संयम में सम्यक् यतन करने वाला।' अहिंसा, सत्य आदि कर्तव्यों में साधक को सदैव सम्यक् प्रयत्न करते रहना चाहिए। यह संयम की साधना का भावात्मक रूप है। "**संजतो—सम्मं जतो, करणीयेसु जोगेसु सम्यक् प्रयत्नपर इत्यर्थः।**"—आवश्यक चूर्णि

विरत का अर्थ है—'सब प्रकार के सावद्य योगों से विरति=निवृत्ति करने वाला।' जो संयम की साधना करना चाहता है, उसे असदाचरण-रूप समस्त सावद्य प्रयत्नों से निवृत्त होना ही चाहिए। यह नहीं हो सकता कि एक ओर संयम की साधना करते रहें और दूसरी ओर सांसारिक सावद्य पाप कर्मों में भी संलग्न रहें। संयम और असंयम में परस्पर विरोध है। इतना विरोध है कि दोनों तीन काल में भी कभी एकत्र नहीं रह सकते। यह साधना का निषेधात्मक रूप है। '**एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं**'—उत्तराध्ययन सूत्र के उक्त कथन के अनुसार असंयम में निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करने से ही साधना का वास्तविक रूप स्पष्ट होता है।

प्रतिहत-प्रत्याख्यात पापकर्मा का अर्थ है—'भूतकाल में किए गए पाप कर्मों को निन्दा एवं गर्हा के द्वारा प्रतिहत करने वाला और वर्तमान तथा भविष्य में होने वाले पाप कर्मों को अकरणतारूप प्रत्याख्यान के द्वारा प्रत्याख्यात करने वाला।' यह विशेषण साधक की त्रैकालिक जीवन शुद्धि का प्रतीक है। साधक वही सच्चा साधक है, जो अपने जीवन के तीनों कालों में से अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान में से, पाप-कालिमा को धोकर साफ कर देता है। वह न वर्तमान में पाप करता है, न भविष्यत् में करेगा और न भूतकाल के पापों को ही जीवन के किसी अंग में लगा रहने देगा। उसे पाप कर्मों से लड़ना है। केवल वर्तमान में ही नहीं, अपितु भूत और भविष्यत् में भी लड़ना है। साधना का अर्थ ही पाप कर्मों पर त्रिकालविजयी होना है।

प्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य जिनदास लिखते हैं—'**पडिहतं अतीतं णिंदण-गरहणादीहिं, पच्चक्खातं सेसं अकरणतया पावकम्मं पावाचारं येण स तथा।**'

अनिदान का अर्थ होता है—'निदान से रहित अर्थात् निदान का परिहार करने वाला।' निदान का अर्थ आसक्ति है। साधना के लिए किसी प्रकार की भी भोगासक्ति जहरीला कीड़ा है। कितनी ही बड़ी ऊँची साधना हो, यदि भोगासक्ति है तो वह उसे अन्दर ही अन्दर खोखला कर देती है, सड़ा-गला देती है। अतः साधक घोषणा करता है कि "मैं श्रमण हूँ, अनिदान हूँ। न मुझे इस लोक की आसक्ति है, और न परलोक की। न मुझे देवताओं का वैभव ललचा सकता है और न किसी चक्रवर्ती सम्राट का विशाल साम्राज्य ही। इस विराट संसार में मेरी कहीं भी कामना नहीं है। न मुझे दुःख से भय है और न सुख से मोह। अतः मेरा मन न काँटों में उलझ सकता है और न फूलों में। मैं साधक हूँ। अस्तु, मेरा एकमात्र लक्ष्य मेरी अपनी साधना है, अन्य कुछ नहीं। मेरा ध्येय बन्धन नहीं, प्रत्युत बन्धन से मुक्ति है।"

जैन संस्कृति का यह आदर्श कितना महत्त्वपूर्ण है! अनिदान शब्द के द्वारा जैन साधना का ध्येय स्पष्ट हो जाता है। जो साधक अपने लिए कोई सांसारिक निदान-सम्बन्धी ध्येय निश्चित करते हैं, वे पथ भ्रष्ट हुए बिना नहीं रह सकते। अनिदान साधक ही पथ भ्रष्ट होने से बचते हैं और स्वीकृत साधना पर दृढ़ रहकर कर्म बन्धनों से अपने को मुक्त करते हैं।

दृष्टिसम्पन्न का अर्थ है—'सम्यग्दर्शन-रूप शुद्ध दृष्टि वाला।' साधक के लिए शुद्ध दृष्टि होना आवश्यक है। यदि सम्यग् दर्शन न हो, शुद्ध दृष्टि न हो, तो हिताहित का विवेक कैसे होगा? धर्मा-धर्म का स्वरूप-दर्शन कैसे होगा? सम्यग् दर्शन ही वह निर्मल दृष्टि है, जिसके द्वारा संसार को संसार के रूप में, मोक्ष को मोक्ष के रूप में, संसार के कारणों को संसार के कारणों के रूप में, मोक्ष के कारणों को मोक्ष के कारणों के रूप में, अर्थात् धर्म को धर्म के रूप में और अधर्म को अधर्म के रूप में देखा जा सकता है। आचार्य जिनदास इसीलिए **'दिट्ठि सम्पन्नो'** का अर्थ **'सव्वगुणमूलभूतगुणयुक्तत्व'** करते हैं। 'सम्यग्दर्शन' वस्तुतः सब गुणों का मूलभूत गुण है।

जब तक सम्यग् दर्शन का प्रकाश विद्यमान है, तब तक साधक को इधर-उधर भटकने एवं पथ भ्रष्ट होने का कोई भय नहीं है। मिथ्यादर्शन ही साधक को नीचे गिराता है, इधर-उधर के प्रलोभनों में उलझाता है। सम्यग्दर्शन का लक्ष्य जहाँ बन्धन से मुक्ति है, वहाँ मिथ्यादर्शन का लक्ष्य स्वयं बन्धन है, भोगासक्ति है, संसार है। अतएव श्रमण जब यह कहता है कि मैं दृष्टिसम्पन्न हूँ, तब उसका अभिप्राय यह होता है कि "मैं मिथ्यादृष्टि नहीं हूँ, सम्यग् दृष्टि हूँ। मैं सत्य को सत्य और असत्य को असत्य समझता हूँ। मेरे समक्ष संसार मोक्ष का रूप लेकर नहीं आ सकता, बन्धन मोक्ष नहीं हो सकता। मेरी विवेक दृष्टि इतनी पैनी है कि मुझे असंयम, संयम का बाना पहन कर, अधर्म, धर्म का रूप

बनाकर, धोखा नहीं दे सकता। मैं प्रकाश में विचरण करने के लिए हूँ। मैं अन्धकार में क्यों भटकूँ और दीवारों से क्यों टकराऊँ? क्या मेरे आंख नहीं है? अनंत काल से भटकते हुए इस अंधे ने आंख पा ली हैं। अतः अब यह नहीं भटकेगा। स्वयं तो क्या भटकेगा, दूसरे अंधों को भी भटकने से बचाएगा। सम्यग्दर्शन का प्रकाश ही ऐसा है।"

माया-मृषा-विवर्जित का अर्थ है—'मायामृषा से रहित।' मायामृषा साधक के लिए बड़ा ही भयंकर पाप है। जैन धर्म में इसे शल्य कहा है। यह साधक के जीवन में यदि एक बार भी प्रवेश कर लेता है तो फिर वह कहीं का नहीं रहता। भूल को छुपाने की वृत्ति पिछले पापों को भी साफ नहीं होने देती और आगे के लिए अधिकाधिक पापों को निमंत्रण देती है। जो साधक झूठ बोल सकता है, झूठ भी वह, जिसके गर्भ में माया रही हुई हो, भला वह क्या साधना करेगा? माया-मृषावादी, साधक नहीं होता, ठग होता है। वह धर्म के नाम पर अधर्म करता है, धर्म का ढोंग रचता है।

यह प्रतिक्रमण-सूत्र है। अतः प्रतिक्रमणकर्ता साधक कहता है कि "मैं श्रमण हूँ। मैंने माया और मृषावाद का मार्ग छोड़ दिया है। मेरे मन में छुपाने जैसी कोई बात नहीं है। मेरी जीवन-पुस्तक का हर एक पृष्ठ खुला है, कोई भी उसे पढ़ सकता है। मैंने साधना पथ पर चलते हुए जो भूलें की हैं, गलतियाँ की हैं, मैंने उनको छुपाया नहीं है। जो कुछ दोष थे, साफ-साफ कह दिए हैं। भविष्य में भी मैं ऐसा ही रहूँगा। पाप छुपना चाहता है, मैं उसे छुपने नहीं दूंगा। पाप सत्य से चुंधियाता है, अतः असत्य का आश्रय लेता है, माया के अन्धकार में छुपता है। परन्तु मैं इस सम्बन्ध में बड़ा कठोर हूँ, निर्दय हूँ। न मैं पिछले पापों को छुपने दूंगा, और न भविष्य के पापों को। पाप आते हैं माया के द्वार से, मृषावाद के द्वार से। और मैंने इन द्वारों को बंद कर दिया है। अब भविष्य में पाप आएँ तो किधर से आएँ? पिछले पाप भी मायामृषा के आश्रय में ही रहते हैं। अस्तु ज्यों ही मैं भगवान् सत्य के आगे खड़ा होकर पापों की आलोचना करता हूँ, त्यों ही बस पापों में भगदड़ मच जाती है। क्या मजाल, जो एक भी खड़ा रह जाय!" यह है वह उदात्त भावना, जो मायामृषा-विवर्जित की पृष्ठ भूमि में रही हुई है।

सहयात्रियों को नमस्कार :

प्रस्तुत प्रतिज्ञा सूत्र के प्रारंभ में मोक्षमार्ग के उपदेष्टा धर्म-तीर्थंकरों को नमस्कार किया गया था। उस नमस्कार में गुणों के प्रति बहुमान था, कृतज्ञता की अभिव्यक्ति थी, परिणामविशुद्धि का स्थिरीकरणत्व था, और था सम्यग्दर्शन की शुद्धि का भाव, नवीन आध्यात्मिक स्फूर्ति एवं चेतना का भाव। अब प्रस्तुत नमस्कार में, उन सहयात्रियों को नमस्कार किया गया है, जो साधु और साध्वी के रूप में साधनापथ पर चल रहे हैं, संयम की आराधना कर रहे हैं, एवं बन्धनमुक्ति के लिए

प्रयत्नशील हैं। यह नमस्कार सुकृतानुमोदन रूप है, साथियों के प्रति बहुमान का प्रदर्शन है। पूर्व नमस्कार साधक से सिद्धत्व पर पहुँचे हुओं को था, अतः वह सहज भाव में किया जा सकता है। परन्तु अपने जैसे ही साथी यात्रियों को नमस्कार करना सहज नहीं है। यहाँ अभिमान से मुक्ति प्राप्त हुए बिना नमस्कार नहीं हो सकता।

जैन धर्म विनय का धर्म है, गुणपक्षपाती धर्म है। यहाँ और कुछ नहीं पूछा जाता, केवल गुण पूछा जाता है। सिद्ध हो अथवा साधक हो, कोई भी हो, गुणों के सामने झुक जाओ, बहुमान करो—यह है हमारा चिरन्तन आदर्श ! संयमक्षेत्र के सभी छोटे-बड़े साधक, फिर वे भले ही पुरुष हों—स्त्री हों, सब नमस्करणीय हैं, आदरणीय हैं, यह भाव है प्रस्तुत नमस्कार का। अपने सहधर्मियों के प्रति कितना अधिक विनम्र रहना चाहिए, यह आज के संप्रदायवादी साधुओं को सीखने जैसी चीज है ! आज की साधुता अपने सम्प्रदाय में है, अपनी बाड़ाबंदी में है। अतः साधुता को किया जाने वाला विराट नमस्कार भी संप्रदायवाद के क्षुद्र घेरे में अवरुद्ध हो जाता है। समस्त मानवक्षेत्र के साधकों को नमस्कार का विधान करने वाला विराट धर्म, इतना क्षुद्र-हृदय भी बन सकता है ? आश्चर्य है !

जम्बू द्वीप, धातकी खण्ड और अर्ध पुष्कर द्वीप तथा लवण एवं कालोदधि समुद्र—यह अढ़ाई द्वीपसमुद्र-परिमित मानव क्षेत्र है। श्रमण धर्म की साधना का यही क्षेत्र माना जाता है। आगे के क्षेत्रों में न मनुष्य हैं और न श्रमणधर्म की साधना है। अस्तु, अन्तिम दो गाथाओं में अढ़ाई द्वीप के मानव क्षेत्र में जो भी साधु-साध्वी हैं, सबको मस्तक झुकाकर वन्दन किया गया है।

प्रथम गाथा में रजोहरण, गुच्छक एवं प्रतिग्रह=पात्र आदि द्रव्य साधु के चिन्ह बताए हैं। और आगे की गाथा में पाँच महाव्रत आदि भाव साधु के गुण कहे गए हैं। जो द्रव्य और भाव दोनों दृष्टियों से साधुता की मर्यादा से युक्त हों, वे सब वन्दनीय मुनि हैं। द्रव्य के बाद भाव का उल्लेख, भाव साधुता का महत्व बताने के लिए है। द्रव्य साधुता न हो और केवल भावसाधुता हो, तब भी वह वन्दनीय है, परन्तु भाव के बिना केवल द्रव्य-साधुता कथमपि वन्दनीय नहीं हो सकती। अठारह हजार शील अंगों की व्याख्या के लिए अवतरणिका उठाते हुए आचार्य हरिभद्र यही सूचना करते हैं कि—"**एकाङ्गविकलप्रत्येक-बुद्धादिसंग्रहाय अष्टादशशीलसहस्रधारिणः, तथाहि—केचिद् भगवन्तो रजोहरणादिधारिणो न भवन्त्यपि।**"

अट्ठारह हजार-शील :

'शील' का अर्थ 'आचार' है। भेदानुभेद की दृष्टि से आचार के अठारह हजार प्रकार होते हैं। क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य—यह दश प्रकार का श्रमण-धर्म है। दशविध श्रमण धर्म के धर्ता मुनि, पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर, द्वीन्द्रिय आदि चार त्रस और एक अजीव—इस प्रकार दश की विराधना नहीं करते।

अस्तु, दशविध श्रमण-धर्म को पृथ्वी काय आदि दश की अविराधना से गुणन करने पर १०० भेद हो जाते हैं। पाँच इन्द्रियों के वश में पड़कर ही मानव पृथिवी काय आदि दश की विराधना करता है, अतः सौ को पाँच इन्द्रियों के विजय से गुणन करने पर ५०० भेद होते हैं। पुनः आहार, भय, मैथुन और परिग्रह-उक्त चार संज्ञाओं के निरोध से पूर्वोक्त पाँच सौ भेदों को गुणन करने से दो हजार भेद होते हैं। दो हजार को [1]मन, वचन और काय उक्त तीन दण्डों के निरोध से तीन गुणा करने पर छह हजार भेद होते हैं। पुनः छह हजार को करना, कराना और अनुमोदन उक्त तीनों से गुणन होने पर कुल अठारह हजार शील के भेद होते हैं। आचार्य हरिभद्र इस सम्बन्ध में एक प्राचीन गाथा उद्धृत करते हैं—

जोए करणे सन्ना,
इंदिय भोमाइ समण-धम्मे य।
सीलंग-सहस्साणं,
अट्ठारसगस्स निप्फत्ती ॥

शिरसा, मनसा, मस्तकेन :

प्रस्तुत सूत्र में '**सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि**' पाठ आता है, इसका अर्थ है—'शिर से, मन से और मस्तक से वन्दना करता हूँ।' प्रश्न होता है कि शिर और मस्तक तो एक ही हैं, फिर पुनरुक्ति क्यों? उत्तर में निवेदन है कि-शिर, समस्त शरीर में मुख्य है। अतः शिर से वन्दन करने का अभिप्राय है—शरीर से वन्दन करना। मन अन्तः करण है, अतः यह मानसिक वन्दना का द्योतक है। 'मत्थएण वंदामि' का अर्थ है—'मस्तक झुकाकर वन्दना करता हूँ, यह वाचिक वन्दना का रूप है। अस्तु मानसिक, वाचिक और कायिक त्रिविध वन्दना का स्वरूप-निर्देश होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है।

प्रस्तुत पाठ के उक्त अंश की अर्थात् '**ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि**' की व्याख्या करते हुए आचार्य जिनदास भी यही स्पष्टीकरण करते हैं—"**ते इति साधवः, सव्वेत्ति गच्छनिग्गत-गच्छवासी—पत्तेय बुद्धादयो। सिरसा इति कायजोगेण, मत्थएण वंदामित्ति एस एव वइजोगो।**"

१—आचार्य हरिभद्र कृत, कारितादि करण-त्रय से पहले गुणन करते हैं, और मन वचन आदि योग-त्रय से बाद में।

पाठान्तर :

प्रस्तुत पाठ का अन्तिम अंश 'अड्ढाइज्जेसु.....' आदि को कुछ आचार्य गाथा के रूप में लिखते हैं और कुछ गद्य रूप में। कुछ जावन्त कहते हैं और कुछ जावन्ति। **'पडिग्गह धारा'** आदि में आचार्य जिनदास सर्वत्र **'धरा'** का प्रयोग करते हैं और आचार्य हरिभद्र आदि **'धारा'** का। आचार्य हरिभद्र **'अड्ढारसहस्स-सीलंग धारा'** लिखते हैं और आचार्य जिनदास **'अट्ठारस सीलंग-सहस्सधरा।'** कुछ प्रतियों में रथवाचक 'रह' शब्द बढ़ाकर **'अड्ढार सहस्स सीलंग रह धारा'** भी लिखा मिलता है। आचार्य जिनदास ने आवश्यक-चूर्णि में अपने समय के कुछ और भी पाठान्तरों का उल्लेख किया है—**"केइ पुण समुद्दपदं गोच्छ-पडिग्गहपदं च न पढंति, अण्णे पुण अड्ढाइज्जेसु दोसु दीवसमुद्देसु पढंति, एत्थ विभासा कातव्वा।'**

३० | क्षामणा-सूत्र

(१)

आयरिय-उवज्झाए,
सीसे साहम्मिए कुलगणे अ ।
जे मे केइ कसाया,
सव्वे तिविहेण खामेमि ॥

(२)

सव्वस्स समणसंघस्स,
भगवओ अंजलिं करिअ सीसे ।
सव्वं खमावइत्ता,
खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥

(३)

खामेमि सव्वजीवे,
सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मेत्ती मे सव्वभूएसु,[1]
वेरं मज्झं न केणइ ॥

---

१. सव्व जीवेसु, इति जिनदास महत्तराः ।

शब्दार्थ

(१)

आयरिय=आचार्य पर
उवज्झाए=उपाध्याय पर
सीसे=शिष्य पर
साहम्मिए=साधर्मिक पर
य=और
कुल=कुल पर
गणे=गण पर
मे=मैंने
जे=जो
केइ=कोई
कसाया=कषाय किए हों
सव्वे=उन सबको
तिविहेण=त्रिविध रूप से
खामेमि=खिमाता हूँ

(२)

सीसे=शिर पर
अंजलिं=अञ्जलि
करिअ=करके
भगवओ=पूज्य
सव्वस्स=सब
समण-संघस्स=श्रमणसंघ से (अपने)
सव्वं=सब अपराध को
खमावइत्ता=क्षमा कराकर
अहयंपि=मैं भी
सव्वस्स=(उनके) सब अपराध को
खमामि=क्षमा करता हूँ।

(३)

सव्व=सब
जीवे=जीवों को
खामेमि=क्षमा करता हूं
सव्वे=सब
जीवा=जीव
मे=मुझे
खमंतु=क्षमा करें
सव्वभूएसु=सब जीवों पर
मे=मेरी
मेत्ती=मित्रता है
केणइ=किसी के साथ
मज्झं=मेरा
वेरं=वैरभाव
न=नहीं है

भावार्थ

आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल और गण; इनके ऊपर मैंने जो कुछ भी कषाय-भाव किए हों, उन दुराचरणों की मैं मन, वचन और काय से क्षमा चाहता हूँ ॥ १ ॥

अञ्जलिबद्ध दोनों हाथ जोड़कर समस्त पूज्य मुनिसंघ से मैं अपने सब अपराधों की क्षमा चाहता हूँ और मैं भी उनके प्रति क्षमाभाव करता हूँ ॥ २ ॥

मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ और वे सब जीव भी मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों के साथ पूर्ण मैत्री=मित्रता है; किसी के साथ भी मेरा वैर-विरोध नहीं है ।। ३ ।।

भाष्य

क्षमा, मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति है। मनुष्य की मनुष्यता के पूर्ण दर्शन भगवती क्षमा में ही होते हैं। वह मनुष्य क्या, जो जरा-जरा सी बात पर उबल पड़ता हो, लड़ाई-झगड़ा ठानता हो, वैर-विरोध करता हो? उसमें और पशु में एक आकृति के सिवा और कौन-सा अन्तर रह जाता है? वैर-विरोध की, क्रोध-द्वेष की वह भयंकर अग्नि है, जो अपने और दूसरों के सभी सद्गुणों को भस्म कर डालती है। क्षमाहीन मनुष्य का शरीर एड़ी से चोटी तक प्रचण्ड क्रोधाग्नि से जल उठता है, नेत्र आग्नेय बन जाते हैं, रक्त गर्म पानी की तरह खौलने लगता है।

क्षमा का अर्थ है—'सहनशीलता रखना।' किसी के किए अपराध को अन्तर्हृदय से भी भूल जाना, दूसरों के अनुचित व्यवहार की ओर कुछ भी लक्ष्य न देना; प्रत्युत अपराधी पर अनुराग और प्रेम का मधुर भाव रखना, क्षमा धर्म की उत्कृष्ट विशेषता है। क्षमा के बिना मानवता पनप ही नहीं सकती।

अहिंसामूर्ति क्षमावीर न स्वयं किसी का शत्रु है और न कोई उसका शत्रु है। न उससे किसी को भय है और न उसको किसी से भय है "**यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।**" वह जहाँ कहीं भी रहेगा, प्रेम और स्नेह की साक्षात् मूर्ति बन कर रहेगा। उसके मधुर हास्य में विलक्षण शक्ति का आभास मिलेगा। श्रीयुत शिवव्रतलाल वर्मन के शब्दों में—"जैसे सूर्य-मण्डल से चारों ओर शुभ्र ज्योति की वर्षा होती रहती है, वैसे ही उससे, उसके स्वरूप से, उसकी छाया से और उसकी साँस-साँस से दशों दिशाओं में आनन्द, मंगल और सुख शान्ति की अमृत धाराएँ हर समय प्रवाहित होती रहती हैं एवं संसार को स्वर्ग-सदृश बनाती रहती हैं।"

जैन-धर्म, आज के धार्मिक जगत में क्षमा का सबसे बड़ा पक्षपाती है। जैन-धर्म को यदि क्षमा-धर्म कहा जाय तो यह सत्य का अधिक स्पष्टीकरण होगा। जैनों का प्रत्येक पर्व=उत्सव क्षमा धर्म से ओत-प्रोत है। जैन धर्म का कहना है कि तुम अपने विरोधी के प्रति भी उदार, सहृदय, शान्त बनो। भूल हो जाना मनुष्य का प्रमाद-जन्य स्वभाव है; अतः किसी के अपराध को गाँठ बाँध कर हृदय में रखना, धार्मिक मनोवृत्ति, नहीं है। जैन-धर्म की साधना में अहोरात्र में दो बार-सायंकाल और प्रातः काल—प्रत्येक प्राणी से क्षमा माँगनी होती है। चाहे किसी ने तुम्हारा अपराध किया हो, अथवा तुमने किसी का अपराध किया हो; विशुद्ध हृदय से स्वयं क्षमा करो और दूसरों से क्षमा कराओ। न तुम्हारे हृदय में द्वेष की ज्वाला रहे और न दूसरे के हृदय में; यह कितना सुन्दर स्नेह पूर्ण जीवन होगा!

क्षमा के बिना कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती। उग्र से उग्र क्रिया काण्ड, दीर्घ से दीर्घ तपश्चरण, क्षमा के अभाव में केवल देहदण्ड ही होता है, उससे आत्मकल्याण तनिक भी नहीं हो सकता। ईसामसीह ने भी एक बार कहा था—"तुम अपनी आहुति चढ़ाने देव मन्दिर में जाते हो और वहाँ द्वार पर पहुँच कर यदि तुम्हें याद आ जाय कि तुम्हारा अमुक पड़ौसी से मन-मुटाव है तो तुम आहुति वहीं देवमन्दिर के द्वार पर छोड़ो और वापस जाकर अपने पड़ौसी से क्षमा माँगो। पड़ौसी से मैत्री करने के बाद ही देवता को भेंट चढ़ानी चाहिए।" कितना ऊँचा एवं भव्य आदर्श है? जब तक हृदय क्षमा-भाव से कोमल न हो जाय, तब तक उसमें धर्मकल्पतरु का मृदु अंकुर किस प्रकार अंकुरित हो सकता है?

प्रतिक्रमण की समाप्ति पर प्रस्तुत क्षामणासूत्र पढ़ते समय जब साधक दोनों हाथ जोड़कर क्षमा याचना करने के लिए खड़ा होता है, तब कितना सुन्दर शान्ति का दृश्य होता है? अपने चारों ओर अवस्थित संसार के समस्त छोटे-बड़े प्राणियों से गद्-गद् होकर क्षमा माँगता हुआ साधक, वस्तुतः मानवता की सर्वोत्कृष्ट भूमिका पर पहुँच जाता है। कितनी नम्रता है? गुरुजनों से तो क्षमा माँगता ही है, किन्तु अपने से छोटे शिष्य आदि से भी क्षमायाचना करता है। उस समय उसके हृदय से छोटे-बड़े का भेद विलुप्त हो जाता है और अखिल विश्व मित्र के रूप में आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार क्षमायाचना की साधना से अपराधों के संस्कार जाते रहते हैं, और मन पापों के भार से सहसा हलका हो जाता है। क्षमा से हमारे अहं-भाव का नाश होता है और हृदय में उदार भावना का आध्यात्मिक पुष्प खिल उठता है। अपने हृदय को निर्वैर बना लेना ही क्षमापना का उद्देश्य है। हमारी क्षमा में विश्वमैत्री का आदर्श रहा हुआ है। और यह विश्व-मैत्री ही जैन-धर्म का प्राण है।

करुणामूर्ति भगवान् महावीर, क्षमा पर अत्यधिक बल देते हैं। भगवान् की क्षमा का आदर्श है कि तुमने दूसरे के हृदय को किसी भी प्रकार की चोट पहुँचाई हो, दूसरे के हृदय में किसी भी प्रकार की कलुषता उत्पन्न की हो, अथवा दूसरे की ओर से अपने हृदय में वैर-विरोध एवं कलुषता के भाव पैदा किए हों, तो उक्त वैर-विरोध तथा कलुषता को क्षमा के आदान-प्रदान द्वारा तुरन्त धोकर साफ कर दो। वैर-विरोध की कालिमा को जरा-सी देर के लिए भी हृदय में न रहने दो। बृहत्कल्पसूत्र में भगवान महावीर का श्रमणसंघ के प्रति गंभीर एवं मर्मस्पर्शी सन्देश है कि—"यदि श्रमण संघ में किसी से किसी प्रकार का कलह हो जाय तो जब तक परस्पर क्षमा न मांग लें तब तक आहार पानी लेने नहीं जा सकते, शौच नहीं जा सकते, स्वाध्याय भी नहीं कर सकते।" क्षमा के लिए कितना कठोर अनुशासन है। आज के कलह-प्रिय साधु, जरा इस ओर लक्ष्य दें तो श्रमण-संघ का कितना अधिक अभ्युदय एवं आत्म-कल्याण हो।

क्षमा-प्रार्थना करते समय अपने आपको इस प्रकार उदात्त एवं मधुर भावना में रखना चाहए कि—हे विश्व के समस्त त्रस स्थावर जीवो ! हम तुम सब आत्म-दृष्टि से एक ही हैं, समान ही हैं। यह जो कुछ भी बाह्य विरोधता है, विषमता है, वह सब कर्म-जन्य है, स्वरूपतः नहीं। बाह्य भेदों को लेकर क्यों हम परस्पर एक दूसरे के प्रति द्वेष, घृणा, अपमान तथा वैर-विरोध करें। हम सबको तो सदा सर्वथा भ्रातृ भाव एवं स्नेहभाव ही रखना चाहिए। अनादिकाल से परिभ्रमण करते हुए मैं तुम्हारे संसर्ग में अनन्त बार आया हूँ और उस संसर्ग में स्वार्थ से, क्रोध से, अविचार से, अहंकार से, द्वेष से, किसी भी प्रकार से किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक तथा कायिक पीड़ा पहुँचाई हो तो उसके लिए अन्तःकरण से क्षमायाचना करता हूँ। मेरी हृदय से यही भावना है—

शिवमस्तु सर्व-जगतः,
पर-हित-निरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं,
सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥

प्रश्न है कि **'सव्वे जीवा खमंतु मे'** क्यों कहा जाता है ? सब जीव मुझे क्षमा करें, इसका क्या अभिप्राय है ? वे क्षमा करें या न करें, हमें इससे क्या ? हमें तो अपनी ओर से क्षमा माँग लेनी चाहिए ।

समाधान है कि प्रस्तुत पाठ में करुणा का अपार सागर तरंगित हो रहा है। कौन जीव कहाँ है ? कौन क्षमा कर रहा है कौन नहीं ? कुछ पता नहीं। फिर भी अपने हृदय की करुणा भावना है कि मुझे सब जीव क्षमा कर दें। क्षमा कर दें तो उनकी आत्मा भी क्रोधनिमित्तक कर्मबन्धन से मुक्त हो जाय ! **'मा तेषामपि अक्षान्तिप्रत्ययः कर्मबन्धो भवतु, इति करुणयेदमाह'**—आचार्य हरिभद्र ।

आचार्य जिनदास और हरिभद्र ने क्षामणा-सूत्र में केवल एक ही 'खामेमि सव्वजीवे' की गाथा का उल्लेख किया है। परन्तु कुछ हस्तलिखित प्रतियों में प्रारम्भ की दो गाथाएँ अधिक मिलती हैं। गाथाएँ अतीव सुन्दर हैं, अतः हम उन्हें मूल पाठ के रूप में देने का लोभ संवरण नहीं कर सके ।

३१ | उपसंहार-सूत्र

एवमहं आलाइअ,
निंदिय गरहिअ दुगुंछिउं सम्मं ।
तिविहेण पडिक्कंतो,
वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥

शब्दार्थ

एवं=इस प्रकार
अहं=मैं
सम्मं=अच्छी तरह
आलोइअ=आलोचना करके
निंदिय=निन्दा करके
गरहिअ=गर्हा करके
दुगुंछिउं=जुगुप्सा करके
तिविहेण=तीन प्रकार से
पडिक्कंतो=पाप कर्म से निवृत्त होकर
चउव्वीसं=चौबीस
जिणे=जिन देवों को
वंदासि=वन्दना करता हूं

भावार्थ

इस प्रकार मैं सम्यक् आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा के द्वारा तीन प्रकार से अर्थात् मन, वचन और काय से प्रतिक्रमण कर=पापों से निवृत्त होकर चौबीस तीर्थंकर देवों को वन्दना करता हूँ ।

भाष्य

यह उपसंहार-सूत्र है । प्रतिक्रमण के द्वारा जीवन-शुद्धि का मार्ग प्रशस्त हो जाने से आत्मा आध्यात्मिक अभ्युदय के शिखर पर आरूढ़ हो जाता है । जब तक हम अपने जीवन का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण नहीं करेंगे, अपनी भूलों के प्रति पाश्चात्ताप नहीं करेंगे, भविष्य के लिए सदाचार के प्रति अचल संकल्प नहीं करेंगे; तब तक हम मानव जीवन में कदापि आध्यात्मिक उत्थान नहीं कर सकेंगे । हमारे पतन के बीज, भूलों के प्रति उपेक्षाभाव रखने में रहे हुए हैं ।

भूलों के प्रति पश्चात्ताप का नाम जैन परिभाषा में प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण मन, वचन और शरीर तीनों के द्वारा किया जाता है। मानव के पास तीन ही शक्तियाँ ऐसी हैं जो उसे बन्धन में डालती हैं और बन्धन से मुक्त भी करती हैं। मन, वचन और शरीर से बाँधे गए पाप मन, वचन और शरीर के द्वारा ही क्षीण एवं नष्ट भी होते हैं। राग-द्वेष से दूषित मन, वचन और शरीर बन्धन के लिए होते हैं, और ये ही वीतराग परिणति के द्वारा कर्म-बन्धनों से सदा के लिए मुक्ति भी प्रदान करते हैं।

आलोचना का भाव अतीव गम्भीर है। निशीथ चूर्णिकार-जिनदास गणि कहते हैं कि—"जिस प्रकार अपनी भूलों को, अपनी बुराइयों को तुम स्वयं स्पष्टता के साथ जानते हो, उसी प्रकार स्पष्टतापूर्वक कुछ भी न छुपाते हुए गुरुदेव के समक्ष ज्यों का त्यों प्रकट कर देना आलोचना है।" यह आलोचना करना, मानापमान की दुनियाँ में घूमने वाले साधारण मानव का काम नहीं है। जो साधक दृढ़ होगा, आत्मार्थी होगा, जीवन शुद्धि की ही चिन्ता रखता होगा, वही आलोचना के इस दुर्गम पथ पर अग्रसर हो सकता है।

निन्दा का अर्थ है—आत्म साक्षी से अपने मन में अपने पापों की निन्दा करना। गर्हा का अर्थ है—पर की साक्षी से अपने पापों की बुराई करना। जुगुप्सा का अर्थ है—पापों के प्रति पूर्ण घृणा भाव व्यक्त करना। जब तक पापाचार के प्रति घृणा न हो, तब तक मनुष्य उससे बच नहीं सकता। पापाचार के प्रति उत्कट घृणा रखना ही पापों से बचने का एक मात्र अस्खलित मार्ग है। अतः आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा के द्वारा किया जाने वाला प्रतिक्रमण ही सच्चा प्रतिक्रमण है।

आचार्य जिनदास प्रस्तुत उपसंहार सूत्र में एवं के बाद 'अहं' का उल्लेख नहीं करते। और आलोइय, निन्दिय आदि में क्त्वा प्रत्यय भी नहीं मानते, जिसका अर्थ 'करके' किया जाता है। जैसे आलोचना करके, निन्दा करके इत्यादि। आचार्य श्री इन सब पदों को निष्ठान्त मानते हैं, फलतः उनके उल्लेखानुसार अर्थ होता है—मैंने आलोचना की है, गर्हा की है इत्यादि। दुगुंछा का अर्थ भी स्वतन्त्र नहीं करते। अपितु आलोचना, निन्दा और गर्हा को ही दुगुंछा कहते हैं। देखिए आवश्यक चूर्णि, प्रतिक्रमणाधिकार :—

"एवमित्ति अनेन प्रकारेण आलोइयं पयासितूणं गुरूणं कहितं, निन्दियं मणेण पच्छातावो। गरहितं वइजोगेण। एवं आलोइयनिंदियगरहियमेव दुगुंछितं। एवं तिवहेण जोगेण पडिक्कंतो वंदामि चउव्वीसंति।"

अन्त में चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार मंगलार्थक है। प्रतिक्रमण के द्वारा शुद्ध हुआ साधक अन्त में अपने को तीर्थंकरों की शरण में अर्पण करता है और अन्तर्जल्प के रूप में मानो कहता है कि—"भगवन्! मैंने आपकी आज्ञानुसार प्रतिक्रमण कर लिया है। आपकी साक्षी से बिना कुछ छुपाए पूर्ण निष्कपट भाव से आलोचना, निन्दा, गर्हा करके शुद्ध हो गया हूँ। अब मैं आपके पवित्र चरणों में वन्दन करने का अधिकारी हूँ। आप अन्तर्यामी हैं। घट-घट की जानते हैं। आपसे मेरा कुछ छुपा हुआ नहीं है। अब मैं आपकी देख-रेख में भविष्य के लिए पवित्र संयम-पथ पर चलने का दृढ़ प्रयत्न करूँगा।'

परिशिष्ट

१ | द्वादशावर्त गुरुवन्दन-सूत्र

इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं,
जावणिज्जाए निसीहियाए ।
अणुजाणह मे मिउग्गहं ।
निसीहि,
अहोकाय काय-संफासं ।
खमणिज्जो भे किलामो ।
अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो ?
जत्ता भे ?
जवणिज्जं च भे ?
खामेमि खमासमणो ! देवसियं वइक्कमं ।
आवस्सिआए पडिक्कमामि–
खमासमणाणं देवसियाए आसायणाए
तित्तीसन्नयराए, जं किंचि मिच्छाए,
मणदुक्कडाए, वयदुक्कडाए, कायदुक्कडाए,
कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए,
सव्वकालियाए, सव्वमिच्छोवयाराए,
सव्वधम्माइक्कमणाए, आसायणाए–
जो मे अइयारो कओ,
तस्स
खमासमणो !
पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि,
अप्पाणं वोसिरामि !

शब्दार्थ

[वन्दना की आज्ञा]
खमासमणो=हे क्षमाश्रमण !
जावणिज्जाए=यथा शक्तियुक्त
निसीहियाए=पाप-क्रिया से निवृत्त हुए शरीर से
वंदिउं=(आपको) वन्दना करना
इच्छामि=चाहता हूँ

[अवग्रह प्रवेश की आज्ञा]
मे= (अतः) मुझको
मिउग्गहं=परिमित अवग्रह की, अर्थात् अवग्रह में कुछ सीमा तक प्रवेश करने की
अणुजाणह=आज्ञा दीजिए
[गुरु की ओर से आज्ञा होने पर गुरु के समीप बैठकर]
निसीहि=अशुभ क्रिया को रोककर
अहोकायं=(आपके) चरणों का
कायसंफासं=अपनी काय से मस्तक से या हाथ से स्पर्श [करता हूँ]
भे=(मेरे छूने से) आपको
किलामो=जो बाधा हुई, वह
खमणिज्जो=क्षन्तव्य=क्षमा के योग्य है

[कायिक कुशल की पृच्छा]
अप्पकिलंताणं=अल्प-ग्लान वाले
भे=आपश्री का
बहुसुभेण=बहुत आनन्द से
दिवसो=आज का दिन
वइक्कंतो=बीता ?

[संयमयात्रा की पृच्छा]
भे=आपकी
जत्ता=संयम यात्रा, (निर्बाध है ?)

[यापनीय की पृच्छा]
च=और
भे=आपका शरीर
जवणिज्जं=मन तथा इन्द्रियों की पीड़ा से रहित है ?
[गुरु की ओर से एवं कहने पर स्वापराधों की क्षमायाचना]
खमासमणो=हे क्षमाश्रमण !
देवसियं=(मैं) दिवस-सम्बन्धी
वइक्कमं=अपने अपराध को
खामेमि=खिमाता हूँ
आवस्सियाए=चरण-करण-रूप आवश्यक क्रिया करने में जो भी विपरीत अनुष्ठान हुआ हो उससे
पडिक्कमामि=निवृत्त होता हूँ

[विशेष स्पष्टीकरण]
खमासमाणाणं=आप क्षमाश्रमण की
देवसियाए=दिवस सम्बन्धिनी
तित्तीसन्नयराए=तेतीस में से किसी भी
आसायणाए=आशातना के द्वारा

[आशातना के प्रकार]

जं किंचि=जिस किसी भी
मिच्छाए=मिथ्या भाव से की हुई
मणदुक्कडाए=दुष्ट मान से की हुई
वयदुक्कडाए= दुष्ट वचन से की हुई
कायदुक्कडाए=शरीर की दुश्चेष्टाओं से की हुई
कोहाए=क्रोध से की हुई
माणाए=मान से की हुई
मायाए=माया से की हुई
लोभाए=लोभ से की हुई
सव्वकालियाए= सब काल में की हुई
सव्वमिच्छोवयाराए=सब प्रकार के मिथ्या भावों से पूर्ण
सव्वधम्माइक्कमणाए=सब धर्मों को उल्लंघन करने वाली
आसायणाए=आशातना से
जे=जो भी
मे=मैंने
अइयारो=अतिचार
कओ=किया हो
तस्स=उसका
पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हूँ
निन्दामि=उसकी निन्दा करता हूँ
गरिहामि=विशेष निन्दा करता हूँ
अप्पाणं=आशातनाकारी अतीत आत्मा का
वोसिरामि=पूर्ण रूप से परित्याग करता हूँ

भावार्थ

[१. इच्छा-निवेदन स्थान]

हे क्षमाश्रमण गुरुदेव ! मैं पाप-प्रवृत्ति से अलग हटाए हुए अपने शरीर के द्वारा यथाशक्ति आपको वन्दन करना चाहता हूँ।

[२. अनुज्ञापना स्थान]

अतएव मुझको अवग्रह में=आपके चारों ओर के शरीर-प्रमाण क्षेत्र में कुछ परिमित सीमा तक प्रवेश करने की आज्ञा दीजिए।

मैं अशुभ व्यापारों को हटाकर अपने मस्तक तथा हाथ से आपके चरण कमलों का सम्यग् रूप से स्पर्श करता हूँ।

चरण स्पर्श करते समय मेरे द्वारा आपको जो कुछ भी बाधा=पीड़ा हुई हो, उसके लिए क्षमा कीजिए।

[३. शरीरयात्रा-पृच्छा स्थान]

क्या ग्लानि-रहित आपका आज का दिन बहुत आनन्द से व्यतीत हुआ ?

[४. संयमयात्रा पृच्छा स्थान]

क्या आपकी तप एवं संयम रूप यात्रा निर्बाध है ?

[५. संयम मार्ग में यापनीयता=मन, वचन, काय के सामर्थ्य की पृच्छा का स्थान]

क्या आपका शरीर मन तथा इन्द्रियों की बाधा से रहित सकुशल एवं स्वस्थ है ?

[६. अपराध-क्षमापना स्थान]

हे क्षमाश्रमण गुरुदेव ! मुझसे दिन में जो व्यतिक्रम=अपराध हुआ हो, उसके लिए क्षमा करने की कृपा करें।

भगवन् ! आवश्यक क्रिया करते समय मुझसे जो भी विपरीत आचरण हुआ हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

हे क्षमाश्रमण गुरुदेव ! जिस किसी भी मिथ्याभाव से, मानसिक द्वेष से, दुर्भाषण से, शरीर की दुष्ट चेष्टाओं से, क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, सार्वकालिकी=सर्वकाल से सम्बन्धित, सब प्रकार के मिथ्या अर्थात् मायिक व्यवहारों वाली, सब प्रकार के धर्मों को अतिक्रमण करने वाली तेतीस आशातनाओं में से दिवस-सम्बन्धी किसी भी आशातना के द्वारा मैंने जो भी अतिचार=दोष किया हो; उसका प्रतिक्रमण करता हूँ, मन से उसकी निन्दा करता हूँ, आपके समक्ष वचन से उसकी गर्हा करता हूँ; और पाप कर्म करने वाली बहिरात्मभावरूप अतीत आत्मा का परित्याग करता हूँ, अर्थात् इस प्रकार के पाप-व्यापारों से आत्मा को अलग हटाता हूँ।

भाष्य

आवश्यक क्रिया में तीसरे वन्दन आवश्यक का महत्वपूर्ण स्थान है। हितोपदेशी गुरुदेव को विनम्र हृदय से अभिवन्दन करना और उनकी दिन तथा रात्रि-सम्बन्धी सुखशान्ति पूछना, शिष्य का परम कर्त्तव्य है। भारतीय संस्कृति में, विशेषतः जैन संस्कृति में अध्यात्मवाद की महती महिमा है; और आध्यात्मिकता के जीवित चित्र गुरुदेव की महिमा के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? अन्धकार में भटकते हुए, ठोकरें खाते हुए मनुष्य के लिए दीपक की जो स्थिति है, ठीक वही स्थिति अज्ञानान्धकार में भटकते हुए शिष्य के प्रति गुरुदेव की है। अतएव जैन संस्कृति में कृतज्ञता-प्रदर्शन के नाते पद-पद पर गुरुदेव को वन्दन करने की

परम्परा प्रचलित है। अरिहन्तों के नीचे गुरुदेव ही आध्यात्मिक साम्राज्य के अधिपति हैं। उनको वन्दन करना भगवान् को वन्दन करना है। अस्तु, इस महिमाशाली गुरुवन्दन के उद्देश्य को एवं इसकी सुन्दर पद्धति को प्रस्तुत पाठ में बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रदर्शित किया गया है।

आज का मानव धर्म-परंपराओं से शून्य होता जा रहा है, चारों ओर स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति बढ़ रही है, विनय और नम्रता के स्थान में अहंकार जागृत हो रहा है। आज वह पुरानी आदर्श पद्धति कहाँ है कि गुरुदेव के आते ही खड़ा हो जाना, सामने जाना, आसन अर्पण करना और कुशल क्षेम पूछना। गुरुदेव की आज्ञा में रहकर अपने जीवन का निर्माण करना, आज के युग में बड़ा कष्टप्रद प्रतीत होता है। वन्दन करते हुए आज के शिष्य की गर्दन में पीड़ा होती है। वह नहीं जानता कि भारतीय शिष्य का जीवन ही वन्दनमय है। गुरु चरणों का स्पर्श मस्तक पर लगाने से ही भारतीय शिष्यों को ज्ञान की विभूति मिली है। गुरुदेव के प्रति विनय, भक्ति ही हमारी कल्याण-परम्पराओं का मूल स्रोत है। आचार्य उमास्वाति की वाणी सुनिए, वह क्या कहते हैं :—

विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ;
ज्ञानस्य फलं विरति विरतिफलं चाश्रवनिरोधः।
संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम् ;
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः, क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम्।
योगनिरोधाद् भवसंततिक्षयः संततिक्षयान्मोक्षः ;
तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः।

—'गुरुदेव के प्रति विनय का भाव रखने से सेवाभाव की जागृति होती है, गुरुदेव की सेवा से शास्त्रों के गम्भीर ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान का फल पापाचार से निवृत्ति है, और पापाचार की निवृत्ति का फल आश्रव-निरोध है।'

—'आश्रवनिरोध=संवर का फल तपश्चरण है, तपश्चरण से कर्म मल की निर्जरा होती है; निर्जरा के द्वारा क्रिया की निवृत्ति और क्रियानिवृत्ति से मन, वचन तथा काययोग पर विजय प्राप्त होती है।'

—'मन, वचन और शरीर के योग पर विजय पा लेने से जन्ममरण की लम्बी परंपरा का क्षय होता है, जन्ममरण की परंपरा के क्षय से आत्मा को मोक्षपद की प्राप्ति होती है। यह कार्यकारणभाव की निश्चित शृङ्खला हमें सूचित करती है कि समग्र कल्याणों का एकमात्र मूल कारण विनय है।'

प्राचीन भारत में प्रस्तुत विनय के सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया गया है। आपके समक्ष गुरुवन्दन का पाठ है, देखिए, कितना भावुकतापूर्ण है? **'विणओ जिणसासणमूलं'** की भावना का कितना सुन्दर प्रतिबिम्ब है? शिष्य के मुख से एक-एक शब्द प्रेम और श्रद्धा के अमृत रस में डूबा निकल रहा है!

वन्दना करने के लिए पास में आने की भी क्षमा माँगना, चरण छूने से पहले अपने सम्बन्ध में **'निसीहियाए'** पद के द्वारा सदाचार से पवित्र रहने का गुरुदेव को विश्वास दिलाना, चरण छूने तक के कष्ट की भी क्षमा-याचना करना, सायंकाल में दिन सम्बन्धी और प्रातःकाल में रात्रि सम्बन्धी कुशल-क्षेम पूछना, संयम-यात्रा की अस्खलना भी पूछना, अपने से आवश्यक क्रिया करते हुए जो कुछ भी आशातना हुई हो तदर्थ क्षमा माँगना, पापाचारमय पूर्वजीवन का परित्याग कर भविष्य में नये सिरे से संयम जीवन के ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना, कितना भाव-भरा एवं हृदय के अन्तस्तम भाग को छूने वाला वन्दन का क्रम है ! स्थान-स्थान पर गुरुदेव के लिए **'क्षमाश्रमण'** सम्बोधन का प्रयोग, क्षमा के लिए, शिष्य की कितनी अधिक आतुरता प्रकट करता है; तथाच गुरुदेव को किस ऊँचे दर्जे का क्षमामूर्ति संत प्रमाणित करता है ।

अब आइए, मूल-सूत्र के कुछ विशेष शब्दों पर विचार करलें । यद्यपि शब्दार्थ और भावार्थ में भी काफी स्पष्टीकरण हो चुका है, फिर भी गहराई में उतरे विना पूर्ण स्पष्टता नहीं हो सकती ।

इच्छामि :

जैनधर्म इच्छाप्रधान धर्म है । यहाँ किसी आतंक या दबाव से कोई काम करना और मन में स्वयं किसी प्रकार का उल्लास न रखना, अभिमत अथच अभिहित नहीं है । विना प्रसन्न मनोभावना के की जाने वाली धर्म क्रिया, कितनी ही क्यों न महनीय हो, अन्ततः वह मृत है, निष्प्राण है । इस प्रकार भय के भार से लदी हुई मृत धर्म क्रियाएँ तो साधक के जीवन को कुचल देती हैं, हीन बना देती हैं । विकासोन्मुख धर्म साधना स्वतन्त्र इच्छा चाहती है, मन की स्वयं कार्य के प्रति होने वाली अभिरुचि चाहती है । यही कारण है कि जैन धर्म की साधना में सर्वत्र **'इच्छामि पडिक्कमामि, इच्छामि खमासमणो'** आदि के रूप में सर्वप्रथम **'इच्छामि'** का प्रयोग होता है । **'इच्छामि'** का अर्थ है मैं स्वयं चाहता हूँ, अर्थात् यह मेरी स्वयं अपने हृदय की स्वतन्त्र भावना है ।

'इच्छामि' का एक और भी अभिप्राय है । शिष्य गुरुदेव के चरणों में विनम्र भाव से प्रार्थना करता है कि 'भगवन् ! मैं आपको वन्दन करने की इच्छा रखता हूँ । अतः आप उचित समझें तो आज्ञा दीजिए । आपकी आज्ञा का आशीर्वाद पाकर मैं धन्य-धन्य हो जाऊँगा ।'

ऊपर की वाक्यावली में शिष्य वन्दन के लिए केवल अपनी ओर से इच्छा निवेदन करता है, सदाग्रह करता है, दुराग्रह नहीं । नमस्कार भी नमस्करणीय की इच्छा के अनुसार होना चाहिए, यह है जैन संस्कृति के शिष्टाचार का अन्तर्हृदय । यहाँ नमस्कार में भी इच्छा मुख्य है, उद्दण्डतापूर्ण बलाभियोग एवं दुराग्रह नहीं । आचार्य जिनदास कहते हैं—**'एत्थ वंदितुमित्यावेदनेन अण्णच्छंदता परिहरिता ।'**

क्षमाश्रमण :

'श्रमु' धातु तप और खेद अर्थ में व्यवहृत होती है। अतः जो तपश्चरण करता है, एवं संसार से सर्वथा निर्विण्ण रहता है, वह श्रमण कहलाता है। क्षमाप्रधान क्षमण क्षमाश्रमण होता है। क्षमाश्रमण में क्षमा से [1]मार्दव आदि दशविध श्रमण-धर्म का ग्रहण हो जाता है। अस्तु, जो श्रमण क्षमा, मार्दव आदि महान् आत्मगुणों से सम्पन्न हैं, अपने धर्म-पथ पर दृढ़ता के साथ अग्रसर हैं, वे ही वन्दनीय हैं। यह क्षमाश्रमण शब्द, किसको वन्दन करना चाहिए—इस पर बहुत सुन्दर प्रकाश डालता है।

शिष्य, गुरुदेव को वन्दन करने एवं अपने अपराधों की क्षमा याचना करने के लिए आता है, अतः क्षमाश्रमण सम्बोधन के द्वारा प्रथम ही क्षमादान प्राप्त करने की भावना अभिव्यक्त करता है। आशय यह है कि 'हे गुरुदेव ! आप क्षमाश्रमण हैं, क्षमामूर्ति हैं। अस्तु, मुझ पर कृपाभाव रखिए। मुझसे जो भी भूलें हुई हों, उन सबके लिए क्षमा प्रदान कीजिए।'

यापनीया :

'या' प्रापणे धातु से ण्यन्त में कर्तरि अनीयच् प्रत्यय होने से यापनीया शब्द बनता है। आचार्य हरिभद्र कहते हैं—'**यापयतीति यापनीया तया।**' यापनीया का भावार्थ हरिभद्रजी यथाशक्तियुक्त तनु अर्थात् शरीर करते हैं। आचार्य जिनदास भी कार्यसमर्थ शरीर को यापनीय कहते हैं और असमर्थ शरीर को अयापनीय। '**यावणीया नाम जा केणति पयोगेण कज्जसमत्था, जा पुण पयोगेण वि न समत्था सा अजावणीया।**'

'यापनीय' कहने का अभिप्राय यह है कि 'मैं अपने पवित्र भाव से वन्दन करता हूँ। मेरा शरीर वन्दन करने की सामर्थ्य रखता है, अतः किसी दवाब से लाचार होकर गिरी पड़ी हालत में वन्दन करने नहीं आया हूँ, अपितु वन्दना की भावना से उत्फुल्ल एवं रोमाञ्चित हुए सशक्त शरीर से वन्दना के लिए तैयार हुआ हूँ।'

सशक्त एवं समर्थ शरीर ही विधिपूर्वक धर्म क्रिया का आराधन कर सकता है! दुर्बल शरीर प्रथम तो धर्मक्रिया कर नहीं सकता। और यदि किसी के भय से या स्वयं हठाग्रह से करता भी है तो वह अविधि से करता है, जो लाभ की अपेक्षा हानिप्रद अधिक है। धर्म साधना का रंग स्वस्थ एवं सबल शरीर होने पर ही जमता है। यापनीय शब्द की यही ध्वनि है, यदि कोई सुन और समझ सके तो? '**जावणिज्जाए निसीहिदाए त्ति अणेण शक्तत्वं विधी य दरिसिता।**'—आचार्य जिनदास।

---

१ '**खमागहणे य मद्दवादयो सूइता**' —आचार्य जिनदास।

नैषेधिकी[1] **:**

मूल शब्द 'निसीहिया' है। इसका संस्कृत रूप 'नैषेधिकी' होता है। प्राणातिपातादि पापों से निवृत्त हुए शरीर को नैषेधिकी कहते हैं। देखिए, आचार्य हरिभद्र क्या कहते हैं ? **'निषेधनं निषेधः, निषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी, प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाद् वा नैषेधिकेत्युच्यते।.......नैषेधिक्या—प्राणातिपातादिनिवृत्तया तन्वा शरीरेणेत्यर्थः।'**

आचार्य जिनदास नैषेधिकी के शरीर, वसति=स्थान और स्थण्डिल भूमि—इस प्रकार तीन अर्थ करते हैं। मूलतः नैषेधिकी शब्द आलय=स्थान का वाचक है। शरीर भी जीव का आलय है, अतः वह भी नैषेधिकी कहलाता है। इतना ही नहीं, निषिद्ध आचरण से निवृत्त शरीर की क्रिया भी नैषेधिकी कहलाती है।

जैन धर्म की पवित्रता स्नान आदि में नहीं है। वह है पापाचार से निवृत्ति में, हिंसादि से विरति में। अतः शिष्य गुरुदेव से कहता है कि "भगवन् ! मैं अपवित्र नहीं हूँ, जो आपको वन्दन न कर सकूँ। मैंने हिंसा, असत्य आदि पापों का त्याग किया हुआ है, अहिंसा एवं सत्य का भली भाँति आचरण किया है; अतः विश्वास रखिए, मैं पवित्र हूँ, और पवित्र होने के नाते आपके पवित्र चरण कमलों को स्पर्श करने का अधिकारी हूँ।"

—"निसीहि नाम सरीरगं वसही थंडिलं च भण्णति। जतो निसीहिता नाम आलयो वसही थंडिलं च। सरीरं जीवस्स आलयोत्ति। तथा पडिसिद्धनिसेवणनियत्तस्स किरिया निसीहिया ताए।....विसक्तया तन्वा, कहं ? विपडिसिद्धनिसेहकिरियाए य, अप्परोगं मम सरीरं, पडिसिद्धपावकम्मो य होंतओ तुमं वंदिउं इच्छामित्ति यावत्।"

—आचार्य जिनदास कृत आवश्यक चूर्णि

अवग्रह :

जहाँ गुरुदेव विराजमान होते हैं, वहाँ गुरुदेव के चारों ओर चारों दिशाओं में आत्म-प्रमाण अर्थात् [2]शरीर-प्रमाण साढ़े तीन हाथ का क्षेत्रावग्रह होता है। इस अवग्रह

---

१. निषेध का अर्थ त्याग है। मानव शरीर त्याग के लिए ही है, यह जैन धर्म का अन्तर्हृदय है और इसीलिए वह शरीर को भी नैषेधिकी कहता है। नैषेधिकी का अर्थ है जीवहिंसादि पापाचरणों का निषेध अर्थात् निवृत्ति करना ही प्रयोजन है जिसका वह शरीर।

नैषेधिकी का जो यापनीया विशेषण है, उसका अर्थ है जिससे कालक्षेप किया जाय, समय बिताया जाय, वह शारीरिक शक्ति यापनीया कहलाती है।

दोनों का मिल कर अर्थ होता है कि "मैं अपनी शक्ति से युक्त त्याग प्रधान नैषेधिकी शरीर से वन्दन करना चाहता हूँ।"

नैषेधिकी और यापनीया का कुछ आचार्यों द्वारा किया जाने वाला यह विश्लेषण भी ध्यान में रखना चाहिए।

२. साढ़े तीन हाथ परिमाण अवग्रह इसलिए है कि गुरुदेव अपनी इच्छानुसार उठ बैठ सकें, स्वाध्याय ध्यान कर सकें, आवश्यकता हो तो शयन भी कर सकें।

में गुरुदेव की आज्ञा लिए बिना प्रवेश करना निषिद्ध है। गुरुदेव की गौरव-मर्यादा के लिए शिष्य को गुरुदेव से साढ़े तीन हाथ दूर अवग्रह से बाहर खड़ा रहना चाहिए। यदि कभी वन्दना एवं वाचना आदि आवश्यक कार्य के लिए गुरुदेव के समीप तक जाना हो तो प्रथम आज्ञा लेकर पुनः अवग्रह में प्रवेश करना चाहिए।

अवग्रह की व्याख्या करते हुए आचार्य हरिभद्र आवश्यक वृत्ति में लिखते हैं—'**चतुर्दिशमिहाचार्यस्य आत्म-प्रमाणं क्षेत्रमवग्रहः। तमनुज्ञां विहाय प्रवेष्टुं न कल्पते।**'

प्रवचनसारोद्धार के वन्दनक द्वार में आचार्य नेमिचन्द्र भी यही कहते हैं :—

आय-प्पमाणमित्तो,
चउदिसिं होइ उग्गहो गुरुणो।
अणणुन्नायस्स सया,
न कप्पए तत्थ पविसेउं ॥१२६॥

प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति में अवग्रह के छः भेद कहे गए हैं :—नामावग्रह= नाम का ग्रहण, स्थापनावग्रह=स्थापना के रूप में किसी वस्तु का अवग्रह कर लेना, द्रव्यावग्रह=वस्त्र पात्र आदि किसी वस्तु-विशेष का ग्रहण, क्षेत्रावग्रह=अपने आस-पास के क्षेत्र-विशेष एवं स्थान का ग्रहण, कालावग्रह=वर्षा काल में चार मास का अवग्रह और शेष काल में एक मास आदि का, भावावग्रह=ज्ञानादि प्रशस्त और क्रोधादि अप्रशस्त भाव का ग्रहण।

वृत्तिकार ने वंदन प्रसंग में आये अवग्रह के लिए क्षेत्रावग्रह और प्रशस्त भावावग्रह माना है।

भगवती सूत्र आदि आगमों में देवेन्द्रावग्रह, राजावग्रह, गृहपति-अवग्रह, सागारी (शय्यादाता) का अवग्रह, और साधर्मिक का अवग्रह—इस प्रकार जो आज्ञा ग्रहण करने रूप पाँच अवग्रह कहे गए हैं, वे प्रस्तुत प्रसंग में ग्राह्य नहीं हैं।

अहोकायं काय-संफासं :

'**अहोकाय**' का संस्कृत रूपान्तर अधःकाय है, जिसका अर्थ 'चरण' होता है। अधःकाय का मूलार्थ है काय अर्थात् शरीर का सबसे नीचे का भाग। शरीर का सबसे नीचे का भाग चरण ही है, अतः अधःकाय का भावार्थ चरण होता है। '**अधः-कायः पादलक्षणस्तरधः कायं प्रति।**'
—आचार्य हरिभद्र।

'**काय संफासं**' का संस्कृत का रूपान्तर कायसंस्पर्श होता है। इसका अर्थ है 'काय से सम्यक्तया स्पर्श करना।' यहाँ काय से क्या अभिप्राय है? यह विचारणीय है! आचार्य जिनदास काय से हाथ ग्रहण करते हैं। "**अप्पणो काएण हत्थेहिं फुसिस्सामि।**" आचार्य श्री का अभिप्राय यह है कि आवर्तन करते समय शिष्य अपने हाथ से गुरु के चरणकमलों को स्पर्श करता है, अतः यहाँ काय से हाथ ही अभीष्ट है। कुछ आचार्य काय से मस्तक लेते हैं। वंदन करते समय शिष्य गुरुदेव के चरण-कमलों में अपना मस्तक लगाकर वंदना करता है, अतः उनकी दृष्टि में काय-संस्पर्श

से मस्तक संस्पर्श ग्राह्य है। आचार्य हरिभद्र काय का अर्थ सामान्यतः निज देह ही करते हैं—**'कायेन निजदेहेन संस्पर्शः कायसंस्पर्शस्तं करोमि।'**

परन्तु शरीर से स्पर्श करने का क्या अभिप्राय हो सकता है ? यह विचारणीय है। सम्पूर्ण शरीर से तो स्पर्श हो नहीं सकता, वह होगा मात्र हस्त-द्वारेण या मस्तक-द्वारेण। अतः प्रश्न है कि सूत्रकार ने विशेषोल्लेख के रूप में हाथ या मस्तक न कह कर सामान्यतः शरीर ही क्यों कहा ? जहाँ तक विचार की गति है, इसका यह समाधान है कि शिष्य गुरुदेव के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण करना चाहता है, सर्वस्व के रूप में शरीर के कण-कण से चरणकमलों का स्पर्श करके धन्य-धन्य होना चाहता है। प्रत्यक्ष में हाथ या मस्तक का स्पर्श भले हो, परन्तु उनके पीछे शरीर के कण-कण से स्पर्श करने की भावना है। अतः सामान्यतः काय-संस्पर्श कहने में श्रद्धा के विराट रूप की अभिव्यक्ति रही हुई है ! जब शिष्य गुरुदेव के चरणकमलों में मस्तक झुकाता है, तो उसका अर्थ होता है गुरु-चरणों में अपने मस्तक की भेंट अर्पण करना। शरीर में मस्तक ही तो मुख्य है। अतः जब मस्तक अर्पण कर दिया गया तो उसका अर्थ है अपना समस्त शरीर ही गुरुदेव के चरणकमलों में अर्पण कर देना। समस्त शरीर को गुरुदेव के चरण-कमलों में अर्पण करने का भाव यह है कि—अब मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ आपकी आज्ञा में चलूँगा, आपके चरणों का अनुसरण करूँगा। शिष्य का अपना कुछ नहीं है। जो कुछ भी है, सब गुरुदेव का है। अतः काय के उपलक्षण से मन और वचन का अर्पण भी समझ लेना चाहिए।

अल्पक्लान्त :

प्रस्तुत सूत्र में **'अप्पकिलंताणं बहुसुभेण....'** अंशगत जो अल्पक्लान्त शब्द है, आचार्य हरिभद्र और नमि ने इसका अर्थ **"अल्पं=स्तोकं क्लान्तं=क्लमो येषां ते अल्प क्लान्ताः'** कहकर 'अल्प पीड़ा वाला' किया है। वर्तमान कालीन कुछ विद्वान् भी इसी पथ के अनुयायी हैं। परन्तु मुझे यह अर्थ ठीक नहीं जँचता। यहाँ अल्प पीड़ा का, थोड़ी-सी तकलीफ का क्या भाव है ? क्या गुरुदेव को थोड़ी सी पीड़ा का रहना आवश्यक है ? नहीं, यह अर्थ उचित नहीं मालूम होता। अल्प शब्द स्तोक-वाचक ही नहीं, अभाव-वाचक भी है[1]। उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम विनयाध्ययन में एक गाथा आती है—**'अप्पपाणेऽप्पबीयम्मि'**....३५। इसका अर्थ है—अल्पप्राण और अल्पबीज वाले स्थान में साधु को भोजन करना चाहिए। क्या आप यहाँ भी अल्प-प्राण और अल्पबीज का अर्थ थोड़े प्राणी और थोड़े बीज वाले स्थान में भोजन करना ही करेंगे ? तब तो अर्थ का अनर्थ ही होगा ? अतः यहाँ अल्प का अभाव अर्थ मान कर यह अर्थ किया जाता है कि साधु को प्राणी और बीजों से रहित स्थान में भोजन करना चाहिए। तभी वास्तविक अर्थ-संगति हो सकती है, अन्यथा नहीं। अस्तु, प्रस्तुत

---

१ **अल्प इति अभावे, स्तोके च'**—आवश्यक चूर्णि।

पाठ में भी 'अप्पकिलंताणं' का 'ग्लानि-रहित'—'बाधारहित' अर्थ ही संगत प्रतीत होता है।

बहुशुभेन :

मूल में '**अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो**' पाठ है। इसका अर्थ है—'भगवन्! आपका यह दिन विघ्न-बाधाओं से रहित प्रभूत सुख में अर्थात् अत्यन्त आनन्द में व्यतीत हुआ ?' यह सर्वप्रथम शरीर-सम्बन्धी कुशल प्रश्न है ? जैन धर्म के सम्बन्ध में यह व्यर्थ ही भ्रान्त धारणा है कि वह कठोर संयम-धर्म का अनुयायी है, अतः शरीर के प्रति लापरवाह होकर शीघ्र ही मृत्यु का आह्वान करता है।' यह ठीक है कि वह उग्र संयम का आग्रही है। परन्तु संयम के आग्रह में वह शरीर के प्रति व्यर्थ ही उपेक्षा नहीं रखता है। आप यहाँ देख सकते हैं कि पहले शरीर-सम्बन्धी कुशल पूछा गया है और बाद में संयम यात्रा-सम्बन्धी! '**अव्वाबाहपुच्छा गता, एवं ता शरीरं पुच्छितं, इदाणिं तवसंजम नियम जोगेसु पुच्छति।**'—आवश्यक चूर्णि।

यात्रा[1] :

शिष्य, गुरुदेव से यात्रा के सम्बन्ध में कुशल क्षेम पूछता है। आप यात्रा शब्द देखकर चौंकिए नहीं। जैन संस्कृति में यात्रा भौतिक स्थूल कल्पना न होकर एक मधुर आध्यात्मिक सत्य है। यात्रा क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए आइए, प्रभु महावीर के चरणों में चलें। सोमिल ब्राह्मण भगवान से प्रश्न करता है कि—'भगवन्! क्या आप यात्रा भी करते हैं ?' भगवान् ने उत्तर दिया—'हाँ, सोमिल! मैं यात्रा करता हूँ।' सोमिल ने तुरन्त पूछा—'कौनसी यात्रा ?' सोमिल बाह्य जगत में विचर रहा था, भगवान अन्तर्जगत में विचरण कर रहे थे। भगवान् ने उत्तर दिया—'सोमिल! जो मेरी अपने तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि योग की साधना में यतना है—प्रवृत्ति है, वही मेरी यात्रा है।' कितनी सुन्दर यात्रा है ? इस यात्रा के द्वारा जीवन निहाल हो सकता है ?

—"**सोमिला! जं मे तव-नियम-संजम-सज्झाय-ज्झाणावसग्गमादिएसु जोएसु जयणा सेत्तं जत्ता।**"

—भगवती सूत्र १८। १०।

यह जैन-धर्म की यात्रा है, आत्म-यात्रा। जैन धर्म की यात्रा का पथ जीवन के अंदर में से है, बाहर में नहीं। अनन्त-अनन्त साधक इसी यात्रा के द्वारा मोक्ष में पहुँचे हैं और पहुँचेंगे। संयम-साधक के लिए जीवन की प्रत्येक शुभ प्रवृत्ति यात्रा है, मोक्ष का मार्ग है।

यापनीय :

'यात्रा' के समान 'यापनीय' शब्द भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। यापनीय का अर्थ है मन और इन्द्रिय आदि पर अधिकार रखना, अर्थात् उनको अपने वश में—नियंत्रण

---

१ **यात्रा तपोनियमादिलक्षणा क्षायिकमिश्रौपशमिकभावलक्षणा वा।'**

—आचार्य हरिभद्र, आवश्यक वृत्ति।

में रखना। मन और इन्द्रियों का अनुपशान्त रहना, अनियंत्रित रहना अकुशलता है, अयापनीयता है। और इनका उपशान्त हो जाना, नियंत्रित हो जाना ही कुशलता है, यापनीयता है।

कुछ हिन्दी टीकाकारों ने, जिनमें पं० सुखलालजी भी हैं, **'जवणिज्जं च भे ?'** की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'आपका शरीर मन तथा इन्द्रियों की पीड़ा से रहित है।' हमने भी यही अर्थ लिखा है। आचार्य हरिभद्र ने भी इस सम्बन्ध में कहा है—**'यापनीयं चेन्द्रियनोइन्द्रियोपशमादिना प्रकारेण भवतां ? शरीरमिति गम्यते।'** यहाँ इन्द्रिय से इन्द्रिय और नोइन्द्रिय से मन समझा गया है और ऊपर के अर्थ की कल्पना की गई है।

परन्तु भगवती सूत्र में यापनीय का निरूपण करते हुए कहा है कि—यापनीय के दो प्रकार हैं-इन्द्रिय यापनीय और नो इन्द्रिय यापनीय। पाँचों इन्द्रियों का निरुपहत रूप से अपने वश में होना, इन्द्रिय-यापनीयता है। और क्रोधादि कषायों का उच्छिन्न होना, उदय न होना, उपशान्त हो जाना, नोइन्द्रिय यापनीयता है!

—जवणिज्जे दुविहे पन्नत्ते, तंजहा—इंदियजवणिज्जे य नोइन्दियजवणिज्जे य।

से किं तं इंदियजवणिज्जे ? जं मे सोइंदिय—चक्खिदिय—घाणिंदिय—जिब्भिदिय—फासिंदियाइं निरुवहयाइं वसे वट्टंति, सेत्तं इंदियजवणिज्जं।

से किं तं नोइंदियजवणिज्जे ? जं मे कोहमाणमायालोभा वोच्छिन्ना नो उदीरेंति सेत्तं नो इंदिय जवणिज्जे।
—भगवती सूत्र १८। १०।

आचार्य अभयदेव, भगवती सूत्र के उपर्युक्त पाठ का विवरण करते हुए लिखते हैं—**"यापनीयं=मोक्षाध्वनि गच्छतां प्रयोजक इन्द्रियादिवश्यतारूपो धर्मः।.... इन्द्रियविषयं यापनीयं=वश्यत्वमिन्द्रिययापनीयं, एवं नो इन्द्रिययापनीयं, नवरं नो शब्दस्य मिश्रवचनत्वादिन्द्रियैर्मिश्राः सहार्थत्वाद् वा इन्द्रियाणां सहचरिता नोइंद्रियाः=कषायाः।"**

भगवती सूत्र में नोइन्द्रिय से मन नहीं, किन्तु कषाय का ग्रहण किया गया है। कषाय चूँकि इन्द्रिय-सहचरित होते हैं, अतः नो इन्द्रिय कहे जाते हैं।

आचार्य जिनदास भी भगवती सूत्र का ही अनुसरण करते हैं—**'इंदियजवणिज्जं निरुवहताणि वसे य भे वट्टंति इंदियाणि, नो खलु कज्जस्स बाधाए वट्टंतीत्यर्थः। एवं नोइन्दियजवणिज्जं कोधादीए वि णो भे बाहेंति।'**—आवश्यक चूर्णि।

उपर्युक्त विचारों के अनुसार यापनीय प्रश्न का यह भावार्थ है कि 'भगवन्! आपकी इन्द्रिय-विजय की साधना ठीक-ठीक चल रही है ? इन्द्रियाँ आपकी धर्म-साधना में बाधक तो नहीं होतीं ? अनुकूल ही रहती हैं न ? और नोइन्द्रिय विजय भी ठीक-ठीक चल रही है न ? क्रोधादि कषाय शान्त हैं ? आपकी धर्म यात्रा में कभी बाधा तो नहीं पहुँचाते ?'

प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति में आचार्य सिद्धसेन यात्रा और यापना के द्रव्य तथा भाव के रूप में दो-दो भेद करते हैं। मिथ्यादृष्टि तापस आदि की अपनी क्रिया में प्रवृत्ति द्रव्ययात्रा है, और श्रेष्ठ साधुओं की अपनी महाव्रतादि रूप साधना में प्रवृत्ति भाव यात्रा है। इसी प्रकार द्राक्षारस आदि से शरीर को समाहित करना, द्रव्य यापना है, और इन्द्रिय तथा नो इन्द्रिय की उपशान्ति से शरीर का समाहित होना भावयापना है।—**'यात्रा द्विविधा द्रव्यतो भावतश्च। द्रव्यतस्तापसादीनां मिथ्यादृशां स्वक्रियोत्सर्पणं, भावतः साधूनामिति।.... यापनापि द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च। द्रव्यतः शर्कराद्राक्षादिसदोषधैः कायस्य समाहितत्वं, भावतस्तु इन्द्रियनोइं-द्रियोपशान्तत्वेन शरीरस्य समाहितत्वम्।'** —प्रवचनसारोद्धार वंदनक द्वार।

आवश्यिकी :

अवश्य करने योग्य चरण-करणरूप श्रमण-योग **'आवश्यक'** कहे जाते हैं। आवश्यक क्रिया करते समय प्रमादवश जो रत्नत्रय की विराधना हो जाती है वह आवश्यिकी कहलाती है।[1] अतः **'आवस्सियाए'** का अभिप्राय यह है कि 'मुझसे आवश्यक योग की साधना करते समय जो भूल हो गई हो, उस आवश्यिकी भूल का प्रतिक्रमण करता हूँ।'

'आवस्सियाए' कहते हुए जो अवग्रह से बाहर निकला जाता है, वह इसलिए कि गुरुदेव के चरणों में से कहीं अन्यत्र आवश्यक कार्य के लिए जाना होता है तो गुरुदेव को सूचना देने के लिए 'आवस्सिया' कहा जाता है, यह आवश्यिकी समाचारी है। अतः यहाँ भी 'आवस्सियाए' को आवश्यिकी का प्रतीक मानकर शिष्य अवग्रह से बाहर होता है। यही कारण है कि दूसरे खमासमणो में 'आवस्सियाए' नहीं कहा जाता और न अवग्रह से बाहर ही आया जाता है।

आशातना :

'आशातना' शब्द जैन आगम-साहित्य का एक प्राचीन पारिभाषिक शब्द है। जैन धर्म अनुशासन-प्रधान धर्म है। अतः यहाँ पद-पद पर अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु और गुरुदेव का, किंबहुना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धर्म-साधना तक का भी सम्मान रक्खा जाता है। सदाचारी गुरुदेव और अपने सदाचार के प्रति किसी भी प्रकार की अवज्ञा एवं अवहेलना, जैनधर्म में स्वयं एक बहुत बड़ा पाप माना गया है, अनुशासन जैनधर्म का प्राण है।

आइए, अब आशातना के व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ पर विचार करलें। 'ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही वास्तविक आय=लाभ है, उसकी शातना=खण्डना, आशातना है।' गुरुदेव आदि का अविनय ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूप आत्मगुणों के लाभ का नाश

---

१. **'अवश्यकर्तव्यैश्चरण-करणयोगैर्निवृत्ता आवश्यिकी तयाऽऽसेवनाद्वारेण हेतुभूतया यदसाध्वनुष्ठितं तस्य प्रतिक्रामामि विनिवर्तयामीत्यर्थः।'**—आचार्य हरिभद्र।

करने वाला है। देखिए, प्रतिक्रमण सूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य तिलक का अभिमत। **'आयस्य ज्ञानादिरूपस्य शातना=खण्डना आशातना। निरुक्त्या यल्लोपः।'**

आशातना के भेदों की कोई इयत्ता नहीं है। आशातना के स्वरूप-परिचय के लिए दशाश्रुतस्कन्ध-सूत्र में तेतीस आशातनाएँ वर्णन की गई हैं। परिशिष्ट में उन सबका उल्लेख किया गया है, यहाँ संक्षेप में द्रव्यादि चार आशातनाओं का निरूपण किया जाता है, आचार्य हरिभद्र के उल्लेखानुसार इनमें तेतीस का ही समावेश हो जाता है। **'तित्तीसं पि चउसु दव्वाइसु समोयरंति'**

द्रव्य आशातना का अर्थ है—गुरु आदि रात्निक के साथ भोजन करते समय स्वयं अच्छा-अच्छा ग्रहण कर लेना और बुरा-बुरा रात्निक को देना। यही बात वस्त्र, पात्र आदि के सम्बन्ध में भी है।

क्षेत्र-आशातना का अर्थ है—अड़कर चलना, अड़कर बैठना इत्यादि।

काल आशातना का अर्थ है—रात्रि या विकाल के समय रात्निकों के द्वारा बोलने पर भी उत्तर न देना, चुप रहना।

भाव आशातना का अर्थ है—आचार्य आदि रात्निकों को 'तू' करके बोलना, उनके प्रति दुर्भाव रखना, इत्यादि।

मनोदुष्कृता :

मनोदुष्कृता का अर्थ है मन से दुष्कृत। मन में किसी प्रकार का द्वेष, दुर्भाव, घृणा तथा अवज्ञा का होना, मनोदुष्कृता आशातना है। इसी प्रकार अभद्र वचन आदि से वाग्दुष्कृता तथा आसन्न—गमनादि के निमित्त से कायदुष्कृता आशानता होती है।

क्रोधा :

मूल में **'कोहा'** शब्द है, जिसका तृतीया विभक्ति के रूप में **'कोहाए'** प्रयोग किया गया है। 'कोहा' का संस्कृत रूपान्तर **'क्रोधा'** होता है। क्रोधा का अर्थ क्रोध नहीं, अपितु क्रोधानुगता अर्थात् क्रोधवती आशातना से है। क्रोध के निमित्त से होने वाली आशातना क्रोधा अर्थात् क्रोधवती कहलाती है।

'क्रोधा' का 'क्रोधवती' अर्थ कैसे होता है? समाधान है कि अर्शादिगण आकृति गण माना जाता है, अतः क्रोधादि को अर्शादि गण में मान कर अच् प्रत्यय होने से क्रोधयुक्त का भी क्रोध रूप ही रहता है। आशातना स्त्रीलिंग शब्द है, अतः 'क्रोधा' रूप का प्रयोग किया गया है।

—क्रोधयेति क्रोधवत्येति प्राप्ते अर्शादेराकृतिगणत्वात् अच् प्रत्ययान्तत्वात् 'क्रोधया' क्रोधानुगतया।—आचार्य हरिभद्र।

'क्रोधया' के समान ही मानया, मायया और लोभया का मर्म भी समझ लेना चाहिए। सब में अर्शादि अच् प्रत्यय है, अतः मानवत्या, मायावत्या और लोभवत्या अर्थ ही ग्राह्य है।

सार्वकालिकी :

आशातना के लिए यह विशेषण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अर्थ रखता है। शिष्य गुरुदेव के चरणों में आशातना का प्रतिक्रमण करता हुआ निवेदन करता है कि 'भगवन्! मैं दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक आशातना के लिए क्षमा चाहता हूँ और उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। इतना ही नहीं, अब तक के इस जीवन में जो अपराध हुआ हो, उसके लिए भी क्षमा—याचना है। प्रस्तुत जीवन ही नहीं, पूर्व जीवन और उससे भी पूर्व जीवन, इस प्रकार अनन्तानन्त अतीत जन्मों में जो भूल हुई हो, अवहेलना का भाव रहा हो, उस सबकी क्षमा याचना करता हूँ।'

मूल में 'सव्वकालिया' शब्द है, जिसका अर्थ है सब काल में होने वाली आशातना। आचार्य जिनदास सर्वकाल से समस्त भूतकाल ग्रहण करते हैं—**'सव्वकाले भवा सव्वकालिगी, पक्खिका, चातुम्मासिया, संवत्सरिया, इह भवे अण्णेसु वा अतीतेसु भवग्गहणेसु सव्वमतीतद्धाकाले।'**

आचार्य हरिभद्र 'सर्वकाल' से अतीत, अनागत और वर्तमान इस प्रकार त्रिकाल का ग्रहण करते हैं—**'अधुनेहभवान्यभवगताऽतीतानागतकालसंग्रहार्थमाह, सर्वकालेन अतीतादिना निर्वृत्ता सार्वकालिकी तया।'**

यह विनय धर्म का कितना महान् विराट रूप है। जैन संस्कृति की प्रत्येक साधना क्षुद्र से महान होती हुई अन्त में अनन्त का रूप ले लेती है। आप देख सकते हैं, गुरुदेव के चरणों में की जानेवाली अपराध क्षामणा भी दैवसिक एवं रात्रिक से महान् होती हुई अन्त में सार्वकालिकी हो जाती है। केवल वर्तमान ही नहीं, किन्तु अनन्त भूत और अनन्त भविष्य काल के लिए भी अपराध-क्षमापना करना, साधक का नित्यप्रति किया जाने वाला आवश्यक कर्तव्य है।

अनागत-आशातना के सम्बन्ध में प्रश्न है कि भविष्यकाल तो अभी आगे आने वाला है, अतः तत्सम्बन्धी आशातना कैसे हो सकती है? समाधान है कि गुरुदेव के लिए एवं गुरुदेव की आज्ञा के लिए भविष्य में किसी प्रकार की भी अवहेलना का भाव रखना, संकल्प करना, अनागत आशातना है। भूतकाल की भूलों का पश्चात्ताप करो और भविष्य में भूलें न होने देने के लिए सदा कृत-संकल्प रहो, यह है साधक जीवन के लिए अमर सन्देश, जो सार्वकालिकी पद के द्वारा अभिव्यंजित है।

बारह आवर्त[1] :

प्रस्तुत पाठ में आवर्त-क्रिया विशेष ध्यान देने योग्य है। जिस प्रकार वैदिक मंत्रों में स्वर तथा हस्त-सञ्चालन का ध्यान रक्खा जाता है, उसी प्रकार इस पाठ

---

१ **'सूत्राभिधानगर्भाः काय-व्यापारविशेषाः'**—आचार्य हरिभद्र, आवश्यक वृत्ति।

'सूत्र-गर्भा गुरुचरणकमलन्यस्तहस्तशिरःस्थापनरूपाः।'—प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, वन्दनक द्वार।

में भी आवर्त के रूप में स्वर तथा चरण—स्पर्श के लिए होने वाली हस्त-संचालन क्रिया के सम्बन्ध में लक्ष्य दिया गया है। स्वर के द्वारा वाणी में एक विशेष प्रकार का ओज एवं माधुर्य पैदा हो जाता है, जो अन्तः करण पर अपना विशेष प्रभाव डालता है।

आवर्त के सम्बन्ध में एक बात और है। जिस प्रकार वर और कन्या अग्नि की प्रदक्षिणा करने के बाद पारस्परिक कर्तव्य-निर्वाह के लिए आबद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार आवर्त-क्रिया गुरु और शिष्य को एक दूसरे के प्रति कर्तव्य-बन्धन में बाँध देती है। आवर्तन करते समय शिष्य गुरुदेव के चरणकमलों का स्पर्श करने के बाद दोनों अंजलिबद्ध हाथों को अपने मस्तक पर लगाता है; इसका हार्द है कि वह गुरुदेव की आज्ञाओं को सदैव मस्तक पर वहन करने के लिए कृतप्रतिज्ञ है।

प्रथम के तीन आवर्त—'अहो'—'कायं'—'काय'—इस प्रकार दो-दो अक्षरों से पूरे होते हैं। कमलमुद्रा से अंजलिबद्ध दोनों हाथों से गुरु-चरणों को स्पर्श करते हुए मन्द स्वर से 'अ' अक्षर कहना, तत्पश्चात् अंजलिबद्ध हाथों को मस्तक पर लगाते हुए उच्च स्वर से 'हो' अक्षर कहना, यह पहला आवर्तन है। इसी प्रकार 'का....यं' और 'का....य' के शेष दो आवर्तन भी किए जाते हैं।

अगले तीन आवर्त—'ज त्ता भे' 'जवणि'—'ज्जं च भे'—इस प्रकार तीन-तीन अक्षरों के होते हैं। कमल-मुद्रा से अंजलि बाँधे हुए दोनों हाथों से गुरु-चरणों को स्पर्श करते हुए अनुदात्त=मन्द स्वर से—'ज'—अक्षर कहना, पुनः हृदय के पास अञ्जलि लाते हुए स्वरित=मध्यम स्वर से—'त्ता'—अक्षर कहना, पुनः अपने मस्तक को छूते हुए उदात्त स्वर से—'भे'—अक्षर कहना; प्रथम आवर्त है। इसी पद्धति से 'ज ...व....णि'—और 'ज्जं....च....भे'—ये शेष दो आवर्त भी करने चाहिएँ। प्रथम 'खमासमणो' के छह और इसी भाँति दूसरे 'खमासमणो, के छह; कुल बारह आवर्त होते हैं।

वन्दन-विधि :

वन्दन आवश्यक बड़ा ही गंभीर एवं भावपूर्ण है। आज परंपरा की अज्ञानता के कारण इस ओर लक्ष्य नहीं दिया जा रहा है और केवल येन-केन प्रकारेण मुख से पाठ का पढ़ लेना ही वन्दन समझ लिया गया है। परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि विना विधि के क्रिया फलवती नहीं होती। अतः पाठकों की जानकारी के लिए स्पष्ट रूप से विधि का वर्णन किया जाता है :—

गुरुदेव के आत्मप्रमाण क्षेत्र-रूप अवग्रह के बाहर आचार्य तिलक ने क्रमशः दो स्थानों की कल्पना की है,—एक **'इच्छा-निवेदन स्थान'** और दूसरा **'अवग्रह प्रवेशाज्ञायाचना स्थान।'** प्रथम स्थान में वन्दन करने की इच्छा का निवेदन किया जाता है, फिर जरा आगे अवग्रह के पास जाकर अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगी जाती है।

वन्दनकर्ता शिष्य, अवग्रह के बाहर प्रथम इच्छानिवेदन स्थान में यथा जात मुद्रा से दोनों हाथों में रजोहरण लिए हुए अर्द्धावनत होकर अर्थात् आधा शरीर झुका कर नमन करता है और '**इच्छामि खमासमणो**' से लेकर '**निसीहियाए**' तक का पाठ पढ़ कर वन्दन करने की इच्छा निवेदन करता है। शिष्य के इस प्रकार निवेदन करने के पश्चात् गुरुदेव यदि अस्वस्थ या किसी कार्य-विशेष में व्याक्षिप्त होते हैं तो[1] 'तिविहेण'-'त्रिविधेन' ऐसा शब्द कहते हैं, जिसका अर्थ होता है—'अवग्रह से बाहर रह कर ही संक्षिप्त वन्दन करना।' अतः अवग्रह से बाहर रह कर ही तिक्खुत्तो के पाठ के द्वारा संक्षिप्त वंदन कर लेना चाहिए। यदि गुरुदेव स्वस्थ एवं अव्याक्षिप्त होते हैं तो '**छंदेणं**'—'छन्दसा' ऐसा शब्द कहते हैं; जिसका अर्थ होता है—'इच्छानुसार वन्दन करने की सम्मति देना।'

गुरुदेव की ओर से उपर्युक्त पद्धति के द्वारा वन्दन करने की आज्ञा मिल जाने पर, शिष्य, आगे बढ़ कर, अवग्रह-क्षेत्र के बाहर, किन्तु पास ही 'अवग्रह-प्रवेशाज्ञा याचना' नामक दूसरे स्थान में पुनः अर्द्धावनत होकर नमन करता है और गुरुदेव से '**अणुजाणह मे मिउग्गहं**'—इस पाठ के द्वारा अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगता है। आज्ञा माँगने पर गुरुदेव अपनी ओर से '**अणुजाणामि**' पद के द्वारा आज्ञा प्रदान करते हैं।

आज्ञा मिलने के बाद **यथाजात मुद्रा**=जनमते समय बालक की अथवा दीक्षा लेने के समय शिष्य की जैसी मुद्रा होती है वैसी दोनों हाथ अंजलिबद्ध कपाल पर रखने की मुद्रा से 'निसीहि'[2] पद कहते हुए अवग्रह में प्रवेश करना चाहिए। बाद में रजोहरण से भूमि प्रमार्जन कर, गुरुदेव के पास गोदोहिका (उकडू) आसन से बैठकर, प्रथम के तीन आवर्त '**अहो, कायं, काय**' पूर्वोक्त विधि के अनुसार करके '**संफासं**' कहते हुए गुरु चरणों में मस्तक लगाना चाहिए।

तदनन्तर '**खमणिज्जो भे किलामो**' के द्वारा चरण स्पर्श करते समय गुरुदेव को जो बाधा होती है, उसकी क्षमा माँगी जाती है। पश्चात्, '**अप्प किलंताणं बहु सुभेण**

---

१. 'त्रिविधेन' का अभिप्राय है कि यह समय अवग्रह में प्रवेश कर द्वादशावर्त वन्दन करने का नहीं है। अतः तीन बार तिक्खुत्तो के पाठ के द्वारा, अवग्रह से बाहर रह कर ही संक्षिप्त वन्दन कर लेना चाहिए। 'त्रिविधेन' शब्द मन, वचन, काय योग की एकाग्रता पर भी प्रकाश डालता है। तीन बार वन्दन, अर्थात् मन, वचन एवं काय योग से वन्दन !

२. 'निसीहि' बाहर के कार्यों से निवृत्त होकर गुरु चरणों में उपस्थित होने रूप नैषेधिकी समाचारी का प्रतीक है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र प्रस्तुत प्रसंग पर कहते हैं—'ततः शिष्यो नैषेधिक्या प्रविश्य।' अर्थात् शिष्य, अवग्रह में 'निसीहि' कहता हुआ प्रवेश करे।

मे दिवसो वइक्कंतो' कहकर दिन-सम्बन्धी कुशल-क्षेम पूछा जाता है। अनन्तर गुरुदेव भी **'तथा'** कह कर अपने कुशल क्षेम की सूचना देते हैं, और शिष्य का कुशल क्षेम भी पूछते हैं।

तनन्तर शिष्य **'ज त्ता भे' 'ज व णि' 'ज्जं च भे'**—इन तीन आवर्तों की क्रिया करे एवं संयम-यात्रा तथा इन्द्रिय-सम्बन्धी और मन-सम्बन्धी शान्ति पूछे। उत्तर में गुरुदेव भी 'तुब्भं पि वट्टइ' कहकर शिष्य से उसकी यात्रा और यापनीय-सम्बन्धी सुख शान्ति पूछें।

तत्पश्चात् मस्तक से गुरु चरणों का स्पर्श करके **'खामेमि खमासमणो देवसियं वइक्कमं'** कह कर शिष्य विनम्र भाव से दिन-सम्बन्धी अपने अपराधों की क्षमा माँगता है। उत्तर में गुरु भी **'अहमपि क्षमयामि'** कह कर शिष्य से स्वकृत भूलों की क्षमा माँगते हैं। क्षामणा करते समय शिष्य और गुरु के साम्य-प्रधान सम्मेलन में क्षमा के कारण विनम्र हुए दोनों मस्तक कितने भव्य प्रतीत होते हैं ? जरा भावुकता को सक्रिय कीजिए। वन्दन प्रक्रिया में प्रस्तुत शिरोनमन आवश्यक का भद्रबाहु श्रुत-केवली बहुत सुन्दर वर्णन करते हैं।

इसके बाद **'आवस्सियाए'** कहते हुए अवग्रह से बाहर आना चाहिए।

अवग्रह से बाहर लौट कर—**'पडिक्कमामि'** से लेकर **'अप्पाणं वोसिरामि'** तक का सम्पूर्ण पाठ पढ़ कर प्रथम खमासमणो पूर्ण करना चाहिए। दूसरा खमासमणो भी इसी प्रकार पढ़ना चाहिए। केवल इतना अन्तर है कि दूसरी बार **'आवस्सियाए'** पद नहीं कहा जाता है, और अवग्रह से बाहर न आकर वहीं संपूर्ण खमासमणो पढ़ा जाता है तथा अतिचार-चिन्तन एवं श्रमण सूत्र नमो चउवीसाए—पाठान्तर्गत **'तस्स धम्मस्स'** तक गुरु चरणों में ही पढ़ने के बाद **'अब्भुट्ठिओमि'** कहते हुए, उठ कर बाहर आना चाहिए।

प्रस्तुत पाठ में जो **'बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो'** के अंश में **'दिवसो वइक्कंतो'** पाठ है, उसके स्थान में रात्रिक प्रतिक्रमण में **'राई वइक्कंता'** पाक्षिक प्रतिक्रमण में **'पक्खो वइक्कंतो'** चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में **'चउमासी वइक्कंता'** तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में **'संवच्छरो वइक्कंतो'** ऐसा पाठ पढ़ना चाहिए।

वन्दन के २५ आवश्यक:

श्री समवायांग सूत्र के १२ वें समवाय में वन्दन-स्वरूप का निर्णय देते हुए भगवान् महावीर ने वन्दन के २५ आवश्यक बतलाए हैं :—

दुओ णयं जहाजायं,
किति-कम्मं बारसावयं।
चउसिरं तिगुत्तं च,
दुपवेसं एग-निक्खमणं॥

—'दो अवनत, एक यथाजात, बारह आवर्त, चार शिर, तीन गुप्ति, दो प्रवेश और एक निष्क्रमण—इस प्रकार कुल पच्चीस आवश्यक हैं।'

स्पष्टीकरण के लिए नीचे देखिए :—

दो अवनतः

अवग्रह से बाहर रहा हुआ शिष्य सर्व प्रथम पनच चढ़ाए हुए धनुष के समान अर्धावनत होकर **'इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए'** कहकर गुरुदेव को वन्दन करने की इच्छा का निवेदन करता है । गुरुदेव की ओर से आज्ञा मिल जाने के बाद पुनः अर्धावनत काय से **'अणुजाणह मे मिउग्गहं'** कह कर अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगता है । यह प्रथम अवनत आवश्यक है ।

अवग्रह से बाहर आकर प्रथम खमासमणो पूर्ण कर लेने के बाद जब दूसरा खमासमणो पढ़ा जाता है, तब पुनः इसी प्रकार अर्धावनत होकर वंदन करने के लिए इच्छा निवेदन करना एवं अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगना, यह दूसरा अवनत आवश्यक है ।

दो प्रवेशः

गुरुदेव की ओर से अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा मिल जाने के बाद मुख से निसीहि कहता हुआ एवं रजोहरण से आगे की भूमि को प्रमार्जन करता हुआ जब शिष्य अवग्रह में प्रवेश करता है, तब प्रथम प्रवेश आवश्यक होता है ।

इसी प्रकार एक बार अवग्रह से बाहर आकर दूसरा खमासमणो पढ़ते समय जब पुनः दूसरी बार अवग्रह में प्रवेश करता है, तब दूसरा प्रवेश आवश्यक होता है ।

बारह आवर्तः

गुरुदेव के चरणों के पास उकड़ू या गोदुह आसन से बैठे, रजोहरण एक ओर बराबर में रख छोड़े । पश्चात् दोनों घुटने टेककर दोनों हाथों को लम्बा करके गुरु-चरणों को [1]हाथ की दशों अंगुलियों से स्पर्श करता हुआ 'अ' अक्षर कहे और फिर दशों अंगुलियों से अपने मस्तक का स्पर्श करता हुआ 'हो' अक्षर कहे, यह प्रथम आवर्त है । इसी प्रकार 'कायं' और 'काय' के भी दो आवर्त समझ लेने चाहिएँ ।

इसके बाद कमल मुद्रा में दोनों हाथों को जोड़कर मस्तक पर लगाए और 'खमणिज्जो भे' से लेकर 'दिवसो वइक्कंतो' तक पाठ बोले । अनन्तर दोनों हाथों को लम्बा करके दशों अंगुलिओं से गुरुचरणों को स्पर्श करता हुआ 'ज' अक्षर कहे, फिर हाथों को हटाकर हृदय के पास लाता हुआ 'त्ता' अक्षर कहे, और अन्त में दशों अँगुलियों से अपने मस्तक को स्पर्श करता हुआ 'भे' अक्षर कहे । इस प्रकार चौथा आवर्त होता है। इसी प्रकार शेष दो आवर्त भी 'ज व णि' और 'ज्जं च भे' के समझ लेने चाहिए ।

ये छह आवर्त-आवश्यक प्रथम खमासण के हैं । इसी प्रकार दूसरे खमासण के भी छह आवर्त-आवश्यक होते हैं ।

---

१. कुछ आचार्य कमल मुद्रा से कहते हैं ।

एक निष्क्रमण:

प्रथम छह आवर्त करने के बाद दोनों हाथों से और पश्चात् मस्तक से गुरु चरणों का स्पर्श करे तथा 'खामेमि खमासमणो देवसियं वइक्कमं' का पाठ कहे। इसके अनन्तर खड़े होकर रजोहरण से अपने पीछे की भूमि का प्रमार्जन करता हुआ, गुरुदेव के मुख-कमल पर दृष्टि लगाए, मुख से 'आवस्सियाए' कहता हुआ, उल्टे पैरों वापस लौट कर अवग्रह से बाहर निकले। यह निष्क्रमण आवश्यक है।

अवग्रह से बाहर गुरुदेव की ओर मुख कर के पैरों से जिन-मुद्रा का और हाथों से योग-मुद्रा का अभिनय करके खड़ा होना चाहिए। पश्चात् पडिक्कमामि से लेकर संपूर्ण खमासमणो पढ़ना चाहिए।

तीन गुप्तिः

जब शिष्य वन्दन करने के लिए अवग्रह में प्रवेश करता है, तब 'निसीहि' कहता है। उसका भाव यह है कि अब मैं मन, वचन और काय की अन्य सब प्रवृत्तियों का निषेध करता हूँ एवं तीनों योगों को एक मात्र वन्दन-क्रिया में ही नियुक्त करता हूँ। यह एकाग्र भाव की सूचना है, जो तीनों गुप्तियों के आवश्यक का निदर्शन है।

मनोगुप्ति आवश्यक यह है कि मन में से अन्य सब संकल्पों को निकाल कर उसमें एकमात्र वंदना का मधुर भाव ही रहना चाहिए। बिखरे मन से वन्दन करने पर कर्म निर्जरा नहीं होती।

वचन गुप्ति आवश्यक यह है कि वन्दन करते समय बीच में और कुछ नहीं बोलना। वचन का व्यापार एकमात्र वन्दन-क्रिया के पाठ में ही लगा रहना चाहिए। और उच्चारण अस्खलित, स्पष्ट एवं सस्वर होना चाहिए।

काय गुप्ति आवश्यक यह है कि शरीर को इधर-उधर आगे-पीछे न हिलाकर पूर्ण रूप से नियंत्रित रखना चाहिए। शरीर का व्यापार वन्दन-क्रिया के लिए ही हो, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। वन्दन करते समय शरीर से वन्दनातिरिक्त क्रिया करना निषिद्ध है।

चार शिरः

अवग्रह में प्रवेश कर क्षामणा करते हुए शिष्य एवं गुरु के दो शिर परस्पर एक दूसरे के सम्मुख होते हैं, यह प्रथम खमासमणो के दो शिरसम्बन्धी आवश्यक हैं। इसी प्रकार दूसरे खमासमणो के दो शिरः सम्बन्धी आवश्यक भी समझ लेने चाहिएँ। इस सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र आवश्यक नियुक्ति १२०२ वीं गाथा की व्याख्या में स्पष्ट लिखते हैं—**'प्रथम प्रविष्टस्य क्षामणाकाले शिष्याचार्यशिरोद्वयं, पुनरपि निष्क्रम्य प्रविष्टस्य द्वयमेवेति भावना।'** आचार्य अभयदेव भी समवायांग सूत्र की वृत्ति में ऐसा ही उल्लेख करते हैं।

प्रवचन सारोद्धार की टीका में श्री सिद्धसेनजी शिर की शिरोवनमन में लक्षणा मानते हैं और कहते है कि जहाँ क्षामणाकाल में **'खामेमि खमासमणो देवसियं वइक्कमं'**

कहता हुआ शिष्य अपना मस्तक गुरु चरणों में झुकाता है, वहाँ गुरुदेव भी **'अहमवि खामेमि तुमे'** कहकर अपना शिरोवनमन करते हैं।

श्री सिद्धसेनजी एक और मान्यता उद्धृत करते हैं, जो केवल शिष्य के ही चार शिरोवनमन की है। एक शिरोवनमन **'संफासं'** कहते हुए और दूसरा क्षामणा-काल में **'खामेमि खमासमणो'** कहते हुए। इसी प्रकार दो दूसरे खमासमण में भी **'अन्यत्र पुनरेवं दृश्यते—संफासनमणे एगं, खामणानमणे सीसस्स बीयं। एवं बीयपवेसे वि दोन्नि।'**

यथाजात-मुद्राः

गुरुदेव के चरणों में वन्दन क्रिया करने के लिए शिष्य को यथाजात मुद्रा का अभिनय करना चाहिए। दोनों ही 'खमासमण सूत्र' यथाजात मुद्रा में पढ़ने का विधान है। यथाजात का अर्थ है यथाजन्म अर्थात जिस मुद्रा में बालक का जन्म होता है, उस जन्मकालीन मुद्रा के समान मुद्रा।

जब बालक माता के गर्भ से जन्म लेता है, तब वह नग्न होता है। उसके दोनों हाथ मस्तक पर लगे हुए होते हैं। संसार का कोई भी बाह्य वासनामय प्रभाव उस पर नहीं पड़ा होता है। वह सरलता, मृदुता, विनम्रता और सहृदयता का जीवित प्रतीक होता है। अस्तु, शिष्य को भी वन्दन के लिए इसी प्रकार सरलता, मृदुता, विनम्रता एवं सहृदयता का जीवित प्रतीक होना चाहिए। बालक अज्ञान में है, अतः वह कोई साधना नहीं है। परन्तु साधक तो ज्ञानी है। वह सरलता आदि गुणों को साधना की दृष्टि से विवेकपूर्वक अपनाता है, जीवन के कण-कण में नम्रता का रस बरसाता है, गुरुदेव के समक्ष एक सद्यःसंजात बालक के समान दयापात्र स्थिति में प्रवेश करता है और इस प्रकार अपने को क्षमा-भिक्षा का योग्य अधिकारी प्रमाणित करता है।

यथाजात-मुद्रा में वन्दनार्थी शिष्य सर्वथा नग्न तो नहीं होता, परन्तु रजोहरण, मुख वस्त्रिका और चोलपट्ट के अतिरिक्त और कोई वस्तु अपने पास नहीं रखता है और इस प्रकार बालक के समान नग्नता का रूपक अपनाता है। भयंकर शीतकाल में भी यह नग्न-मुद्रा अपनाई जाती है। प्राचीनकाल में यह पद्धति रही है। परन्तु आजकल तो कपाल पर दोनों हाथों को लगाकर प्रणाम-मुद्रा कर लेने में ही यथाजात-मुद्रा की पूर्ति मान ली जाती है।

यथाजात का अर्थ 'श्रमण वृत्ति धारण करते समय की मुद्रा' भी किया जाता है। श्रमण होना भी, संसार-गर्भ से निकल कर एक विशुद्ध आध्यात्मिक जन्म ग्रहण करना है। जब साधक श्रमण बनता है, तब रजोहरण, मुखवस्त्रिका और चोलपट्ट के अतिरिक्त और कुछ भी अपने पास नहीं रखता है एवं दोनों हाथों को मस्तक से लगाकर वन्दन करने की मुद्रा में गुरुदेव के समक्ष खड़ा होता है।[1] अतः मुनि-दीक्षा ग्रहण करने के काल की मुद्रा भी यथाजात मुद्रा कहलाती है।

---

१. प्राचीनकाल में इसी मुद्रा में मुनिदीक्षा दी जाती थी।

यथाजात-मुद्रा के उपर्युक्त स्वरूप के लिए, आवश्यक सूत्र की वृत्ति और प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति द्रष्टव्य है। आवश्यक सूत्र की अपनी शिष्यहिता वृत्ति में आचार्य हरिभद्र लिखते हैं—'**यथाजातं श्रमणत्वमाश्रित्य योनिनिष्क्रमणं च, तत्र रजोहरण-मुखवस्त्रिका-चोलपट्टमात्रया श्रमणो जातः, रचितकरपुटस्तु योन्या निर्गतः, एवं भूत एव वन्दते।**'

यह पच्चीस आवश्यकों का वर्णन हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति और प्रवचन सारोद्धार वृत्ति के आधार पर किया गया है। इस सम्बन्ध में जैन-जगत के महान् ज्योतिर्धर स्व० जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलाल जी महाराज के हस्तलिखित पत्र से भी बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की गई है; इसके लिए लेखक श्रद्धेय जैनाचार्य पूज्य श्री गणेशीलाल जी महाराज का कृतज्ञ है।

छह स्थानकः

प्रस्तुत '**खमासमणो**' सूत्र में छह स्थानक माने जाते हैं। "**इच्छामि१ खमासमणो! २ वंदिउं ३ जावणिज्जाए४ निसीहियाए५**" के द्वारा वन्दन करने की इच्छा निवेदन की जाती है, अतः यह शिष्य की ओर का पंचपद-रूप प्रथम 'इच्छा निवेदन' स्थानक है।

इच्छानिवेदन के उत्तर में गुरुदेव भी '**त्रिविधेन**' अथवा '**छंदसा**' कहते हैं, यह गुरुदेव की ओर का उत्तर रूप प्रथम स्थानक है।

इसके बाद शिष्य '**अणुजाणह१ मे२ मिउग्गहं३**' कह कर अवग्रह में प्रवेश करने की आज्ञा माँगता है, यह शिष्य की ओर का त्रिपदात्मक आज्ञा-याचना रूप दूसरा स्थानक है।

इसके उत्तर में गुरुदेव भी '**अणुजाणामि**' कह कर आज्ञा देते हैं, यह गुरुदेव की ओर का आज्ञाप्रदान-रूप दूसरा स्थानक है।

"**निसीहि१ अहो२ कायं३ कायसंफासं४। खमणिज्जो५ भे६ किलामो७। अप्पकिलंताणं८ बहुसुभेण९ भे१० दिवसो११ वइक्कंतो१२?**"—यह शिष्य की ओर का द्वादशपद रूप शरीरकुशलपृच्छा नामक तीसरा स्थानक है।

इसके उत्तर में गुरुदेव 'तथा' कहते हैं। तथा का अर्थ है जैसा तुम कहते हो वैसा ही है, अर्थात् कुशल है। यह गुरुदेव की ओर का तीसरा स्थानक है।

इसके अनन्तर "**जत्ता १ भे २**" कहा जाता है। यह शिष्य की ओर का द्विपदात्मक संयम यात्रा पृच्छा नामक चौथा स्थानक है। उत्तर में गुरुदेव भी '**तुब्भं पि वट्टइ-युष्माकमपि वर्तते?**' कहते हैं, जिसका अर्थ है—तुम्हारी संयम-यात्रा भी निर्बाध चल रही है? यह गुरुदेव की ओर का संयम-यात्रा पृच्छा नामक चौथा स्थानक है।

इसके बाद "**जवणिज्जं १ च २ भे३**" कहा जाता है। यह शिष्य की ओर का त्रिपदात्मक यापनीय पृच्छा नामक पाँचवा-स्थानक है।

उत्तर में गुरुदेव भी 'एवं' कहते हैं, जिसका अर्थ है—इन्द्रिय-विजय रूप यापना ठीक तरह चल रही है। यह गुरुदेव की ओर का पाँचवाँ स्थानक है।

इसके अनन्तर "**खामेमि१ खमासमणो२ देवसियं३ वइक्कमं४**" कहा जाता है। यह शिष्य की ओर का पदचतुष्टयात्मक अपराधक्षामणारूप छठा स्थानक है।

उत्तर में गुरुदेव भी '**क्षमयामि**' कहते हैं, जिसका अर्थ है मैं भी सारणा वारणा करते समय जो भूलें हुई हों, उसकी क्षमा चाहता हूँ। यह गुरुदेव की ओर का अपराध क्षामणा रूप छठा स्थानक है।

२ | प्रत्याख्यान-सूत्र

(१)

नमस्कार-सहित सूत्र

उग्गए सूरे[1] नमोक्कारसहियं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं--असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

अन्नत्थ-ऽणाभोगेणं सहसागारेणं, वोसिरामि ।

भावार्थ

सूर्य उदय होने पर—दो घड़ी दिन चढ़े तक—'नमस्कारसहित' प्रत्याख्यान ग्रहण करता हूँ, और अशन, पान, खादिम, स्वादिम चारों ही प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ ।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान में दो आगार=आकार अर्थात् अपवाद हैं—अनाभोग=अत्यन्त विस्मृति और सहसाकार=शीघ्रता (अचानक) । इन दो आकारों के सिवा चारों आहार बोसिराता हूँ=त्याग करता हूँ ।

भाष्य

यह 'नमस्कार सहित' प्रत्याख्यान का सूत्र है । नमस्कार सहित का अर्थ है—[2]सूर्योदय से लेकर दो घड़ी दिन चढ़े तक अर्थात् मुहूर्त भर के लिए, बिना नमस्कार मंत्र पढ़े आहार ग्रहण नहीं करना । इसका दूसरा नाम नमस्कारिका भी है । आजकल साधारण बोलचाल में नवकारिसी कहते हैं ।

---

१. 'सूरे उग्गए'—इति हरिभद्राः ।

'नमोक्कारं पच्चक्खाति सूरे उग्गए'—इति जिनदासाः ।

२. नमस्कारेण—पञ्चपरमेष्ठिस्तवेन सहितं प्रत्याख्याति । 'सर्वे धातवः करोत्यर्थेन व्याप्ता' इति भाष्यकारवचनान्नमस्कारसहितं प्रत्याख्यानं करोति । यह आचार्य सिद्धसेन का कथन है । इसका भावार्थ है कि मुहूर्त पूरा होने पर भी नवकार

चार आहार इस प्रकार हैं—

(१) **अशन**—इसमें रोटी, चावल आदि सभी प्रकार का भोजन आ जाता है।

(२) **पान**—दूध, द्राक्षारस, पानी आदि पीने योग्य सभी प्रकार की चीजें पान में आ जाती हैं। परन्तु आजकल परंपरा के नाते पान से केवल जल ही ग्रहण किया जाता है।

(३) **खादिम**—बादाम, किसमिस आदि मेवा और फल खादिम में अन्तर्भूत हैं। कुछ आचार्य मिष्टान्न को अशन में ग्रहण करते हैं और कुछ खादिम में, यह ध्यान में रहे।

(४) **स्वादिम**—सुपारी, लौंग, इलायची आदि मुखवास स्वादिम माना जाता है। इस आहार में उदरपूर्ति की दृष्टि न होकर मुख्यतया मुख के स्वाद की ही दृष्टि होती है। संयमी साधक प्रस्तुत आहार का ग्रहण स्वाद के लिए नहीं, प्रत्युत मुख की स्वच्छता के लिए करता है।

संस्कृत का आकार ही प्राकृत भाषा में आगार है। आकार का अर्थ—अपवाद माना जाता है। अपवाद का अर्थ है कि—यदि किसी विशेष स्थिति में त्याग की हुई वस्तु सेवन भी करली जाय तो भी प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता। अतएव आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र के तीसरे प्रकाश की वृत्ति में लिखते हैं—'**आक्रियते विधीयते प्रत्याख्यानभंगपरिहारार्थमित्याकारः**'—'**प्रत्याख्यानं च अपवादरूपाकारसहितं कर्तव्यम्, अन्यथा तु भंगः स्यात्।**'[1]

मन्त्र पढ़ने के बाद ही नमस्कारिका का प्रत्याख्यान पूर्ण होता है, पहले नहीं। यदि मुहूर्त से पहले ही नवकार मन्त्र पढ़ लिया जाय, तब भी नमस्कारिका पूर्ण नहीं होती है। नमस्कारिका के लिए यह आवश्यक है कि सूर्योदय के बाद एक मुहूर्त का काल भी पूर्ण हो जाय और प्रत्याख्यान-पूर्तिस्वरूप नवकार मन्त्र का जप भी कर लिया जाय! इसी विषय को प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति में आचार्य सिद्धसेन ने इस प्रकार स्पष्ट किया है--"स च नमस्कारसहितः पूर्णेऽपि काले नमस्कारपाठमन्तरेण प्रत्याख्यानस्यापूर्यमाणत्वात्, सत्यपि च नमस्कारपाठे मुहूर्ताभ्यन्तरे प्रत्याख्यानभङ्गात्; ततः सिद्धमेतत् मुहूर्तमानकाल नमस्कारसहितं प्रत्याख्यानमिति।" —प्रत्याख्यान द्वार।

१ आ—मर्यादया मर्यादाख्यापनार्थमित्यर्थः क्रियन्ते विधीयन्ते इत्याकाराः।

—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति, —प्रत्याख्यानद्वार।

'आकारो हि नाम प्रत्याख्यानापवादहेतुः।'

—हरिभद्रीय आवश्यकसूत्र-वृत्ति, प्रत्याख्यान आवश्यक।

जैन-धर्म विवेक का धर्म है। अतः यहाँ प्रत्याख्यान आदि करते समय भी विवेक का पूरा ध्यान रक्खा जाता है। साधक दुर्बल एवं अल्पज्ञ प्राणी है। अतः

नमस्कारिका में केवल दो ही आकार हैं—अनाभोग और सहसाकार।

(१) अनाभोग का अर्थ है—अत्यन्त विस्मृति। प्रत्याख्यान लेने की बात सर्वथा भूल जाय और उस समय अनवधानतावश कुछ खा पी लिया जाय तो वह अनाभोग आगार की मर्यादा में रहता है।

(२) दूसरा आगार सहसाकार है। इसका अर्थ है—मेघ बरसने पर अथवा दही आदि मथते समय अचानक ही जल या छाछ आदि का छींटा मुख में चला जाय।

अनाभोग और सहसाकार दोनों ही आगारों के सम्बन्ध में यह बात है कि जब तक पता न चले, तब तक तो व्रत भंग नहीं होता। परन्तु पता चल जाने पर भी यदि कोई मुख का ग्रास थूके नहीं, आगे खाना बंद नहीं करे तो व्रत भंग हो जाता है। अस्तु, साधक का कर्तव्य है कि ज्यों ही पता चले, त्यों ही भोजन बंद कर दे और जो कुछ मुख में हो वह सब भी यतना के साथ थूक दे।

एक प्रश्न है ! मूल पाठ में तो केवल नमस्कार-सहित ही शब्द है, काल का कुछ भी उल्लेख नहीं है। फिर यह दो घड़ी की कालमर्यादा किस आधार पर प्रचलित है ?

प्रश्न बहुत सुन्दर है। आचार्य सिद्धसेन ने इसका अच्छा उत्तर दिया है। प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति में उन्होंने नमस्कारसहित को मुहूर्त का विशेषण मानते हुए कहा है—**'सहित-शब्देन मुहूर्तस्य विशेषितत्वात्'**। इसका भावार्थ यह है कि नमस्कार से सहित जो मुहूर्त, वह नमस्कार सहित कहलाता है। अर्थात् जिसके अन्त में नमस्कार का उच्चारण किया जाता है, वह मुहूर्त। आप कहेंगे—मूल पाठ में तो कहीं इधर उधर मूहूर्त शब्द है नहीं; फिर विशेष्य के बिना विशेषण कैसा ? उत्तर में विवेदन है कि—नमस्कारिका का पाठ अद्धा प्रत्याख्यान में है। अतः काल की मर्यादा अवश्य होनी चाहिए। यदि काल की मर्यादा ही न हो तो फिर यह अद्धा प्रत्याख्यान कैसा ? नमस्कारसहित का पाठ पौरुषी के पाठ से पहले है; अतः यह स्पष्ट ही है कि उसका काल-मान पौरुषी से कम ही होना चाहिए। आप कहेंगे कि पौरुषी के कालमान से कम तो दो मुहूर्त भी हो सकते हैं ? फिर एक मुहूर्त ही क्यों ? उत्तर है कि नमस्कारिका में पौरुषी आदि अन्य प्रत्याख्यानों की अपेक्षा सब से कम, अर्थात् दो ही आकार हैं; अतः अल्पाकार होने से इसका कालमान बहुत थोड़ा

उसके समक्ष अज्ञानता एवं अशक्तता आदि के कारण कभी वह विकट प्रसंग आ सकता है, जो उसकी कल्पना से बाहर हो। यदि पहले से ही उस स्थिति का अपवाद न रक्खा जाय तो व्रत भंग होने की सम्भावना रहती है। यही कारण है कि प्रस्तुत प्रत्याख्यान सूत्र में पहले से ही उस विशेष स्थिति की छूट 'प्रतिज्ञा-पाठ' में रक्खी गई है, ताकि साधक का व्रत भंग न होने पाए। यह है पहले से ही भविष्य को ध्यान में रख कर चलने की दूरदर्शितारूप विवेक वृत्ति।

माना गया है और वह परंपरा से एक मुहूर्त है। अद्धाप्रत्याख्यान का काल कम से कम एक मुहूर्त माना जाता है।

नमस्कारिका, रात्रिभोजन-दोष की निवृत्ति के लिए है। अर्थात् प्रातः काल दिनोदय होते ही मनुष्य यदि शीघ्रता में भोजन करने लगे और वस्तुतः सूर्योदय न हुआ हो तो रात्रि-भोजन का दोष लग सकता है। यदि दो घड़ी दिन चढ़े तक के लिए आहार का त्याग नमस्कारिका के द्वारा कर लिया जाय तो फिर रात्रि-भोजन की संभावना नहीं रहती। दूसरी बात यह है कि साधक के लिए तप की साधना करना आवश्यक है; प्रतिदिन कम से कम दो घड़ी का तप तो होना ही चाहिए। नमस्कारिका में यह नित्य प्रति के तपश्चरण का भाव भी अन्तर्निहित है।

दूसरों को प्रत्याख्यान कराना हो तो मूल पाठ में **'पच्चक्खाइ'** और **'वोसिरइ'** कहना चाहिए। यदि स्वयं करना हो, तो उल्लिखित पाठानुसार **'पच्चक्खामि'** और **'वोसिरामि'** कहना चाहिए। आगे के पाठों में भी यह परिवर्तन ध्यान में रखना चाहिए।

यही पाठ सांकेतिक अर्थात् संकेत पूर्वक किए जाने वाले प्रत्याख्यान का भी है। वहाँ केवल **''गंठिसहियं'** या **'मुट्ठिसहियं'** आदि पाठ नमुक्कार सहियं के आगे अधिक बोलना चाहिए। गंठिसहियं और मुट्ठिसहियं का यह भाव है कि जब तक बँधी हुई गाँठ अथवा मुट्ठी आदि न खोलू ँ तब तक चारों आहार का त्याग करता हूँ।

नमस्कारिका चतुर्विधाहार-त्यागरूप होती है या त्रिविधाहारत्यागरूप ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में यह वक्तव्य है कि नमस्कारिका चतुर्विधाहार त्यागरूप ही होती है। नमस्कारिका का कालमान एक मुहूर्तभर ही होता है, अतः वह अल्पकालिक होने से चतुर्विधाहार त्यागरूप ही है। प्राचीन परंपरा भी ऐसी ही है। **'चतुर्विधाहारस्यैव भवतीति वृद्धसम्प्रदायः ।'**—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति।

नमस्कारिका में दो आगार माने गए हैं–अनाभोग और सहसाकार।[1] आजकल के कुछ विद्वान्, अपने प्रतिक्रमण सूत्र में, नोकारसी के चार या पाँच आगार भी लिखते हैं; परन्तु यह लेख परंपरा-विरुद्ध है। प्राचीन आचार्य हेमचन्द्र आदि, दो ही आगार बतलाते हैं—**''नमस्कारसहिते····प्रत्याख्याने द्वौ आकारौ भवतः'**—योग शास्त्र, तृतीय प्रकाश वृत्ति।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने भी नमस्कारिका के दो ही आगार माने हैं—**'दो चेव नमोक्कारे ।'**—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १५९९।

---

१. 'गंठिसहियं, मुट्ठिसहियं' आदि सांकेतिक प्रत्याख्यान पाठ में 'महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं' ये दो आगार अधिक बोलने चाहिएँ। यह सांकेतिक प्रत्याख्यान अन्य समय में भी किया जा सकता है, अतः जब कभी अन्य समय में किया जाय, तब 'उग्गए सूरे' यह अंश नहीं बोलना चाहिए।

(२)

पौरुषी-सूत्र

उग्गए सूरे पोरिसिं पच्चक्खामि; चउव्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

अन्नत्थ-ऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, वोसिरामि ।

भावार्थ

पौरुषी का प्रत्याख्यान करता हूँ । सूर्योदय से लेकर अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों ही आहार का प्रहर दिन चढ़े तक त्याग करता हूँ ।

अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधु वचन, सर्व-समाधिप्रत्ययाकार—उक्त छहों आकारों के सिवा पूर्णतया चारों आहार का त्याग करता हूँ ।

भाष्य

सूर्योदय से लेकर एक पहर दिन चढ़े तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करना, पौरुषी प्रत्याख्यान है। पौरुषी का शाब्दिक अर्थ है—'पुरुष-प्रमाण छाया ।' एक पहर दिन चढ़ने पर मनुष्य की छाया घटते-घटते अपने शरीर-प्रमाण लंबी रह जाती है । इसी भाव को लेकर पौरुषी शब्द प्रहर-परिमित कालविशेष के अर्थ में लक्षणा के द्वारा रूढ़ हो गया है ।

साधक कितना ही सावधान हो; परन्तु आखिर वह एक साधारण छद्मस्थ व्यक्ति है । अतः सावधान होते हुए भी बहुत बार व्रत-पालन में भूल हो जाया करती है । प्रत्याख्यान की स्मृति न रहने से अथवा अन्य किसी विशेष कारण से व्रतपालन में बाधा होने की संभावना है । ऐसी स्थिति में व्रत खण्डित न हो, इस बात को ध्यान में रखकर प्रत्येक प्रत्याख्यान में पहले से ही संभावित दोषों का आगार, प्रतिज्ञा लेते समय ही रख लिया जाता है । पोरिसी में इस प्रकार के छह आगार हैं :—

(१) **अनाभोग**—प्रत्याख्यान की विस्मृति हो जाने से भोजन कर लेना।

(२) **सहसाकार**—अकस्मात् जल आदि का मुख में चले जाना।

(३) **प्रच्छन्नकाल**—बादल अथवा आँधी आदि के कारण सूर्य के ढक जाने से पोरिसी पूर्ण हो जाने की भ्रान्ति हो जाना।

(४) **दिशामोह**—पूर्व को पश्चिम समझ कर पोरिसी न आने पर भी सूर्य के ऊँचा चढ़ आने की भ्रान्ति से अशनादि सेवन कर लेना।

(५) **साधु वचन**—'पोरिसी आ गई' इस प्रकार किसी आप्त पुरुष के कहने पर बिना पोरिसी आए ही पोरिसी पार लेना।

(६) **सर्वसमाधिप्रत्ययाकार**—किसी आकस्मिक शूल आदि तीव्र रोग की उपशान्ति के लिए औषधि आदि ग्रहण कर लेना !

'**सर्वसमाधिप्रत्ययाकार**' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आगार है। जैन संस्कृति का प्राण स्याद्वाद है और वह प्रस्तुत आगार पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। तप बड़ा है या जीवन ? यह प्रश्न है, जो दार्शनिक क्षेत्र में गंभीर विचार-चर्चा का क्षेत्र रहा है। कुछ दार्शनिक तप को महत्त्व देते हैं तो कुछ जीवन को ? परन्तु जैन दर्शन तप को भी महत्व देता है और जीवन को भी ! कभी ऐसी स्थिति होती है कि जीवन की अपेक्षा तप महत्त्वपूर्ण होता है ! कभी क्या, तप सदा ही महत्त्वपूर्ण है। जीवन किसके लिए है ? तप के लिए ही तो जीवन है। परन्तु कभी ऐसी भी स्थिति हो सकती है कि तप की अपेक्षा जीवनरक्षा अधिक आवश्यक हो जाती है। तप जीवन पर ही तो आश्रित है। जीवन रहेगा तो कभी फिर भी तपः साधना की जा सकेगी। यदि जीवन ही न रहेगा तो, फिर तप कब और कैसे किया जा सकेगा ? '**जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्।**'

'सर्वसमाधिप्रत्यय' नामक प्रस्तुत आगार, इसी उपर्युक्त भावना को लेकर अग्रसर होता है। तपश्चरण करते हुए यदि कभी आकस्मिक विसूचिका या शूल आदि का भयंकर रोग हो जाय, फलतः जीवन संकट में मालूम पड़े तो शीघ्र ही औषधि आदि का सेवन किया जा सकता है। जीवन क्षति के विशेष प्रसंग पर प्रत्याख्यान होते हुए भी औषधि आदि सेवन कर लेने से जैन धर्म प्रत्याख्यान का भंग होना स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार के विकट प्रसंगों के लिए पहले से ही छूट रक्खी जाती है, जिसके लिए जैन-धर्म में आगार शब्द व्यवहृत है। जैन धर्म में तप के लिए अत्यन्त आदर का स्थान है, परन्तु उसके लिए व्यर्थ का मोह नहीं है। जैन धर्म के क्षेत्र में विवेक का बहुत बड़ा महत्व है। तप के हठ में अड़े रहकर औषधि सेवन न करना और व्यर्थ ही अनमोल मानव जीवन का संहार कर देना, जैन धर्म की दृष्टि में कथमपि उचित नहीं है। व्यर्थ का दुराग्रह रखने से आर्त और रौद्र दुर्ध्यान की संभावना है, जिसके कारण कभी-कभी साधना का मूल ही नष्ट हो जाता है। अतः आचार्य सिद्धसेन की गंभीर वाणी में कहें तो औषधि का सेवन जीवन के लिए नहीं, अपितु आर्त रौद्र दुर्ध्यान की निवृत्ति के लिए आवश्यक है।

अपने को भयंकर रोग होने पर ही औषधि सेवन करना, यह बात नहीं है। अपितु किसी अन्य के रोगी होने पर यदि कभी वैद्य आदि को सेवाकार्य एवं सान्त्वना के लिए भोजन करना पड़े तो उसका भी प्रत्याख्यान में आगार होता है। जैन धर्म अपने समान ही दूसरे की समाधि का भी विशेष ध्यान रखता है। इस सम्बन्ध में आचार्य सिद्धसेन का अभिप्राय मनन करने योग्य है :—

—"**कृतपौरुषीप्रत्याख्यानस्य सहसा सञ्जाततीव्रशूलादिदुःखतया समुत्पन्नयोरार्तरौद्रध्यानयोः सर्वथा निरासः सर्वसमाधिः, स एव आकारः—प्रत्याख्यानापवादः सर्वसमाधिप्रत्ययाकारः। पौरुष्यामपूर्णायामप्यकस्मात् शूलादिव्यथायां समुत्पन्नायां तदुपशमनायौषधपथ्यादिकं भुञ्जानस्य न प्रत्याख्यानभङ्ग इति भावः। वैद्यादिर्वा कृतपौरुषीप्रत्याख्यानोऽन्यस्यातुरस्य समाधिनिमित्तं यदाऽपूर्णायामपि पौरुष्यां भुङ्क्ते तदा न भङ्गः। अर्धभुक्ते त्वातुरस्य समाधौ मरणे वोत्पन्ने सति तथैव भोजनत्यागः।**"—प्रवचनसारोद्धार वृत्ति।

आचार्य जिनदास ने भी आवश्यक चूर्णि में ऐसा ही कहा है— '**समाधी णाम तेण य पोरुसी पच्चक्खाता, आसुक्कारियं च दुक्खं उप्पन्नं तस्स अन्नस्स वा, तेण किंचि कायव्वं तस्स, ताहे परो विज्जे (हवे) ज्जा तस्स वा पसमणणिमित्तं पाराविज्जति ओसहं वा दिज्जति।**'

यही पाठ अपनी आवश्यक वृत्ति में आचार्य हरिभद्र ने उद्धृत किया है।

आचार्य तिलक लिखते हैं—'**तीव्रशूलादिना विह्वलस्य समाधिनिमित्तमौषधपथ्यादिप्रत्यय : कारणं स एव आकारः।**'

आचार्य नमि भी कहते हैं—'**समाधिः स्वास्थ्यं तत्प्रत्ययाकारेण, यथा कस्यचित् प्रत्याख्यातुरन्यस्य वा किमप्यातुरं दुःखमुत्पन्नं तदुपशमहेतोः पार्यते।**—

प्रच्छन्नकाल, दिशामोह और साधुवचन उक्त तीनों आगारों का यह अभिप्राय है कि—भ्रान्ति के कारण पौरुषी पूर्ण न होने पर भी पूर्ण समझ कर भोजन कर लिया जाय तो कोई दोष नहीं होता। यदि भोजन करते समय यह मालूम हो जाय कि अभी पौरुषी पूर्ण नहीं हुई है तो उसी समय भोजन करना छोड़ देना चाहिए। पौरुषी अपूर्ण जानकर भी भोजन करता रहे तो प्रत्याख्यान भंग का दोष लगता है।

पौरुषी के समान ही सार्ध पौरुषी का प्रत्याख्यान भी होता है। इसमें डेढ़ पहर दिन चढ़े तक आहार का त्याग करना होता है। अस्तु, जब उक्त सार्ध पौरुषी का प्रत्याख्यान करना हो तब '**पोरिसिं**' के स्थान पर '**साढ पोरिसिं**' पाठ कहना चाहिए।

आज कल के कुछ लेखक पौरुषी के पाठ में 'महत्तरागारेणं' का पाठ बोलकर छह की जगह सात आगार का उल्लेख करते हैं; यह भ्रान्ति पर अवलम्बित है। हरिभद्र आदि आचार्यों की प्राचीन परंपरा, पौरुषी में केवल छह ही आगार मानने की है।

साधु सशक्त हो तो उसे पौरुषी आदि चउविहार ही करने चाहिए। यदि शक्ति न हो, तो तिविहार भी कर सकता है। परन्तु दुविहार पौरुषी कदापि नहीं कर सकता। हाँ, श्रावक दुविहार भी कर सकता है। इसके लिए आचार्य देवेन्द्र-कृत, श्राद्ध प्रतिक्रमण वृत्ति, देखनी चाहिए।

यदि पौरुषी तिविहार करनी हो तो **'तिविहं पि आहारं असणं, खाइमं, साइमं'** पाठ बोलना चाहिए। यदि श्रावक दुविहार पौरुषी करे तो **'दुविहंपि आहारं, असणं खाइमं'** ऐसा पाठ बोलना चाहिए।

(३)

पूर्वार्ध-सूत्र

उग्गए सूरे, पुरिमड्ढं पच्चक्खामि; चउव्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

अन्नत्थ-ऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, वोसिरामि।

भावार्थ

सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्वार्द्ध तक अर्थात् दो प्रहर तक चारों आहार अशन, पान, खादिम, स्वादिम का प्रत्याख्यान करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—उक्त सात आगारों के सिवा पूर्णतया आहार का त्याग करता हूँ।

भाष्य

यह पूर्वार्ध प्रत्याख्यान का सूत्र है। इसमें सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्व भाग तक अर्थात् दो पहर दिन चढ़े तक चारों आहार का त्याग किया जाता है।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान में सात आगार माने गए हैं। छह तो पूर्वोक्त पौरुषी के ही आगार हैं, सातवाँ आगार 'महत्तराकार' है। महत्तराकार का अर्थ है—विशेष निर्जरा आदि को ध्यान में रखकर रोगी आदि की सेवा के लिए अथवा श्रमण-संघ के किसी अन्य महत्वपूर्ण कार्य के लिए गुरुदेव आदि महत्तर पुरुष की आज्ञा पाकर निश्चित समय से पहले ही प्रत्याख्यान पार लेना। आचार्य सिद्धसेन इस सम्बन्ध में कितना सुन्दर स्पष्टीकरण करते हैं—'**महत्तरं—प्रत्याख्यानपालनवशाल्लभ्यनिर्जरापेक्षया बृहत्तरनिर्जरालाभहेतुभूतं, पुरुषान्तरेण साधयितुमशक्यं ग्लानचैत्यसंघादि-प्रयोजनं, तदेव आकार :—प्रत्याख्यानापवादो महत्तराकारः।**" आचार्य नमि भी प्रतिक्रमण-सूत्र वृत्ति में लिखते हैं—"**अतिशयेन महान् महत्तर आचार्यादिस्तस्य वचनेन मर्यादया करणं महत्तराकारो, यथा केनापि साधुना भक्तं प्रत्याख्यातं, ततश्च कुल-गण-संघादि-**

प्रयोजनमनन्यसाध्यमुत्पन्नं, तत्र चासौ महत्तरैराचार्याद्यैर्नियुक्तः, ततश्च यदि शक्नोति तथैव कर्तुं तदा करोति; अथ न, तदा महत्तरकादेशेन भुञ्जानस्य न भंग इति।"

पाठक महत्तराकार के आगार पर जरा गम्भीरता से विचार करें। इस आगार में कितना अधिक सेवाभाव को महत्व दिया गया है? तपश्चरण करते हुए यदि अचानक ही किसी रोगी आदि की सेवा का महत्वपूर्ण कार्य आ जाय तो व्रत को बीच में ही समाप्त कर सेवा कार्य करने का विधान है। यदि तपस्वी सशक्त हो, फलतः तप करते हुए भी सेवा कर सके तो बात दूसरी है। परन्तु यदि तपस्वी समर्थ न हो तो उसे तप को बीच में ही छोड़कर यथावसर भोजन करके सेवा कार्य में संलग्न हो जाना चाहिए। तप के फेर में पड़कर सेवा के प्रति उपेक्षा कर देना, जैन-धर्म की दृष्टि में क्षम्य नहीं है। सेवा, तप से भी महान् है। अनशन आदि बहिरंग तप है तो सेवा अन्तरंग तप है। बहिरंग की अपेक्षा अन्तरंग तप महत्तर है। **'असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे।'**

आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक सूत्र की शिष्यहिता वृत्ति में, आचार्य जिनदास की आवश्यक चूर्णि के आधार पर लिखा है :—

—"महत्तरागारेहिं-महल्लपयोयणेहिं, तेण अभत्तट्ठो पच्चक्खातो, ताथे आयरिएहिं भणति-अमुगं गामं गंतव्वं। तेण निवेदितं—जथा मम अज्ज अभत्तट्ठोत्ति। जति ताव समत्थो करेतु जातु य। न तरति अण्णो भत्तट्ठितो अभत्तट्ठितो वा जो तरति सो वच्चतु। नत्थि अण्णो तस्स वा कज्जस्स समत्थो ताथे चेव अभत्तट्ठियस्स गुरू विसज्जयन्ति। एरिस्स तं जेमंतस्स अणभिलासस्स अभत्तट्ठितणिज्जरा जा सा से भवति गुरुणिओएण।"

आचार्य जिनदास आवश्यक चूर्णि के प्रत्याख्यानाधिकार में प्रस्तुत महत्तरागार पर लिखते हैं—**'एवं किर तस्स तं जेमंतस्स वि अणभिलासस्स अभत्तट्ठयस्स णिज्जरा जा च्चेव पत्ता भवति गुरुनिओएणं।'**

दोनों ही आचार्यों का यह कथन है कि यदि तपस्वी साधक को किसी विशेष सेवा कार्य के लिए उपवास आदि अभक्तार्थ में भी भोजन कर लेना पड़े तो कोई दोष नहीं होता है। अपितु भोजन करते हुए भी उपवास जैसी ही निर्जरा होती है। क्योंकि भोजन करते हुए भी उसकी भोजन में अभिलाषा नहीं है।

महत्तराकार, नमस्कारिका और पौरुषी में नहीं होता है। क्योंकि उनका काल अल्प है, अतः वह पूर्ण करने के बाद भी निर्दिष्ट सेवा कार्य किया जा सकता है। **'यच्चात्रैव महत्तराऽऽकारस्याभिधानं न नमस्कारसहितादौ, तत्र कालस्याल्पत्वं। अन्यत्र तु महत्वं कारणमिति वृद्धा व्याचक्षते।'**—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति।

पूर्वार्द्ध प्रत्याख्यान के समान ही अपार्द्ध प्रत्याख्यान भी होता है। अपार्द्ध प्रत्याख्यान का अर्थ है—तीन पहर दिन चढ़े तक आहार ग्रहण न करना। अपार्द्ध प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय 'पुरिमड्ढं' के स्थान में 'अवड्ढं' पाठ बोलना चाहिए। शेष पाठ दोनों प्रत्याख्यानों के समान है।

एकाशन-सूत्र

एगासणं पच्चक्खामि तिविहं पि आहारं असणं, खाइमं, साइमं।

अन्नत्थ-ऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं, आउंटण-पसारणेणं, गुरु-अब्भुट्ठाणेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरा-गारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

भावार्थ

एकाशन तप स्वीकार करता हूँ; फलतः अशन, खादिम, स्वादिम तीनों आहारों का प्रत्याख्यान करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, सागारिकाकार, आकुञ्चनप्रसारण, गुर्वभ्यु-त्थान, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्व-समाधिप्रत्ययाकार-उक्त आठ आगारों के सिवा पूर्णतया आहार का त्याग करता हूँ।

भाष्य

पौरुषी या पूर्वार्द्ध के बाद दिन में एक बार भोजन करना, एकाशन तप होता है। एकाशन का अर्थ है—[1]एक+अशन, अर्थात् दिन में एक बार भोजन करना।

---

१. 'एगासण' प्राकृत-शब्द है, जिसके संस्कृत रूपान्तर दो होते हैं **'एकाशन'** और 'एकासन।' एकाशन का अर्थ है—एक बार भोजन करना, और एकासन का अर्थ है—एक आसन से भोजन करना। 'एगासण' में दोनों ही अर्थ ग्राह्य हैं। **'एकं सकृत् अशनं—भोजनं एकं वा आसनं—पुताचलनतो यत्र प्रत्याख्याने तदेकाशनमेकासनं वा, प्राकृते द्वयोरपि एगासणमिति रूपम्।**—प्रवचनसारोद्धार वृत्ति।

आचार्य हरिभद्र एकासन की व्याख्या करते हैं कि एक बार बैठकर फिर न उठते हुए भोजन करना। **'एकाशनं नाम सकृदुपविष्ट-पुताचालनेन भोजनम्।**—आवश्यक वृत्ति।

यद्यपि मूल पाठ में यह उल्लेख नहीं है कि—'दिन में किस समय भोजन करना।' फिर भी प्राचीन परंपरा है कि कम से कम एक पहर के बाद ही भोजन करना चाहिए। क्योंकि एकाशन में पौरुषीतप अन्तर्निहित है।

प्रत्याख्यान, गृहस्थ तथा श्रावक दोनों के लिए समान ही हैं। अतएव गृहस्थ तथा साधु दोनों के लिए एकाशन तप में कोई अन्तर नहीं माना जाता है। हाँ गृहस्थ के लिए यह ध्यान में रखने की बात है कि—'वह एकाशन में अचित्त अर्थात् प्रासुक आहार पानी ही ग्रहण करे।' साधु को तो यावज्जीवन के लिए अप्रासुक आहार का त्याग ही है।

श्रावक तथा गृहस्थ के लिए **'पारिट्ठावणियागार'** नहीं होता; अतः उसे मूल पाठ बोलते समय **'पारिट्ठावणियागरेणं'** नहीं बोलना चाहिए।[1]

एकाशन के समान ही द्विकाशन का भी प्रत्याख्यान होता है। द्विकाशन में दो बार भोजन किया जा सकता है। द्विकाशन करते समय मूल पाठ में 'एगासणं' के स्थान में **'बियासणं'** बोलना चाहिए।

एकाशन और द्विकाशन में भोजन करते समय तो यथेच्छ चारों आहार लिए जा सकते हैं; परन्तु भोजन के बाद शेष काल में भोजन का त्याग होता है। यदि एकाशन तिविहार करना हो तो शेष काल में पानी पिया जा सकता है। यदि चउविहार करना हो तो पानी भी नहीं पिया जा सकता। यदि दुविहार करना हो तो भोजन के बाद पानी तथा स्वादिम=मुखवास लिया जा सकता है। आजकल तिविहार

आचार्य जिनदास कहते हैं—एगासण में पुत=नितंब भूमि पर लगे रहने चाहिए, अर्थात् एक बार बैठकर फिर नहीं उठना चाहिए। हाँ, हाथ और पैर आदि आवश्यकतानुसार आकुञ्चन प्रसारण के रूप में हिलाए-डुलाए जा सकते हैं। **'एगासणं नाम पुता भूमीतो न चालिज्जंति, सेसाणि हत्थे पायाणि चालेज्जावि।'**—आवश्यक चूर्णि।

१. गृहस्थ के प्रत्याख्यान में 'पारिट्ठावणियागार' का विधान इस लिए नहीं है कि गृहस्थ के घर में तो बहुत अधिक मनुष्यों के लिए भोजन तैयार होता है। इस स्थिति में प्रायः कुछ न कुछ भोजन के बचने की संभावना रहती ही है। अस्तु, गृहस्थ यदि पारिट्ठावणियागार करे तो कहाँ तक करेगा? और क्या वह उचित भी होगा?

दूसरी बात यह है कि गृहस्थ के यहाँ भोजन बच जाता है तो वह रख लिया जाता है, परठा नहीं जाता है। और उसका अन्य समय पर उचित उपयोग कर लिया जाता है।

साधु की स्थिति इससे भिन्न है। वह अवशिष्ट भोजन को, यदि आगे रात्रि आ रही हो तो रख नहीं सकता है, परठता ही है। अतः उस समय तपस्वी मुनि, यदि परिष्ठाप्य भोजन का उपयोग कर ले तो कोई दोष नहीं है।

एकाशन की प्रथा ही अधिक प्रचलित है, अतः हमने मूल पाठ में **'तिविहं'** पाठ दिया है। यदि चउविहार करना हो तो **'चउविहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं'** बोलना चाहिए। यदि दुविहार करना हो तो **'दुविहंपि आहारं असणं खाइमं'** बोलना चाहिए।

दुविहार एकाशन की परम्परा प्राचीन काल में थी, परन्तु आज के युग में नहीं है।

एकासन में आठ आगार होते हैं। चार आगार तो पहले आ ही चुके हैं, शेष चार आगार नये हैं। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

(१) **सागारिकाकार**—आगम की भाषा में सागारिक गृहस्थ को कहते हैं। गृहस्थ के आ जाने पर उसके सम्मुख भोजन करना निषिद्ध है। अतः [1]सागारिक के आने पर साधु को भोजन करना छोड़कर यदि बीच में ही उठकर, एकान्त में जाकर पुनः दूसरी बार भोजन करना पड़े तो व्रत-भङ्ग का दोष नहीं लगता।

गृहस्थ के लिए सागारिक का अर्थ है—वह लोभी एवं क्रूर व्यक्ति, जिसके आने पर भोजन करना उचित न हो। अस्तु[2] क्रूर दृष्टि वाले व्यक्ति के आ जाने पर प्रस्तुत भोजन को बीच में ही छोड़कर एकान्त में जाकर पुनः भोजन करना हो तो कोई दोष नहीं होता। **'गृहस्थस्यापि येन दृष्टं भोजनं न जीर्यति तत्प्रमुखः सागारिको ज्ञातव्यः।'**—प्रवचन-सारोद्धार वृत्ति।

---

१. आचार्य जिनदास ने आवश्यक चूर्णि में लिखा है कि आगन्तुक गृहस्थ यदि शीघ्र ही चला जाने वाला हो तो कुछ प्रतीक्षा करनी चाहिए, सहसा उठकर नहीं जाना चाहिए। यदि गृहस्थ बैठने वाला है, शीघ्र ही नहीं जाने वाला है, तब अलग एकान्त में जाकर भोजन से निवृत्त हो लेना चाहिए। व्यर्थ में लम्बी प्रतीक्षा करते रहने में स्वाध्याय आदि की हानि होती है। **'सागारियं अद्धसमुद्दिट्ठस्स आगतं जदि बोलेति पडिच्छति, अह थिरं ताहे सज्झायवाघातो त्ति उट्ठेत्ता अन्नत्थ गंतूणं समुद्दिसति।'**

सर्प और अग्नि आदि का उपद्रव होने पर भी अन्यत्र जाकर भोजन किया जा सकता है। सागारिक शब्द से सर्पादि का भी ग्रहण है।

२. जैन धर्म छुआछूत के चक्कर में नहीं है। अतएव 'सागारिकाकार' का यह अर्थ नहीं है कि कोई अछूत या नीच जाति का व्यक्ति आ जाय तो भोजन छोड़कर भाग खड़ा होना चाहिए। साधु के लिए तो ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सभी गृहस्थ एक जैसे हैं, उसे तो किसी के सामने भी भोजन नहीं करना है। अब रहा गृहस्थ, वह भी क्रूर दृष्टि वाले व्यक्ति के आने पर भोजन छोड़कर अन्यत्र जा सकता है, फिर भले वह क्रूर दृष्टि ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, कोई भी हो। एकाशन में जात-पाँत के नाम पर उठकर जाने का विधान नहीं है।

(२) **आकुञ्चनप्रसारण**—भोजन करते समय सुन्न पड़ जाने आदि के कारण से हाथ, पैर आदि अंगों का सिकोड़ना या फैलाना। उपलक्षण से आकुञ्चन प्रसारण में शरीर का आगे-पीछे हिलाना-डुलाना भी आ जाता है।

(३) **गुर्वभ्युत्थान**—गुरुजन एवं किसी अतिथि विशेष के आने पर उनका विनय सत्कार करने के लिए उठना, खड़े होना।

प्रस्तुत आगार का यह भाव है कि गुरुजन एवं अतिथिजन के आने पर अवश्य ही उठ कर खड़ा हो जाना चाहिए। उस समय यह भ्रान्ति नहीं रखनी चाहिए कि 'एकासन में उठकर खड़े होने का विधान नहीं है। अतः उठने और खड़े होने से व्रत-भंग के कारण मुझे दोष लगेगा।' गुरुजनों के लिए उठने में कोई दोष नहीं है, इससे व्रतभंग नहीं होता, प्रत्युत विनय तप की आराधना होती है। आचार्य सिद्धसेन लिखते हैं—"**गुरूणामभ्युत्थानार्हत्वादवश्यं भुञ्जानेनाऽप्युत्थानं कर्तव्यमिति न तत्र प्रत्याख्यान भङ्गः।**"—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति।

जैनधर्म विनय का धर्म है। जैनधर्म का मूल ही विनय है—'**विणओ जिणसासणमूलं**' की भावना जैन धर्म की प्रत्येक छोटी-बड़ी साधना में रही हुई है। जैन धर्म की सभ्यता एवं शिष्टाचार सम्बन्धी महत्ता के लिए प्रस्तुत आगार ही पर्याप्त है। मुनि और गृहस्थ दोनों के लिए ही यह गुरुभक्ति का उच्च आदर्श अनुकरणीय है।

(४) **पारिष्ठापनिकाकार**—जैन मुनि के लिए विधान है कि वह अपनी आवश्यक क्षुधापूर्त्यर्थ परिमित मात्रा में ही आहार लाए, अधिक नहीं। तथापि कभी भ्रान्तिवश यदि किसी मुनि के पास आहार अधिक आ जाय और वह परठना=डालना पड़े तो उस आहार को गुरुदेव की आज्ञा से तपस्वी मुनि को ग्रहण कर लेना चाहिए। गृहस्थ के यहाँ से आहार लाना और उसे डालना, यह भोजन का अपव्यय है। भोजन समाज और राष्ट्र का जीवन है, अतः भोजन का अपव्यय सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन का अपव्यय है।

आचार्य सिद्धसेन परिष्ठापन में दोष मानते हैं और उसके ग्रहण कर लेने में गुण। "**परिस्थापनं-सर्वथा त्यजनं प्रयोजनमस्य पारिष्ठापनिकं, तदेवाकारस्तस्मादन्यत्र, तत्र हि त्यज्यमाने बहुदोषसम्भवादाश्रीयमाणे चागमिकन्यायेन गुणसम्भवाद् गुर्वाज्ञया पुनर्भुञ्जानस्याऽपि न भङ्गः।**"—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति।

(५)

एकस्थान-सूत्र

एक्कासणं एगट्ठाणं पच्चक्खामि, तिविहं पि आहारं असणं, खाइमं, साइमं ।

अन्नत्थ-ऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

भावार्थ

एकाशनरूप एकस्थान का व्रत ग्रहण करता हूँ; फलतः अशन, खादिम और स्वादिम तीनों आहार का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

अनाभोग, सहसाकार, सागारिकाकार, गुर्वभ्युत्थान, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार और सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार—उक्त सात आगारों के सिवा पूर्णतया आहार का त्याग करता हूँ ।

भाष्य

यह एकस्थान प्रत्याख्यान का सूत्र है । एकस्थानान्तर्गत 'स्थान' शब्द 'स्थिति' का वाचक है । अतः एक स्थान का फलितार्थ है—'दाहिने हाथ एवं मुख के अतिरिक्त शेष सब अंगों को हिलाए बिना दिन में एक ही आसन से और एक ही बार भोजन करना ।' अर्थात् भोजन प्रारंभ करते समय जो स्थिति हो, जो अंगविन्यास हो, जो आसन हो, उसी स्थिति, अंगविन्यास एवं आसन से बैठे रहना चाहिए ।'

आचार्य जिनदास ने आवश्यक चूर्णि में एक स्थान की यही परिभाषा की है—**'एकट्ठाणे जं जथा अंगुवंगं ठवियं तहेव समुद्दिसितव्वं, आगारे से आउंटणपसारणं नत्थि, सेसा सत्त तहेव ।'**

आचार्य सिद्धसेन भी प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति में ऐसा ही लिखते हैं—**एकं-अद्वितीयं स्थानं-अङ्गविन्यासरूपं यत्र तदेकस्थानप्रत्याख्यानं तद् यथा भोजनकालेऽङ्गोपाङ्गं स्थापितं तस्मिस्तथास्थित एव भोक्तव्यम् ।'**—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ।

एक स्थान की अन्य सब विधि 'एगासण' के समान है । केवल हाथ, पैर

आदि के आकुंचन-प्रसारण का आगार नहीं रहता। इसीलिए प्रस्तुत पाठ में **'आउंटण पसारणेणं'** का उच्चारण नहीं किया जाता। **'आउंटणपसारणा नत्थि, सेसं जहा एक्का-सणाए।'**—हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति।

प्रश्न है कि जब एक स्थान प्रत्याख्यान में 'आउंटण पसारणा' का आगार नहीं है, तब हाथ और मुख का चालन भी कैसे हो सकता है? समाधान है कि एक स्थान में एक बार भोजन करने का विधान है। और भोजन हाथ तथा मुख की चलन क्रिया के बिना अशक्य है। अतः अशक्य-परिहार होने से दाहिने हाथ और मुख की चलन क्रिया अप्रतिषिद्ध है। **'मुखस्य हस्तस्य च अशक्यपरिहारत्वाच्चलनमप्रति-षिद्धमिति।'**—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति।

एक स्थान भी चतुर्विधाहार, त्रिविधाहार, एवं द्विविधाहार रूप से अनेक प्रकार का है। वर्तमान परम्परा के अनुसार हमने केवल त्रिविधाहार ही मूल पाठ में रक्खा है। यदि चतुर्विधाहार आदि करने हों तो एकाशन के विवेचन में कथित पद्धति के अनुसार पाठ भेद करके किए जा सकते हैं।

एक स्थान का महत्त्व तपश्चरण की दृष्टि से तो है ही; परन्तु शरीर की चंचलता हटा कर एकाग्र मनोवृत्ति से भोजन करने का और अधिक महत्त्व है। शरीर को निःस्पन्द-सा बना कर, और तो क्या खाज भी न खुजला कर काय गुप्ति के साथ भोजन करना सहज नहीं है। ऐसी स्थिति में भोजन भी कम ही किया जाता है।

'एक स्थान' के प्रत्याख्यान पर से फलित होता है कि साधक को प्रत्येक क्रिया सावधानी के साथ संयम पूर्वक करनी चाहिए। संयम-पूर्वक भुजिक्रिया करते हुए भी जीवन शुद्धि का मार्ग प्रशस्त बन सकता है। और तप की आराधना हो सकती है।

(६)

आचाम्ल-सूत्र

आयंबिलं पच्चक्खामि,[1] अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, उक्खित्तविवेगेणं, गिहि-संसट्ठेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

भावार्थ

आज के दिन आयंबिल अर्थात् आचाम्ल तप ग्रहण करता हूँ । अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, उत्क्षिप्त विवेक, गृहस्थसंसृष्ट, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—उक्त आठ आकार अर्थात् अपवादों के अतिरिक्त आनाचाम्ल आहार का त्याग करता हूँ ।

भाष्य

यह आचाम्ल प्रत्याख्यान का सूत्र है । आचाम्ल व्रत में दिन में एक बार रूक्ष, नीरस एवं विकृति-रहित एक आहार ही ग्रहण किया जाता है । दूध, दही, घी, तेल, गुड़, शक्कर, मीठा और पक्वान्न आदि किसी भी प्रकार का स्वादु भोजन, आचाम्ल व्रत में ग्रहण नहीं किया जा सकता । अतएव प्राचीन आचार ग्रन्थों में चावल, उड़द अथवा सत्तू आदि में से किसी एक के द्वारा ही आचाम्ल करने का विधान है ।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक नियुक्ति में लिखा है—"**गोण्णं नामं तिविहं, ओग्रण कुम्मास सत्तूआ चेव ।**"—गाथा १६०३ ।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत गाथा पर व्याख्या करते हुए आवश्यकवृत्ति में लिखा है—'**आयामाम्लमिति गोण्णं नाम । आयामः—अवश्रायनं आम्लं, चतुर्थरसः, ताभ्यां**

---

१. आचार्य हरिभद्र एवं प्रवचनसारोद्धार के वृत्तिकार आचार्य सिद्धसेन आदि उपरिनिर्दिष्ट पाठ का ही उल्लेख करते हैं । परन्तु कुछ हस्तलिखित एवं मुद्रित प्रतियों में पच्चक्खामि के आगे चौविहार के रूप में असणं, पाणं, खाइमं, साइमं तथा तिविहार के रूप में असणं, खाइमं, साइमं पाठ भी लिखा मिलता है ।

निवृत्तं आयामाम्लम्। इदं चोपाधिभेदात् त्रिविधं भवति, ओदनः, कुल्माषाः सक्तवश्चैव।'

आयंबिल प्राकृत भाषा का शब्द है। आचार्य हरिभद्र इसके संस्कृत रूपान्तर आयामाम्ल, आचामाम्ल और आचाम्ल करते हैं।

आचार्य सिद्धसेन आचाम्ल और आचामाम्ल रूपों का उल्लेख करते हैं। आचामाम्ल की व्याख्या करते हुए आप लिखते हैं—'**आचामः**[1]**—अवश्रामणं अम्लं चतुर्थो रसः, ताभ्यां निर्वृत्तमित्यण्। एतच्च त्रिविधं उपाधिभेदात्, तद्यथा-ओदनं कुल्माषान् सक्थूंश्च अधिकृत्य भवति।**'—प्रवचनसारोद्धार वृत्ति।

आचार्य देवेन्द्र श्राद्ध प्रतिक्रमण वृत्ति में लिखते हैं—[1]'**आयामोऽवश्रावणं अम्लं चतुर्थो रसः, एते व्यञ्जने प्रायो यत्र भोजने ओदन-कुल्माष-सक्तुप्रभृतिके तदाचाम्लं समयभाषयोच्यते।**'

एकाशन और एक स्थान की अपेक्षा आयंबिल का महत्व अधिक है। एकाशन और एक स्थान में तो एक बार के भोजन में यथेच्छ सरस आहार भी ग्रहण किया जा सकता है; परन्तु आयंबिल के एक बार भोजन में तो केवल उबले हुए उड़द के बाकले आदि लवण रहितनीरस आहार ही ग्रहण किया जाता है। आजकल भुने हुए चने आदि एक नीरस अन्न को पानी में भिगोकर खाने का भी आयंबिल प्रचलित है। किं बहुना, भावार्थ यह है कि आचाम्ल तप में रसलोलुपता पर विजय प्राप्त करने का महान् आदर्श है। जिह्वेन्द्रिय का संयम, एक बहुत बड़ा संयम है।

अपने मन को मारना सहज नहीं है। खाने के लिए बैठना और फिर भी मनोऽनुकूल नहीं खाना, कुछ साधारण बात नहीं है।

आयंबिल भी साधक की इच्छानुसार चतुर्विधाहार एवं त्रिविधाहार किया जा सकता है। चतुर्विधाहार करना हो तो '**चउव्विहं पि आहारं असणं, खाइमं, साइमं,** बोलना चाहिए। यदि त्रिविधाहार करना हो तो '**तिविहं पि आहारं असणं खाइमं साइमं**' पाठ कहना चाहिए। आयंबिल द्विविधाहार नहीं होता।

आयंबिल में आठ आगार माने गए हैं। आठ में से पाँच आगार तो पूर्व प्रत्याख्यानों के समान ही हैं। केवल तीन आगार ही ऐसे हैं, जो नवीन हैं। उनका भावार्थ इस प्रकार है:—

(१) **लेपालेप**—आचाम्ल व्रत में ग्रहण न करने योग्य शाक तथा घृत आदि विकृति से यदि पात्र अथवा हाथ आदि लिप्त हो और दाता गृहस्थ यदि उसे पोंछकर उसके द्वारा आचाम्ल-योग्य भोजन बहराए तो ग्रहण कर लेने पर व्रत भंग नहीं होता है।

---

१. अवश्रामण, अवशायन या अवश्रावण 'ओसामण' को कहते हैं।

'लेपालेप' शब्द लेप और अलेप से समस्त होकर बना है। लेप का अर्थ घृतादिसे पहले लिप्त होना है। और अलेप का अर्थ है बाद में उसको पोंछकर अलिप्त कर देना। पोंछ देने पर भी विकृति का कुछ न कुछ अंश लिप्त रहता ही है। अतः आचाम्ल में लेपालेप का आगार रक्खा जाता है। **'लेपश्च अलेपश्च लेपालेपं तस्मादन्यत्र, भाजने विकृत्याद्यवयवसद्भावेऽपि न भङ्ग इत्यर्थः।'**—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति।

(२) **उत्क्षिप्त-विवेक**—शुष्क ओदन एवं रोटी आदि पर गुड़ तथा शक्कर आदि अद्रव=सूखी विकृति पहले से रखी हो; आचाम्लव्रतधारी मुनि को यदि कोई वह विकृति उठाकर रोटी आदि देना चाहे तो ग्रहण की जा सकती है। उत्क्षिप्त का अर्थ उठाना है और विवेक का अर्थ है उठाने के बाद उसका न लगा रहना। भावार्थ यह है कि आचाम्ल में ग्राह्य द्रव्य के साथ यदि गुड़ादि विकृति रूप अग्राह्य द्रव्य का स्पर्श भी हो और कुछ नाम मात्र का अंश लगा हुआ भी हो तो व्रत भंग नहीं होता। परन्तु यदि विकृति द्रव हो, उठाने की स्थिति में न हो तो वह वस्तु ग्राह्य नहीं है। ऐसी वस्तु का भोजन करने से आचाम्ल व्रत का भंग माना जाता है। **'शुष्कौदनादिभक्ते पतितपूर्वस्याचामाम्लप्रत्याख्यानवतामयोग्यस्य अद्रवविकृत्यादिद्रव्यस्य उत्क्षिप्तस्य—उद्धृतस्य विवेको—निःशेषतया त्यागः उत्क्षिप्तविवेकस्तस्मादन्यत्र, भोक्तव्यद्रव्यस्याभोक्तव्यद्रव्य स्पर्शेनाऽपि न भङ्ग इत्यर्थः। यत्तूत्क्षेप्तुं न शक्यते तस्य भोजने भङ्ग एव।"**

—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति।

(३) **गृहस्थसंसृष्ट**—घृत अथवा तैल आदि विकृति से छोंके हुए कुल्माष आदि लेना, गृहस्थसंसृष्ट आगार है। अथवा गृहस्थ ने अपने लिए जिस रोटी आदि खाद्य वस्तु पर घृतादि लगा रक्खा हो, वह ग्रहण करना भी गृहस्थसंसृष्ट आगार है। उक्त आगार में यह ध्यान में रखने की बात है कि यदि विकृति का अंश स्वल्प हो, तब तो व्रत भंग नहीं होता। परन्तु विकृति यदि अधिक मात्रा में हो तो वह ग्रहण कर लेने से व्रत भंग का निमित्त बनती है।

प्रवचन सारोद्धार वृत्ति के रचयिता आचार्य सिद्धसेन, घृतादि विकृति से लिप्त पात्र के द्वारा आचाम्लयोग्य वस्तु के ग्रहण करने को गृहस्थसंसृष्ट कहते हैं। **"विकृत्या संसृष्टभाजनेन हि दीयमानं भक्तमकल्पनीयद्रव्यमिश्रं भवति तद् भुञ्जानस्यापि न भङ्ग इत्यर्थः, यदि अकल्प्यद्रव्यरसो बहु न ज्ञायते।'**—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति, प्रत्याख्यान द्वार।

कुछ आचार्यों की मान्यता है कि लेपालेप, उत्क्षिप्तविवेक, गृहस्थसंसृष्ट और पारिष्ठापनिकागार—ये चार आगार साधु के लिए ही हैं, गृहस्थ के लिए नहीं।

●

(७)

अभक्तार्थ—उपवास-सूत्र

उग्गए सूरे, अभत्तट्ठं पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, वोसिरामि।

भावार्थ

सूर्योदय से लेकर अभक्तार्थ=उपवास ग्रहण करता हूँ, फलतः अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों ही आहार का त्याग करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधि प्रत्ययाकार—उक्त पाँच आगारों के सिवा सब प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

भाष्य

अभक्तार्थ, उपवास का ही पर्यायान्तर है।[1] 'भक्त' का अर्थ 'भोजन' है। 'अर्थ' का अर्थ 'प्रयोजन' है। 'अ' का अर्थ 'नहीं' है। तीनों का मिलाकर अर्थ होता है—भक्त का प्रयोजन नहीं है जिस व्रत में वह उपवास। **'न विद्यते भक्तार्थो यस्मिन् प्रत्याख्याने सोऽभक्तार्थः स उपवासः'**—देवेन्द्र कृत श्राद्ध प्रतिक्रमण वृत्ति।

उपवास के पहले तथा पिछले दिन एकाशन हो तो उपवास के पाठ में **'चउत्थभत्तं अभत्तट्ठं'** दो उपवास में **'छट्ठभत्तं अभत्तट्ठं,** तीन उपवास में 'अट्ठमभत्तं' पढ़ना चाहिए। इस प्रकार उपवास की संख्या को दूना करके उसमें दो और मिलाने से जो संख्या आए उतने **'भत्तं'** कहना चाहिए। जैसे चार उपवास के प्रत्याख्यान में **'दसमभत्तं'** और पाँच उपवास के प्रत्याख्यान में **'बारहभत्तं'** इत्यादि।

अन्तकृद् दशांग आदि सूत्रों में तीस दिन के व्रत को **'सट्ठिभत्तं'** कहा है। इस पर से कुछ विद्वानों को आशंका है कि ये संज्ञाएँ उपर्युक्त कण्डिका के अर्थ को द्योतित नहीं करतीं? ये केवल प्राचीन रूढ़ संज्ञाएँ ही हैं। इसलिए श्री गुणविनयगणी धर्म-

---

१. **'भक्तेन-भोजनेन अर्थः—प्रयोजनं भक्तार्थः, न भक्तार्थोऽभक्तार्थः। अथवा न विद्यते भक्तार्थो यस्मिन् प्रत्याख्यानविशेषे सोऽभक्तार्थः उपवास इत्यर्थः।''**—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति।

सागरीय उत्सूत्र खण्डन में लिखते—**'प्रथमदिने चतुर्थमिति संज्ञा, द्वितीयेऽह्नि षष्ठं, तृतीयेऽह्नि अष्टममित्यादि ।'**

चउव्विहाहार और तिविहाहार के रूप में उपवास दो प्रकार का होता है। चउव्विहाहार का पाठ ऊपर मूलसूत्र में दिया है। सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय तक चारों आहारों का त्याग करना, चउव्विहाहार अभत्तट्ठ कहलाता है। तिविहाहार उपवास करना हो तो पानी का आगार रखकर शेष तीन आहारों का त्याग करना चाहिए। तिविहाहार उपवास करते समय **'तिविहं पि आहारं-असणं, खाइमं साइमं ।'** पाठ कहना चाहिए।

कितने ही आचार्यों का मत है कि—'परिट्ठावणियागारेणं' का आगार तिविहाहार उपवास में ही होता है, चउविहाहार उपवास में नहीं। अतः चउविहाहार उपवास में 'पारिट्ठावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए।

आचार्य जिनदास लिखते हैं—**जति तिविहस्स पच्चक्खाति विंगिचणियं कप्पति, जदि चउव्विहस्स पाणगं च नत्थि न वट्टति ।'**

—आवश्यक चूर्णि ।

आचार्य नमि लिखते हैं—**'चतुर्विधाहार प्रत्याख्याने पारिष्ठापनिका न कल्पते ।'**

—प्रतिक्रमण सूत्र निवृत्ति ।

पण्डित प्रवर सुखलालजी ने अपने पञ्चप्रतिक्रमण सूत्र में पारिष्ठापनिकागार के विषय में लिखा है—**'चउव्विहाहार उपवास में पानी, तिविहाहार उपवास में अन्न और पानी तथा आयंबिल में विगइ, अन्न एवं पानी लिया जा सकता है।'**

तिविहाहार अर्थात् त्रिविधाहार उपवास में पानी लिया जाता है। अतः जल सम्बन्धी छः आगार मूल पाठ में 'सव्वसमाहिवत्तियागारेणं' के आगे इस प्रकार बढ़ा कर बोलने चाहिए—**पाणस्स लेवाडेण वा, अलेवाडेण वा, अच्छेण वा, बहलेण वा, ससित्थेण वा, असित्थेण वा वोसिरामि ।'**

उक्त छः आगारों का उल्लेख जिनदास महत्तर, हरिभद्र और सिद्धसेन आदि प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने किया है। केवल उपवास में ही नहीं अन्य प्रत्याख्यानों में भी जहाँ त्रिविधाहार करना हो, सर्वत्र उपर्युक्त पाठ बोलने का विधान है। यद्यपि आचार्य जिनदास आदि ने इस का उल्लेख अभक्तार्थ के प्रसंग पर ही किया है।

उक्त जल सम्बन्धी आगारों का भावार्थ इस प्रकार है:—

(१) **लेपकृत**—दाल आदि का माँड तथा इमली, खजूर, द्राक्षा आदि का पानी। वह सब पानी जो पात्र में उपलेपकारक हो, लेपकृत कहलाता है। त्रिविधाहार में इस प्रकार का पानी ग्रहण किया जा सकता है।

(२) **अलेपकृत**—छाछ आदि का निथरा हुआ और काँजी आदि का पानी अलेपकृत कहलाता है। अलेपकृत पानी से वह धोवन लेना चाहिए, जिसका पात्र में लेप न लगता हो।

(३) **अच्छ**--अच्छ का अर्थ स्वच्छ है। गर्म किया हुआ स्वच्छ पानी ही अच्छ शब्द से ग्राह्य है। हाँ, प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति के रचयिता आचार्य सिद्धसेन उष्णोदकादि कथन करते हैं। '**अपिच्छलात् उष्णोदकादेः।**' परन्तु आचार्य श्री ने स्पष्टीकरण नहीं किया कि आदि से उष्णजल के अतिरिक्त और कौन सा जल ग्राह्य है ?। संभव है फल आदि का स्वच्छ धोवन ग्राह्य हो। एक गुजराती अर्थकार ने ऐसा लिखा भी है।

(४) **बहल**—तिल, चावल और जौ आदि का चिकना माँड बहल कहलाता है। बहल के स्थान पर कुछ आचार्य बहुलेप शब्द का भी प्रयोग करते हैं।

(५) **ससिक्थ**—आटा आदि से लिप्त हाथ तथा पात्र आदि का वह धोवन, जिस में सिक्थ अर्थात् आटा आदि के कण भी हों। इस प्रकार का जल त्रिविधाहार उपवास में लेने से व्रत भंग नहीं होता।

(६) **असिक्थ**—आटा आदि से लिप्त हाथ तथा पात्र आदि का वह धोवन, जो छना हुआ हो, फलतः जिस में आटा आदि के कण न हो।

पण्डित सुखलाल जी एक विशेष बात लिखते हैं। उनका कहना है—प्रारम्भ से ही चउव्विहाहार उपवास करना हो तो 'पारिट्ठावणियागारेणं' बोलना। यदि प्रारम्भ में त्रिविधाहार किया हो, परन्तु पानी न लेने के कारण सायंकाल के समय तिविहाहार से चउव्विहाहार उपवास करना हो तो 'पारिट्ठावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए।

(८)

दिवसचरिम-सूत्र

दिवसचरिमं पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्व-समाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

भावार्थ

दिवस चरम का व्रत ग्रहण करता हूँ, फलतः अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों आहार का त्याग करता हूँ।

अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार-उक्त चार आगारों के सिवा आहार का त्याग करता हूँ।

भाष्य

यह चरम प्रत्याख्यान सूत्र है। 'चरम' का अर्थ 'अन्तिम भाग' है। वह दो प्रकार का है—दिवस का अन्तिम भाग और भव अर्थात् आयु का अन्तिम भाग। सूर्य के अस्त होने से पहले ही दूसरे दिन सूर्योदय तक के लिए चारों अथवा तीनों आहारों का त्याग करना, दिवस चरम प्रत्याख्यान है। अर्थात् उक्त प्रत्याख्यान में शेष दिवस और सम्पूर्ण रात्रिभर के लिए चार अथवा तीन आहार का त्याग किया जाता है। साधक के लिए आवश्यक है कि वह कम से कम दो घड़ी दिन रहते ही आहार पानी से निवृत्त हो जाय और सायंकालीन प्रतिक्रमण के लिए तैयारी करे।

भवचरम प्रत्याख्यान का अर्थ है जब साधक को यह निश्चय हो जाय कि आयु थोड़ी ही शेष है तो यावज्जीवन के लिए चारों या तीनों आहारों का त्याग कर दे और संथारा ग्रहण करके संयम की आराधना करे। भवचरम का प्रत्याख्यान, जीवन भर की संयम साधना सम्बन्धी सफलता का उज्ज्वल प्रतीक है।

भवचरम का प्रत्याख्यान करना हो तो **'दिवस चरिमं'** के स्थान में **'भव चरिमं'** बोलना चाहिए। शेष पाठ दिवस चरम के समान ही है।

दिवस चरम और भवचरम चउविहाहार और तिविहाहार दोनों प्रकार से

होते हैं। तिविहाहार में पानी ग्रहण किया जा सकता है। साधु के लिए 'दिवसचरम' चउविहाहार ही माना गया है।

दिवसचरम और भवचरम में केवल चार आगार ही मान्य हैं। पारिष्ठापनिक आदि आगार यहाँ अभोष्ट नहीं हैं। कुछ लेखकों ने पारिष्ठानिका आदि आगारों का उल्लेख किया है, वह अप्रमाण समझना चाहिए।

यह चरमद्वय का प्रत्याख्यान, यदि तिविहाहार करना हो तो **'तिविहं पि आहारं-असणं खाइमं साइमं'** पाठ बोलना चाहिए। चउव्विहाहार का पाठ, ऊपर मूल सूत्र में लिखे अनुसार है।

पं० सुखलाल जी ने दिवस चरम में गृहस्थों के लिए दुविहाहार प्रत्याख्यान का भी उल्लेख किया है।

दिवस-चरम एकाशन आदि में भी ग्रहण किया जाता है, अतः प्रश्न है कि एकाशन आदि में दिवस चरम ग्रहण करने का क्या लाभ है? भोजन आदि का त्याग तो एकाशन प्रत्याख्यान के द्वारा ही हो जाता है? समाधान के लिए कहना है कि एकाशन आदि में आठ आगार होते हैं और इसमें चार। अस्तु, आगारों का संक्षेप होने से एकाशन आदि में भी दिवस चरम का प्रयोजन स्वतः सिद्ध है।

मुनि के लिए जीवनपर्यन्त त्रिविधं त्रिविधेन रात्रि-भोजन का त्याग होता है। अतः उनको दिवस चरम के द्वारा शेष दिन के भोजन का त्याग होता है, और रात्रि भोजन त्याग का अनुवादकत्वेन स्मरण हो जाता है। रात्रि भोजन-त्यागी गृहस्थों के लिए भी यही बात है। जिनको रात्रि भोजन का त्याग नहीं है, उनको दिवस चरम के द्वारा शेष दिन और रात्रि के लिए भोजन का त्याग हो जाता है।

(६)

अभिग्रह-सूत्र

अभिग्गहं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं ।

अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्व-समाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

भावार्थ

अभिग्रह का व्रत ग्रहण करता हूँ, फलतः अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों ही आहार का (संकल्पित समय तक) त्याग करता हूँ ।

अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—उक्त चार आगारों के सिवा अभिग्रहपूर्ति तक चार आहार का त्याग करता हूँ ।

भाष्य

उपवास आदि तप के बाद अथवा विना उपवास आदि के भी अपने मन में निश्चित प्रतिज्ञा कर लेना कि अमुक बातों के मिलने पर ही पारणा अर्थात् आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा व्रत, बेला, तेला आदि संकलिपत दिनों की अवधि तक आहार ग्रहण नहीं करूँगा—इस प्रकार की प्रतिज्ञा को अभिग्रह कहते हैं ।

अभिग्रह में जो बातें धारण करनी हों, उन्हें मन में निश्चय कर लेने के बाद ही उपर्युक्त पाठ के द्वारा प्रत्याख्यान करना चाहिए । यह न हो कि पहले अभिग्रह का पाठ पढ़ लिया जाय और बाद में धारण किया जाय । यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि अभिग्रह-पूर्ति से पहले अभिग्रह को किसी के आगे प्रकट न किया जाय ।

अभिग्रह की प्रतिज्ञा बड़ी कठिन होती है। अत्यन्त धीर एवं वीर साधक ही अभिग्रह का पालन कर सकते हैं। अतएव साधारण साधकों को अतिसाहस के फेर में पड़ने से बचना चाहिए। जैन इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि एक साधु ने सिंहकेसरिया मोदकों का अभिग्रह कर लिया था और जब वह अभिग्रह पूर्ण न हुआ तो पागल होकर दिन-रात का कुछ भी विचार न रखकर पात्र लिए घूमने लगा। कल्पसूत्र की टीकाओं में उक्त उदाहरण आता है। अतः अभिग्रह करते समय अपनी शक्ति और अशक्ति का विचार अवश्य कर लेना चाहिए।

(१०)

निर्विकृतिक सूत्र[1]

विगइओ[2] पच्चक्खामि, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थसंसिट्ठेणं, उक्खित्तविवेगेणं, पडुच्चमक्खिएणं, महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, वोसिरामि ।

भावार्थ

विकृतियों का प्रत्याख्यान करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, गृहस्थसंसृष्ट, उत्क्षिप्तविवेक, प्रतीत्यम्रक्षित, पारिष्ठापनिक, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार-उक्त नौ आगारों के सिवा विकृति का परित्याग करता हूँ।

भाष्य

मन में विकार उत्पन्न करने वाले भोज्य पदार्थों को विकृति कहते हैं। **'मनसो विकृतिहेतुत्वाद् विकृतयः'** आचार्य हेमचन्द्र-कृत योगशास्त्र तृतीय प्रकाश वृत्ति। विकृति में[3] दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मधु आदि भोज्य पदार्थ सम्मिलित हैं।

---

१ प्राकृत भाषा का मूल शब्द **'निव्विगइयं'** है। आचार्य सिद्धसेन ने इसके दो संस्कृतरूपान्तर किए हैं—निर्विकृतिक और निर्विगतिक। आचार्य श्री घृतादि को विकृतिहेतुक होने से विकृति और विगतिहेतुक होने से विगति भी कहते हैं। जो प्रत्याख्यान विकृति से रहित हो वह निर्विकृतिक कहलाता है। **'तत्र मनसो विकृतिहेतुत्वाद् विगतिहेतुत्वाद् वा विकृतयो विगतयो वा, निर्गता विकृतयो विगतयो वा यत्र तन्निर्विकृतिकं निर्विगतिकं वा प्रत्याख्याति ।'**—प्रवचन-सारोद्धार वृत्ति, प्रत्याख्यान द्वार।

२ प्रवचनसारोद्धार में **'विगइओ'** के स्थान में **'निव्विगइयं'** पाठ है।

३ विकृतियों के भक्ष्य और अभक्ष्यरूप से दो भेद किए गए हैं। मद्य और मांस तो सर्वथा अभक्ष्य विकृतियाँ हैं। अतः साधक को इनका त्याग जीवन-पर्यन्त के लिए होता है। मधु और नवनीत=मक्खन भी विशेष स्थिति में ही लिए जा

भोजन, मानव-जीवन के लिए एक अतीव महत्त्वपूर्ण वस्तु है। शरीरयात्रा के लिए भोजन तो ग्रहण करना ही होता है। ऊँचा साधक भी सर्वथा सदाकाल निराहार नहीं रह सकता। अतएव शास्त्रकारों ने बतलाया है कि—भोजन में सात्त्विकता रखनी चाहिए। ऐसा भोजन न हो, जो अत्यन्त पौष्टिक होने के कारण मन में दूषित वासनाओं की उत्पत्ति करे। विकारजनक भोजन संयम को दूषित किए बिना नहीं रह सकता।

शरीर के लिए पौष्टिक आहार सर्वथा वर्जित नहीं है। सर्वथा शुष्क आहार, कभी-कभी शरीर को क्षीण बना देता है। अतः यदा कदा पौष्टिक आहार लिया जाय तो कोई हानि नहीं है। परन्तु नित्य-प्रति विकृति का सेवन करना, निषिद्ध है। जो साधु नित्य प्रति विकृति का सेवन करता है, उसे शास्त्रकार पापश्रमण बतलाते हैं।

निर्विकृति के नौ आगार हैं। आठ आगारों का वर्णन तो पहले के पाठों में यथास्थान आ चुका है। प्रतीत्यम्रक्षित नामक आगार नया है। भोजन बनाते समय जिन रोटी आदि पर सिर्फ उँगली से घी आदि चुपड़ा गया हो ऐसी वस्तुओं को ग्रहण करना, प्रतीत्य म्रक्षित[1] आगार कहलाता है। इस आगार का यह भाव है कि—घृत आदि विकृति का त्याग करने वाला साधक धारा के रूप में घृत आदि नहीं खा सकता। हाँ, घी से साधारण तौर पर चुपड़ी हुई रोटियाँ खा सकता है।

"प्रतीत्य सर्वथा रूक्षमण्डकादि, ईषत्सौकुमार्य प्रतिपादनाय यदंगुल्या ईषद् घृतं गृहीत्वा म्रक्षितं तदा कल्पते, न तु धारया"

—तिलकाचार्य कृत, देवेन्द्र प्रतिक्रमण वृत्ति

विकृति द्रव और अद्रव के भेद से दो प्रकार की होती हैं। जो घृत, तैल आदि विकृति द्रव हों, तरल हों उनके प्रत्याख्यान में उत्क्षिप्तविवेक का आगार नहीं

सकते हैं, अन्यथा नहीं। दूध, दही, घी, तेल, गुड़ आदि और अवगाहिम अर्थात् पक्वान्न—ये छः भक्ष्य विकृतियाँ हैं। भक्ष्य विकृतियों का भी यथाशक्ति एक या एक से अधिक के रूप में प्रति दिन त्याग करते रहना चाहिए। यथावसर सभी विकृतियों का त्याग भी किया जाता है।

आवश्यक चूर्णि, प्रवचनसारोद्धार आदि प्राचीन ग्रन्थों में विकृतियों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

१. 'म्रक्षित' चुपड़े हुए को कहते हैं। और प्रतीत्य म्रक्षित कहते हैं—जो अच्छी तरह चुपड़ा हुआ न हो, किन्तु चुपड़ा हुआ जैसा हो, अर्थात म्रक्षिताभास हो। **'म्रक्षितमिव यद् वर्तते तत्प्रतीत्यम्रक्षितं म्रक्षिताभासमित्यर्थः।'**—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति।

रखा जाता। गुड़ और पक्वान्न आदि अद्रव अर्थात् शुष्क विकृतियों के प्रत्याख्यान में ही उक्त आगार होता है।

किसी एक विकृति-विशेष का त्याग करना हो तो उसका नाम लेकर पाठ बोलना चाहिए। जैसे 'दुद्धविगइयं पच्चक्खामि' 'दधिविगइयं पच्चक्खामि' इत्यादि।

जितने काल के लिए त्याग करना हो, उतना काल त्याग करते समय अपने मन में निश्चित कर लेना चाहिए।



(११)

प्रत्याख्यान पारणा सूत्र

उग्गए सूरे नमुक्कार-सहियं····पच्चक्खाणं कयं । तं पच्चक्खाणं सम्मं काएण फासियं, पालियं, तीरियं, किट्टियं, सोहियं, आराहिअं। जं च न आराहिअं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ

सूर्योदय होने पर जो नमस्कार-सहित प्रत्याख्यान किया था, वह प्रत्याख्यान (मन वचन) शरीर के द्वारा सम्यक् रूप से स्पृष्ट, पालित, शोधित, तीरित, कीर्तित एवं आराधित किया। और जो सम्यक् रूप से आराधित न किया हो, उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो।

भाष्य

यह प्रत्याख्यानपूर्ति का सूत्र है। कोई भी प्रत्याख्यान किया हो उसकी समाप्ति प्रस्तुत सूत्र के द्वारा करनी चाहिए। ऊपर मूल पाठ में **'नमुक्कारसहियं'** नमस्कारिका का सूचक सामान्य शब्द है। इसके स्थान में जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रक्खा हो उसका नाम लेना चाहिए। जैसे कि पौरुषी ले रक्खी हो तो **'पोरिसी-पच्चक्खाणं कयं'** ऐसा कहना चाहिए।

प्रत्याख्यान पालने के छह अङ्ग बतलाए गए हैं। अस्तु मूल पाठ के अनुसार निम्नोक्त छहों अंगों से प्रत्याख्यान की आराधना करनी चाहिए।

(१) **फासियं** (स्पृष्ट अथवा स्पर्शित) गुरुदेव से या स्वयं विधिपूर्वक प्रत्याख्यान लेना।[1]

---

१. **'प्रत्याख्यान ग्रहणकाले विधिना प्राप्तम्।'**

—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति।

आचार्य जिनदास फासियं का अर्थ 'स्वीकृत प्रत्याख्यान को बीच में खण्डित न करते हुए शुद्ध भावना से पालन करना' करते हैं। **फासियं नाम जं अंतरा न खंडेति।'**

—आवश्यक चूर्णि

(२) **पालियं** (पालित) प्रत्याख्यान को बार-बार उपयोग में लाकर सावधानी के साथ उसकी सतत रक्षा करना।

(३) **सोहियं** (शोधित) कोई दूषण लग जाय तो सहसा उसकी शुद्धि करना। अथवा 'सोहियं' का संस्कृत रूप शोभित भी होता है। इस दशा में अर्थ होगा[1]—गुरुजनों को, साथियों को अथवा अतिथिजनों को भोजन देकर स्वयं भोजन करना।

(४) **तीरियं** (तीरित) लिए हुए प्रत्याख्यान का समय पूरा हो जाने पर भी कुछ समय ठहर कर भोजन करना।

(५) **किट्टियं** (कीर्तित) भोजन प्रारंभ करने से पहले लिए हुए प्रत्याख्यान को विचार कर उत्कीर्तन-पूर्वक कहना कि मैंने अमुक प्रत्याख्यान अमुक रूप से ग्रहण किया था, वह भली-भाँति पूर्ण हो गया है।

(६) **आराहियं** (आराधित) सब दोषों से सर्वथा दूर रहते हुए ऊपर कही हुई विधिके अनुसार प्रत्याख्यान की आराधना करना।[2]

साधारण मनुष्य सर्वथा भ्रान्ति-रहित नहीं हो सकता। वह साधना करता हुआ भी कभी कभी साधना पथ से इधर-उधर भटक जाता है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा स्वीकृत व्रत की शुद्धि की जाती है, भ्रान्ति-जनित दोषों की आलोचना की जाती है, और अन्त में मिच्छामि दुक्कडं देकर प्रत्याख्यान में हुए अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है। आलोचना एवं प्रतिक्रमण करने से व्रत शुद्ध हो जाता है।

---

१. 'शोभितं-गुर्वादिप्रदत्तशेषभोजनाऽऽसेवनेन राजितम्।'

—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति।

'सोभितं' नाम जो भत्तपाणं आणेत्ता पुव्वं दाऊण सेसं भुंजति दायव्वपरिणामेण वा, जदि पुण एक्कतो भुंजति ताहे ण सोहियं भवति।'—आचार्य जिनदासकृत आवश्यक चूर्णि।

२. आचार्य जिनदास ने 'आराधित' के स्थान में 'अनुपालित' कहा है। अनुपालित का अर्थ किया है—तीर्थंकर देव के वचनों का बार-बार स्मरण करते हुए प्रत्याख्यान का पालन करना। 'अनुपालियं नाम अनुस्मृत्य अनुस्मृत्य तीर्थंकरवचनं प्रत्याख्यानं पालियव्वं।

— आवश्यक चूर्णि।

३ संस्तार-पौरुषी-सूत्र

जैनधर्म की निवृत्तिप्रधान साधना में **'संथारा'**—'संस्तारक' का बहुत बड़ा महत्त्व है। जीवनभर की अच्छी-बुरी हलचलों का लेखा लगाकर अन्तिम समय समस्त दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करना; मन, वाणी और शरीर को संयम में रखना; ममता से मन को हटाकर उसे प्रभुस्मरण एवं आत्मचिन्तन में लगाना; आहार, तथा अन्य सब उपाधियों का त्याग कर आत्मा को निर्द्वन्द्व एवं निःस्पृह बनाना; संथारा का आदर्श है। यहाँ मृत्यु के आगे गिड़गिड़ाते रहना, रोते-पीटते रहना, बचने के प्रयत्न में अंट-संट पापकारी क्रियाएँ करना, अभिमत नहीं है। जैनधर्म का आदर्श है—जब तक जीओ, विवेकपूर्वक आनन्द से जीओ। और जब मृत्यु आ जाए तो विवेकपूर्वक आनन्द से ही मरो। मृत्यु तुम्हें रोते हुओं को घसीट कर ले जाय, यह मानवजीवन का आदर्श नहीं है। मानवजीवन का आदर्श है—संयम की साधना के लिए अधिक से अधिक जीने का यथासाध्य प्रयत्न करो। और जब देखो कि अब जीवन की लालसा में हमें अपने धर्म से ही च्युत होना पड़ रहा है, संयम की साधना से ही लक्ष्य भ्रष्ट होना पड़ रहा है, तो अपने धर्म पर, अपने संयम पर दृढ़ रहो और समाधिमरण के स्वागतार्थ हँसते-हँसते तैयार हो जाओ। जीवन ही कोई बड़ी चीज़ नहीं है। जीवन के बाद मृत्यु भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मृत्यु को किसी तरह टाला तो जा नहीं सकता, हाँ, उसे संथारा की साधना के द्वारा सफल अवश्य बनाया जा सकता है।

रात्रि में सो जाना भी एक छोटी सी अल्प-कालिक मृत्यु है। सोते समय मनुष्य की चेतना शक्ति धुँधली पड़ जाती है, शरीर निश्चेष्ट-सा एवं सावधानता से शून्य हो जाता है। और तो क्या, आत्मरक्षा का भी उस समय कुछ प्रयत्न नहीं हो पाता। अतः जैनशास्त्रकार प्रतिदिन रात्रि में सोते समय सागारी संथारा करने का विधान करते हैं, यही संथारा पौरुषी है। सोने के बाद पता नहीं क्या होगा? प्रातः काल सुखपूर्वक शय्या से उठ भी सकेंगे अथवा नहीं? आज भी लोगों में कहावत है—**"जिसके बीच में रात, उसकी क्या बात?"** अतएव शास्त्रकार प्रतिदिन सावधान रहने की प्रेरणा करते हैं और कहते हैं कि जीवन के मोह में मृत्यु को न भूल जाओ, उसे प्रतिदिन याद रक्खो। फलस्वरूप सोते समय भी अपने आपको ममताभाव एवं राग-द्वेष से हटाकर संयमभाव में संलग्न करो, बाह्यजगत् से मुँह मोड़कर अन्तर्जगत् में

प्रवेश करो। सोते समय जो भावना बनाई जाती है प्रायः वही स्वप्न में भी रहा करती है। अतः संथारा के रूप में सोते समय यदि विशुद्ध भावना है तो वह स्वप्न में भी गतिशील रहेगी, और तुम्हारे जीवन को अविशुद्ध न होने देगी।

संथारा के लिए आज्ञा

अणुजाणह परमगुरु !
गुरुगुण-रयणेहिं मंडियसरीरा।
बहु पडिपुन्ना पोरिसि,
राइयसंथारए ठामि ॥ १ ॥

हे श्रेष्ठ गुण रत्नों से अलंकृत परम गुरु ! आप मुझको संथारा करने की आज्ञा दीजिए। एक प्रहर परिपूर्ण बीत चुका है, इसलिए मैं रात्रि संथारा करना चाहता हूँ।

संथारा करने की विधि

अणुजाणह संथारं,
बाहुवहाणेण वामपासेणं।
कुक्कुडि-पायपसारण
अतरंत पमज्जए भूमिं ॥२॥
संकोइय संडासा,
उव्वट्टंते अ काय-पडिलेहा।
दव्वाई-उवओगं,
ऊसासनिरुंभणालोए ॥३॥

मुझको संथारा की आज्ञा दीजिए। [संथारा की आज्ञा देते हुए गुरु उसकी विधि का उपदेश देते हैं] मुनि बाईं भुजा को तकिया बनाकर बाईं करवट से सोए। और मुर्गी की तरह ऊँचे पाँव करके सोने में यदि असमर्थ हो तो भूमि का प्रमार्जन कर उस पर पाँव रक्खे।

दोनों घुटनों को सिकोड़ कर सोए। करवट बदलते समय शरीर की प्रतिलेखना करे। जागने के लिए द्रव्यआदि[1] के द्वारा आत्मा का

---

१. मैं वस्तुतः कौन हूँ और कैसा हूँ ? इस प्रश्न का चिन्तन करना द्रव्य चिन्तन है। तत्वतः मेरा क्षेत्र कौन सा है ? यह विचार करना क्षेत्रचिन्तन है। मैं प्रमाद-

चिन्तन करे। इतने पर भी यदि अच्छी तरह निद्रा दूर न हो तो श्वास को रोककर उसे दूर करे और द्वार का अवलोकन करे—अर्थात् दरवाजे की ओर देखे।

मंगल सूत्र

चत्तारि मंगलं—
अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं,
साहू मंगलं, केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं ॥४॥

चार मंगल हैं, अरिहन्त भगवान् मंगल हैं, सिद्ध भगवान् मंगल है, पाँच महाव्रतधारी साधु मंगल हैं, केवल ज्ञानी का कहा हुआ अहिंसा आदि धर्म मंगल है।

उत्तम सूत्र

चत्तारि लोगुत्तमा—
अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा;
साहू लोगुत्तमा, केवलिपन्नतो धम्मो लोगुत्तमो ॥५॥

चार संसार में उत्तम हैं—अरिहन्त भगवान उत्तम हैं, सिद्ध भगवान् उत्तम हैं, साधु मुनिराज उत्तम हैं, केवली का कहा हुआ धर्म उत्तम है।

शरण सूत्र

चत्तारि सरणं पवज्जामि—
अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि;
साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ॥६॥

चारों की शरण अंगीकार करता हूँ—अरिहंतों की शरण अंगीकार करता हूँ, सिद्धों की शरण अंगीकार करता हूँ, साधुओं की शरण अंगीकार करता हूँ, केवली द्वारा प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

रूप रात्रि में सोया पड़ा हूँ, अथवा अप्रमत्त भावरूप दिन में जाग्रत हूँ ? यह चिन्तन करना कालचिन्तन है। मुझे इस समय लघुशंका आदि द्रव्य बाधा और रागद्वेष आदि भाव बाधा कितनी है ? यह विचार करना भावचिन्तन है।

नियम सूत्र

जइ मे हुज्ज पमाओ,
इमस्स देहस्सिमाइ रयणीए ।
[1]आहार मुवहिदेहं,
सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥७॥

यदि इस रात्रि में मेरे इस शरीर का प्रमाद हो अर्थात् मेरी मृत्यु हो तो आहार, उपधि=उपकरण और देह का मन, बचन और काय से त्याग करता हूँ ।

पाप स्थान का त्याग

पाणाइवायमलिअं,
चोरिक्कं मेहुणं दविणमुच्छं ।
कोहं, माणं, मायं,
लोहं, पिज्जं तहा दोसं ॥८॥
कलहं, अब्भक्खाणं,
पेसुन्नं रइ-अरइ-समाउत्तं ।
परपरिवायं माया-
मोसं मिच्छत्तसल्लं च ॥९॥
वोसिरसु इमाइं,
मुक्खमग्गसंसग्गविग्घभूआइं ।
दुग्गइ-निबंधणाइं,
अट्ठारस पावठाणाइं ॥१०॥

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान=मिथ्या दोषारोपण, पैशुन्य=चुगली, रतिअरति, पर-परिवाद, मायामृषावाद, मिथ्यात्वशल्य ।

---

१. 'सव्वोवहि-उवगरणं' पाठ भी है ।

ये अट्ठारह पाप स्थान मोक्ष के मार्ग में विघ्नरूप हैं, बाधक हैं। इतना ही नहीं, दुर्गति के कारण भी हैं। अतएव सभी पापस्थानों का मन वचन और शरीर से त्याग करता हूँ।

एकत्व और अनित्य भावना

एगोहं नत्थि मे कोइ,
नाहमन्नस्स कस्सइ।
एवं अदीणमणसो,
अप्पाणमणुसासइ ॥११॥

एगो मे सासओ अप्पा,
नाणदंसण-संजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा,
सव्वे संजोगलक्खणा ॥१२॥

संजोगमूला जीवेण,
पत्ता दुक्ख-परम्परा।
तम्हा संजोग-संबंधं,
सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥१३॥

मुनि प्रसन्न चित्त से अपने आपको समझाता है कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी अन्य का नहीं हूँ।

—सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन, उपलक्षण से सम्यक् चारित्र से परिपूर्ण मेरा आत्मा ही शाश्वत है, सत्य सनातन है; आत्मा के सिवा अन्य सब पदार्थ संयोगमात्र से मिले हैं।

—जीवात्मा ने आज तक जो भी दुःखपरंपरा प्राप्त की है, वह सब पर पदार्थों के संयोग से ही प्राप्त हुई है। अतएव मैं संयोग सम्बन्ध का सर्वथा परित्याग करता हूँ।

क्षमापना

खमिअ खमाविअ मइ खमह,
सव्वह जीव—निकाय।

सिद्धह साख आलोयणह,
मुज्झह वइर न भाव ॥१४॥
सव्वे जीवा कम्मवस,
चउदह–राज भमंत ।
ते मे सव्व खमाविआ,
मुज्झ वि तेह खमंत ॥१५॥

हे जीवगण ! तुम सब खमण खामणा करके मुझ परक्ष माभाव करो । सिद्धों को साक्षी रख कर आलोचना करता हूँ कि— मेरा किसी से भी वैरभाव नहीं है ।

—सभी जीव कर्मवश चौदह राजुप्रमाण लोक में परिभ्रमण करते हैं, उन सब को मैंने खमाया है, अतएव वे सब मुझे भी क्षमा करें ।

मिथ्या दुष्कृत

जं जं मणेण बद्धं,
जं जं वाएण भासियं पावं ।
जं जं काएण कयं,
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥१६॥

मैंने जो जो पाप मन से संकल्प द्वारा बाँधे हों, वाणी से पापमूलक वचन बोले हों, और शरीर से पापाचरण किया हो, वह सब पाप मेरे लिए मिथ्या हो ।

अन्तिम परमेष्ठी मंगल

नमो अरिहंताणं,
नमो सिद्धाणं,
नमो आयरियाणं,
नमो उवज्झायाणं
नमो लोए सव्व-साहूणं !
एसो पंच–नमोक्कारो,
सव्व-पाव-प्पणासणो ।

मंगलाणं च सव्वेसिं
पढ़मं हवइ मंगलं ॥

अरिहंतों को नमस्कार हो,
सिद्धों को नमस्कार हो,
आचार्यों को नमस्कार हो,
उपाध्यायों को नमस्कार हो,
लोक में सब साधुओं को नमस्कार हो ।

यह पाँच पदों को किया हुआ नमस्कार, सब पापों का सर्वथा नाश करने वाला है । और संसार के सभी मंगलों में प्रथम अर्थात् भावरूप मुख्य मंगल है ।

४ | शेष सूत्र

(१)

सम्यक्त्व सूत्र

अरिहंतो मह देवो,
जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिण-पण्णत्तं तत्तं,
इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥१॥

शब्दार्थ

अरिहंतो=**अर्हन्त भगवान**
मह=**मेरे**
देवो=**देव हैं**
जावज्जीवं=**यावज्जीवन, जीवन पर्यन्त**
सुसाहुणो=**श्रेष्ठ साधु**
गुरुणो=**गुरू हैं**
जिणपण्णत्तं= **श्री जिनराज का कहा हुआ ही**
तत्तं=**तत्त्व है, धर्म है**
इअ=**यह**
सम्मत्तं=**सम्यक्त्व**
मए=**मैंने**
गहियं=**ग्रहण किया है**

भावार्थ

राग-द्वेष के जीतने वाले श्री अरिहंत भगवान मेरे देव हैं, जीवन पर्यन्त संयम की साधना करने वाले सच्चे साधू मेरे गुरु हैं, श्री जिनेश्वर देव का बताया हुआ अहिंसा सत्य आदि ही मेरा धर्म है—यह देव गुरु धर्म पर श्रद्धा-स्वरूप सम्यक्त्व व्रत मैंने यावज्जीवन के लिए ग्रहण किया है ।

(२)

गुरु गुणस्मरण सूत्र

पंचिंदिय–संवरणो,
तह नवविह–बंभचेर–गुत्ति–धरो ।

चउविह–कसाय–मुक्को,
इअ अट्ठारस–गुणेहिं संजुत्तो ॥१॥
पंच–महव्वय–जुत्तो,
पंचविहायार - पालण - समत्थो ।
पंच–समिओ तिगुत्तो,
छत्तीस–गुणो गुरू मज्झ ॥२॥

शब्दार्थ

पंचिंदिय=पांच इन्द्रियों को
संवरणो=वश में करने वाले
तह=तथा
नव विह बंभचेर=नव प्रकार के ब्रह्मचर्य की
गुत्तिधरो=गुप्तियों को धारण करने वाले
चउविह=चार प्रकार के
कसायमुक्को=कषाय से मुक्त
इअ=इन
अट्ठारस गुणेहि=अठारह गुणों से
संजुत्तो=संयुक्त, सहित
पंच महव्वय जुत्तो=पांच महाव्रतों से युक्त
पंचविहायार=पाँच प्रकार का आचार
पालण समत्थो=पालने में समर्थ
पंचसमिओ=पांच समिति वाले
तिगुत्तो=तीन गुप्ति वाले
छत्तीसगुणो=(इसप्रकार)छत्तीस गुणों वाले साधु
मज्झ=मेरे
गुरू=गुरु हैं

ावार्थ

पांच इन्द्रियों के वैषयिक चांचल्य को रोकने वाले, ब्रह्मचर्य व्रत की नवविध गुप्तियों को—नौ वाड़ों को धारण करने वाले, क्रोध आदि चार प्रकार की कषायों से मुक्त, इस प्रकार अट्ठारह गुणों से संयुक्त।

अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों से युक्त, पाँच आचार के पालन करने में समर्थ, पाँच समिति और तीन गुप्ति के धारण करने वाले अर्थात् उक्त छत्तीस गुणों वाले श्रेष्ठ साधु मेरे गुरु हैं।

(३)

गुरुवन्दन सू

तिक्खुत्तो
आयाहिणं पयाहिणं करेमि,
वंदामि, नमंसामि,
सक्कारेमि, सम्माणेमि,
कल्लाणं, मंगलं,
देवयं, चेइयं,
पज्जुवासामि,
मत्थएण वंदामि ।

शब्दार्थ

तिक्खुत्तो=तीन बार
आयाहिणं=दाहिनी ओर से
पयाहिणं=प्रदक्षिणा, आवर्तन
करेमि=करता हूँ
वंदामि=   करता
नमंसामि=नमस्कार करता हूँ
सक्कारेमि=सत्कार करता हूँ
सम्माणेमि=सम्मान करता हूँ
[आप कैसे हैं ?]

कल्लाणं=कल्याणरूप हैं
मंगल=मंगलरूप हैं
देवयं=देवता रूप हैं
चेइयं=ज्ञानरूप हैं
पज्जुवासामि=(मैं)आपकी पर्यु-
पासना=सेवाभक्ति करता हूँ
मत्थएण=मस्तक से, अर्थात्
मस्तक झुकाकर
वंदामि=वन्दना करता हूँ

भावार्थ

भगवन् ! दाहिनी ओर से प्रारम्भ करके पुनः दाहिनी ओर तक आपकी तीन बार प्रदक्षिणा करता हूँ ।

वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, सत्कार करता हूँ, सम्मान करता हूँ ।

आप कल्याणरूप हैं, मंगलरूप हैं। आप देवता-स्वरूप है, चैतन्य स्वरूप=ज्ञानस्वरूप हैं।

गुरुदेव ! आपकी [मन, वचन और शरीर से] पर्युपासना=सेवा भक्ति करता हूँ। विनय-पूर्वक मस्तक झुकाकर आपके चरण कमलों में वन्दना करता हूँ।

(४)

आलोचना-सूत्र

इच्छाकारेण संदिसह भगवं !
इरियावहियं, पडिक्कमामि ?
इच्छं
इच्छामि पडिक्कमिउं ॥१॥
इरियावहियाए, विराहणाए ॥२॥
गमणागमणे, पाणक्कमणे,
बीयक्कमणे, हरियक्कमणे,
ओसा उत्तिग-पणग-दग-मट्टी-मक्कडासंताणा-संकमणे ॥४॥
जे मे जीवा विराहिया ॥५॥
एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया,
चउरिंदिया, पंचिंदिया ॥६॥
अभिहया, वत्तिया, लेसिया,
संघाइया, संघट्टिया, परियाविया,
किलामिया, उद्दविया,
ठाणाओ ठाणं संकामिया,
जीवियाओ ववरोविया,
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥७॥

शब्दार्थ

भगवं=हे भगवन् !
इच्छाकारेण=इच्छापूर्वक
संदिसह=आज्ञा दीजिए
इरियावहियं=ऐर्यापथिकी (आने जाने की) क्रिया का
पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करूँ

[गुरुजनों की ओर से आज्ञा मिल जाने पर या अपने संकल्प से ही आज्ञा स्वीकार करके अब साधक कहता है]
इच्छं=आपकी आज्ञा शिरोधार्य है

भावार्थ

भगवन् ! इच्छा के अनुसार आज्ञा दीजिए कि मैं ऐर्यापथिकी=गमन मार्ग में अथवा स्वीकृत धर्माचरण में होने वाली पापक्रिया का प्रतिक्रमण करूँ ?…[1]

(५)

उत्तरीकरण-सूत्र

तस्स
उत्तरीकरणेणं
पायच्छित्त-करणेणं,
विसोही–करणेणं,
विसल्ली–करणेणं,
पावाणं कम्माणं
निग्घायणट्ठाए,
ठामि काउस्सग्गं ॥१॥

शब्दार्थ

तस्स=उसकी, दूषित आत्मा की
उत्तरी करणेणं=विशेष उत्कृष्टता के लिए
पायच्छित्तकरणेणं=प्रायश्चित्त करने के लिए
विसोही करणेणं=विशेष निर्मलता के लिए

---

१. शेष पाठ का शब्दार्थ और भावार्थ श्रमण-सूत्र के १९४ वें पृष्ठ पर देखिए।

विसल्लीकरणेणं=शल्य से रहित करने के लिए
पावाणं कम्माणं=पाप कर्मों के
निग्घायणट्ठाए=विनाश के लिए
काउस्सग्गं=कायोत्सर्ग अर्थात् शरीर की क्रिया का त्याग
ठामि=करता हूँ

भावार्थ

आत्मा की विशेष उत्कृष्टता=श्रेष्ठता के लिए, प्रायश्चित्त के लिए, विशेष निर्मलता के लिए, शल्य-रहित होने के लिए, पाप कर्मों का पूर्णतया विनाश करने के लिए, मैं कायोत्सर्ग करता हूँ, अर्थात् आत्मविकास की प्राप्ति के लिए शरीर-सम्बन्धी समस्त चंचल व्यापारों का त्याग करता हूँ।

(६)

आगार सूत्र

अन्नत्थ
ऊससिएणं नीससिएणं,
खासिएणं, छीएणं,
जंभाइएणं,
उड्डुएणं,
वायनिसग्गेणं,
भमलीए, पित्तमुच्छाए,
सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं,
सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं,
सुहुमेहिं दिट्ठि-संचालेहिं।
एवमाइएहिं आगारेहिं,
अभग्गो, अविराहिओ,
हुज्ज मे काउस्सग्गो।
जाव अरिहंताणं भगवंताणं,
नमुक्कारेणं न पारेमि,

ताव कायं
ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं,
अप्पाणं, वोसिरामि ।

शब्दार्थ

अन्नत्थ = आगे कहे जाने वाले आगारों के सिवाय कायोत्सर्ग में शेष कायव्यापारों का त्याग करता हूँ
ऊससिएणं = ऊँचा श्वास लेने से
नीससिएणं = नीचा श्वास लेने से
खासिएणं = खाँसी से
छीएणं = छींक से
जंभाइएणं = जंभाई, उबासी लेने से
उड्डुएणं = डकार लेने से
वायनिसग्गेणं = अधोवायु निकलने से
भमलीए = चक्कर आने से
पित्तमुच्छाए = पित्तविकार के कारण मूर्छा आ जाने से
सुहुमेहिं = सूक्ष्म, थोड़ा सा भी
अंग संचालेहिं = अंग के संचार से
सुहुमेहिं = सूक्ष्म, थोड़ा सा भी
खेल संचालेहिं = कफ के संचार से
सुहुमेहिं = सूक्ष्म, थोड़ा सा भी
दिट्ठिसंचालेहिं = दृष्टि, नेत्र के संचार से
एवमाइएहिं = इत्यादि[1]
आगारेहिं = आगारों से, अपवादों से
मे = मेरा
काउस्सग्गो = कायोत्सर्ग
अभग्गो = अभग्न
अविराहिओ = अविराधित, अखंडित
हुज्ज = होवे
(कायोत्सर्ग कब तक)
जाव = जब तक
अरिहंताणं = अरिहंत
भगवंताणं = भगवानों को
नमुक्कारेणं = नमस्कार करके यानी प्रकट रूप में 'नमो अरिहंताणं' बोलकर
न पारेमि = कायोत्सर्ग न पारूं
ताव = तब तक (मैं)
ठाणेणं = एक स्थान पर स्थिर रह कर
मोणेणं = मौन रह कर
झाणेणं = ध्यानस्थ रह कर

---

१. आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक निर्युक्ति में आदि शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है कि यदि अग्नि का उपद्रव हो, पञ्चेन्द्रिय प्राणी का छेदन-भेदन हो, सर्प आदि अपने को अथवा किसी दूसरे को काट खाए तो आत्मरक्षा के लिए एवं दूसरे की सहायता करने के लिए ध्यान खोला जा सकता है।

अप्पाणं=अपने
कायं=शरीर को
वोसिरामि=वोसराता हूँ
त्यागता हूँ

भावार्थ

कायोत्सर्ग में काय-व्यापारों का परित्याग करता हूँ, निश्चल होता हूँ, परन्तु जो शारीरिक क्रियाएँ अशक्य परिहार होने के कारण स्वभावतः हरकत में आ जाती हैं, उनको छोड़कर।

उच्छ्वास=ऊँचा श्वास, निःश्वास=नीचा श्वास, कासित=खाँसी, छिक्का=छींक, उबासी, डकार, अपान वायु, चक्कर, पित्त-विकारजन्य मूर्च्छा, सूक्ष्म रूप से अंगों का हिलना, सूक्ष्म रूप से कफ का निकलना, सूक्ष्म रूप से नेत्रों का हरकत में आ जाना, इत्यादि आगारों से मेरा कायोत्सर्ग अभग्न एवं अविराधित हो।

जब तक अरिहंत भगवान् को नमस्कार न कर लूँ, अर्थात् 'नमो अरिहंताणं' न पढ़ लूँ, तब तक एक स्थान पर, स्थिर रहकर, मौन रहकर धर्म ध्यान में चित्त की एकाग्रता करके अपने शरीर को पाप व्यापारों से बोसिराता हूँ=अलग करता हूँ।

(७)

चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र

लोगस्स उज्जोयगरे,
धम्म-तित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं,
चउवीसं पि केवली ॥ १ ॥
उसभमजियं च वंदे,
संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं,
जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥
सुविहिं च पुप्फदंतं,
सीअल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च।

विमलमणंतं च जिणं,
धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३ ॥
कुंथुं अरं च मल्लिं,
वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं,
पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥
एवं मए अभिथुआ,
विहुय-रयमला, पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा,
तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥
कित्तिय-वंदिय-महिया
जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्गबोहिलाभं,
समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥
चंदेसु निम्मलयरा,
आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागर-वर-गंभीरा,
सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥७॥

शब्दार्थ

लोगस्स=लोक में
उज्जोयगरे=ज्ञान का प्रकाश करने वाले
धम्मतित्थयरे=धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले
जिणे=रागद्वेष के विजेता
अरिहंते=अरिहंत भगवान्
चउवीसंपि=चौबीसों ही
केवली= केवल ज्ञानियों का
कित्तइस्सं=कीर्त्तन करूँगा
उसभं=ऋषभदेव को
च=और
अजियं=अजितनाथ को
वंदे=वन्दना करता हूँ

संभवं=संभव को
अभिणंदणं च=और अभिनन्दन को
सुमइं च=और सुमति को
पउमप्पहं=पद्मप्रभ को
सुपासं=सुपार्श्व को
च=और
चंदप्पहं=चन्द्रप्रभ
जिणं=जिन को
वंदे=वन्दना करता हूँ
सुविहिं च=और सुविधि, अर्थात्
पुप्फदंतं=पुष्पदन्त को
सीअल=शीतल
सिज्जंस=श्रेयांस को
वासुपुज्जं च=और वासुपूज्य को
विमलं=विमल को
अणंतं च जिणं=और अनन्त जिन को
धम्मं=धर्मनाथ को
संतिं च=और शान्तिनाथ को
वंदामि=वन्दना करता हूँ
कुंथुं=कुन्थुनाथ को
अरं च=और अरनाथ को
मल्लिं=मल्लि को
मुणि सुव्वयं=मुनिसुव्रत को
च=और
नमिजिणं=नमि जिनको

वन्दे=वन्दना करता हूँ
रिट्ठनेमिं=अरिष्टनेमि को
पासं=पार्श्वनाथ को
तह=तथा
वद्धमाणं=वर्द्धमान स्वामी को
वंदामि=वन्दना करता हूँ
एवं=इस प्रकार
मए=मेरे द्वारा
अभिथुआ=स्तुति किए गए
विहुयरयमला=कर्मरूपी रज तथा मल से रहित
पहीण जरमरणा=जरा और मरण से मुक्त
चउवीसंपि=ऐसे चौबीसों ही
जिणवरा=जिनवर
तित्थयरा=तीर्थंकर देव
मे=मुझ पर
पसीयंतु=प्रसन्न होवें
जे=जो
ए=ये
लोगस्स=लोक में
उत्तमा=उत्तम,
सिद्धा=तीर्थंकर सिद्ध भगवान्
कित्तिय=वचन से कीर्तित, स्तुति किए गए

वंदिय=मस्तक से वन्दित
महिया=भाव से पूजित,
आरुग्ग=आरोग्य, आत्मिक शान्ति
बोहिलाभं=सम्यग्दर्शन-रूप बोधि का लाभ
समाहिवरमुत्तमं=उत्तम समाधि
दिंतु=देवें
चंदेसु=चन्द्रमाओं से भी
निम्मलयरा=निर्मलतर
आइच्चेसु=सूर्यों से भी
अहियं=अधिक
पयासयरा=प्रकाश करने वाले
सागरवर=महासागर से भी अधिक
गंभीरा=गंभीर, अक्षुब्ध
सिद्धा=तीर्थंकर सद्ध भगवान्
मम=मुझे
सिद्धि=सिद्धि, कर्मों से मुक्ति
दिसंतु=देवें

भावार्थ

अखिल विश्व में धर्म का उद्द्योत=प्रकाश करने वाले, धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले, (राग-द्वेष के) जीतने वाले, (अंतरङ्ग काम क्रोधादि) शत्रुओं को नष्ट करने वाले, केवलज्ञानी चौबीस तीर्थ करों का मैं कीर्तन करूँगा=स्तुति करूँगा ।।१।।

श्री ऋषभदेव, श्री अजितनाथ जी को वन्दना करता हूँ। सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, और रागद्वेष के विजेता चन्द्र-प्रभ जिनको नमस्कार करता हूँ ।।२।।

श्री पुष्पदन्त (सुविधिनाथ), शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल-नाथ, रागद्वेष के विजेता अनन्त, धर्म तथा श्री शान्तिनाथ भगवान को नमस्कार करता हूँ ।।३।।

श्री कुन्थुनाथ, अरनाथ, भगवती मल्ली, मुनि सुव्रत, एवं रागद्वेष के विजेता नमिनाथ जी को वन्दना करता हूँ। इसी प्रकार अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ, अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान (महावीर) स्वामी को नमस्कार करता हूँ ।।४।।

जिनकी मैंने स्तुति की है, जो कर्म रूप धूल तथा मल से रहित हैं, जो जरा-मरण दोषों से सर्वथा मुक्त हैं, वे अन्तः शत्रुओं पर विजय पाने वाले धर्म प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों ।। ५ ।।

जिनकी इन्द्रादि देवों तथा मनुष्यों ने स्तुति की है, वन्दना की है, भाव से पूजा की है, और जो अखिल संसार में सबसे उत्तम हैं, वे सिद्ध=तीर्थंकर भगवान् मुझे आरोग्य=सिद्धत्व अर्थात् आत्मशान्ति, बोधि=सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का पूर्ण लाभ, तथा उत्तम समाधि प्रदान करें ।। ६ ।।

जो अनेक कोटा-कोटि चन्द्रमाओं से भी विशेष निर्मल हैं, जो सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान हैं, जो स्वयम्भूरमण जैसे महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर हैं; वे तीर्थंकर सिद्ध भगवान मुझे सिद्धि प्रदान करें, अर्थात् उनके आलम्बन से मुझे सिद्धि=मोक्ष प्राप्त हो ।। ७।।

(८)

प्रणिपात-सूत्र

नमोत्थुणं
अरिहंताणं, भगवंताणं ।।१।।
आइगराणं,
तित्थयराणं, सयं-संबुद्धाणं ।।२।।
पुरिसुत्तमाणं, पुरिस-सीहाणं,
पुरिसवरपुंडरियाणं, पुरिसवरगंधहत्थीणं ।।३।।
लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं,
लोगपईवाणं, लोग पज्जोयगराणं ।।४।।
अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं,
सरणदयाणं, जीवदयाणं, बोहिदयाणं ।।५।।
धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं,
धम्मसारहीणं, धम्मवरचाउरंत-चक्कवट्टीणं ।।६।।
दीव-ताण-सरण-गइ-पइट्ठाणं,
अप्पडिहय-वरनाण-दंसणधराणं, वियट्टछउमाणं ।।७।।
जिणाणं, जावयाणं, तिण्णाणं, तारयाणं,
बुद्धाणं, बोहयाणं, मुत्ताणं मोयगाणं ।।८।।

सव्व-न्नूणं, सव्व-दरिसीणं,
सिवमयलमरुय मणंतमक्खयमव्वाबाह—
मपुणरावित्ति-सिद्धिगइनामधेयं ठाणं सपत्ताणं,
नमो जिणाणं, जियभयाणं ।।९।।

शब्दार्थ

नमोत्थुणं = नमस्कार हो
अरिहंताणं = अरिहन्त
भगवंताणं = भगवानों को
[भगवान कैसे हैं ?]
आइगराणं = धर्म की आदि करने वाले
तित्थयराणं = धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले
सयंसंबुद्धाणं = अपने आप ही सम्यक् बोध को पाने वाले
पुरिसुत्तमाणं = पुरुषों में श्रेष्ठ
पुरिससीहाणं = पुरुषों में सिंह
पुरिसवर-पुंडरियाणं = पुरुषों में श्रेष्ठ श्वेत कमल के समान
पुरिस = पुरुषों में
वरगंधहत्थीणं = श्रेष्ठ गन्धहस्ती
लोगुत्तमाणं = लोक में उत्तम
लोगनाहाणं = लोक के नाथ
लोगहियाणं = लोक के हितकारी
लोगपईवाणं = लोक में दीपक
लोगपज्जोयगराणं = लोक में ज्ञान का प्रकाश करने वाले
अभय दयाणं = अभयदान देने वाले
चक्खुदयाणं = ज्ञान नेत्र के देने वाले
मग्गदयाणं = मोक्षमार्ग के दाता
सरणदयाणं = शरण के दाता
जीवदयाणं = संयमजीवन के दाता
बोहिदयाणं = सम्यक्त्वरूप बोधि के दाता
धम्मदयाणं = धर्म के दाता
धम्मदेसयाणं = धर्म के उपदेशक
धम्मनायगाणं = धर्म के नेता
धम्मसारहीणं = धर्मरथ के सारथी
धम्मवर = धर्म के सबसे श्रेष्ठ
चाउरंत = चारों गति के अन्त करने वाले
चक्कवट्टीणं = (धर्म के) चक्रवर्ती
दीव = (भवसागर में) द्वीपरूप
ताण = रक्षारूप
सरण = शरणरूप
गइ = गति-आश्रयरूप
पइट्ठाणं = प्रतिष्ठा–आधाररूप
अप्पडिहय = अप्रतिहत, किसी भी रुकावट में न आने वाले, ऐसे
वरनाणदंसणधराणं = श्रेष्ठ ज्ञान और दर्शन के धारक
वियट्टछउमाणं = छद्म-प्रमाद से रहित
जिणाणं = राग-द्वेष के जीतने वाले
जावयाणं = दूसरों को जिताने वाले
तिन्नाणं = स्वयं संसार सागर से तरे हुए

१. अरिहंत स्तुति में 'ठाणं संपत्ताणं' के स्थान पर 'ठाणं संपाविउं कामाणं कहना चाहिए ।

तारयाणं=दूसरों को तारने वाले
बुद्धाणं=स्वयं बोध को प्राप्त हुए
बोहयाणं=दूसरों को बोध देने वाले
मुत्ताणं=स्वयं कर्मों से मुक्त
मोयगाणं=दूसरों को मुक्त कराने वाले
सव्वन्नूणं=सर्वज्ञ
सव्वदरिसीणं=सर्वदर्शी तथा
सिवं=शिव, कल्याण रूप
अयलं=अचल, स्थिर स्वरूप
अरुयं=अरुज, रोग से रहित
अणंतं=अनंत, अन्त से रहित
अक्खयं=अक्षय, क्षय से रहित
अव्वाबाहं=अव्याबाध, बाधा से रहित
अपुणराविति=अपुनरावृत्ति,पुनरागमन से रहित, (ऐसे)
सिद्धिगइनामधेयं=सिद्धिगति नामक
ठाणं=स्थान, पद को
संपत्ताणं=प्राप्त करने वाले
नमो=नमस्कार हो
जिणाणं=जिन भगवानों को
जियभयाणं=भय पर विजय पाने वालों को

भावार्थ

श्री अरिहंत भगवानों को नमस्कार हो। (अरिहंत भगवान् कैसे हैं ?) धर्म को आदि करने वाले हैं। धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले हैं, अपने आप प्रबुद्ध हुए हैं।

पुरुषों में श्रेष्ठ हैं, पुरुषों में सिंह हैं, पुरुषों में पुण्डरीक कमल हैं, पुरुषों में श्रेष्ठ गन्ध हस्ती हैं। लोक में उतम हैं, लोक के नाथ हैं, लोक के हितकर्ता हैं, लोक में दीपक हैं, लोक में उद्द्योत करने वाले हैं।

अभय देने वाले हैं, ज्ञान रूपी नेत्र के देने वाले हैं, धर्ममार्ग के देने वाले हैं, शरण के देने वाले हैं, संयमरूप जीवन के दाता हैं, सम्यक्त्वरूप बोधि के दाता हैं, धर्म के दाता हैं, धर्म के उपदेशक हैं, धर्म के नेता हैं, धर्म के सारथी=संचालक हैं।

चार गति के अन्त करने वाले श्रेष्ठ धर्म के चक्रवर्ती हैं, अप्रतिहत एवं श्रेष्ठ ज्ञान दर्शन के धारण करने वाले हैं, ज्ञानावरण आदि घातिकर्म से अथवा प्रमाद से रहित हैं।

स्वयं रागद्वेष के जीतने वाले हैं, दूसरों को जिताने वाले हैं, स्वयं संसार-सागर से तर गए हैं, दूसरों को तारने वाले हैं, स्वयं बोध पा चुके हैं, दूसरों को बोध देने वाले हैं, स्वयं कर्म से मुक्त हैं, दूसरों को मुक्त कराने वाले हैं।

सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं। तथा शिव=कल्याणरूप, अचल=स्थिर, अरुज=रोग—रहित, अनन्त=अन्तरहित, अक्षय=क्षयरहित, अव्याबाध=बाधा पीड़ार हित, अपुनरावृत्ति=पुनरागमन से रहित अर्थात् जन्म मरण से रहित, सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त कर चुके हैं, भय के जीतने वाले हैं, रागद्वेष के जीतने वाले हैं—उन जिन भगवानों को मेरा नमस्कार हो।[1]

---

१. श्रमण सूत्र के अतिरिक्त जो प्राकृत पाठ हैं, उनका यह शेष-सूत्र के नाम से संग्रह कर दिया है। इनका विवेचन लेखक की सामायिक सूत्र नामक पुस्तक में देखिए।

५ | # संस्कृतच्छायाऽनुवाद

[श्रमण-सूत्र]

(१)

नमस्कार-सूत्र

नमोऽर्हद्भ्यः
नमः सिद्धेभ्यः
नम आचार्येभ्यः
नम उपाध्यायेभ्यः
नमो लोके सर्वसाधुभ्यः ।

(२)

सामायिक-सूत्र

करोमि[1] भदन्त ! सामायिकम्,

सर्वं सावद्यम्=सपापं-पापसहितं, योगम्=व्यापारं प्रत्याख्यामि=प्रत्याचक्षे [2]यावज्जीवया=यावज्जीवनम्, यावत् मम जीवनपरिमाणं तावत्
त्रिविधं[3] त्रिविधेन[4]
मनसा वाचा कायेन
न करोमि, न कारयामि

---

१. 'भयान्त !' इति हरिभद्राः

२. "यावज्जीवता, तया यावज्जीवतया । तत्रालाक्षणिकवर्णलोपात् 'जावज्जीवाए' इति सिद्धम् । अथवा प्रत्याख्यानक्रिया अन्यपदार्थ इति तामभिसमीक्ष्य समासो बहुव्रीहिः यावज्जीवो यस्यां सा यावज्जीवा तया ।"

—हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति

३. तिस्रो विधा यस्य सावद्य-योगस्य स त्रिविधः, स च प्रत्याख्येयत्वेन कर्म संपद्यते, कर्मणि च द्वितीया विभक्तिः, अतस्तं त्रिविधयोगं—मनोवाक्कायव्यापार-लक्षणम् ।

४. त्रिविधेनेति करणे तृतीया ।

कुर्वन्तमपि अन्यं न समनुजानामि = नानुमन्येऽहम्
तस्य[1] भदन्त !
प्रतिक्रमामि = निवर्त्तयामि
निन्दामि = स्वसाक्षिकं जुगुप्से
गर्हे = भवत्साक्षिकं जुगुप्से
आत्मानं = अतीतसावद्ययोगकारिणम्
व्युत्सृजामि = विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि !

(३)

मङ्गल-सूत्र

चत्वारः (पदार्था इतिगम्यते) मंगलम्
अर्हन्तो मंगलम्
सिद्धा मङ्गलम्
साधवो मङ्गलम्
केवलि-प्रज्ञप्तो धर्मो मङ्गलम् ।

(४)

उत्तम-सूत्र

चत्वारो लोकोत्तमाः
अर्हन्तो लोकोत्तमाः
सिद्धा लोकोत्तमाः
साधवो लोकोत्तमाः
केवलि-प्रज्ञप्तो धर्मो लोकोत्तमः !

(५)

शरण-सूत्र

चतुरः शरणं प्रपद्ये[2],
अर्हतः शरणं प्रपद्ये
सिद्धान् शरणं प्रपद्ये
साधून् शरणं प्रपद्ये
केवलि-प्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रपद्ये ।

---

१. तस्य इत्यधिकृतो योगः संबध्यते । कर्मणि द्वितीया प्राप्ताऽपि अवयवावयविसम्बन्धलक्षणा षष्ठी ।

२. आश्रयं गच्छामि, भक्तिं करोमीत्यर्थः ।

(६)

संक्षिप्त प्रतिक्रमण-सूत्र

इच्छामि=अभिलषामि,**प्रतिक्रमितुम्**=निर्वर्तितुम् (कस्य) **यो मया दैवसिकः**= दिवसेन निर्वृत्तो दिवसपरिमाणो वा दैवसिकः, **अतिचारः**=अतिचरणं अतिचारः अतिक्रम इत्यर्थः, **कृतः**=निर्वर्तितः (तस्य इति योगः)

(कतिविधः अतिचारः ?) **कायिकः**=कायेन शरीरेण निर्वृत्तः कायिकः कायकृत इत्यर्थः, **वाचिकः**=वाक्कृतः, **मानसिकः**=मनःकृतः ।

(पुनः किं स्वरूपः कायिको वाचिकश्च ?) **उत्सूत्रः**=ऊर्ध्वं सूत्राद् उत्सूत्रः सूत्रानुक्त इत्यर्थः, **उन्मार्गः**, **अकल्पः** **(ल्प्यः)**=कल्पो विधिः आचारः, न कल्पः अकल्पः, कल्प्यः—चरणकरणव्यापारः, न कल्प्यः अकल्प्यः, अकरणीयः ।

(मानसिकः किं स्वरूपः ?) **दुर्ध्यातः**=दुष्टो ध्यातः दुर्ध्यातः, **दुर्विचिन्तितः**, अनाचारः **अनेष्टव्यः**=मनागपि मनसाऽपि न प्रार्थनीयः, **अश्रमणप्रायोग्यः**=न श्रमणप्रायोग्यः श्रमणानुचित इत्यर्थः,

(किं विषयोऽतिचारः ?) **ज्ञाने तथा दर्शने चारित्रे**

(भेदेन वर्णयति) **श्रुते, सामायिके**

(सामायिकातिचारं भेदेनाह) **तिसृणां गुप्तीनां, चतुर्णां कषायाणां, पञ्चानां महाव्रतानां, षण्णां जीवनिकायानां, सप्तानां पिण्डैषणानां, अष्टानां प्रवचनमातॄणां, नवानां ब्रह्मचर्य गुप्तीनां, दशविधे श्रमण धर्मे श्रमणानां योगानाम्**=व्यापाराणाम्

यत्खण्डितं=देशतो भग्नं, **यद्विराधितं**=सुतरां भग्नम्, **तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम् !**

(७)

ऐर्यापथिक-सूत्र

इच्छामि प्रतिक्रमितुम्, **ईर्यापथिकायां विराधनायाम्** [योऽतिचार इति वाक्यशेषः]

गमनागमने, **प्राणाक्रमणे**=प्राण्याक्रमणे, **बीजाक्रमणे**, **हरिताक्रमणे**, **अवश्यया उत्तिङ्ग-पनक-दक-मृत्तिका-मर्कट-संतान-संक्रमणे** [सति इति वाक्यशेषः]

ये मया जीवा विराधिताः=दुःखेन स्थापिताः ।

एकेन्द्रियाः, **द्वीन्द्रिया**, **त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रियाः**, **पञ्चेन्द्रियाः**

अभिहताः=अभिमुखागता हताः, चरणेन घट्टिता, उत्क्षिप्य क्षिप्ता वा, **वर्तिताः**=पुञ्जीकृता, धूल्या वा स्थगिताः, **श्लेषिता**=पिष्टा, भूम्यादिषु वा लगिताः, **संघातिताः**=अन्योऽन्यं गात्रैरेकत्र लगिताः, **संघट्टिताः**=मनाक् स्पृष्टाः, **परितापिताः** समन्ततः पीडिताः,**क्लामिताः**=समुद्घातं नीताः, ग्लानिमापादिताः, **अवद्राविताः**=

उत्त्रासिताः, **स्थानात्स्थानान्तरं संक्रामिताः**=स्वस्थानात् परं स्थानं नीताः, **जीविताद् व्यपरोपिताः**=व्यापादिताः

तस्य=अतिचारस्य, **मिथ्या मम दुष्कृतम्।**

(८)

शय्या-सूत्र

इच्छामि प्रतिक्रमितुं प्रकामशय्यया=शयनं शय्या प्रकामं चातुर्यामं शयनं प्रकामशय्या तया, दीर्घकालशयनेन[1], **निकामशय्यया**=प्रतिदिवसं प्रकामशय्यैव निकामशय्या उच्यते तया, **उद्वर्तनया**=तत्प्रथमतया वामपार्श्वेन सुप्तस्य दक्षिणपार्श्वेन वर्तनम् उद्वर्तनम्, उद्वर्तनमेव उद्वर्तना तया, **परिवर्तनया**=पुनर्वामपार्श्वेनैव परिवर्तनम् तदेव परिवर्तना तया, **आकुञ्चनया**=हस्तपादादीनां सङ्कोचनया, **प्रसारणया**=हस्तपादादीनां विक्षेपणया, **षट्पदिकासंघट्टनया**=यूकानां स्पर्शनया—

कूजिते=अविधिना अयतनया कासिते सति, **कर्करायिते**=विषमेयमित्यादि-शय्यादोषोच्चारणे, **क्षुते**,=अविधिना जृम्भिते, **आमर्षे**=अप्रमृज्य करेण स्पर्शने, **सरजस्कामर्षे**=पृथिव्यादिरजसा सह **यद्** वस्तु स्पृष्टं तत्संपर्शे सति,—

आकुलाकुलया=स्त्र्यादिपरिभोगविवाहयुद्धादिसंस्पर्शननानाप्रकारया,, **स्वप्न-प्रत्ययया**=स्वप्ननिमित्तया, विराधनया **स्त्रीवैपर्यासिक्या**=स्त्रिया विपर्यासो अब्रह्म-सेवनं तस्मिन् भवा स्त्रीवैपर्यासिकी तया, **दृष्टिवैपर्यासिक्या**=स्त्रीदर्शनानुरागतस्तद-वलोकनं दृष्टिविपर्यासः तस्मिन् भवा दृष्टिवैपर्यासिकी तया, **मनोवैपर्यासिक्या**=मनसा अध्युपपातो मनोविपर्यासः तस्मिन् भवा मनोवैपर्यासिकी तया, **पानभोजनवैपर्या-सिक्या**=रात्रौ पानभोजनपरिभोग एव तद् विपर्यासः तस्मिन् भवा पानभोजन वैपर्या-सिकी तया [विराधनया इति शेषः सर्वत्र]

यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः
तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम्!

(९)

गोचरचर्या-सूत्र

प्रतिक्रमामि गोचरचर्यायां=गोश्चरणं गोचरः चरणं चर्या, गोचर इव चर्या गोचरचर्या तस्याम्, **भिक्षाचर्यायां**=भिक्षार्थं चर्या भिक्षाचर्या तस्याम्,

---

१. शेरतेऽस्यामिति वा शय्या संस्तारकादिलक्षणा प्रकामा उत्कटा शय्या प्रकामशय्या—संस्तारोत्तरपट्टकातिरिक्ता प्रावरणमधिकृत्य कल्पत्रयातिरिक्ता वा तया हेतुभूतया।

उद्घाटकपाटोद्घाटनया=उद्घाटं अदत्तार्गलं ईषत्स्थगितं वा कपाटम् तस्योद्घाटनं, तदेव उद्घाटकपाटोद्घाटना तया; **श्ववत्सदारकसंघट्टनया; मण्डी प्राभृतिकया**=पात्रान्तरेऽग्रकूरं कृत्वा यां प्राभृतिकां भिक्षां ददाति सा मण्डीप्राभृतिका तया, **बलिप्राभृतिकया**=चतुर्दिशं वन्हौ वा बलिं क्षिप्त्वा ददाति यत्सा बलिप्राभृतिका तया, **स्थापनाप्राभृतिकया**=भिक्षाचरार्थं स्थापिता स्थापनाप्राभृतिका तया—

शङ्किते=आधाकर्मादिदोषाणामन्यतमेन शङ्किते गृहीते सति, **सहसाकारे**=झटित्यकल्पनीये गृहीते सति,—

अनेषणया=अनेन प्रकारेण अनेषणया हेतुभूतया; **प्राणभोजनया**=प्राणिनो रसजादयः भोजने दध्योदनादौ विराध्यन्ते यस्यां प्राभृतिकायां सा प्राणिभोजना तया, **बीजभोजनया, हरितभोजनया, पश्चात्कर्मिकया**=पश्चाद्दानानन्तरं कर्म जलोज्झनादि यस्यां सा पश्चात्कर्मिका तया; **पुरःकर्मिकया**=पुरः आदौ कर्म यस्यां सा पुरः कर्मिका तया;**अदृष्टाहृतया**=अदृष्टोत्क्षेपनिक्षेपमानीतया **उदकसंसृष्टाहृतया**=जलसम्बद्धानीतया; **रजः संसृष्टाहृतया; पारिशाटनिकया**=परिशाटनं उज्झनं तस्मिन् भवा पारिशाटनिका तया; [1]**पारिष्ठापनिकया**=परिष्ठापनं प्रदानभाजनगतद्रव्यस्याऽन्यस्मिन् पात्रे उज्झनम् तेन निर्वृत्ता पारिष्ठापनिकी तया;अथवा परि सर्वैः प्रकारैः स्थापनं परिस्थापनमपुनर्ग्रहणतया न्यासः तेन निर्वृत्ता पारिष्ठापनिकी तया; **अवभाषणभिक्षया**=अवभाषणेन विशिष्ट द्रव्य-याचनेन लब्धा भिक्षा अवभाषणभिक्षा तया;

यद्=अशनादि **उद्गमेन** =आधाकर्मादिलक्षणेन; **उत्पादनया**=धात्र्यादिलक्षणया, एषणया, =शङ्कितादिलक्षणया; **अपरिशुद्धं परिगृहीतं परिभुक्तं वा, यत् न परिष्ठापितम्**=कथंचित्परिगृहीतमपि सदोषं भोजनं यन्नोज्झितम्, परिभुक्तमपि च भावतः अपुनः करणादिना प्रकारेण नोज्झितम्,

तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम्

(१०)

काल प्रतिलेखना-सूत्र

प्रतिक्रमामि चतुष्कालं=दिवसरात्रि-प्रथमचरमप्रहरेषु, **स्वाध्यायस्य**=सूत्रपौरुषीलक्षणस्य **अकरणतया**=अनासेवनतया हेतुभूतया [यो मया दैवसिकोऽतिचारः तस्य इति योगः]

उभयकालं=प्रथमपश्चिम पौरुषीलक्षणे काले; **भाण्डोपकरणस्य**=पात्रवस्त्रादेः **अप्रत्युपेक्षणया**=मूलत एव चक्षुषा अनिरीक्षणयाः;**दुष्प्रत्युपेक्षणया**=दुर्निरीक्षणलक्षणया; **अप्रमार्जनया**=मूलत एव रजोहरणादिनाऽस्पर्शनया, **दुष्प्रमार्जनया**=अविधिना प्रमार्जनया,

---

१. आचार्य हरिभद्र 'पारिस्थापनिकया' लिखते हैं ।

अतिक्रमे, व्यतिक्रमे, अतिचारे, अनाचारे,
यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः,
तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम् !

(११)
असंयम सूत्र

प्रतिक्रमामि एकविधे=एकप्रकारे **असंयमे** [=अविरतिलक्षणे सति अप्रतिषिद्ध-करणादिना यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृत इति गम्यते, तस्य मिथ्या दुष्कृतमिति सम्बन्धः । एवमन्यत्राऽपि योजना कार्या]

(१२)
बन्धन सूत्र

प्रतिक्रमामि द्वाभ्यां बन्धनाभ्याम्=हेतुभूताभ्याम् [योऽतिचारः कृतस्तस्मात]
(१) राग-बन्धनेन, (२) द्वेष-बन्धनेन !

(१३)
दण्ड सूत्र

प्रतिक्रमामि त्रिभिः दण्डैः=हेतुभूतैः [योऽतिचारस्तस्मात]
(१) मनोदण्डेन, (२) वचोदण्डेन (३) कायदण्डेन ।

(१४)
गुप्ति सूत्र

प्रतिक्रमामि तिसृभिः गुप्तिभिः=सम्यग् अपरिपालिताभिः हेतुभूताभिः
(१) मनोगुप्त्या, (२) वचोगुप्त्या, (३) कायगुप्त्या !

(१५)
शल्य सूत्र

प्रतिक्रमामि त्रिभिः शल्यैः :

(१) मायाशल्येन (२) निदानशल्येन (३) मिथ्यादर्शनशल्येन ।

(१६)
गौरव सूत्र

प्रतिक्रमामि त्रिभिः गौरवैः

(१) ऋद्धिगौरवेण, (२) रसगौरवेण, (३) सातगौरवेण

(१७)

विराधना सूत्र

प्रतिक्रमामि तिसृभिः विराधनाभिः,—

(१) ज्ञानविराधनया, (२) दर्शनविराधनया (२) चारित्रविराधनया।

(१८)

कषाय सूत्र

प्रतिक्रमामि चतुर्भिः कषायैः

(१) क्रोधकषायेण, (२) मानकषायेण
(३) मायाकषायेण, (४) लोभकषायेण।

(१९)

संज्ञा सूत्र

प्रतिक्रमामि चतुर्भिः संज्ञाभिः,

(१) आहारसंज्ञया, (२) भयसंज्ञया,
(३) मैथुनसंज्ञया, (४) परिग्रह-संज्ञया !

(२०)

विकथा सूत्र

प्रतिक्रमामि चतसृभिः विकथाभिः,—

(१) स्त्रीकथया (२) भक्तकथया,
(३) देशकथया (४) राजकथया !

(२१)

ध्यान सूत्र

प्रतिक्रमामि चतुर्भिः ध्यानैः, [अशुभैः कृतैः शुभैश्चाकृतैः]

(१) आर्तेन ध्यानेन, (२) रौद्रेण ध्यानेन
(३) धर्मेण ध्यानेन, (४) शुक्लेन ध्यानेन।

(२२)

क्रियासूत्र

प्रतिक्रमामि पञ्चभिः क्रियाभिः,—

(१) कायिक्या (२) आधिकरणिक्या
(३) प्राद्वेषिक्या (४) पारितापनिक्या, (५) प्राणातिपातक्रियया।

(२३)

कामगुण सूत्र

प्रतिक्रमामि पञ्चभिः कामगुणैः

(१) शब्देन (२) रूपेण, (३) गन्धेन, (४) रसेन (५) स्पर्शेन।

(२४)

महाव्रत सूत्र

प्रतिक्रमामि पञ्चभिः महाव्रतैः=सम्यगपरिपालितैः

(१) सर्वस्मात् प्राणातिपाताद् विरमणम् (२) सर्वस्माद् मृषावादाद् विरमणम् (३) सर्वस्माद् अदत्तादानाद् विरमणम् (४) सर्वस्माद् मैथुनाद् विरमणम्, (५) सर्वस्मात् परिग्रहाद् विरमणम्!

(२५)

समिति सूत्र

प्रतिक्रमामि पञ्चभिः समितिभिः=सम्यगपरिपालिताभिः

(१) ईर्यासमित्या, (२) भाषासमित्या, (३) एषणासमित्या, (४) आदान भाण्डमात्र निक्षेपणासमित्या, (७) उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिङ्घाण-जल्ल पारिष्ठापनिकासमित्या!

(२६)

जीवनिकाय सूत्र

प्रतिक्रमामि षड्भिः जीवनिकायैः [कथंचित्पीडितैः]

(१) पृथिवी कायेन, (२) अप्कायेन, (३) तेजः कायेन, (४) वायुकायेन (५) वनस्पतिकायेन (६) त्रसकायेन!

(२७)

लेश्या सूत्र

प्रतिक्रमामि षड्भिः लेश्याभिः=अशुभाभिः कृताभिः, शुभाभिरकृताभिः

(१) कृष्णलेश्यया, (२) नीललेश्यया (३) कापोतलेश्यया, (४) तेजोलेश्यया (५) पद्मलेश्यया (६) शुक्ललेश्यया।

(२८)

भयादि सूत्र

सप्तभिःभयस्थानैः, अष्टभिःमदस्थानैः, नवभिः ब्रह्मचर्यगुप्तिभिः [सम्यगपालिताभिः] दशविधे श्रमणधर्मे, एकादशभिः उपासकप्रतिमाभिः [अश्रद्धानवितथप्ररूपणाभिः] द्वादशभिः भिक्षुप्रतिमाभिः, त्रयोदशभिः क्रियास्थानैः, चतुर्दशभिः भूतग्रामैः [विराधितैः]; पञ्चदशभिः परमाधार्मिकैः [एतेषां पापकर्मानुमोदनाभिः]; षोडशभिः-गाथाषोडशैः=सूत्रकृताङ्गाद्यश्रुतस्कन्धाध्ययनैः [एषामविधिना पठनादिभिः] सप्तदशविधेऽसंयमे; अष्टादशविधेऽब्रह्मचर्ये; एकोनविंशत्या ज्ञाताध्ययनैः; विंशत्या असमाधिस्थानैः; एकविंशत्या शबलैः; द्वाविंशत्या परीषहैः [सम्यगसोढैः] त्रयोविंशत्या सूत्रकृताध्ययनैः; चतुर्विंशत्या देवैः; पञ्चविंशत्या भावनाभिः [अभाविताभिः]; षड्विंशत्या दशा-कल्प-व्यवहाराणामुद्देशनकालैः [अविधिना गृहीतैः]; सप्तविंशत्या अनगारगुणैः; अष्टाविंशत्या आचारप्रकल्पैः; एकोनत्रिंशता पापश्रुतप्रसङ्गैः [पापकारणश्रुतासेवनैः]; त्रिंशता मोहनीय-स्थानैः [कृतैः चिकीर्षितैर्वा]; एकत्रिंशता सिद्धादिगुणैः; द्वात्रिंशता योगसंग्रहैः [अननुशीलितैः]; त्रयस्त्रिंशता आशातनाभिः=अवज्ञाभिः—

(१) अर्हतामाशातनया, (२) सिद्धानामाशातनया, (३) आचार्याणामाशातनया, (४) उपाध्यायानामाशातनया, (५) साधूनामाशातनया, (६) साध्वीनामाशातनया, (७) श्रावकाणामाशातनया, (८) श्राविकाणामाशातनया, (९) देवानामाशातनया, (१०) देवीनामाशातनया, (११) इहलोकस्य आशातनया, (१२) परलोकस्य आशातनया, (१३) केवलिप्रज्ञप्तस्य धर्मस्य आशातनया, (१४) सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य आशातनया, (१५) सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्वानामाशातनया, (१६) कालस्य आशातनया, (१७) श्रुतस्य आशातनया, (१८) श्रुतदेवतायाः आशातनया, (१९) वाचनाचार्यस्य आशातनया, (२०) यद् व्याविद्धम्=विपर्यस्तम् (२१) व्यत्या म्रेडितम्=द्विस्त्रिरुक्तम् (२२) हीनाक्षरम्=त्यक्ताक्षरम्, (२३) अत्यक्षरम्=अधिकाक्षरम्, (२४) पदहीनम्, (२५) विनयहीनम् (२६) योगहीनम्=योगरहितम् (२७) घोषहीनम्, (२८) सुष्ठु दत्तम्, (२९) दुष्ठु प्रतीच्छितम्, (३०) अकाले कृतः स्वाध्यायः (३१) काले न कृतः स्वाध्यायः, (३२) अस्वाध्यायिके स्वाध्यायितम् (३३) स्वाध्यायिके न स्वाध्यायितम्।

यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः,

तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम्

(२९)

अन्तिम प्रतिज्ञा-सूत्र

नमः चतुर्विंशत्यै तीर्थंकरेभ्यः, ऋषभादि-महावीरपर्यवसानेभ्यः ।

इदमेव नैर्ग्रन्थ्यं प्रावचनम्=जिनशासनम् सत्यं, अनुत्तरं, कैवलिकं, प्रतिपूर्णं, नैयायिकं=मोक्षगमकं, संशुद्धं, शल्यकर्त्तनं, सिद्धिमार्गः, मुक्तिमार्गः, निर्याणमार्गः= मोक्षमार्गः, निर्वाणमार्गः=आत्यन्तिकसुखमार्गः, अवितथं, अविसन्धि=अव्यवच्छिन्नं, सर्वदुःखप्रहीणमार्गः ।

अत्र स्थिता जीवाः सिद्ध्यन्ति, बुद्ध्यन्ते, मुच्यन्ते, परिनिर्वान्ति, सर्वदुः—खाणामन्तं=विनाशं कुर्वन्ति ।

तं धर्मं श्रद्दधे, प्रतिपद्ये, रोचयामि, स्पृशामि, पालयामि, अनुपालयामि ।

तं धर्मं श्रद्दधानः, प्रतिपद्यमानः, रोचयन्, स्पृशन्, पालयन्, अनुपालयन् ।

तस्य धर्मस्य अभ्युत्थितोऽस्मि आराधनायां, विरतोऽस्मि विराधनायाम् ।

असंयमं परिजानामि, संयममुपसंपद्ये । अब्रह्म परिजानामि, ब्रह्म उपसंपद्ये । अकल्पं परिजानामि, कल्पमुपसंपद्ये । अज्ञानं परिजानामि, ज्ञानमुपसंपद्ये । अक्रियां परिजानामि, क्रियामुपसंपद्ये । मिथ्यात्वं परिजानामि, सम्यक्त्वमुपसंपद्ये । अबोधिं परिजानामि, बोधिमुपसंपद्ये । अमार्गं परिजानामि, मार्गमुपसंपद्ये ।

यत्स्मरामि, यच् च न स्मरामि । यत्प्रतिक्रमामि, यच् च न प्रतिक्रमामि । तस्य सर्वस्य दैवसिकस्य अतिचारस्य प्रतिक्रमामि ।

श्रमणोऽहम्, संयत—विरत—प्रतिहत—प्रत्याख्यात—पापकर्मा, अनिदानः, दृष्टि-सम्पन्नः, मायामृषाविवर्जितः ।

(१)

अर्ध - तृतीयेषु द्वीप--,
समुद्रेषु पञ्चदशसु कर्मभूमिषु ।
यावन्तः केऽपि साधवः,
रजोहरण-गोच्छप्रतिग्रहधराः !!

(२)

पञ्चमहाव्रतधराः,
अष्टादश-शीलाङ्ग - सहस्र-धरा !
अक्षताचार-चारित्राः,
तान् सर्वान् शिरसा मनसा मस्तकेन वन्दे !!

(३०)

क्षमापना-सूत्र

आचार्य —उपाध्याये,
शिष्ये साधर्मिके कुल-गणे च ।
ये मया केऽपि कषायाः,
सर्वान् त्रिविधेन क्षमयामि ॥

(२)

सर्वस्य श्रमण - सङ्घस्य,
भगवतोऽञ्जलिं कृत्वा शीर्षे ।
सर्वं क्षमयित्वा,
क्षाम्यामि सर्वस्य अहकमपि ॥

(३)

क्षमयामि सर्वान् जीवान्,
सर्वे जीवाः क्षाम्यन्तु मे ।
मैत्री मे सर्वभूतेषु,
वैरं मम न केनचित् ॥

(३१)

उपसंहार सूत्र

एवमहमालोच्य,
निन्दित्वा गर्हित्वा जुगुप्सित्वा सम्यक् ।
त्रिविधेन प्रतिक्रान्तो,
वन्दे जिनान् चतुर्विंशतिम् ॥ १ ॥

———

परिशिष्टानि

१

द्वादशावर्त गुरुवन्दन सूत्र

इच्छामि क्षमाश्रमण ! **वन्दितुम्**=नमस्कर्तुम् [भवन्तम्] **यापनीयया**=यथाशक्तियुक्तया, **नैषेधिक्या**=प्राणातिपातादिनिवृत्तया तन्वा अर्थात् शरीरेण । [अतएव]

अनुजानीत=अनुज्ञां प्रयच्छथ, **मे मितावग्रहं**=चतुर्दिशम् आत्मप्रमाणं भवदधिष्ठितप्रदेशम् [प्रवेष्टुमिति गम्यते]

निषेध्य=[सर्वाशुभव्यापारान्] **अधः कायं**=भवच्चरणं प्रति **कायसंस्पर्शम्**=ऊर्द्ध्वकायेन मस्तकेन संस्पर्शम्, [करोमि; एतच्च अनुजानीत इति वाक्यशेषः] **क्षमणीयः भवद्भिः क्लमः**=स्पर्शजन्यदेहग्लानिरूपः ।

अल्प-क्लान्तानां=ग्लानिरहितानाम् **बहुशुभेन**=प्रभूतसुखेन **भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तः**=निर्गतः ?

यात्रा=तपोनियमादिलक्षणा **भवतां** [कुशला वर्तते] ?

यापनीयं=इन्द्रियनोइन्द्रियैरबाधितं शरीरंच **भवतां** [कुशलं वर्तते] ?

क्षमयामि क्षमाश्रमण ! **दैवसिकं, व्यतिक्रमम्**=अपराधम् !

आवश्यिक्या=अवश्यकर्तव्यैश्चरणकरणयोगैः निर्वृत्ता आवश्यिकी क्रिया, तया हेतुभूतया यदसाधु कर्म अनुष्ठितं, तस्मात् **प्रतिक्रमामि**=निवर्त्तयामि ।

क्षमाश्रमणानां दैवसिक्या=दिवसेन निर्वृत्तया **आशातनया, त्रयस्त्रिंशदन्यतरया, यत् किंचनमिथ्यया**=यत्किंचित्कदालम्बनमाश्रित्य मिथ्यायुक्तेन कृतया ।

मनोदुष्कृतया=मनोजन्यदुष्कृतयुक्तया, **वचोदुष्कृतया**=असाधुवचननिमित्तया, **कायदुष्कृतया**=आसन्नगमनादिनिमित्तया—

क्रोधया=क्रोधवत्या क्रोधयुक्तया, **मानया**=मानवत्या मानयुक्तया, **मायया**=मायावत्या मायायुक्तया, **लोभया**=लोभवत्या लोभयुक्तया [क्रोधादिभिर्जनितया इत्यर्थः]

सर्वकालिक्या=इहभवाऽन्यभवातीताऽनागत सर्वकालेन निर्वृत्तया, **सर्वमिथ्योपचारया**=सर्वमिथ्याक्रियाविशेषयुक्तया, **सर्वधर्मातिक्रमणया**=अष्टप्रवचनमातृरूपसर्वधर्मलङ्घनयुक्तया, **आशातनया**=बाधया—**यो मया अतिचारः**=अपराधः **कृतः तस्य क्षमाश्रमण** ! **प्रतिक्रमामि**=अपुनः करणतया निवर्तयामि, **निन्दामि, गर्हे आत्मानं**=आशातनाकरणकालवर्तिनं दुष्टकर्मकारिणं अनुमतित्यागेन, **व्युत्सृजामि**=भृशं त्यजामि ।

२

प्रत्याख्यान सूत्र

(१)

नमस्कारसहित सूत्र

उद्‌गते सूर्ये नमस्कारसहितं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आहारम्—अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम्। अन्यत्र अनाभोगेन,[1] सहसाकारेण, व्युत्सृजामि।

(२)

पौरुषी सूत्र

उद्‌गते सूर्ये पौरुषीं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आहारम्—अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम्। अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, प्रच्छन्नकालेन, दिग्मोहन, साधुवचनेन, सर्वसमाधि-प्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि।

(३)

पूर्वार्द्ध सूत्र

उद्‌गते सूर्ये पूर्वार्द्धं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आहारम्-अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम्। अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, प्रच्छन्नकालेन, दिग्-मोहेन, साधुवचनेन, महत्तराकारेण, सर्वसमाधि-प्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि।

(४)

एकाशन सूत्र

एकाशनं प्रत्याख्यामि, त्रिविधमपि आहारम्-अशनं,खादिमं, स्वादिमम्। अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, सागारिकाकारेण, आकुञ्चन प्रसारणेन, गुर्वभ्युत्थानेन, पारिष्ठापनिकाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधि-प्रत्यया-कारेण व्युत्सृजामि।

(५)

एकस्थान सूत्र

एकस्थानं प्रत्याख्यामि, त्रिविधमपि आहारम्—अशनं, खादिमं, स्वादिमम्। अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, सागारिकाकारेण, गुर्वभ्युत्थानेन,

---

१. अत्र सर्वेषु आकारेषु पञ्चम्यर्थे तृतीया। अन्यत्र अनाभोगात्, सहसाकाराच्च, एतौ वर्जयित्वा इत्यर्थः।

पारिष्ठापनिकाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधिप्रत्याकारेण व्युत्सृजामि ।

(६)

आचाम्ल सूत्र

आचाम्लं प्रत्याख्यामि, अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, लेपालेपेन, उत्क्षिप्तविवेकेन, गृहस्थसंसृष्टेन, पारिष्ठापनिकाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधिप्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(७)

अभक्तार्थ=उपवास सूत्र

उद्गते सूर्ये अभक्तार्थं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आहारम्—अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, पारिष्ठापनिकाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधि-प्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(८)

दिवसचरिम-सूत्र

दिवसचरिमं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आहारम्—अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधिप्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(९)

अभिग्रह-सूत्र

अभिग्रहं प्रत्याख्यामि, चतुर्विधमपि आहारम्—अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम् । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधिप्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(१०)

निर्विकृति-सूत्र

विकृतीः प्रत्याख्यामि । अन्यत्र अनाभोगेन, सहसाकारेण, लेपालेपेन, गृहस्थसंसृष्टेन, उत्क्षिप्तविवेकेन, प्रतीत्यम्रक्षितेन, पारिष्ठापनिकाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधिप्रत्ययाकारेण व्युत्सृजामि ।

(११)

प्रत्याख्यानपारणा-सूत्र

उद्‌गते सूर्ये नमस्कारसहितं—प्रत्याख्यानं कृतम्, तत्प्रत्याख्यानं सम्यक् कायेन स्पृष्टं, पालितं, तीरितं, कीर्तितं, शोधितं, आराधितम्। यत् च न आराधितम्। तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

३

संस्तार-पौरुषी सूत्र

अनुजानीत परमगुरवः,
गुरुगुणरत्नैर्मण्डित-शरीराः ।
बहुप्रतिपूर्णा पौरुषी,
रात्रिके संस्तारके तिष्ठामि ॥ १॥

अनुजानीत संस्तारं,
बाहूपधानेन वामपार्श्वेन ।
कुक्कुटी-पादप्रसारणे,
ऽशक्नुवन् प्रमार्जयेद् भूमिम् ॥ २ ॥

सङ्कोच्य संदंशौ,
उद्वर्तमानश्च कायं प्रतिलिखेत् ।
द्रव्याद्युपयोगेन,
उच्छ्वासनिरोधेन आलोकं (कुर्यात्) ॥ ३ ॥

चत्वारो मङ्गलम्,
अर्हन्तो मङ्गलं, सिद्धा मङ्गलं, साधवो
मङ्गलं, केवलि-प्रज्ञप्तो धर्मो मङ्गलम् ॥ ४ ॥

चत्वारो लोकोत्तमाः,
अर्हन्तो लोकोत्तमाः, सिद्धा लोकोत्तमाः, साधवो
लोकोत्तमाः, केवलि-प्रज्ञप्तो धर्मो लोकोत्तमः ॥ ५ ॥

चतुरः शरणं प्रपद्ये,
अर्हतः शरणं प्रपद्ये, सिद्धान् शरणं प्रपद्ये, साधून्
शरणं प्रपद्ये, केवलि-प्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रपद्ये ॥ ६ ॥

यदि मे भवेत् प्रमादो
ऽस्य देहस्य अस्यां रजन्याम् ।
आहारमुपधिदेहं,
सर्वं त्रिविधेन व्युत्सृष्टम् ॥७॥
प्राणातिपातमलीकं,
चौर्यं मैथुनं द्रविणमूर्च्छाम् ।
क्रोधं मानं मायं
लोभं प्रेम तथा द्वेषम् ॥८॥
कलहमभ्याख्यानं,
पैशुन्यं रत्यरतिसमायुक्तम् ।
पर-परिवादं माया—
मृषां मिथ्यात्वशल्यं च ॥९॥
व्युत्सृज इमानि
मोक्षमार्गसंसर्ग - विघ्नभूतानि ।
दुर्गति-निबन्धनानि
अष्टादश पाप-स्थानानि ॥१०॥
एकोऽहं नास्ति मे कश्चित्,
नाऽहमन्यस्य कस्यचित् ।
एवमदीनमना
आत्मानमनुशास्ति ॥११॥
एको मे शास्वत आत्मा
ज्ञान - दर्शन - संयुतः ।
शेषा मे बाह्या भावाः,
सर्वे संयोग - लक्षणाः ॥१२॥
संयोग—मूला जीवेन
प्राप्ता दुःख — परम्परा ।
तस्मात् संयोग—सम्बन्धः,
सर्वः त्रिविधेन व्युत्सृष्टः ॥१३॥
क्षमित्वा क्षामयित्वा मयि क्षमध्वं
सर्वे जीव - निकायाः ।
सिद्धानां साक्ष्यया आलोचयामि,
मम वैरं न भावः ॥१४॥
सर्वे जीवाः कर्म-वशाः,
चतुर्दश—रज्जौ भ्राम्यन्तः ।

ते मया सर्वे क्षामिताः,
मयि अपि ते क्षाम्यन्तु ॥१५।
यद् यद् मनसा बद्धं,
यद् यद् वाचा भाषितं पापम्।
यद् यत् कायेन कृतं,
तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ॥१६॥
नमोऽर्हद्भ्यः
नमः सिद्धेभ्यः
नम आचार्येभ्यः
नम उपाध्यायेभ्यः
नमो लोके सर्व-साधुभ्यः ।
एष पञ्च - नमस्कारः
सर्व - पाप - प्रणाशनः ।
मङ्गलानां च सर्वेषां,
प्रथमं भवति मङ्गलम् ॥

४

शेष-सूत्र

(१)

सम्यक्त्व सूत्र

अर्हन् मम देवः,
यावज्जीवं सुसाधवः गुरवः ।
जिन— प्रज्ञप्तं तत्त्वं,
इति सम्यक्त्वं मया गृहीतम् ॥१॥

(२)

गुरु-गुण-स्मरण सूत्र

पञ्चेन्द्रिय - संवरणः,
तथा नवविध - ब्रह्मचर्यगुप्तिधरः ।
चतुर्विध - कषायमुक्तः,
इत्यष्टादशगुणैः संयुक्तः ॥१॥
पञ्चमहाव्रत - युक्तः,
पञ्चविधाचार-पालनसमर्थः ।
पञ्चसमितः त्रिगुप्तः,
षट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्मम ॥२॥

(३)

गुरुवन्दन सूत्र

त्रिकृत्वः
आदक्षिणं प्रदक्षिणां करोमि
वन्दे, नमस्यामि,
सत्करोमि, सम्मानयामि,
कल्याणं, मङ्गलम्,
दैवतं, चैत्यम्,
पर्युपासे
मस्तकेन वन्दे !

(४)

ऐर्यापथिक आलोचना सूत्र

इच्छाकारेण=निजेच्छया, न तु बलाभियोगेन
संदिशत भगवन् !
ईर्यापथिकीं प्रतिक्रमामि
इच्छामि........[1]

(५)

उत्तरीकरण सूत्र

तस्य=श्रामण्ययोगसंघातस्य कथंचित् प्रमादात् खण्डितस्य-विराधितस्य वा, उत्तरीकरणेन=पुनः संस्कारद्वारापरिष्करणेन, प्रायश्चित्तकरणेन, विशोधीकरणेन=अपराधमलिनस्यात्मनः प्रक्षालनेन, विशल्यीकरणेन,

पापानां कर्मणां निर्घातनार्थाय,
तिष्ठामि=करोमि कायोत्सर्गम्, =व्यापारवतः कायस्य परित्यागम् ॥१॥

(६)

आकार सूत्र

अन्यत्र उच्छ्वसितेन, निःश्वसितेन, कासितेन,
क्षुतेन, जृम्भितेन, उद्गारितेन, वातनिसर्गेण,
भ्रमर्या=भ्रम्या, पित्तमूर्च्छया ॥१॥

सूक्ष्मैःअङ्ग-सञ्चारैः,
सूक्ष्मैःखेल (श्लेष्म) सञ्चारैः,
सूक्ष्मैः दृष्टि-सञ्चारैः ॥ २ ॥

एवमादिभिः आकारैः=अपवादरूपैः, अभग्नः=न सर्वथा नाशितः,
अविराधितः=न देशतो नाशितः,
भवतु मे कायोत्सर्गः ॥ ३ ॥

[कियन्त कालं यावत् ?] यावद् अर्हतां भगवतां नमस्कारेण
न पारयामि ॥ ४ ॥

तावत् [तावन्तं काल] कायं स्थानेन, मौनेन, ध्यानेन,
आत्मानं=आत्मीयं, व्युत्सृजामि ॥ ५ ॥

---

१. अग्रेतनः पाठः श्रमणसूत्रान्तर्गतसप्तमैर्यापथिकसूत्रवद् ज्ञेयः ।

(७)

चतुर्विंशतिस्तव सूत्र

लोकस्योद्द्योतकरान्, धर्मतीर्थकरान् जिनान् ।
अर्हतः कीर्तयिष्यामि, चतुर्विंशतिमपि केवलिनः ॥ १ ॥

ऋषभमजितं च वन्दे, संभवमभिनन्दनं च सुमतिं च ।
पद्मप्रभं सुपार्श्वं, जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे ॥ २ ॥

सुविधिं च पुष्पदन्तं, शीतल-श्रेयांस-वासुपूज्यं च ।
विमलमनन्तं च जिनं, धर्मं शान्तिं च वन्दे ॥ ३ ॥

कुन्थुमरं च मल्लिं, वन्दे मुनिसुव्रतं नमिजिनं च ।
वन्दे अरिष्टनेमिं, पार्श्वं तथा वर्द्धमानं च ॥ ४ ॥

एवं मया अभिष्टुता, विधुतरजोमलाः प्रहीणजरामरणाः ।
चतुर्विंशतिरपि जिनवराः, तीर्थकरा मे प्रसीदन्तु ॥ ५ ॥

कीर्तित-वन्दित-महिताः, ये एते लोकस्योत्तमाः सिद्धाः ।
आरोग्य - बोधिलाभं, समाधिवरमुत्तमं ददतु ॥ ६ ॥

चन्द्रेभ्यो निर्मलतराः, आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकराः ।
सागरवरगम्भीराः, सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ॥ ७ ॥

(८)

प्रणिपात सूत्र

नमोऽस्तु अर्हद्भ्यः भगवद्भ्यः ॥ १ ॥
आदिकरेभ्यः, तीर्थकरेभ्यः, स्वयंसम्बुद्धेभ्यः ॥ २ ॥
पुरुषोत्तमेभ्यः पुरुषसिंहेभ्यः पुरुषवर-पुण्डरीकेभ्यः,
पुरुषवर-गन्धहस्तिभ्यः ॥ ३ ॥
लोकोत्तमेभ्यः, लोकनाथेभ्यः,
लोकहितेभ्यः, लोक-प्रदीपेभ्यः, लोकप्रद्योतकरेभ्यः ॥ ४ ॥
अभयदयेभ्यः,
चक्षुर्दयेभ्यः, मार्गदयेभ्यः, शरणदयेभ्यः,
जीवदयेभ्यः, बोधिदयेभ्यः ॥ ५ ॥
धर्मदयेभ्यः, धर्मदेशकेभ्यः, धर्मनायकेभ्यः,
धर्मसारथिभ्यः, धर्मवर-चतुरन्तचक्रवर्तिभ्यः ॥ ६ ॥
द्वीप-त्राण-शरण-गति-प्रतिष्ठारूपेभ्यः,
अप्रतिहत-वर-ज्ञान-दर्शनधरेभ्यः,
व्यावृत-च्छद्मभ्यः ॥ ७ ॥

जिनेभ्यःजापकेभ्यः तीर्णेभ्यः, तारकेभ्यः,
बुद्धेभ्यः, बोधकेभ्यः, मुक्तेभ्यः, मोचकेभ्यः ॥ ८ ॥
सर्वज्ञेभ्यः, सर्वदर्शिभ्यः, शिवमचल—
मरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्ति—
सिद्धिगति-नामधेयं स्थानं सम्प्राप्तेभ्यः,
नमो जिनेभ्यः, जितभयेभ्यः ॥ ६ ॥

६ | अतिचार आलोचना

ज्ञान-शुद्धि

साधनों के होते भी न ज्ञानाभ्यास किया स्वयं,
दूसरों को भी न यथायोग्यता कराया हो।
ज्ञान के नशे में चूर लड़ता-लड़ाता फिरा,
ज्ञानी जनों को न शीष सादर झुकाया हो॥
सूत्र और अर्थ नष्ट-भ्रष्ट किया घटा - बढ़ा,
तत्त्वशून्य तर्कणा में मस्तक लड़ाया हो।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
श्रेष्ठ ज्ञान - रत्न में जो दूषण लगाया हो॥

दर्शन-शुद्धि

वीतराग - वाणी पै न श्रद्धाभाव दृढ़ रक्खा,
फँस के कुतर्कजाल शंकाभाव लाया हो।
नानाविध पाखंडों के मोहक स्वरूप देख,
संसारी सुखों के प्रति चित्त ललचाया हो॥
धर्माचार - फल के सम्बन्ध में सशंक बना,
मन को पाखंडियों की पूजा में भ्रमाया हो।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
सम्यक्त्व-सुरत्न में जो दूषण लगाया हो॥

ईर्या-समिति

स्वच्छ, शुद्ध, श्रेष्ठजनगम्य राजमार्ग छोड़,
सूक्ष्म - जन्तु - पूरित कुपथ अपनाया हो।
दाएँ-बाएँ अच्छे-बुरे दृश्यों को लखाता चला,
नीची दृष्टि से न देख कदम उठाया हो॥
बात ी की बहार में विमुग्ध शून्य-चित्त बना,

तुच्छकाय कीटों पै गजेन्द्र-रूप धाया हो।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
गमनसमिति में जो दूषण लगाया हो॥

भाषा-समिति

पूज्य आप्त पुरुषों का गाया नहीं गुणगान,
यत्र-तत्र अपना ही कीर्तिगान गाया हो।
सर्वजन-हितकारी मीठे नहीं बोले बोल,
हँसी से या चुगली से कलह बढ़ाया हो॥
दूसरों के दोषों का जगत में ढिंढोरा पीटा,
वाणी के प्रताप हिंसा-चक्र भी चलाया हो।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
भाषण-समिति में जो दूषण लगाया हो॥

एषणा-समिति

उद्गमादि बयालीस भिक्षा-दोष टाले नहीं,
जैसा-तैसा खाद्य झट पात्र में भराया हो।
ताक-ताक ऊँचे-ऊँचे महलों में दौड़ा गया,
रंक-घर सूखी रोटी देख चकराया हो॥
जीवनार्थ भोजन का संयम-रहस्य भुला,
भोजनार्थ मात्र साधुजीवन बनाया हो।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
एषणा-समिति में जो दूषण लगाया हो॥

आदाननिक्षेप समिति

वस्त्र-पात्र-पुस्तकादि पडिलेहे—पूँजे विना,
देखे-भाले विना मन आया जहाँ बगाया हो।
देह में घुसाया भूत आलस्य विनाशकारी,
प्रतिलेखना का श्रेष्ठ काल बिसराया हो॥
संयम का शुद्ध मूलतत्व सुविवेक छोड़,
सूक्ष्म जीव जन्तुओं का जीवन नशाया हो।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
आदान-समिति में जो दूषण लगाया हो॥

उत्सर्ग (परिष्ठापना) समिति

परठने-योग्य कफ मल मूत्र आदि वस्तु,
आगमोक्त योग्य-भूमि में न परठाया हो।
भुक्तशेष अन्न-जल दूर ही से फेंक दिया,
सर्वथा असंयम का पथ अपनाया हो ॥
स्वच्छ, शान्त, स्वास्थ्यकारी स्थानों को बिगाड़ा हन्त,
जैनधर्म एवं साधु संघ को लजाया हो ।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
उत्सर्ग-समिति में जो दूषण लगाया हो ॥

मनोगुप्ति

व्यर्थ के अयोग्य नाना संकल्प-विकल्प जोड़—
तोड़, चित्त-चक्र अति चंचल डुलाया हो ।
किसी से बढ़ाया राग किसी से बढ़ाया द्वेष,
परोन्नति देख कभी ईर्ष्या-भाव आया हो ॥
विषय-सुखों की कल्पनाओं में फँसाके खूब,
संयम से दूर दुराचार में रमाया हो,
दैनिक 'अमर' सर्व पाप - दोष मिथ्या होवें,
श्रेष्ठ मनोगुप्ति में जो दूषण लगाया हो ॥

वचन-गुप्ति

बैठ जन - मण्डली में लम्बी-चौड़ी गप्प हाँक,
बातों ही में बहुमूल्य समय गँवाया हो।
बोला क्या वचन, बस वज्र-सा ही मार दिया,
दीन दुखियों पै खुला आतंक जमाया हो ॥
राज-देश-भक्त-नारी चारों विकथाएँ कह,
स्व - पर - विकार - वासनाओं को जगाया हो।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप - दोष मिथ्या होवें,
श्रेष्ठ वचोगुप्ति में जो दूषण लगाया हो ॥

काय-गुप्ति

भोगासक्ति रख नानाविध सुख-साधनों की,
मृदु कष्ट कातर स्वदेह को बनाया हो।

शुद्धता का भाव त्याग शृंगार का भाव धारा,
सादगी से ध्यान हटा फैशन सजाया हो ॥
अल्हड़पने में आ के यतना को गया भूल,
अस्त-व्यस्तता में किसी जीव को सताया हो ।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
श्रेष्ठ काय-गुप्ति में जो दूषण लगाया हो ॥

अहिंसा-महाव्रत

सूक्ष्म औ बादर त्रस-स्थावर समस्त प्राणी—
वर्ग, जिस-किसी भाँति ज़रा भी सताया हो ।
सुनते ही कटु-वाक्य अग्नि-ज्यों भभक उठा,
निन्दकों के प्रति घृणा-द्वेष-भाव लाया हो ॥
रोगी, दीन, दुखी छोटे-बड़े सभी प्राणियों से,
प्रेम-भरा बन्धुता का भाव न रखाया हो ।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
आद्य महाव्रत में जो दूषण लगाया हो ॥

सत्य-महाव्रत

हास्य-वश लम्बी-चौड़ी गढ़ के गढ़न्त झूठी,
औंधा-सीधा कोई भद्र प्राणी भरमाया हो ।
राज की, समाज की या प्राणों की विभीषिका से,
झूठ बोल जानते भी सत्य को छुपाया हो ॥
द्वेष-वश मिथ्या दोष लगा बदनाम किया,
सत्य भी अनर्थकारी भूल प्रगटाया हो ।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें
सत्य महाव्रत में जो दूषण लगाया हो ॥

अचौर्य-महाव्रत

अशन, वसन अथ अन्य उपयोगी वस्तु,
मालिक की आज्ञा बिना तृण भी उठाया हो ।
मानव-समाज की हा ! छाती पै का भार रहा,
विश्व-हित-हेतु स्वकर्तव्य न बजाया हो ॥
वृद्धों की, तपस्वियों की तथा नवदीक्षितों की,
रोगियों की सेवा से हरामी जी चुराया हो ।

दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
दत्त-महाव्रत में जो दूषण लगाया हो ॥

ब्रह्मचर्य-महाव्रत

विश्व की समस्त नारी माता भगिनी न जानी,
देखते ही सुन्दरी-सी युवती लुभाया हो।
वाताविद्ध हड़ के समान बना चल-चित्त,
काम - राग दृष्टिराग स्नेहराग छाया हो ॥
बार-बार पुष्टि-कर सरस आहार भोगा,
शान्त इन्द्रियों में भोगानल दहकाया हो।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
ब्रह्म-महाव्रत में जो दूषण लगाया हो ॥

अपरिग्रह-महाव्रत

विद्यमान वस्तुओं पै मूर्छना, अविद्यमान—
वस्तुओं की लालसा में मन को रमाया हो।
गच्छ-मोह, शिष्य-मोह, शास्त्र-मोह, स्थान-मोह,
अन्य भी देहादि-मोह जाल में फँसाया हो ॥
आवश्यकताएँ बढ़ा योग्यायोग साधनों से,
व्यर्थ ही अयुक्त वस्तु-संचय जुटाया हो।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
अन्त्य महाव्रत में जो दूषण लगाया हो ॥

अरात्रिभोजन-व्रत

अशनादि चारों ही आहार रात्रि-समय में,
जान या अजान स्वयं खाया हो, खिलाया हो।
'औषधी के खाने में तो कुछ भी नहीं है दोष',
प्राणमोही बन मिथ्या मन्तव्य चलाया हो ॥
रसना के चक्कर में आ के सुस्वादु खाद्य,
अग्रिम दिनार्थ वासी रक्खा हो, रखाया हो।
दैनिक 'अमर' सर्व पाप-दोष मिथ्या होवें,
निशाऽभुक्ति-व्रत में जो दूषण लगाया हो ॥

महाव्रत-भावना

पंच महाव्रत की न भावना पच्चीस पाली,
होकर अति सुखशील आतमा करली काली।
संयम की ले ओट खूब ही देह सँभाली,
ऊपर ढौंग विचित्र होगया अन्दर खाली॥
गत भूलों पर तीव्रतम,
पुनि-पुनि पश्चात्ताप है।
दुश्चरित्र मुनि संघ पर,
एक मात्र अभिशाप है॥

पच्चीस मिथ्यात्व

अपने मिथ्या मत का भी अति-आग्रह धारा,
लड़ा कुतर्कें स्पष्ट सत्य पर-मत धिक्कारा।
कभी ज्ञान तो कभी क्रिया एकान्त विचारा,
लोकाचार-विमूढ मोक्ष का मार्ग बिसारा।
पाँच-बीस मिथ्यात्व की,
करूँ अखिल आलोचना।
मनसा वचसा कर्मणा,
योग-शुद्धि की योजना॥

गुरुजनों का अविनय

पूजनीय गुरुजन की सेवा से मुख मोड़ा,
आदर-सत्कारादि भक्ति का बन्धन तोड़ा।
हित-शिक्षा नहिं ग्रही द्वेष से नाक सिकोड़ा,
बना घोर अविनीत 'अहं' से नाता जोड़ा।
हा! इस कलुषित कर्म पर
बार-बार धिक्कार है।
गुरु-सेवा ही मोक्ष का,
एक मात्र वर द्वार है॥

अष्टादश-पाप

पाप-पंक अष्टादश प्रतिपल,
आत्मा मलिन बनाते हैं।
भीम भयंकर भव-अटवी में,
भ्रान्त बना भटकाते हैं॥

पाप-शिरोमणि हिंसा से जग—
जीव नित्य भय खाते हैं।
मृषावाद से मानव जग में,
निज विश्वास गँवाते हैं॥
चौर्यवृत्ति अति ही अधमाधम,
निज-पर सब को दहती है।
मैथुनरत पुरुषों की बुद्धि,
निशदिन विकृत रहती है॥
संसृति-मूल परिग्रह भीषण,
ममताऽऽसक्ति बढ़ाता है।
आकुल-व्याकुल जीवन रहता,
आखिर नरक पठाता है॥
क्रोध मान से सज्जन जन भी,
झटपट बैरी हो जावें।
माया-लोभ अतल महासागर,
डूबे पार नहीं पावें॥
राग, द्वेष, कलह के कारण,
पामर नर-जीवन होता।
अभ्याख्यान पिशुनता का विष,
शान्ति-सुधा का रस खोता॥
पृष्ठ-मांस भक्षण-सी निन्दा,
फैले क्लेश परस्पर में।
रति-अरति से क्षण-क्षण बहता,
हर्ष-शोक-नद अन्तर में॥
मायामृषा खड्ग की धारा,
मधु-प्रलिप्त जहरीली है।
मिथ्या-दर्शन की तो अति ही,
घातक विकट पहेली है॥
भगवन्! ये सब पाप पुण्यरिपु,
स्वयं करे करवाए हों।
अथवा बन अनुमोदक स्तुति के,
गीत मुदित हो गाए हों॥
पूर्णरूप से कर आलोचन,
पाप-क्षेत्र से हटता हूँ।

अधः पतन के पथ को तज कर,
उन्नत पथ पर बढ़ता हूँ ॥

उपसंहार

पंच महाव्रत श्रेष्ठ मूल गुण मंगलकारी,
दशविध प्रत्याख्यान गुणोत्तर कलिमल हारी।
लगे अतिक्रम और व्यतिक्रम दूषण भारी,
आई हो अतिचार अनाचारों की बारी।
भूल-चूक जो भी हुई,
बार-बार निन्दा करूँ।
आगे आत्म-विशुद्धि के,
दृढ़ प्रयत्न सब आदरूँ।

७ | परमेष्ठि-वन्दन

अरिहंत-वन्दन

नमोऽत्थुणं अरिहंताणं, भगवंताणं, सव्वजगजीववच्छलाणं, सव्वजग-मंगलाणं, मोक्खमग्गदेसगाणं, अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं, जियरागदोस-मोहाणं, जिणाणं ।

राग-द्वेष महामल्ल घोर घनघातिकर्म,
नष्ट कर पूर्ण सर्वज्ञ-पद पाया है ।
शान्ति का सुराज्य समोसरण में कैसा सौम्य,
सिंहनी ने दुग्ध मृगशिशु को पिलाया है ॥
अज्ञानान्धकार-मग्न विश्व को दयार्द्र होके,
सत्य-धर्म-ज्योति का प्रकाश दिखलाया है ।
'अमर' सभक्तिभाव बार-बार वन्दनार्थ,
अरिहंत-चरणों में मस्तक झुकाया है ॥

सिद्ध-वन्दन

नमोऽत्थुणं, सिद्धाणं, बुद्धाणं, संसारसागरपारगयाणं, जम्मजरामरण-चक्कविप्पमुक्काणं, कम्ममलरहियाणं, अव्वाबाहसुहमुवगयाणं, सिद्धिट्ठाणं संपत्ताणं ।

जन्म-जरा-मरण के चक्र से पृथक् भये,
पूर्ण सत्य चिदानन्द शुद्ध रूप पाया है ।
मनसा अचिन्त्य तथा वचसा अवाच्य सदा,
क्षायक स्वभाव में निजातमा रमाया है ॥
संकल्प-विकल्प-शून्य निरंजन निराकार,
माया का प्रपंच जड़मूल से नशाया है ।
'अमर' सभक्तिभाव बार-बार वन्दनार्थ,
पूज्य सिद्ध-चरणों में मस्तक झुकाया है ॥

आचार्य-वन्दन

नमोऽत्थुणं आयरियाणं, नाणदंसणचरित्तरयाणं, गच्छमेढिभूयाणं, सागरवरगंभीराणं, सयपरसमयणिच्छियाणं, देस-काल-दक्खाणं।

आगमों के भिन्न-भिन्न रहस्यों के ज्ञाता ज्ञानी,
उग्रतम चारित्र का पथ अपनाया है।
पक्षपातता से शून्य यथायोग्य न्यायकारी,
पतितों को शुद्ध कर धर्म में लगाया है॥
सूर्य सा प्रचण्ड तेज प्रतिरोधी जावें झेंप,
संघ में अखंड जिन-शासन चलाया है।
'अमर' सभक्तिभाव बार-बार वन्दनार्थ,
गच्छाचार्य-चरणों में मस्तक झुकाया है॥

उपाध्याय वन्दन

नमोऽत्थुणं उवज्झायाणं अक्खयनाणसायराणं, धम्मसुत्तवायगाणं, जिणधम्मसम्माणसंरक्खणदक्खाणं, नयप्पमाणनिउणाणं, मिच्छत्तंधयार-दिवायराणं।

मन्द-बुद्धि शिष्यों को भी विद्या का अभ्यास करा,
दिग्गज सिद्धान्तवादी पंडित बनाया है।
पाखंडीजनों का गर्व खर्व कर जगत् में,
अनेकान्तता का जय-केतु फहराया है॥
शंका समाधान-द्वारा भविकों को बोध दे के,
देश-परदेश ज्ञान-भानु चमकाया है।
'अमर' सभक्तिभाव बार-बार वन्दनार्थ,
उपाध्याय-चरणों में मस्तक झुकाया है॥

साधु-वन्दन

नमोऽत्थुणं सव्वसाहूणं, अक्खलियसीलाणं, सव्वालंबणविप्पमुक्काणं, समसत्तुमित्तपक्खाणं, कलिमलमुक्काणं, उज्झियविसयकसायाणं, भावियजिणवयणमणाणं, तेल्लोक्कसुहावहाणं, पंचमहव्वयधराणं।

शत्रु और मित्र तथा मान और अपमान,
सुख और दुःख द्वैत-चिन्तन हटाया है।
मैत्री और करुणा समान सब प्राणियों पै,
क्रोधादि-कषाय-दावानल भी बुझाया है॥

ज्ञान एवं क्रिया के समान दृढ़ उपासक,
भीषण समर कर्म-चमू से मचाया है ।
'अमर' सभक्तिभाव बार-बार वन्दनार्थ,
त्यागी-मुनि-चरणों में मस्तक झुकाया है ॥

धर्मगुरु-वन्दन

नमोऽत्थुणं धम्मायरियाणं, धम्मदेसगाणं, संसारसागरतारगाणं, असंकिलिट्ठायारचरित्ताणं, सव्वसत्ताणुग्गहपरायणाणं, उवग्गहकुसलाणं ।

भीम-भव-वन से निकाला बड़ी कोशिशों से,
मोक्ष के विशुद्ध राजमार्ग पै चलाया है ।
संकट में धर्म-श्रद्धा ढीली-ढाली होने पर,
समझा-बुझा के दृढ़ साहस बँधाया है ।
कटुता का नहीं लेश सुधा-सी सरस वाणी,
धर्म-प्रवचन नित्य प्रेम से सुनाया है ।
'अमर' सभक्तिभाव बार-बार वन्दनार्थ,
धर्मगुरु-चरणों में मस्तक झुकाया है ।

८ | बोल संग्रह

(१)

प्रतिलेखना की विधि

(१) **उड्ढं**—उकडू आसन से बैठकर वस्त्र को भूमि से ऊँचा रखते हुए प्रतिलेखना करनी चाहिए।

(२) **थिरं**—वस्त्र को दृढ़ता से स्थिर रखना चाहिए।

(३) **अतुरियं**—उपयोग-शून्य होकर जल्दी-जल्दी प्रतिलेखना नहीं करना चाहिए।

(४) **पडिलेहे**—वस्त्र के तीन भाग करके उसको दोनों ओर से अच्छी तरह देखना चाहिए।

(५) **पप्फोडे**—देखने के बाद यतना से धीरे-धीरे झड़काना चाहिए।

(६) **पमज्जिज्जा**—झड़काने के बाद वस्त्र आदि पर लगे हुए जीव को यतना से प्रमार्जन कर हाथ में लेना तथा एकान्त में यतना से परठना चाहिए।

(उत्तराध्ययन २६ वाँ अध्ययन)

(२)

अप्रमाद-प्रतिलेखना

(१) **अनर्तित**—प्रतिलेखना करते हुए शरीर और वस्त्र आदि को इधर-उधर नचाना न चाहिए।

(२) **अवलित**—प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र कहीं से मुड़ा हुआ न होना चाहिए। प्रतिलेखना करने वाले को भी अपने शरीर को बिना मोड़े सीधे बैठना चाहिए। अथवा प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र और शरीर को चंचल न रखना चाहिए।

(३) **अननुबन्धी**—वस्त्र को अयतना से झड़काना नहीं चाहिए।

(४) **अमोसली**—धान्यादि कूटते समय ऊपर, नीचे और तिरछा लगने वाले मूसल की तरह प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे या तिरछा दीवार आदि से न लगाना चाहिए।

(५) **षट् पुरिमनवस्फोटका**—(छः पुरिमा नव खोडा) प्रतिलेखना में छः पुरिम और नव खोड करने चाहिएँ। वस्त्र के दोनों हिस्सों को तीन-तीन बार खंखेरना, छः पुरिम हैं तथा वस्त्र को तीन-तीन बार पूंज कर उसका तीन बार शोधन करना, नव खोड हैं।

(६) **पाणि-प्राण विशोधन**—वस्त्र आदि पर कोई जीव देखने में आए तो उसका यतनापूर्वक अपने हाथ से शोधन करना चाहिए।

(ठाणांग सूत्र)

(३)

प्रमाद-प्रतिलेखना

(१) **आरभटा**—विपरीत रीति से अथवा शीघ्रता से प्रतिलेखना करना। अथवा एक वस्त्र की प्रतिलेखना बीच में अधूरी छोड़कर दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना करने लग जाना, वह आरभटा प्रतिलेखना है।

(२) **सम्मर्दा**—जिस प्रतिलेखना में वस्त्र के कोने मुड़े ही रहें अर्थात् उसकी सलवट न निकाली जाय, वह सम्मर्दा प्रतिलेखना है। अथवा प्रतिलेखना के उपकरणों पर बैठकर प्रतिलेखना करना, सम्मर्दा प्रतिलेखना है।

(३) **मोसली**—जैसे धान्य कूटते समय मूसल ऊपर, नीचे और तिरछे लगता है, उसी प्रकार प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे अथवा तिरछा लगाना, मोसली प्रतिलेखना है।

(४) **प्रस्फोटना**—जिस प्रकार धूल से भरा हुआ वस्त्र जोर से झड़काया जाता है, उसी प्रकार प्रतिलेखना के वस्त्र को जोर से झड़काना, प्रस्फोटना प्रतिलेखना है।

(५) **विक्षिप्ता**—प्रतिलेखना किए हुए वस्त्रों को बिना प्रतिलेखना किए हुए वस्त्रों में मिला देना, विक्षिप्ता प्रतिलेखना है। अथवा प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र के पल्ले आदि को इधर-उधर फेंकते रहना, विक्षिप्ता प्रतिलेखना है।

(६) **वेदिका**—प्रतिलेखना करते समय घुटनों के ऊपर, नीचे या पसवाड़े हाथ रखना, अथवा दोनों घुटनों या एक घुटने को भुजाओं के बीच रखना, वेदिका प्रतिलेखना है।

(ठाणांग सूत्र)

(४)

आहार करने के छह कारण

(१) **वेदना**—क्षुधा वेदना की शान्ति के लिए।

(२) **वैयावृत्य**—सेवा करने के लिए।

(३) **ईर्यापथ**—मार्ग में गमनागमन आदि की शुद्ध प्रवृत्ति के लिए।

(४) संयम—संयम की रक्षा के लिए।

प्राणप्रत्ययार्थ—प्राणों की रक्षा के लिए।

(६) धर्मचिन्ता—शास्त्राध्ययन आदि धर्म चिन्तन के लिए।

(उत्तराध्ययन २६ वाँ अध्ययन)

(५)

आहार त्यागने के छह कारण

(१) आतङ्क—भयंकर रोग से ग्रस्त होने पर।

(२) उपसर्ग—आकस्मिक उपसर्ग आने पर।

(३) ब्रह्मचर्यगुप्ति—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए।

(४) प्राणिदया—जीवों की दया के लिए।

(५) तप—तप करने के लिए।

(६) संलेखना—अन्तिम समय संथारा करने के लिए।

(उत्तराध्ययन २६ वाँ अध्ययन)

(६)

शिक्षाभिलाषी के आठ गुण

(१) शान्ति—शान्त रहे, हँसी मजाक न करे।

(२) इन्द्रियदमन—इन्द्रियों पर नियंत्रण रक्खे।

(३) स्वदोषदृष्टि—दूसरों के दोष न देख कर अपने ही दोष देखे।

(४) सदाचार—सदाचार का पालन करे।

(५) ब्रह्मचर्य—काम-वासना का त्याग करे।

(६) अनासक्ति—विषयों में अनासक्त रहे।

(७) सत्याग्रह—सत्य ग्रहण के लिए सन्नद्ध रहे।

(८) सहिष्णुता—सहनशील रहे, क्रोध न करे।

(७)

उपदेश देने योग्य आठ बातें

(१) शान्ति—अहिंसा एवं दया।

(२) विरति—पापाचार से विरक्ति।

(३) उपशम—कषाय विजय।

(४) निर्वृत्ति—निर्वाण, आत्मिक शान्ति।

(५) **शौच**—मानसिक पवित्रता, दोषों का त्याग ।

(६) **आर्जव**—सरलता, दंभ का त्याग ।

(७) **मार्दव**—कोमलता, दुराग्रह का त्याग ।

(८) **लाघव**—परिग्रह का त्याग, अनासक्त रहना ।

(८)

भिक्षा की नौ कोटियाँ

(१) आहारार्थ स्वयं जीवहिंसा न करे ।

(२) दूसरों के द्वारा हिंसा न कराए ।

(३) हिंसा करते हुओं का अनुमोदन न करे ।

(४) आहारादि स्वयं न पकावे ।

(५) दूसरों से न पकवावे ।

(६) पकाते हुओं का अनुमोदन न करे ।

(७) आहार स्वयं न खरीदे ।

(८) दूसरों से न खरीदवावे ।

(९) खरीदते हुओं का अनुमोदन न करे ।

उपर्युक्त सभी कोटियाँ मन, वचन और कायरूप तीनों योगों से हैं। इस प्रकार कुल भंग सत्ताईस होते हैं ।

(९)

रोग की उत्पत्ति के नौ कारण

(१) **अत्यासन**—अधिक बैठे रहने से ।

(२) **अहितासन**—प्रतिकूल आसन से बैठने पर ।

(३) **अतिनिद्रा**—अधिक नींद लेने से ।

(४) **अतिजागरित**—अधिक जागने से

(५) **उच्चारनिरोध**—बड़ी नीति (टट्टी) की बाधा रोकने से ।

(६) **प्रस्रवणनिरोध**—लघुनीति (पेशाब) रोकने से ।

(७) **अतिगमन**—मार्ग में अधिक चलने से ।

(८) **प्रतिकूलभोजन**—प्रकृति के प्रतिकूल भोजन करने से ।

(९) **इन्द्रियार्थविकोपन**—विषयासक्ति अधिक रखने से ।

(१०)

समाचारी के दश प्रकार

(१) **इच्छाकार**—यदि आपकी इच्छा हो तो मैं अपना अमुक कार्य करूँ, अथवा आप चाहें तो मैं आप का यह कार्य करूँ ? इस प्रकार पूछने को इच्छाकार कहते हैं। एक साधु दूसरे से किसी कार्य के लिए प्रार्थना करे अथवा दूसरा साधु स्वयं उस कार्य को करे तो उसमें इच्छाकार कहना आवश्यक है। इससे किसी भी कार्य में किसी भी प्रकार का बलाभियोग नहीं रहता।

(२) **मिथ्याकार**—संयम का पालन करते हुए कोई विपरीत आचरण हो जाए, तो उस पाप के लिए पश्चात्ताप करता हुआ साधु '**मिच्छामि दुक्कडं**' कहे, यह मिथ्याकार है।

(३) **तथाकार**—गुरुदेव की ओर से किसी प्रकार की आज्ञा मिलने पर अथवा उपदेश देने पर तहत्ति (जैसा आप कहते हैं वही ठीक है) कहना, तथाकार है।

(४) **आवश्यिकी**—आवश्यक कार्य के लिए उपाश्रय से बाहर जाते समय साधु को 'आवस्सिया' कहना चाहिए—अर्थात् मैं आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाता हूँ।

(५) **नैषेधिकी**—बाहर से वापस आकर उपाश्रय में प्रवेश करते समय 'निसीहिया' कहना चाहिए। इसका अर्थ है--अब मुझे बाहर रहने का कोई काम नहीं रहा है।

(६) **आपृच्छना**—किसी कार्य में प्रवृत्ति करनी हो तो पहले गुरुदेव से पूछना चाहिए कि—'क्या मैं यह कार्य कर लूं ?' यह आपृच्छना है।

(७) **प्रतिपृच्छना**—गुरुदेव ने पहले जिस काम का निषेध कर दिया हो, यदि आवश्यकतावश वही कार्य करना हो तो गुरुदेव से पुनः पूछना चाहिए कि "भगवन् ! आपने पहले इस कार्य का निषेध कर दिया था, परन्तु यह अतीव आवश्यक कार्य है; अतः आप आज्ञा दें तो यह कार्य कर लूं ?" इस प्रकार पुनः पूछना, प्रतिपृच्छना है।

(८) **छन्दना**—स्वयं लाए हुए आहार के लिए साधुओं को आमंत्रण देना कि—'यह आहार लाया हूँ, यदि आप भी इसमें से कुछ ग्रहण करें तो मैं धन्य होऊँगा।'

(९) **निमंत्रणा**—आहार लाने के लिए जाते हुए दूसरे साधुओं को निमंत्रण देना, अथवा यह पूछना कि क्या आपके लिए भी आहार लेता आऊँ ?

(१०) **उपसंपदा**—ज्ञान आदि प्राप्त करने के लिए अपना गच्छ छोड़कर किसी विशेष-ज्ञान वाले गुरु का आश्रय लेना, उपसंपदा है। गच्छ-मोह में पड़े रह

कर ज्ञानादि उपार्जन करने के लिए दूसरे योग्य गच्छ का आश्रय न लेना, उचित नहीं है।

(भगवती, शत० २५, ३ ७)

(११)

साधु के योग्य चौदह प्रकार का दान

(१) **अशन**—खाए जाने वाले पदार्थ रोटी आदि।

(२) **पान**—पीने योग्य पदार्थ, जल आदि।

(३) **खादिम**—मिष्टान्न, मेवा आदि सुस्वादु पदार्थ।

(४) **स्वादिम**—मुख की स्वच्छता के लिए, लौंग सुपारी आदि।

(५) **वस्त्र**—पहनने योग्य वस्त्र।

(६) **पात्र**—काठ, मिट्टी और तुम्बे के बने हुए पात्र।

(७) **कम्बल**—ऊन आदि का बना हुआ कम्बल।

(८) **पादप्रोञ्छन**—रजोहरण, ओघा।

(९) **पीठ**—बैठने योग्य चौकी आदि।

(१०) **फलक**—सोने योग्य पट्टा आदि।

(११) **शय्या**—ठहरने के लिए मकान आदि।

(१२) **संथारा**—बिछाने के लिए घास आदि।

(१३) **औषध**—एक ही वस्तु से बनी हुई औषधि।

(१४) **भेषज**—अनेक चीजों के मिश्रण से बनी हुई औषधि।

ऊपर जो चौदह प्रकार के पदार्थ बताए गए हैं, इनमें प्रथम के आठ पदार्थ तो दानदाता से एक बार लेने के बाद फिर वापस नहीं लौटाए जाते। शेष छह पदार्थ ऐसे हैं, जिन्हें साधु अपने काम में लाकर वापस लौटा भी देते हैं। [आवश्यक]

(१२)

कायोत्सर्ग के उन्नीस दोष

घोडग[१] लया[२] य खंभे कुड्डे[३] माले[४] य सबरि[५] बहु[६] नियले[७]।
लंबुत्तर[८] घण[९] उड्ढी[१०] संजय[११] खलिणे[१२] य वायस[१३] कविट्ठे[१४]॥
सीसोकंपिय[१५] मूई[१६] अंगुलि-भमुहा[१७] य वारुणी[१८] पेहा[१९]।
एए काउसग्गे हवंति दोसा इगुणवीसं॥

(१) घोटक दोष—घोड़े की तरह एक पैर को मोड़कर खड़े होना।

(२) लता दोष—पवन-प्रकंपित लता की तरह काँपना ।

(३) स्तंभकुड्य दोष—खंभे या दीवाल का सहारा लेना।

(४) माल दोष—माल अर्थात् ऊपर की ओर किसी के सहारे मस्तक लगा कर खड़े होना ।

(५) शबरी दोष—नग्न भिल्लनी के समान दोनों हाथ गुह्य स्थान पर रखकर खड़े होना ।

(६) वधू दोष—कुल-वधू की तरह मस्तक झुकाकर खड़े होना ।

(७) निगड दोष—बेड़ी पहने हुए पुरुष की तरह दोनों पैर फैला कर अथवा मिलाकर खड़े होना ।

(८) लम्बोत्तर दोष—अविधि से चोलपट्ट को नाभि के ऊपर और नीचे घुटने तक लम्बा करके खड़े होना ।

(९) स्तन दोष—मच्छर आदि के भय से अथवा अज्ञानता वश छाती ढककर कायोत्सर्ग करना ।

(१०) उद्धिका दोष—एड़ी मिला कर और पंजों को फैलाकर खड़े रहना, अथवा, अँगूठे मिलाकर और एड़ी फैलाकर खड़े रहना, उद्धिका दोष है ।

(११) संयती दोष—साध्वी की तरह कपड़े से सारा शरीर ढँक कर कायोत्सर्ग करना ।

(१२) खलीन दोष—लगाम की तरह रजोहरण को आगे रख कर खड़े होना । अथवा लगाम से पीड़ित अश्व के समान मस्तक को कभी ऊपर कभी नीचे हिलाना, खलीन दोष है ।

(१३) वायस दोष—कौवे की तरह चंचल चित्त होकर इधर-उधर आँखें घुमाना अथवा दिशाओं की ओर देखना ।

(१४) कपित्थ दोष—षट्पदिका (जूँ) के भय से चोलपट्ट को कपित्थ की तरह गोलाकार बना कर जंघाओं के बीच दबाकर खड़े होना । अथवा मुट्ठी बाँधकर खड़े रहना, कपित्थ दोष है ।

(१५) शीर्षोत्कम्पित दोष—भूत लगे हुए व्यक्ति की तरह सिर धुनते हुए खड़े रहना ।

(१६) मूक दोष—मूक अर्थात् गूँगे आदमी की तरह 'हूँ हूँ' आदि अव्यक्त शब्द करना ।

(१७) अंगुलिका भ्रू दोष—आलापकों को अर्थात् पाठ की आवृत्तियों को गिनने के लिए अँगुली हिलाना, तथा दूसरे व्यापार के लिए भौंह चला कर संकेत करना ।

(१८) **वारुणी दोष**—जिस प्रकार तैयार की जाती हुई शराब में से बुड़-बुड़ शब्द निकलता है, उसी प्रकार अव्यक्त शब्द करते हुए खड़े रहना अथवा शराबी की तरह झूमते हुए खड़े रहना।

(१९) **प्रेक्षा दोष**—पाठ का चिन्तन करते हुए बानर की तरह ओठों को चलाना। [प्रवचनसारोद्धार]

योग शास्त्र के तृतीय प्रकाश में श्री हेमचन्द्राचार्य ने कायोत्सर्ग के इक्कीस दोष बतलाए हैं। उनके मतानुसार स्तंभ दोष, कुड्य दोष, अंगुली दोष और भ्रू दोष चार हैं; जिनका ऊपर स्तम्भकुड्य दोष और अंगुलिकाभ्रू दोष नामक दो दोषो में समावेश किया गया है।

(१३)

साधु की ३१ उपमाएँ

(१) उत्तम एवं स्वच्छ कांस्य पात्र जैसे जल-मुक्त रहता है, उस पर पानी नहीं ठहरता है, उसी प्रकार साधु भी सांसारिक स्नेह से मुक्त होता है।

(२) जैसे शंख पर रंग नहीं चढ़ता, उसी प्रकार साधु राग-भाव से रंजित नहीं होता।

(३) जैसे कछुवा चार पैर और एक गर्दन इन पांचों अवयवों को संकोच कर, खोपड़ी मे छुपाकर सुरक्षित रखता है, उसी प्रकार साधु भी संयम क्षेत्र में पाँचों इन्द्रियों का गोपन करता है, उन्हें विषयो की ओर बहिर्मुख नहीं होने देता।

(४) निर्मल सुवर्ण जैसे प्रशस्त रूपवान् होता है, उसी प्रकार साधु भी रागादि का नाश कर प्रशस्त आत्मस्वरूप वाला होता है।

(५) जैसे कमल-पत्र जल से निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार साधु अनुकूल विषयों में आसक्त न होता हुआ उनसे निर्लिप्त रहता है।

(६) चन्द्र जैसे सौम्य (शीतल) होता है, उसी प्रकार साधु स्वभाव से सौम्य होता है। शान्त-परिणामी होने से किसी को क्लेश नहीं पहुँचाता।

(७) सूर्य जैसे तेज से दीप्त होता है, उसी प्रकार साधु भी तप के तेज से दीप्त रहता है।

(८) जैसे सुमेरु पर्वत स्थिर है, प्रलयकाल में भी चलित नहीं होता, उसी प्रकार साधु संयम में स्थिर रहता हुआ अनुकूल तथा प्रतिकूल किसी भी परीषह से विचलित नहीं होता।

(९) जिस प्रकार समुद्र गम्भीर होता है, उसी प्रकार साधु भी गम्भीर होता है, हर्ष और शोक के कारणों से चित्त को चंचल नहीं होने देता।

(१०) जिस प्रकार पृथ्वी सभी बाधा पीड़ाएँ सहती है, उसी प्रकार साधु भी सभी प्रकार के परीषह एवं उपसर्ग सहन करता है।

(११) राख की झाँई आने पर भी अग्नि जैसे अन्दर प्रदीप्त रहती है और बाहर से मलिन दिखाई देती है; उसी प्रकार साधु तप से कृश होने के कारण बाहर म्लान दिखाई देता है, किन्तु अन्तर में शुभ भावना के द्वारा प्रकाशमान रहता है।

(१२) घी से सींची हुई अग्नि जैसे तेज से देदीप्यमान होती है, उसी प्रकार साधु ज्ञान एवं तप के तेज से दीप्त रहता है।

(१३) गोशीर्ष चन्दन जैसे शीतल तथा सुगन्धित होता है, उसी प्रकार साधु कषायों से उपशान्त होने से शीतल तथा शील की सुगन्ध से वासित होता है।

(१४) हवा न चलने पर जैसे जलाशय की सतह सम रहती है, ऊँची-नीची नहीं होती; उसी प्रकार साधु भी समभाव वाला होता है। सम्मान हो अथवा अपमान, उसके विचारों में चढ़ाव-उतार नहीं होता।

(१५) सम्मार्जित एवं स्वच्छ दर्पण जिस प्रकार प्रतिबिम्ब-ग्राही होता है, उसी प्रकार साधु माया रहित होने के कारण शुद्धहृदय होता है, शास्त्रों के भावों को पूर्णतया ग्रहण करता है।

(१६) जिस प्रकार हाथी रणाङ्गण में अपना दृढ़ शौर्य दिखाता है, उसी प्रकार साधु भी परीषहरूप सेना के साथ युद्ध में अपूर्व आत्मशौर्य प्रकट करता है एवं विजय प्राप्त करता है।

(१७) वृषभ जैसे धोरी होता है, शकट-भार को पूर्णतया वहन करता है, उसी प्रकार साधु भी ग्रहण किए हुए व्रत नियमों का उत्साहपूर्वक निर्वाह करता है।

(१८) जिस प्रकार सिंह महाशक्तिशाली होता है, फलतः वन के अन्य मृगादि पशु उसे हरा नहीं सकते; उसी प्रकार साधु भी आध्यात्मिक शक्तिशाली होते हैं, परीषह उन्हें पराभूत नहीं कर सकते।

(१९) शरद ऋतु का जल जैसे निर्मल होता है उसी प्रकार साधु का हृदय भी शुद्ध=रागादि मल से रहित होता है।

(२०) जिस प्रकार भारण्ड पक्षी अहर्निश अत्यन्त सावधान रहता है, तनिक भी प्रमाद नहीं करता; इसी प्रकार साधु भी सदैव संयमानुष्ठान में सावधान रहता है, कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं करता।

(२१) जैसे गैंडे के मस्तक पर एक ही सींग होता है, उसी प्रकार साधु भी राग-द्वेष रहित होने से एकाकी होता है, किसी भी व्यक्ति एवं वस्तु में आसक्ति नहीं रखता।

(२२) जैसे स्थाणु (वृक्ष का ठूँठ) निश्चल खड़ा रहता है उसी प्रकार साधु भी कायोत्सर्ग आदि के समय निश्चल एवं निष्प्रकंप खड़ा रहता है।

(२३) सूने घर में जैसे सफाई एवं सजावट आदि के संस्कार नहीं होते, उसी प्रकार साधु भी शरीर का संस्कार नहीं करता। वह बाह्य शोभा एवं शृङ्गार का त्यागी होता है।

(२४) जिस प्रकार निर्वात (वायु से रहित) स्थान में रहा हुआ दीपक स्थिर रहता है, कंपित नहीं होता, उसी प्रकार साधु भी एकान्त स्थान में रहता हुआ उपसर्ग आने पर भी शुभ ध्यान से चलायमान नहीं होता।

(२५) जैसे उस्तरे के एक ओर ही धार होती है, वैसे ही साधु भी त्याग-रूप एक ही धारा वाला होता है।

(२६) जैसे सर्प एक-दृष्टि होता है अर्थात् लक्ष्य पर एक टक दृष्टि जमाए रहता है, उसी प्रकार साधु भी अपने मोक्ष रूप ध्येय के प्रति ही ध्यान रखता है, अन्यत्र नहीं।

(२७) आकाश जैसे निरालम्ब=आधार से रहित है, उसी प्रकार साधु भी कुल, ग्राम, नगर, देश आदि के आलम्बन से रहित अनासक्त होता है।

(२८) पक्षी जैसे सब तरह से स्वतन्त्र होकर विहार करता है, वैसे ही निष्परिग्रही साधु भी स्वजन आदि तथा नियतवास आदि के बन्धनों से मुक्त होकर स्वतन्त्र विहार करता है।

(२९) जिस प्रकार सर्प स्वयं घर नहीं बनाता, किन्तु चूहे आदि दूसरों के बनाये बिलों में जाकर निवास करता है, उसी प्रकार साधु भी स्वयं मकान नहीं बनाता, किन्तु गृहस्थों के अपने लिये बनाए गए मकानों में उनकी आज्ञा प्राप्त कर निवास करता है।

(३०) वायु की गति जैसे प्रतिबन्ध से रहित अव्याहत है, उसी प्रकार साधु भी बिना किसी प्रतिबन्ध के स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करता है।

(३१) मृत्यु के बाद परभव में जाते हुए जीव की गति में जैसे कोई रुकावट नहीं होती, उसी प्रकार स्व पर सिद्धान्त का जानकार साधु भी निःशङ्क होकर विरोधी अन्य-तीर्थिकों के देशों में धर्म प्रचार करता हुआ विचरता है। (औपपातिक सूत्र)

(१४)

बत्तीस अस्वाध्याय

बत्तीस अस्वाध्यायों का वर्णन स्थानाङ्ग सूत्र में है। वह इस प्रकार है—दश आकाश सम्बन्धी, दश औदारिक सम्बन्धी, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदाओं के पूर्व की पूर्णिमाएँ, और चार सन्ध्याएँ। अन्य ग्रन्थों में कुछ मतभेद भी हैं। परन्तु यहाँ स्थानांग सूत्र के अनुसार ही लिखा जा रहा है।

(१) **उल्कापात**—आकाश से रेखा वाले तेजः पुञ्ज का गिरना, अथवा पीछे से रेखा एवं प्रकाश वाले तारे का टूटना, उल्कापात कहलाता है। उल्कापात होने पर एक प्रहर तक सूत्र की अस्वाध्याय रहती है।

(२) **दिग्दाह**—किसी एक दिशा-विशेष में मानो बड़ा नगर जल रहा हो, इस प्रकार ऊपर की ओर प्रकाश दिखाई देना और नीचे अन्धकार मालूम होना, दिग्दाह है। दिग्दाह के होने पर एक प्रहर तक अस्वाध्याय रहती है।

(३) **गर्जित**—बादल गरजने पर दो प्रहर तक शास्त्र की स्वाध्याय नहीं करनी चाहिए।

(४) **विद्युत**—बिजली चमकने पर एक प्रहर तक शास्त्र की स्वाध्याय करने का निषेध है।

आर्द्रा से स्वाति-नक्षत्र तक अर्थात् वर्षा ऋतु में गर्जित और विद्युत की अस्वाध्याय नहीं होती। क्योंकि वर्षा काल में ये प्रकृतिसिद्ध-स्वाभाविक होते हैं।

(५) **निर्घात**—विना बादल वाले आकाश में व्यन्तरादिकृत गर्जना की प्रचण्ड ध्वनि को निर्घात कहते हैं। निर्घात होने पर एक अहोरात्रि तक अस्वाध्याय रखना चाहिए।

(६) **यूपक**—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्र की प्रभा का मिल जाना, यूपक है। इन दिनों में चन्द्र प्रभा से आवृत होने के कारण सन्ध्या का बीतना मालूम नहीं होता। अतः इन तीनों दिनों में रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करना मना है।

(७) **यक्षादीप्त**—कभी किसी दिशा-विशेष में बिजली-सरीखा बीच-बीच में ठहर कर, जो प्रकाश दिखाई देता है उसे यक्षादीप्त कहते हैं। यक्षादीप्त होने पर एक प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(८) **धूमिका**—कार्तिक से लेकर माघ मास तक का समय मेघों का गर्भमास कहा जाता है। इस काल में जो धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जल-रूप धूंवर पड़ती है, वह धूमिका कहलाती है। यह धूमिका कभी-कभी अन्य मासों में भी पड़ा करती है। धूमिका गिरने के साथ ही सभी को जल-विलन्न कर देती है। अतः यह जब तक गिरती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(९) **महिका**—शीत काल में जो श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धूंवर पड़ती है, वह महिका है। यह भी जब तक गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय रहता है।

(१०) **रजउद्घात**—वायु के कारण आकाश में जो चारों ओर धूल छा जाती है, उसे रजउद्घात कहते हैं। रजउद्घात जब तक रहे, तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

ये दश आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय हैं।

(११-१३) **अस्थि, मांस और रक्त**—पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च के अस्थि, मांस और रक्त यदि साठ हाथ के अन्दर हों तो संभवकाल से तीन प्रहर तक स्वाध्याय करना मना है। यदि साठ हाथ के अन्दर बिल्ली वगैरह चूहे आदि को मार डालें तो एक दिन-रात का अस्वाध्याय रहता है।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मांस और रक्त का अस्वाध्याय भी समझना चाहिए। अन्तर केवल इतना ही है कि—इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्रियों के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन का एवं बालक और बालिका के जन्म का क्रमशः सात और आठ दिन का माना गया है।

(१४) **अशुचि**—टट्टी और पेशाब यदि स्वाध्याय स्थान के समीप हों और वे दृष्टिगोचर होते हों अथवा उनकी दुर्गन्ध आती हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(१५) **श्मशान**—श्मशान के चारों तरफ सौ-सौ हाथ तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

(१६) **चन्द्र-ग्रहण**—चन्द्र-ग्रहण होने पर जघन्य आठ और उत्कृष्ट बारह प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। यदि उगता हुआ चन्द्र ग्रसित हुआ हो तो चार प्रहर उस रात के एवं चार प्रहर आगामी दिवस के—इस प्रकार आठ प्रहर स्वाध्याय न करना चाहिए।

यदि चन्द्रमा प्रभात के समय ग्रहण-सहित अस्त हुआ हो तो चार प्रहर दिन के, चार-प्रहर रात्रि के एवं चार प्रहर दूसरे दिन के—इस प्रकार बारह प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिए।

पूर्ण ग्रहण होने पर भी बारह प्रहर स्वाध्याय न करना चाहिए। यदि ग्रहण अल्प=अपूर्ण हो तो आठ प्रहर तक अस्वाध्यायकाल रहता है।

(१७) **सूर्य-ग्रहण**—सूर्यग्रहण होने पर जघन्य बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिए। अपूर्ण ग्रहण होने पर बारह, और पूर्ण तथा पूर्ण के लगभग होने पर सोलह प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

सूर्य अस्त होते समय ग्रसित हो तो चार प्रहर रात के, और आठ आगामी अहोरात्र के—इस प्रकार सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय रखना चाहिए। यदि उगता हुआ सूर्य ग्रसित हो तो उस दिन रात के आठ एवं आगामी दिन-रात के आठ—इस प्रकार सोलह प्रहर तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

(१८) **पतन**—राजा की मृत्यु होने पर जब तक दूसरा राजा सिंहासनारूढ़ न हो, तब तक स्वाध्याय करना माना है। नये राजा के हो जाने के बाद भी एक दिन-रात तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

राजा के विद्यमान रहते भी यदि अशान्ति एवं उपद्रव हो जाय तो जब तक अशान्ति रहे तब तक अस्वाध्याय रखना चाहिए। शान्ति एवं व्यवस्था हो जाने के बाद भी एक अहोरात्र के लिए अस्वाध्याय रखा जाता है।

राजमंत्री की, गाँव के मुखिया की, शय्यातर की, तथा उपाश्रय के आस-पास में सात घरों के अन्दर अन्य किसी की मृत्यु हो जाय तो एक दिन-रात के लिए अस्वाध्याय रखना चाहिए।

(१६) **राजव्युद्ग्रह**—राजाओं के बीच संग्राम हो जाय तो शान्ति होने तक तथा उसके बाद भी अहोरात्र तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

(२०) **औदारिकशरीर**—उपाश्रय में पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च का अथवा मनुष्य का निर्जीव शरीर पड़ा हो तो सौ हाथ के अन्दर स्वाध्याय न करना चाहिए।

ये दश औदारिक—सम्बन्धी अस्वाध्याय हैं। चन्द्रग्रहण और सूर्य ग्रहण को औदारिक अस्वाध्याय में इसलिए गिना है कि उनके विमान पृथ्वी के बने होते हैं।

(२१-२८) **चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा**—आषाढ़ पूर्णिमा, आश्विन पूर्णिमा, कार्तिक पूर्णिमा और चैत्र पूर्णिमा—ये चार महोत्सव हैं। उक्त महापूर्णिमाओं के बाद आने वाली प्रतिपदा महाप्रतिपदा कहलाती है। चारों महापूर्णिमाओं और चारों महाप्रतिपदाओं में स्वाध्याय न करना चाहिए।

(२६-३२) प्रातःकाल, दुपहर, सायंकाल और अर्द्ध रात्रि—ये चार सन्ध्याकाल हैं। इन सन्ध्याओं में भी दो घड़ी तक स्वाध्याय न करना चाहिए।

(स्थानांग सूत्र)

(१५)

वन्दना के बत्तीस दोष

(१) **अनादृत**—आदरभाव के विना वन्दना करना।

(२) **स्तब्ध**—अभिमान पूर्वक वन्दना करना अर्थात् दण्डायमान रहना, झुकना नहीं। रोगादि कारण का आगार है।

(३) **प्रविद्ध**—अनियंत्रित रूप से अस्थिर होकर वन्दना करना। अथवा वन्दना अधूरी ही छोड़ कर चले जाना।

(४) **परिपिण्डित**—एक स्थान पर रहे हुए आचार्य आदि को पृथक्-पृथक् वन्दना न कर एक ही वन्दना से सब को वन्दना करना। अथवा जंघा पर हाथ रख कर हाथ पर बाँधे हुए अस्पष्ट-उच्चारण-पूर्वक वन्दना करना।

(५) **टोलगति**—टिड्डे की तरह आगे पीछे कूद-फाँद कर वन्दना करना।

(६) **अंकुश**—रजोहरण को अंकुश की तरह दोनों हाथों से पकड़ कर वन्दना करना। अथवा हाथी को जिस प्रकार बलात् अंकुश के द्वारा बिठाया जाता है, उसी

प्रकार आचार्य आदि सोये हुए हों या अन्य किसी कार्य में संलग्न हों तो अवज्ञापूर्वक हाथ खींच कर वन्दना करना अंकुश दोष है ।

(७) **कच्छप परिगत**—'तित्तिसन्नयराए' आदि पाठ कहते समय खड़े होकर अथवा 'अहोकायंकाय' इत्यादि पाठ बोलते समय बैठ कर कछुए की तरह रेंगते अर्थात् आगे-पीछे चलते हुए वन्दना करना ।

(८) **मत्स्योद्वृत्त**—आचार्यादि को वन्दना करने के बाद बैठे-बैठे ही मछली की तरह शीघ्र पार्श्व फेर कर पास में बैठे हुए अन्य रत्नाधिक साधुओं को वन्दना करना ।

(९) **मनसा प्रद्विष्ट**—रत्नाधिक गुरुदेव के प्रति असूयापूर्वक वन्दना करना, मनसाप्रद्विष्ट दोष है ।

(१०) **वेदिकाबद्ध**—दोनों घुटनों के ऊपर, नीचे, पार्श्व में अथवा गोदी में हाथ रख कर या किसी एक घुटने को दोनों हाथों के बीच में करके वन्दना करना ।

(११) **भय**—आचार्य आदि कहीं गच्छ से बाहर न करदें, इस भय से उनको वन्दना करना ।

(१२) **भजमान**—आचार्य हमसे अनुकूल रहते हैं अथवा भविष्य में अनुकूल रहेंगे, इस दृष्टि से वन्दना करना ।

(१३) **मैत्री**—आचार्य आदि से मैत्री हो जायगी, इस प्रकार मैत्री के निमित्त से वन्दना करना ।

(१४) **गौरव**—दूसरे साधु यह जान लें कि यह साधु वन्दन-विषयक समाचारी में कुशल है, इस प्रकार गौरव की इच्छा से विधि-पूर्वक वन्दना करना ।

(१५) **कारण**—ज्ञान, दर्शन और चारित्र के सिवा अन्य ऐहिक वस्त्र पात्र आदि वस्तुओं के लिए वन्दना करना, कारण दोष है ।

(१६) **स्तैन्य**—दूसरे साधु और श्रावक मुझे वन्दना करते देख न लें, मेरी लघुता प्रकट न हो, इस भाव से चोर की तरह छिपकर वन्दना करना ।

(१७) **प्रत्यनीक**—गुरुदेव आहारादि करते हों उस समय वन्दना करना, प्रत्यनीक दोष है ।

(१८) **रुष्ट**—क्रोध से जलते हुए वन्दना करना ।

(१९) **तर्जित**—गुरुदेव को तर्जना करते हुए वन्दना करना ! तर्जना का अर्थ है—'तुम तो काष्ठ मूर्ति हो, तुमको वन्दना करें या न करें, कुछ भी हानि लाभ नहीं ।'

(२०) **शठ**—विना भाव के सिर्फ दिखाने के लिए वन्दन करना अथवा बीमारी आदि का झूठा बहाना बना कर सम्यक् प्रकार से वन्दना न करना ।

(२१) **हीलित**—'आपको वन्दना करने से क्या लाभ ?'—इस प्रकार हँसी करते हुए अवहेलनापूर्वक वन्दना करना।

(२२) **विपरिकुञ्चित**— वन्दना अधूरी छोड़ कर देश आदि की इधर-उधर की बातें करने लगना।

(२३) **दृष्टादृष्ट**—बहुत से साधु वन्दना कर रहे हों उस समय किसी साधु की आड़ में वन्दना किए विना खड़े रहना अथवा अँधेरी जगह में वन्दना किए विना ही चुपचाप खड़े रहना, परन्तु आचार्य के देख लेने पर वन्दना करने लगना, दृष्टादृष्ट दोष है।

(२४) **शृंग**—वन्दना करते समय ललाट के बीच दोनों हाथ न लगाकर ललाट की बाँई या दाहिनी तरफ लगाना, शृंग दोष है।

(२५) **कर**—वन्दना को निर्जरा का हेतु न मान कर उसे अरिहन्त भगवान् का कर समझना।

(२६) **मोचन** - वन्दना से ही मुक्ति सम्भव है, वन्दना के विना मोक्ष न होगा —यह सोचकर विवशता के साथ वन्दना करना।

(२७) **आश्लिष्ट अनाश्लिष्ट**—'अहो कायं काय' इत्यादि आवर्त देते समय दोनों हाथों से रजोहरण और मस्तक को क्रमशः छूना चाहिए। अथवा गुरुदेव के चरण कमल और निज मस्तक को क्रमशः छूना चाहिए। ऐसा न करके किसी एक को छूना, अथवा दोनों को ही न छूना, आश्लिष्ट अनाश्लिष्ट दोष है।

(२८) **ऊन**—आवश्यक वचन एवं नमनादि क्रियाओं में से कोई सी क्रिया छोड़ देना। अथवा उत्सुकता के कारण थोड़े समय में ही वन्दन क्रिया समाप्त कर देना।

(२९) **उत्तरचूडा**—वन्दना कर लेने के बाद ऊँचे स्वर से 'मत्थएण वन्दामि' कहना उत्तर चूड़ा दोष है।

(३०) **मूक**—पाठ का उच्चारण न करके मूक के समान वन्दना करना।

(३१) **ढड्डर**—ऊँचे स्वर से अभद्र रूप में वन्दना-सूत्र का उच्चारण करना।

(३२) **चुड्ली**—अर्द्धदग्ध अर्थात् अधजले काष्ठ की तरह रजोहरण को सिरे से पकड़ कर उसे घुमाते हुए वन्दन करना।

(प्रवचन सारोद्धार, वन्दनाद्वार)

(१६)

तेंतीस आशातनाएँ

(१) मार्ग में रत्नाधिक (दीक्षा में बड़े) से आगे चलना।

(२) मार्ग में रत्नाधिक के बराबर चलना।

(३) मार्ग में रत्नाधिक के पीछे अड़कर चलना ।

(४-६) रत्नाधिक के आगे, बराबर में तथा पीछे अड़ कर खड़े होना ।

(७-९) रत्नाधिक के आगे, बराबर तथा पीछे अड़कर बैठना ।

(१०) रत्नाधिक और शिष्य विचार-भूमि (जंगल में) गए हों वहाँ रत्नाधिक से पूर्व आचमन=शौच शुद्धि करना ।

(११) बाहर से उपाश्रय में लौटने पर रत्नाधिक से पहले ईर्यापथ की आलोचना करना ।

(१२) रात्रि में रत्नाधिक की ओर से 'कौन जागता है ?' पूछने पर जागते हुए भी उत्तर न देना ।

(१३) जिस व्यक्ति से रत्नाधिक को पहले बात-चीत करनी चाहिए, उससे पहले स्वयं ही बात-चीत करना ।

(१४) आहार आदि की आलोचना प्रथम दूसरे साधुओं के आगे करने के बाद रत्नाधिक के आगे करना ।

(१५) आहार आदि प्रथम दूसरे साधुओं को दिखला कर बाद में रत्नाधिक को दिखलाना ।

(१६) आहार आदि के लिए प्रथम दूसरे साधुओं को निमंत्रित कर बाद में रत्नाधिक को निमंत्रण देना ।

(१७) रत्नाधिक को बिना पूछे दूसरे साधु को उसकी इच्छानुसार प्रचुर आहार देना ।

(१८) रत्नाधिक के साथ आहार करते समय सुस्वादु आहार स्वयं खा लेना, अथवा साधारण आहार भी शीघ्रता से अधिक खा लेना ।

(१९) रत्नाधिक के बुलाये जाने पर सुना अनसुना कर देना ।

(२०) रत्नाधिक के प्रति या उनके समक्ष कठोर अथवा मर्यादा से अधिक बोलना ।

(२१) रत्नाधिक के द्वारा बुलाये जाने पर शिष्य को उत्तर में 'मत्थएण वंदामि' कहना चाहिए । ऐसा न कह कर 'क्या कहते हो' इन अभद्र शब्दों में उत्तर देना ।

(२२) रत्नाधिक के द्वारा बुलाने पर शिष्य को उनके समीप आकर बात सुननी चाहिए । ऐसा न करके आसन पर बैठे-ही-बैठे बात सुनना और उत्तर देना ।

(२३) गुरुदेव के प्रति 'तू' का प्रयोग करना ।

(२४) गुरुदेव किसी कार्य के लिए आज्ञा देवें तो उसे स्वीकार न करके उल्टा उन्हीं से कहना कि 'आप ही कर लो ।'

(२५) गुरुदेव के धर्मकथा कहने पर ध्यान से न सुनना और अन्यमनस्क रहना, प्रवचन की प्रशंसा न करना।

(२६) रत्नाधिक धर्मकथा करते हों तो बीच में ही टोकना—'आप भूल गए। यह ऐसे नहीं, ऐसे है'—इत्यादि।

(२७) रत्नाधिक धर्मकथा कर रहे हों, उस समय किसी उपाय से कथा-भंग करना और स्वयं कथा कहने लगना।

(२८) रत्नाधिक धर्मकथा करते हों उस समय परिषद का भेदन करना और कहना कि—'कब तक कहोगे, भिक्षा का समय हो गया है।'

(२९) रत्नाधिक धर्म-कथा कर चुके हों और जनता अभी बिखरी न हो तो उस सभा में गुरुदेव—कथित धर्मकथा का ही अन्य व्याख्यान करना और कहना कि 'इसके ये भाव और होते हैं।'

(३०) गुरुदेव के शय्या-संस्तारक को पैर से छूकर क्षमा माँगे विना ही चले जाना।

(३१) गुरुदेव के शय्या-संस्तारक पर खड़े होना, बैठना, और सोना।

(३२) गुरुदेव के आसन से ऊँचे आसन पर खड़े होना, बैठना और सोना।

(३३) गुरुदेव के आसन के बराबर आसन पर खड़े होना, बैठना और सोना।

ये आशातनाएँ हरिभद्रीय आवश्यक के प्रतिक्रमणाध्ययन के अनुसार दी हैं। समवायांग और दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में भी कुछ क्रम-भंग के सिवा ये ही आशातनाएँ हैं।

(१७)

गोचरी के ४७ दोष

गवेषणा के १६ उद्गम दोष

आहाकम्मुद्देसिय पूईकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओयर कीय पामिच्चे ॥ १ ॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्न मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ॥ २ ॥

(१) आधाकर्म—साधु का उद्देश्य रखकर बनाना।

(२) औद्देशिक—सामान्य याचकों का उद्देश्य रखकर बनाना।

(३) पूतिकर्म—शुद्ध आहार को आधाकर्मादि से मिश्रित करना।

(४) मिश्रजात—अपने और साधु के लिए एक साथ बनाना।

(५) स्थापन—साधु के लिए दुग्ध आदि अलग रख देना।

(६) प्राभृतिका—साधु को पास के ग्रामादि में आया जान कर विशिष्ट आहार बहराने के लिए जीमणवार आदि का दिन आगे पीछे कर देना।

(७) प्रादुष्करण—अन्धकारयुक्त स्थान में दीपक आदि का प्रकाश करके भोजन देना।

(८) क्रीत—साधु के लिए खरीद कर लाना।

(९) प्रामित्य—साधु के लिए उधार लाना।

(१०) परिवर्तित—साधु के लिए अट्टा-सट्टा करके लाना।

(११) अभिहृत—साधु के लिए दूर से लाकर देना।

(१२) उद्भिन्न—साधु के लिए लिप्त-पात्र का मुख खोल कर घृत आदि देना।

(१३) मालापहृत—ऊपर की मञ्जिल से या छींके वगैरह से सीढ़ी आदि से उतार कर देना।

(१४) आच्छेद्य—दुर्बल से छीन कर देना।

(१५) अनिसृष्ट—साझे की चीज दूसरों की आज्ञा के विना देना।

(१६) अध्यवपूरक—साधु को गाँव में आया जान कर अपने लिए बनाये जाने वाले भोजन में और बढ़ा देना।

उद्गम दोषों का निमित्त गृहस्थ होता है।

गवेषणा के १६ उत्पादन दोष

धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए ॥ १ ॥
पुव्विं पच्छासंथव विज्जा मन्ते य चुण्ण जोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥ २ ॥

(१) धात्री—धाय की तरह गृहस्थ के बालकों को खिला-पिला कर, हँसा-रमा कर आहार लेना।

(२) दूती—दूत के समान संदेशवाहक बनकर आहार लेना।

(३) निमित्त—शुभाशुभ निमित्त बताकर आहार लेना।

(४) आजीव—आहार के लिए जाति, कुल आदि बताना।

(५) वनीपक—गृहस्थ की प्रशंसा करके भिक्षा लेना।

(६) चिकित्सा—औषधि आदि बताकर आहार लेना।

(७) क्रोध—क्रोध करना या शापादि का भय दिखाना।

(८) मान—अपना प्रभुत्व जमाते हुए आहार लेना।

(९) माया—छल कपट से आहार लेना।

(१०) लोभ—सरस भिक्षा के लिए अधिक घूमना।

(११) पूर्वपश्चात्संस्तव—दान-दाता के माता-पिता अथवा सास-ससुर आदि से अपना परिचय बताकर भिक्षा लेना।

(१२) विद्या—जप आदि से सिद्ध होने वाली विद्या का प्रयोग करना।

(१३) मंत्र—मंत्र-प्रयोग से आहार लेना।

(१४) चूर्ण—चूर्ण आदि वशीकरण का प्रयोग करके आहार लेना।

(१५) योग—सिद्धि आदि योग-विद्या का प्रदर्शन करना।

(१६) मूलकर्म—गर्भस्तंभ आदि के प्रयोग बताना।

उत्पादन के दोष साधु की ओर से लगते हैं। इनका निमित्त साधु ही होता है।

ग्रहणैषणा के १० दोष

संकिय मक्खिय निक्खित्त,
पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे।
अपरिणय लित्त छिड्डय,
एसण दोसा दस हवन्ति॥ १॥

(१) शङ्कित—आधाकर्मादि दोषों की शंका होने पर भी लेना।

(२) म्रक्षित—सचित्त का संघट्टा होने पर आहार लेना।

(३) निक्षिप्त—सचित्त पर रक्खा हुआ आहार लेना।

(४) पिहित—सचित्त से ढका हुआ आहार लेना।

(५) संहृत—पात्र में पहले से रक्खे हुए अकल्पनीय पदार्थ को निकाल कर उसी पात्र से देना।

(६) दायक—शराबी, गर्भिणी आदि अनधिकारी से लेना।

(७) उन्मिश्र—सचित्त से मिश्रित आहार लेना।

(८) अपरिणत—पूरे तौर पर पके बिना शाकादि लेना।

(९) लिप्त—दही, घृत आदि से लिप्त होने वाले पात्र या हाथ से आहार लेना। पहले और पीछे धोने के कारण क्रमशः पुरःकर्म तथा पश्चात्कर्म दोष होता है।

(१०) छर्दित—छींटे नीचे पड़ रहे हों, ऐसा आहार लेना।

गृहस्थ तथा साधु दोनों के निमित्त से लगने वाले दोष, ग्रहणैषणा के दोष कहलाते हैं।

ग्रासैषणा के ५ दोष

संजोयणाऽपमाणे,
इंगाले धूमऽकारणे चेव ।

(१) **संयोजना**—रसलोलुपता के कारण दूध और शक्कर आदि द्रव्यों को परस्पर मिलाना ।

(२) **अप्रमाण**—प्रमाण से अधिक भोजन करना ।

(३) **अङ्गार**—सुस्वादु भोजन को प्रशंसा करते हुए खाना । यह दोष चारित्र को जलाकर कोयलास्वरूप निस्तेज बना देता है, अतः अंगार कहलाता है ।

(४) **धूम**—नीरस आहार को निन्दा करते हुए खाना ।

(५) **अकारण**—आहार करने के छः कारणों के सिवा बलवृद्धि आदि के लिए भोजन करना ।

ये दोष साधु-मण्डली में बैठकर भोजन करते हुए लगते हैं, अतः ग्रासैषणा दोष कहलाते हैं ।

उपर्युक्त ४७ दोषों का वर्णन पिण्डनिर्युक्ति, प्रवचनसारोद्धार आवश्यक-वृत्ति आदि में आता है । प्रत्येक टीकाकार कुछ अर्थभेद की भी सूचना देते हैं । यहाँ सामान्यतया प्रचलित अर्थों का ही उल्लेख किया गया है ।

(१७)

चरण-सप्तति

वय समणधम्म,
संजम वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ ।
नाणाइतियं तवं,
कोह-निग्गहाई चरणमेयं ॥

—ओघनिर्युक्ति-भाष्य

पांच महाव्रत, क्षमा आदि दश श्रमण-धर्म, सतरह प्रकार का संयम, दश वैयावृत्य, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्ति, ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप तीन रत्न, बारह प्रकार का तप, चार कषायों का निग्रह—यह सत्तर प्रकार का चरण है ।

(१८)

करण-सप्तति

पिंड विसोही समिई,
भावण पडिमा य इंदियनिरोहो ।
पडिलेहण गुत्तीओ,
अभिग्गहा चेव करणं तु ॥

—ओघनिर्युक्ति भाष्य

अशन आदि चार प्रकार की पिण्ड विशुद्धि, पाँच प्रकार की समिति, बारह प्रकार की भावना, बारह प्रकार की भिक्षु-प्रतिमा, पाँच प्रकार का इन्द्रियनिरोध, पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना, तीन गुप्तियाँ, और चार प्रकार का अभिग्रह—यह सत्तर प्रकार का करण है।

जिसका नित्य प्रति निरंतर आचरण किया जाय, वह महाव्रत आदि चरण होता है। और जो प्रयोजन होने पर किया जाय और प्रयोजन न होने पर न किया जाय, वह करण होता है। ओघनिर्युक्ति की टीका में आचार्य द्रोण लिखते हैं—**"चरणकरणयोः कः प्रतिविशेषः ? नित्यानुष्ठानं चरणं, यत्तु प्रयोजने आपन्ने क्रियते तत्करणमिति। तथा च व्रतादि सर्वकालमेव चर्यते, न पुनर्व्रतशून्यः कश्चित्कालः। पिण्डविशुद्ध्यादि तु प्रयोजने आपन्ने क्रियते इति।"**

(१९)

चौरासी लाख जीव-योनि

चार गति के जितने भी संसारी जीव हैं, उनकी ८४ लाख योनियाँ हैं। योनियों का अर्थ है—जीवों के उत्पन्न होने का स्थान। समस्त जीवों के ८४ लाख उत्पत्ति स्थान हैं। यद्यपि स्थान तो इस से भी अधिक हैं, परन्तु वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान के रूप में जितने भी स्थान परस्पर समान होते हैं, उन सब का मिल कर एक ही स्थान माना जाता है।

पृथ्वी काय के मूल भेद ३५० हैं। पाँच वर्ण से उक्त भेदों को गुणा करने से १७५० भेद होते हैं। पुनः दो गन्ध से गुणा करने पर ३५००, पुनः पाँच रस से गुणा करने पर १७५००, पुनः आठ स्पर्श से गुणा करने पर १,४०,०००, पुनः पाँच संस्थान से गुणा करने से कुल सात लाख भेद होते हैं।

पृथ्वीकाय के समान ही जल, तेज एवं वायु काय के भी प्रत्येक के मूल भेद-३५० हैं। उनको पाँच वर्ण आदि से गुणन करने पर प्रत्येक की सात सात लाख योनियाँ हो जाती हैं। प्रत्येक वनस्पति के मूल भेद ५०० हैं। उनको पाँच वर्ण आदि से गुणा करने से कुल दस लाख योनियाँ हो जाती हैं। कन्दमूल की जाति के मूलभेद ७०० हैं, अतः उनको भी पाँच वर्ण आदि से गुणा करने पर कुल १४,००,००० योनियाँ होती हैं।

इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय विकलत्रय के प्रत्येक के मूलभेद १०० हैं। उनको पाँच वर्ण आदि से गुणा करने पर प्रत्येक की कुल योनियाँ दो-दो लाख हो जाती हैं। तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय, नारकी एवं देवता प्रत्येक के मूल भेद २०० हैं। उनको पाँच वर्ण आदि से गुणा करने पर प्रत्येक की कुल चार-चार लाख योनियाँ होती हैं। मनुष्य की जाति के मूल भेद ७०० हैं। अतः पाँच वर्ण आदि से गुणा करने से मनुष्य की कुल १४,००,००० योनियाँ हो जाती हैं।

(२०)

पाँच व्यवहार

साधक-जीवन की आधार भूमि पाँच व्यवहार हैं। मुमुक्षु साधकों की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति को व्यवहार कहते हैं। अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति ही व्यवहार है; और यही चारित्र है। आचार्य नेमिचन्द्र कहते हैं—

असुहादो विणिवित्ती,
सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।'

साधक की प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्ति ज्ञान मूलक होनी चाहिए। ज्ञान शून्य प्रवृत्ति, प्रवृत्ति नहीं; कुप्रवृत्ति है। और इसी प्रकार निवृत्ति भी निवृत्ति नहीं, कुनिवृत्ति है। चारित्र का आधार ज्ञान है। अतः जहाँ साधक की प्रवृत्ति निवृत्ति को व्यवहार कहते हैं, वहाँ प्रवृत्ति-निवृत्ति के आधार भूत ज्ञान-विशेष को भी व्यवहार कहते हैं।

१. **आगम व्यवहार**—केवल ज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान, अवधि ज्ञान, चौदह पूर्व, दश पूर्व और नव पूर्व का ज्ञान आगम कहलाता है। आगम ज्ञान से प्रवर्तित प्रवृत्ति एवं निवृत्ति रूप व्यवहार आगम व्यवहार कहलाता है।

२. **श्रुत व्यवहार**—आचारांग आदि सूत्रों का ज्ञान श्रुत है। श्रुतज्ञान से प्रवर्तित व्यवहार श्रुत व्यवहार कहलाता है। यद्यपि नव, दश और चौदह पूर्व का ज्ञान भी श्रुत रूप ही है, तथापि अतीन्द्रियार्थ-विषयक विशिष्ट ज्ञान का कारण होने से उक्त नव, दश आदि पूर्वों का ज्ञान सातिशय है, अतः आगमरूप माना जाता है। और नव पूर्व से न्यून ज्ञान सातिशय न होने से श्रुत रूप माना जाता है।

३. **आज्ञा व्यवहार**—दो गीतार्थ साधु एक दूसरे से अलग दूर देश में रहे हुए हों और शरीर-शक्ति के क्षीण हो जाने से विहार करने में असमर्थ हों। उनमें से किसी एक को प्रायश्चित्त आने पर वह मुनि योग्य गीतार्थ शिष्य के अभाव में मति एवं धारणा में अकुशल अगीतार्थ शिष्य को आगम की सांकेतिक गूढ़ भाषा में अपने अतिचार दोष कह कर या लिख कर उसे दूरस्थ गीतार्थ मुनि के पास भेजता है और इस प्रकार अपनी पापालोचना करता है। गूढ़ भाषा में कही हुई आलोचना को सुनकर वे गीतार्थ मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, संहनन, धैर्य, बल आदि का विचार करके स्वयं वहाँ पहुँच कर प्रायश्चित्त प्रदान करते हैं अथवा योग्य गीतार्थ शिष्य को भेज कर उचित प्रायश्चित्त की सूचना देते हैं। यदि गीतार्थ शिष्य का योग न हो तो आलोचना के सन्देशवाहक उसी अगीतार्थ शिष्य के द्वारा ही गूढ़ भाषा में प्रायश्चित्त की सूचना भिजवाते हैं। यह सब आज्ञा व्यवहार है। अर्थात् दूर देशान्तर स्थित गीतार्थ की आज्ञा से आलोचना आदि करना, आज्ञा व्यवहार है।

४. धारणा व्यवहार—किसी गीतार्थ मुनि ने द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से जिस अपराध का जो प्रायश्चित्त दिया है, कालान्तर में उसी धारणा के अनुसार वैसे अपराध का वैसा ही प्रायश्चित्त देना, धारणा व्यवहार है।

वैयावृत्त्य करने आदि के कारण जो साधु गच्छ का विशेष उपकारी हो, वह यदि सम्पूर्ण छेद-सूत्र सिखाने योग्य न हो तो उसे गुरुदेव कृपापूर्वक उचित प्रायश्चित्त विधान की शिक्षा दे देते हैं। और वह शिष्य यथावसर कालान्तर में अपनी उक्त धारणा के अनुसार प्रायश्चित्त आदि का विधान करता है, यह धारणा व्यवहार है।

५. जीत व्यवहार—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, व्यक्ति-विशेष, प्रतिसेवना, संहनन एवं धैर्य आदि की क्षीणता का विचार कर जो प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह जीत व्यवहार है।

अथवा किसी गच्छ में कारण-विशेष से सूत्र से न्यूनाधिक प्रायश्चित्त की प्रवृत्ति हुई हो और दूसरों ने उसका अनुकरण कर लिया हो तो वह प्रायश्चित्त जीत व्यवहार कहा जाता है। अर्थात् अपने-अपने गच्छ की परम्परा के अनुसार प्रायश्चित्त आदि का विधान करना, जीत व्यवहार है।

अथवा अनेक गीतार्थ मुनियों द्वारा प्रसारित की हुई मर्यादा का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ जीत कहलाता है और उसके द्वारा प्रवर्तित व्यवहार जीत व्यवहार है।

उक्त पाँच व्यवहारों में यदि व्यवहर्ता के पास आगम हो तो उसे आगम से व्यवहार करना चाहिए। आगम में भी केवल ज्ञान, मनः पर्याय आदि अनेक भेद हैं। इनमें पहले केवल ज्ञान आदि के होते हुए उन्हीं से व्यवहार चलाया जाना चाहिए, दूसरों से नहीं। आगम के अभाव में श्रुत से, श्रुत के अभाव में आज्ञा से, आज्ञा के अभाव में धारणा से, और धारणा के अभाव में जीत व्यवहार से प्रवृत्ति निवृत्ति रूप व्यवहार का प्रयोग करना चाहिए। देश, काल के अनुसार उपर्युक्त पद्धति से सम्यक् रूपेण पक्षपातरहित व्यवहारों का प्रयोग करता हुआ साधक भगवान् की आज्ञा का आराधक होता है।

(स्थानांग सूत्र ५।२। ४२१)

(२१)

अठारह हजार शीलाङ्ग रथ

जे नो करेंति मणसा, निज्जियाहार सन्ना सोइंदिए;
पुढवीकायारंभे, खंतिजुआ ते मुणी वंदे।

जे नो करेंति ६....	जे नो कारवेंति ६....	जे नाणु मोयंति ६....							
मणसा २....	वयसा २....	कायसा २....							
निज्जिया आहारसन्ना ५००	निज्जिया भयसन्ना ५००	निज्जिया मेहुणसन्ना ५००	निज्जिया परिग्गह सन्ना ५००						
श्रोत्रेन्द्रिय १००	चक्षु रिन्द्रिय १००	घ्राणेन्द्रिय १००	रसनेन्द्रिय १००	स्पर्शने-न्द्रिय १००					
पृथिवी १०	अप् १०	तेज १०	वायु १०	वनस्पति १०	द्वीन्द्रिय १०	त्रीन्द्रिय १०	चतुरिन्द्रिय १०	पञ्चेन्द्रिय १०	
क्षान्ति १	मुक्ति २	आर्जव ३	मार्दव ४	लाघव ५	सत्य ६	संयम ७	तप ८	ब्रह्मचर्य ९	अकिंचन १०

१ विवेचनादि में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची

१ अजित जिन स्तवन—उपाध्याय देवचन्द्र
२ अनुयोग द्वार सूत्र
३ अनुयोगद्वार—टीका
४ अथर्व वेद
५ अमितगति श्रावकाचार
६ अष्टक प्रकरण—आचार्य हरिभद्र
७ आवश्यक बृहद् वृत्ति—आचार्य हरिभद्र
८ आवश्यक टीका—आचार्य मलयगिरि
९ आचारांग सूत्र
१० आवश्यक चूर्णि—जिनदास महत्तर
११ आवश्यक सूत्र—पूज्य श्री अमोलक ऋषि
१२ आवश्यक निर्युक्ति—आचार्य भद्रबाहु
१३ उत्तराध्ययन सूत्र
१४ उत्तराध्ययन टीका—भाव विजय
१५ उत्तराध्ययन टीका—आचार्य शान्ति सूरि
१६ औपपातिक सूत्र
१७ ऋग्वेद
१८ कठोपनिषद्
१९ गुरु ग्रन्थ साहब
२० छान्दोग्योपनिषद्
२१ जय धवला
२२ तत्वार्थ भाष्य—उमा स्वाति
२३ तत्त्वार्थ राजवार्तिक—भट्टाकलंक
२४ तीन गुण व्रत—पूज्य जवाहिराचार्य
२५ द्वात्रिंशिका—वाचक यशोविजय
२६ धर्म संग्रह—मान विजय

२७ धम्म पद—तथागत बुद्ध
२८ निरुक्त—यास्क
२९ निशीथ चूर्णि—जिनदास गणी महत्तर
३० दशवैकालिक सूत्र
३१ दशवैकालिक सूत्र टीका—आचार्य हरिभद्र
३२ दशाश्रुत स्कन्ध
३३ प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी—आचार्य प्रभाचन्द्र
३४ प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति—आचार्य नमि
३५ प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति—आचार्य तिलक
३६ पञ्च प्रतिक्रमण—पं० सुखलालजी
३७ प्रवचन सार—आचार्य कुन्द कुन्द
३८ प्रवचन सारोद्धार—आचार्य नेमिचन्द्र
३९ प्रवचन सारोद्धार वृत्ति—आचार्य सिद्धसेन
४० बृहत्कल्प भाष्य—संघदास गणी
४१ बोल संग्रह—भैंरुदानजी सेठिया
४२ भगवद् गीता
४३ भगवती सूत्र
४४ भगवती सूत्र वृत्ति—आचार्य अभयदेव
४५ भामिनी विलास—पण्डितराज जगन्नाथ
४६ भागवत
४७ महा धवला
४८ महाभारत
४९ मूलाचार—आचार्य बट्टकेर
५० मूलाराधना-विजयोदया—आचार्य अपराजित
५१ योग दर्शन
५२ योगदर्शन व्यासभाष्य
५३ योगशिखोपनिषद्
५४ योगशास्त्र वृत्ति—आचार्य हेमचन्द्र
५५ विशेषावश्यक भाष्य—जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण
५६ वैशेषिक दर्शन
५७ वैराग्य शतक—भर्तृहरि
५८ व्यवहार भाष्य
५९ सर्वार्थ सिद्धि—पूज्यपाद
६० सर्वार्थ सिद्धि-उत्तराध्ययन टीका—कमलशील
६१ साधु प्रतिक्रमण—पूज्य श्री आत्मारामजी

६२ सूत्र कृतांग सूत्र
६३ सूत्र कृतांग टीका—आचार्य शीलांक
६४ संथार पइन्ना
६५ सम्यक्त्व पराक्रम—पूज्य जवाहिराचार्य
६६ समवायांग सूत्र
६७ समवायांग सूत्र टीका—आचार्य अभयदेव
६८ संग्रहणी गाथा
६९ समयसार—आचार्य कुन्द कुन्द
७० समयसार नाटक—बनारसीदासजी
७१ सौन्दरनन्द काव्य—महाकवि अश्वघोष
७२ सौर परिवार
७३ स्थानांग सूत्र
७४ हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति टीप्पणक—मलधार गच्छीय आचार्य हेमचन्द्र

———